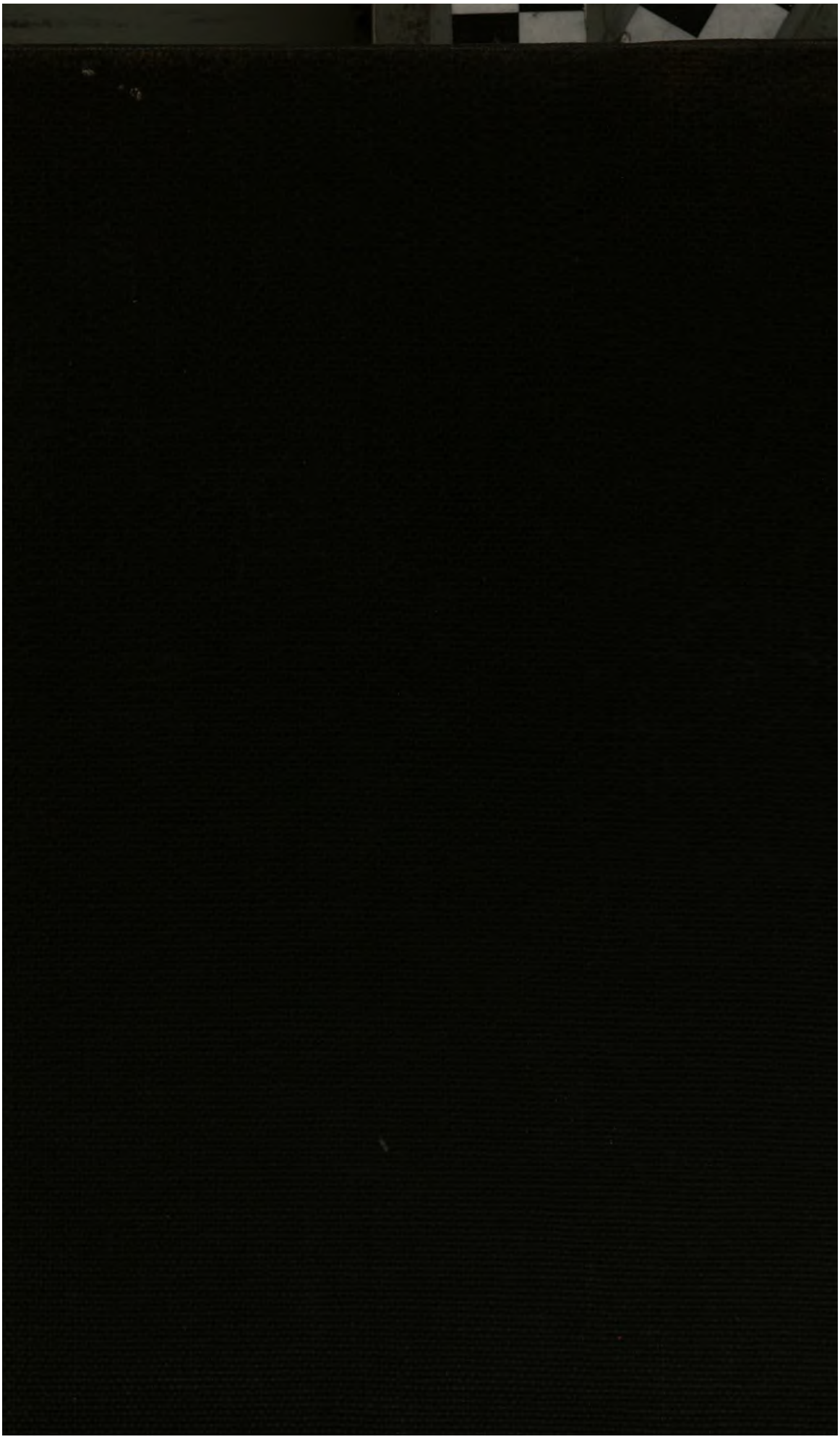

INDIANA
UNIVERSITY
LIBRARY

# Historische Zeitschrift.

Herausgegeben von

**Heinrich v. Sybel** und **Max Lehmann.**

Der ganzen Reihe 67. Band.
Neue Folge 31. Band.

---

**München und Leipzig 1891.**
Druck und Verlag von R. Oldenbourg.

582203

D1
.H63
V.67

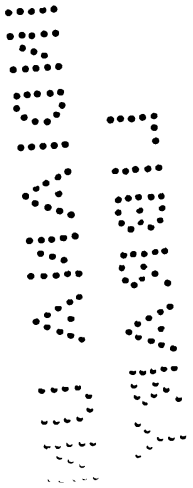

# Inhalt.

## Aufsätze.


| | Seite |
|---|---|
| Adel und Bürgerthum im alten Hellas. Von H. Dondorff | 212 |
| Das römische Munizipalwesen in den Provinzen. Von Julius Jung | 1 |
| Der Ursprung des Bürgerthums und des städtischen Lebens in Deutschland. Von Karl Lamprecht | 385 |
| Werbung, Wehrpflicht und Beurlaubung im Heere Friedrich Wilhelm's I. Von Max Lehmann | 254 |
| Gouverneur Morris, amerikanischer Gesandter in Paris während der Schreckenszeit. Von H. v. Wilke | 193 |
| Boyen's Denkwürdigkeiten. Von Max Lehmann | 40 |
| Die Memoiren des Generals Cordoba. Von Konrad Häbler | 425 |


## Miscellen.


| | Seite |
|---|---|
| Friedrich der Große und die Prädestination | 475 |
| Zur Histoire de mon temps König Friedrich's II. von Preußen. Von Theodor Wiedemann | 290 |
| Boyen's Darstellung der preußischen Kriegsverfassung | 55 |


## Literaturbericht.


| | Seite |
|---|---|
| Weltgeschichte | 486 |
| Sagen | 487 |
| Alterthum: | |
| Rom | 81. 487 |
| Kirche: | |
| Allgemeines | 493 |
| Liebesthätigkeit | 494 |
| Hymnologie | 497 |
| Konzilien | 499 |
| Papstthum | 508 |
| Älteste Zeit | 81. 509 |
| Mittelalter | 295 |
| VIII. Jahrhundert | 521 |
| IX. Jahrhundert | 523 |
| XI. Jahrhundert | 523 |
| Johanniter | 136 |
| Deutschherren | 139 |
| Waldenser | 295. 359. 528 |
| Inquisition | 371. 528. 563 |
| Reformation | 313 |
| XIX. Jahrhundert | 533. 541 |
| Deutsche Landeskirchen | 113. 122 |
| Italien | 365 |
| Chile | 371 |
| Mittelalter: | |
| Ostrom | 367. 514 |
| VIII. Jahrhundert | 521 |
| IX. Jahrhundert | 523 |
| XII. Jahrhundert | 523 |

| | Seite |
|---|---|
| Neue Zeit | 298 |
| XVII. Jahrhundert | 549 |
| XIX. „ | 298 |
| **Deutschland:** | |
| Literatur | 92. 302 |
| Zeitungen | 533 |
| Sprache (Namen) | 116 |
| Verwaltung | 99 |
| Finanzen | 119 |
| Wald und Jagd | 298 |
| Handel | 300 |
| Mittelalter | 525 |
| XII. Jahrhundert | 132 |
| XIII.—XV. Jahrhundert | 528 |
| XVII. Jahrhundert | 303. 533 |
| XVIII. „ | 92. 304 |
| XIX. „ | 97. 102. 129. 533 |
| Baiern | 99 |
| Schwaben und Alemannien | 110. 300. 535 |
| Algäu | 110 |
| Fürstenberg | 539 |
| Würtemberg | 540 |
| Baden | 112. 537 |
| Franken | 305 |
| Hessen | 113 |
| Ostfriesland | 117. 127 |
| Osnabrück | 118 |
| Hannover | 119 |
| Braunschweig | 119 |
| Oldenburg | 125 |
| Hanse | 126 |
| Hamburg | 127 |
| Schleswig-Holstein | 129 |
| Mecklenburg | 132 |
| Brandenburg | 132 |
| Schlesien | 137. 304 |
| Ostpreußen | 139. 312 |
| **Preußen:** | |
| Kammergericht | 140 |
| Großer Kurfürst | 145 |
| Friedrich II. | 92. 138. 146. 304 |
| **Österreich:** | |
| XVIII. Jahrhundert | 304 |
| Ungarn | 318 |
| Siebenbürgen | 543 |
| Schweiz | 147. 302. 544 |
| **Niederlande:** | |
| Literatur | 340 |
| Flugschriften | 340 |
| Mittelalter | 545 |
| Bundesrecht | 547 |
| XVII. Jahrhundert | 549 |
| XVIII. u. XIX. Jahrhundert | 551 |
| **Belgien:** | |
| Flandern | 300 |
| **England:** | |
| XVI. Jahrhundert | 186 |
| XVIII. „ | 342 |
| XIX. „ | 344 |
| Universitäten | 188 |
| **Frankreich:** | |
| Mittelalter | 344 |
| Haus Condé | 349 |
| Ancien Régime | 351 |
| Ludwig XIV. | 353 |
| XVIII. Jahrhundert | 356 |
| **Spanien:** | |
| Allgemeines | 554 |
| Mittelalter | 562 |
| Inquisition | 563 |
| XV. u. XVI. Jahrhundert | 564 |
| **Italien:** | |
| XVI. Jahrhundert | 357 |
| XVII. „ | 359 |
| Mailand | 357 |
| Piemont | 359 |
| Venedig | 360 |
| Süditalien | 365 |
| Polen | 566 |
| Byzanz | 367 |
| Zigeuner | 567 |

| | Seite |
|---|---|
| Asien: | |
| Philippinen | 370 |
| Amerika: | |
| Verein. Staaten XIX. Jahrhundert | 190 |
| Chile | 371 |
| Kunst | 373 |
| Schule | 304 |
| Universitäten | 188 |
| Philologie | 374 |
| Buchdrucker | 375 |
| Bibliotheken | 376 |
| Paläographie | 378 |


## Berichte gelehrter Gesellschaften.


Centraldirektion der Monumenta Germaniae historica . . . . . 379
Historische Kommission bei der baierischen Akademie der Wissenschaften . 381
Historische Kommission der Provinz Sachsen . . . . . 383
Gesellschaft für rheinische Geschichtskunde . . . . . 568
Institut der Görres-Gesellschaft . . . . . 192

**Verbesserungen** . . . . . 568

# Verzeichnis der besprochenen Schriften.


| | Seite |
|---|---|
| Abälard's tractatus de unitate. Hrsg. v. Stölzle | 523 |
| Abée, Namen i. d. Urkunden v. Fulda | 116 |
| Altmann, acta Nicolai Gramis | 137 |
| Andree, Flutsagen | 487 |
| Aumale, d. Prinzen Condé. I. | 349 |
| Baasch, Forsch. z. hamburg. Handelsgesch. I. | 128 |
| ———, Islandsfahrt | 128 |
| Baechthold, deutsche Literatur i. d. Schweiz | 302 |
| Bächtold, s. Heß. | |
| Baumann, Gesch. d. Algäus. II. | 110 |
| Beck, z. Verfassungsgesch. d. Rheinbundes | 97 |
| Belling, d. große Kurfürst i. d. Dichtung | 145 |
| Benko, Datum a. d. Philippinen | 370 |
| Berger, Friedrich d. Gr. u. d. deutsche Literatur | 92 |
| Berger et Meyer, l. bibles provençales | 295 |
| Bergmans, Lautius | 375 |
| ———, un imprimeur belge | 375 |
| ———, s. Lipse. | |
| Bernays, P. Martyr | 564 |
| Bernische Biographien. I. | 159 |
| Beste, Gesch. d. braunschweig. Landeskirche | 122 |
| Bickell, Eisenhütten v. Haina | 116 |
| Birlinger, rechtsrhein. Alamannien | 110 |
| Blumenstok, päpstl. Schutz | 508 |
| Boyen, Erinnerungen | 40 |
| Brandi, Reichenauer Urkundenfälschungen | 537 |
| Bratke, Daniel-Kommentar | 512 |
| Breitenbach, Lebus | 132 |
| Broc, l. France sous l'ancien régime. I. II. | 351 |
| Brutails, documents d. Navarre | 346 |
| Bucholtz, a. d. Oldenburger Lande | 125 |
| Burckhardt-Biedermann, Gesch. d. Gymnasiums z. Basel | 185 |
| Bury, later Roman Empire. I. II. | 514 |
| Butler, Napier | 344 |
| Buxbaum, Seydlitz | 146 |
| Centralblatt f. Bibliothekswesen, Beiheft V | 533 |
| Chevalier, itinéraire d Louis XI. | 344 |
| ———, itinéraire d. dauphins | 344 |
| ———, compte d. Raoul d. Louppy | 344 |
| ———, repertorium hymnologicum | 497 |
| Chrodegangi regula. Hrsg. v. Schmitz | 521 |
| Chronik v. Neumünster | 158 |
| Codex dipl. Silesiae. XV. | 137 |
| Coleccion d. documentos ineditos. XCIII—C. | 554 |
| Cordoba, Memorias. I—III. | 425 |
| Coville, l. cabochiens | 348 |
| Cronache veneziane. P. Monticolo. I. | 360 |
| Defoe, soziale Fragen | 343 |
| Delisle, manuscrits d. fonds Libri et Barrois | 376 |
| Dissel, Philipp v. Zesen | 303 |
| Drexler, mytholog. Beiträge. I. | 493 |
| Ebendorfer, Chronica. Hrsg. v. Pribram | 531 |
| Eckart, Gesch. d. Klosters Marienstein | 119 |
| Elter, de forma urbis | 488 |
| Endres, Waldbenutzung | 298 |
| Fabricius, Derschau'sche Bibliothek | 117 |
| Fäh, d. Kluser Handel | 164 |
| Faguet, 18. siècle | 356 |

| | Seite |
|---|---|
| Favre, mémorial | 182 |
| Finck, Gesch. d. Ordens St. Johannis | 136 |
| Fonti p. l. storia d'Italia | 360 |
| Fremery, cartularium d. abdij Marienweerd | 545 |
| Frey, Salis-Seewis | 172 |
| Fritsche, Glarean | 544 |
| Führer, Beitrag z. Felicitas-Frage | 509 |
| Fürstenbergisches Urk. Buch. VII. | 539 |
| Geschichte d. preuß. Fahnen | 255 |
| Gierke, Untersuch. z. deutschen Staatsgesch. XXXII. | 119 |
| Götzinger, d. arme Mann im Toggenburg u. Statthalter Bernold | 167 |
| Gradmann, Kunstleben d. Stauferzeit | 536 |
| Groh, Justin II. | 367 |
| Grünhagen, Schlesien unter Friedrich d. Gr. I. | 138 |
| Gubernatis, dictionnaire | 298 |
| Hagemans, vie domestique | 347 |
| Hanserezesse 1477—1530. Bearb. v. Schäfer. IV. | 126 |
| Hase, Kirchengesch. II, 2. | 493 |
| Haupt, Waldenserthum u. Inquisition | 528 |
| Heer, Gedächtnisfeier d. Schlacht b. Näfels | 152 |
| ———, Schlacht b. Näfels | 152 |
| Hefele u. Hergenröther, Konziliengesch. IX. | 505 |
| Hefele u. Knöpfler, Konziliengesch. VI | 499 |
| Heikel, s. Ignatius. | |
| Herbst, Encyklopädie. II—V. | 298 |
| Hergenröther, s. Hefele. | |
| Heß u. Bächtold, Schweizer | 174 |
| Heyd, Ravensburger Gesellschaft | 300 |
| ———, Beitr. z. Gesch. d. deutschen Handels | 300 |
| Heyer, dritte Nachlese z. Weller's Zeitungen | 533 |
| Höfler, d. Hohenzoller Johann | 565 |
| Holder-Egger s. Monumenta. | |
| Holtze, Gesch. d. Kammergerichts i. Preußen. I. | 140 |
| ———, Beiträge z. brandenb.-preuß. Rechtsgesch. I. | 140 |
| Hülsen u. Lindner, Alliaschlacht | 491 |
| Hume, Chronicle of Henry VIII. | 186 |
| Jahrb. d. Gesellschaft z. Emden. VIII. | 117 |
| Jecklin, Urk. z. Verf.-Gesch. Graubündens | 155 |
| Jenner, Denkwürdigkeiten | 169 |
| Ignatii vita Tarasii. Ed. Heikel | 368 |
| Ihne, röm. Gesch. VII. VIII. | 487 |
| Kalff, nederlandsche letterkunde. I. II. | 341 |
| Keller, Prozeß gegen Kesselring | 164 |
| Kern, souvenirs | 181 |
| Kernkamp, sleutels v. d. sont | 549 |
| Kesselring, Kern | 182 |
| Kiem, Abtei Muri-Gries. I. | 150 |
| Kindt, Katastrophe Ludowico Moro's | 357 |
| Kirchhoff, Forschungen IV, 4 | 110 |
| Knöpfler s. Hefele. | |
| Knuttel, catalogus. I, 1. 2. | 340 |
| Kobell, Döllinger | 533 |
| Köhler, Simultankirchen i. Hessen | 113 |
| Koldewey, mein Urtheil üb. d. braunschw. Kirchengesch. | 124 |
| Krumbholtz, Samaiten | 139 |
| Kunz, polnisch-russischer Krieg v. 1831 | 566 |
| Lang, von u. aus Schwaben. VI VII. | 535 |
| Langen, Clemens-Romane | 511 |
| Lea, chapters from the religious hist. of Spain | 563 |
| Le Fort, notices | 182 |
| Legler, Ambühl | 154 |
| Leist, s. Max II. | |
| Levetzow, Erinnerungen. I. | 129 |
| Lindner, s. Hülsen. | |
| Lipse, autobiographie. P. Bergmanns | 374 |
| Lohmeyer, Albrecht v. Preußen | 312 |
| Lorenz, z. Gedächtnis v. Schiller | 94 |
| Mack, Finanzverwaltung von Braunschweig | 119 |
| Marchand, un intendant sous Louis XIV. | 353 |
| Max II. v. Baiern u. Schelling, Briefwechsel. Hrsg. v. Trost u. Leist | 102 |
| Mayer, Quellen z. Behördengesch. Baierns | 99 |

| | Seite |
|---|---|
| Mecklenburg. Urk.-Buch. XV. | 132 |
| Medina, hist. d. tribunal d. s. oficio en Chile. I. II. | 371 |
| Mendels, Daendels | 551 |
| Meyer s. Berger. | |
| Minor, Schiller. I. II. | 94 |
| Mittheilungen d. Hanauer Bezirksvereins. XIII. | 115 |
| ——— d. histor. Vereins z. Osnabrück. XIV. | 118 |
| Monticolo, manoscritti e fonti | 360 |
| ———, s. Cronache. | |
| Monumentorum Germaniae Indices. Scrips. Holder-Egger et Zeumer | 525 |
| Moore, gothic architecture | 373 |
| Morris, diary. | 197 |
| Motley, Briefwechsel | 190 |
| Mülinen, Gesch. d. Schweizer-Söldner | 148 |
| Neumann, d. röm. Staat u. d. Kirche. I. | 81 |
| Nirrnheim, Hamburg u. Ostfriesland | 127 |
| Nüschler, s. Vögelin. | |
| Pfister, Magnus v. Würtemberg | 540 |
| Priebatsch, Braunschweiger Stadtfehde | 121 |
| Pribram, s. Ebendorfer. | |
| Publikationen a. d. preuß. Staatsarchiven. XLIII—XLV. | 313 |
| Quellen u. Forschungen z. Gesch. v. Reichenau. I. | 537 |
| Quellen z. Gesch. v. Kronstadt. II. | 543 |
| Rechnungen a. d. Archiv v. Kronstadt. II. | 543 |
| Reinach, Mithridate | 492 |
| Rott, Inventaire | 147 |
| Rudolph, niederl. Kolonien. | 132 |
| Schäfer, s. Hanserezesse. | |
| Schelling, s. Max II. | |
| Schirrmacher, Gesch. Spaniens i. 14. Jahrh. | 562 |
| Schlumberger, Nicéphore Phokas | 369 |
| Schmitz, s. Chrodegangus. | |
| Schneider, Hemmerli | 160 |
| Schulteß, Silvester II. | 523 |
| Schwappach, Forst- u. Jagdgesch. I. II. | 298 |
| Schweizer, Schweizer | 180 |
| Société d'hist. vaudoise | 359 |
| Stein, Genossenschaft z. Brügge | 300 |
| Steiner, Hottinger | 160 |
| Stölzle, s. Abälard. | |
| Suchier, s. Wolff. | |
| Thommen, Schriftproben | 378 |
| Trede, Heidenthum I—IV. | 365 |
| Trost, s. Max II. | |
| Tschackert, Urk.-Buch z. Reformationsgesch. v. Preußen. I—III. | 313 |
| Uhlhorn, christl. Liebesthätigkeit. III. | 494 |
| Ungarischer Bericht über 1888 | 318 |
| Valär, Planta | 162 |
| Vaucher, mélanges | 184 |
| Veltmann, Regesten z. Gesch. d. Katharinen-Kirche i. Osnabrück | 118 |
| Vögelin u. Nüscheler, d. alte Zürich | 156 |
| Volkmar, de annalibus Romanis | 490 |
| Volkmer, Felbiger | 304 |
| Weech, badische Gesch. | 112 |
| Weltrich, Schiller. II. | 94 |
| Wendt, Germanisirung. II. | 132 |
| Westerkamp, Bundesrecht d. Niederlande | 546 |
| Wichmann, Atlas z. Gesch. Hamburgs | 129 |
| Widmann, Geschichtsel | 486 |
| Wiedemann, religiöse Bewegung in Oberösterreich | 541 |
| Wittmann, Monumenta Castellana | 305 |
| Wlislocki, Zigeunervolk | 567 |
| Wolff u. Suchier, röm. Lager z. Kesselstadt | 115 |
| Würtembergische Neujahrsblätter VIII. | 536 |
| Wyß, Leben der beiden Wyß | 177 |
| Zahn, Melodien | 497 |
| Zeumer, s. Monumenta. | |
| Zimmermann, Universitäten Englands | 188 |

# Das römische Munizipalwesen in den Provinzen.

Von

**Julius Jung.**

Je mehr wir durch neu zuwachsende Inschriften oder archäologische Funde das römische Städtewesen in der Kaiserzeit kennen lernen, desto mehr tritt der im Allgemeinen ja längst erkannte Umstand hervor, daß wir es mit einem Abglanz und Widerspiel der altlatinischen und frührömischen Verhältnisse zu thun haben und demnach mit einer Quelle ersten Ranges für das Studium derselben. Das ersieht man denn auch deutlich aus der Darstellung des römischen Staatsrechtes von Th. Mommsen, besonders aus dem dritten Bande, wo die munizipalen und die damit zusammenhängenden Rechtsverhältnisse auf das eingehendste behandelt sind[1]); es ist da ein großer Fortschritt erzielt gegenüber

[1]) Römisches Staatsrecht von Theodor Mommsen 3, 1 (1887) und 2 (1888) enthält die Lehre von der Bürgerschaft und dem Senat, wobei der Begriff des Munizipiums (S. 231 ff.), dann die Kategorien der Halbbürgergemeinden (S. 570—589), der Latini (S. 607—644), der attribuirten Orte (S. 765—772), endlich „das Munizipalrecht im Verhältnis zum Staate" (S. 775—823) behandelt werden. — Mommsen subsumirt die Kolonien unter den Begriff municipium. — Daneben bieten Mommsen's Kommentare zu den Stadtrechten von Salpensa, Malaca, Urso, sowie neuerdings zu den Stadtrechtsbriefen von Orkistos und Tymandos nach wie vor die eingehendste Spezialbehandlung des Munizipalwesens. Hiezu vergleiche man die Aufsätze von Giraud über bronzes d'Osuna und nouveaux bronzes d'Osuna im Journal des savants 1875, 1876, 1877. Ferner V. Duruy, Du régime municipal dans l'Empire romain aux deux premiers siècles de notre ère. In der Revue historique 1 (1876), 39 ff. 321 ff.

den früheren Darlegungen über die „Römischen Alterthümer", wie die von Lange, die Mommsen in seiner Vorrede mit herben Worten abthut. Es wird wohl die Leser einer allgemeinen historischen Zeitschrift interessiren, von dem gegenwärtigen Stand der Erforschung dieser Dinge eine Anschauung zu erhalten, da sie es doch auch nicht vermeiden können, von Zeit zu Zeit wieder an die Romuluslegende oder an die Verfassung des Lycurgus erinnert zu werden.

Uns ist es ein leichtes sogar über Romulus hinauszugehen, indem wir mit der lavinatischen Sau und ihren dreißig Ferkeln beginnen. Wie man weiß, erkannte der altlatinische Stammbund von dreißig Orten in diesem Zeichen eine Versinnlichung seines Daseins; aber noch vier Jahrhunderte, nachdem dieser Bund zu existiren aufgehört hatte, war die Sau mit den Ferkeln das Sinnbild des Latiums und deshalb bei den mit dieser Rechtsstellung Bedachten, ein Gegenstand der Verehrung; so in Hispanien, nachdem Vespasian den Gemeinden daselbst das latinische Recht ertheilt hatte[1]).

Im Gegensatze hiezu war die Wölfin mit den Zwillingen das in nicht minderem Grade verehrte Wahrzeichen der römischen Bürgergemeinden, dessen typische Nachbildungen in allen Provinzen des Reiches sich vorfinden: in Pannonien, in Norikum, in Afrika; in der hiesigen prokonsularischen Provinz werden der Wölfin ebenso Dedikationen zugewendet, wie der Sau in Hispanien[2]). — Auf andern Denkmälern begegnen Darstellungen der Rhea Silvia, wie Gott Mars sich ihr nähert[3]); und da der

[1]) Vgl die Dedikation einer scrofa cum porcis triginta, Corp. insc. Lat. 2, 2126 = Wilmanns exempla 2313. Hiezu O. Hirschfeld in Gött. Gel. Anz. 1870 S. 1093 f.; zur Geschichte des latinischen Rechtes S. 10 Anm. 26a. Die Münzen des Vespasian und Titus aus dem Jahre 78, auf denen die Sau mit den Ferkeln dargestellt ist, bezieht Hirschfeld ebenfalls auf die Ertheilung der Latinität. Vgl. auch a. a. O. S. 13 Anm. 34.

[2]) Vgl. Corp. insc. Lat. 8, 958, wo der duovir des municipium Aurelia Vina signum lupæ — posuit. Ähnlich Ephem. epigraph. 7, 83: dedicavit lupas.

[3]) Vgl. Archäol.-epigraph. Mittheil. aus Österreich-Ungarn 13 (1890), 57 f. [aus Aquincum].

römische Kalender im ganzen Reiche propagirt wurde[1]), feierte man überall die alten Gedenktage, darunter am 21. April das Fest der Palilien und den Geburtstag der Stadt Rom[2]).

Alsbald verknüpfte sich der Kult des Jupiter Capitolinus mit dem des populus Romanus oder der dea Roma und dem des regierenden Hauses, worauf namentlich auch der Provinzialkult beruhte, der seit Augustus organisirt wurde.

Am meisten mochten zu dieser Entwicklung die Kolonien beitragen, die durch alle Provinzen zerstreut lagen. Schon in ihrer Bauanlage repräsentirten sie den Typus, wie ihn nach der Überlieferung König Romulus seiner Gründung aufgeprägt haben sollte. Den sakralen Mittelpunkt bildete das „Capitol", wo Jupiter, Juno und Minerva verehrt wurden, allerdings mit den Modifikationen, die das lokale Interesse eingab, indem z. B. in der colonia Genetiva die Stadtgöttin Venus hinzugefügt wurde oder in Lambaesis mit Hinweglassung einer aus der Trias der genius loci[3]). Selbst die Straßen und Quartiere finden wir in zwei Kolonien des Augustus, Ariminum und Antiochiae Pisidiae, nach denen der Stadt Rom benannt: vicus Tuscus, Cermalus, Velabrus, vicus salutaris, aedilicius u. s. w.[4]); ähnliches findet sich auch anderswo, indem z. B. an den vicus sceleratus, der von der Unthat der Tochter des Servius Tullius den Namen hatte, der Scelerata genannte Ort in den Julischen Alpen erinnert, wo ein Unteroffizier der leg. XIII gemina ermordet worden war[5]). Dazu kamen Forum, Tempel, Portikus, Wasserleitung, Kloaken, Gräberstraßen, wie wir dies von Pompei her

[1]) Vgl. Staatsrecht 3, 707. 755.

[2]) So selbst in Ägypten. S. unten S. 38. Über die Verbreitung der ludi Florales vgl. Corp. 8, 6958. Westd. Korrespondenzbl. 1890 S. 247 f.

[3]) Vgl. O. Kuhfeldt, de capitoliis imperii Romani. Berol 1883.

[4]) E. Bormann im Marburger Universitätsprogramm (Sommer 1883) S. V. J. R. Sitlington Sterret, an epigraphical journey in Asia minor (Boston 1888) p. 140 f. n. 113—115 = Corp. insc. Lat. III suppl. 6835—6837.

[5]) interfecto a latronibus in Alpes (sic!) Jul(ias) loco quod (sic!) appellatur Scelerata. Inschrift von Aquileia bei Maionica, Epigraphisches aus Aquileia (Wien 1885) S. 7; vgl. Liv. 1, 44.

kennen, nur modifizirt nach den klimatischen Verhältnissen; und dies selbst in Orten, die nicht römisches Munizipalrecht hatten, sondern nur vici waren.[1]) Wenn in einen bereits bestehenden Ort eine Kolonie ausgeführt wurde, erfolgten hiefür sofort die nöthigen Adaptirungen, häufig durch die Soldaten, die nach ihrer Entlassung einen namhaften Prozentsatz der Einwohnerschaft zu bilden bestimmt waren[2]). Mit Theatern und Amphitheatern nach griechisch-römischem Zuschnitt stattete auch König Herodes seine Gründungen aus, sehr zum Mißvergnügen der Frommen in Palästina[3]).

Am meisten aber erinnerte doch die Verfassung der Kolonien und Munizipien an Rom, wofür das Stadtrecht der von Caesar im südlichen Hispanien begründeten colonia Julia Genetiva den sprechendsten Beweis bietet; mehr als die leges der Munizipien Salpensa und Malaca, die schon einem späteren Schema entstammen. Es wird erlaubt sein, hiebei einen Moment zu verweilen.

Aus allen drei Stadtrechten geht deutlich hervor, daß in der früheren Kaiserzeit die Magistratur neben Kurie und Volk als ein sehr kräftiger Faktor der Munizipalverfassung fungirte. Die beiden Bürgermeister oder duoviri sind in Tracht und Ehrenrechten wie Konsuln: es kommt ihnen die weiße verbrämte Toga (praetexta) zu, der kurulische Sessel; Lictoren tragen ihnen die Ruthenbündel, hier bacilli, d. h. Stäbchen genannt, vor. Sie können sich heimblasen und in solenner Weise heimleuchten lassen, wie das Gemeindestatut ausdrücklich bestimmt. — Ihre Amtsgewalt wird bezeichnet als imperium und potestas, so daß im Nothfall der duovir, oder sein Stellvertreter an der Spitze der Inwohner ins Feld ziehen muß, um das Stadtgebiet

[1]) Daher der Ausdruck: locus in modum municipii exstructus, den Tac. h. 1, 67 gebraucht.

[2]) So in Camulodunum, in Thamugadi, in Sarmizegetusa. Vgl. auch Maionica, Aquileia zur Römerzeit (Görz, 1881. Progr.); Mommsen in Hermes 7, 299 f.

[3]) Josephus antiqu. 15, 18, 1.

zu schützen[1]). Im Frieden d. h. also für gewöhnlich ist er iure dicundo und übt nach Maßgabe des Munizipalstatuts, dessen Bestimmungen vielfach an die altrömische Gesetzgebung erinnern,[2]) die Befugnisse des Richters; daß die Art und Weise wie er dies that, nicht gleichgültig war, zeigt eine Inschrift aus der Kolonie Antiochia Pisidiae, wonach einem duovir wegen seiner billigen und rechtlichen Amtsführung der Dank des Volkes votirt wurde[3]). Auch die aediles, wo diese vorhanden sind, haben Gerichtsbarkeit und sind insofern Kollegen der II viri, so daß sie mit denselben ein Viererkollegium (IIII viri) bilden; wie in Rom die Prätoren als collegae minores der Konsuln galten[4]). — Jedes fünfte Jahr, wenn der Census abgehalten wurde, fungiren diese Magistratspersonen als quinquennales censoria potestate. In sacraler Hinsicht üben die Munizipalmagistrate nicht minder die Befugnisse der römischen. Wenn eine ara einzuweihen war, vollzog einer der duoviri den feierlichen Akt, indem der pontifex ihm voranschritt und die Gebetsformel vorsprach; zuweilen mit ausdrücklicher Berufung auf den Stiftbrief der ara Dianae in monte Aventino, den König Servius Tullius ausgestellt hatte und dessen Bestimmungen tralaticisch übernommen wurden[5]).

Im Gemeinderath sollten nach dem alten Schema 100 Mitglieder (decuriones) ihren Sitz haben, in kleineren Munizipien begnügte man sich mit 50[6]). Die Rang- und Stimmordnung entspricht der römischen; zuerst gaben die gewesenen Magistrate

---

[1]) lex Genet. c. 103.

[2]) In der lex Genet. finden sich Anklänge an die XII Tafelgesetzgebung, namentlich auch hinsichtlich der Strenge, mit der gegen säumige Schuldner vorgegangen wird. In Karthago war das XII Tafelgesetz auf dem Forum öffentlich ausgestellt. Cyprian. ad Donat. 10; vgl. Salvian, gub. dei 8, 5, 24.

[3]) Corp. III suppl. 6844 = Sterret, an epigr. journey n. 116: universo postulante populo ob aequam et integram iurisdictionem.

[4]) Staatsr. 2, 72. 75 (2. Aufl.).

[5]) So in Narbo, in Salonae. Vgl. Jordan in Hermes 7, 201 ff.; Mommsen, Staatsr. 3, 614 Anm. 3 und neuerdings J. Schmidt im Rhein. Museum 44 (1889), 481.

[6]) So zu Tymandos in Pisidien. Vgl. Hermes 22, 322.

der Reihenfolge nach die Stimme ab, zuletzt die pedanei, d. h. diejenigen Decurionen, die, ohne eine Magistratur bekleidet zu haben, durch Allektion in die Kurie gekommen waren (entsprechend den pedarii des Senats).

Gemäß der Geschäftsordnung geht allen anderen Referaten jenes de divinis voraus, das die antretenden duoviri im Gemeinderathe binnen zehn Tagen zu erstatten verpflichtet sind. Der volksthümlichen Superstition, zumal den prodigia wird, wie zu erwarten, auch in den Munizipien nicht geringe Aufmerksamkeit geschenkt[1]), wobei die munizipalen pontifices und augures den sachverständigen Beirath bilden. Überdies befand sich unter der Dienerschaft sowohl der duoviri als der aediles je ein wohlbestallter haruspex[2]). Die Disziplin der Vogelschau wurde fleißig geübt: wir kennen aus Spanien einen avium inspex und die eingehendste Auseinandersetzung über die auspicia ex avibus gibt eine Handschrift von Isidor's Origines[3]). — Die Eintheilung der Bürgerschaft (populus, plebs) wie sie bei den Wahlen der Magistrate, bei Vertheilung der Spenden, bei Begräbnissen[4]) u. s. w. zur Geltung kam, entsprach entweder den altlatinischen Kurien oder den Servianischen Tribus, die auch nach römischen Kolonien verpflanzt wurden, wie wir durch die lex Genetivae erfuhren. Daß es bei den munizipalen Wahlen recht lebhaft zugehen konnte, beweisen die in Pompei gefundenen Wahlaufrufe, das Verbot des ambitus in der lex Genetiva u. a. — Neben den coloni stehen die incolae, d. h. die Angehörigen anderer römischer oder latinischer Gemeinden, die nur in einem

[1]) Vgl. bezüglich Camulodunums (im Jahre 61 n. Chr.) Tac. ann. 14, 32

[2]) Vgl. lex Genet. c. 62. Ein haruspex in Apulum Corp. 3, 1114 f. Noch im 6. Jahrhundert n. Chr. galten die Etrusker als die besten Vertreter dieser Disziplin; vgl. Procop. b. G. IV, 21: *μαντικοί καὶ ἐς ἐμὲ Τυῤῥηνοί.*

[3]) Der avium inspex erscheint in einer Inschrift aus Astorga (Asturica Augusta); vgl. Hübner in Hermes 1, 437. Über die Vogelschau Lindemann, Corp. gramm. Lat. 3, 637 zu Isidor, Orig.

[4]) Vgl. Schieß, die röm. Collegia funeraticia S. 39 für Lambaesis. Über ein Gesammtgrab der Tribulen der Pollia in Rom Staatsr. 3, IX Anm. 1. Über die Kurienordnung in Afrika J. Schmidt, Rhein. Mus. 1890 S. 599 ff.

Stimmbezirk, der jedesmal ausgelooſt wurde, ihre Stimme abgeben durften, wie einſt in Rom die Latini. Ferner die Libertinen, denen zwar Caeſar in ſeinen Kolonien (auch der Genetiva) ſogar den Zutritt zu Magiſtratur und Decurionat eröffnet hatte, die aber Auguſtus wieder ausſchloß und als einen Stand für ſich organiſirte, der in verſchiedenen Gegenden von verſchiedener Bedeutung war[1]). Dann ſind noch die attributi oder contributi zu erwähnen, die innerhalb der Gemeinde etwa die Stellung einnahmen, wie ſeiner Zeit die Plebejer zu den Patriziern in Rom; jedenfalls waren ſie minderen Rechtes und mußten ſich die Gleichberechtigung mit den Munizipalen erſt erwerben; was indes ohne „Ständekampf" von Statten ging, da die beiderſeitigen Intereſſen einer Verſchmelzung zu ſehr das Wort ſprachen und im Übrigen die Regierung des Staates intervenirte, welche ja im Beſitze der tribunicia potestas war. — Selbſt zur Magiſtratur wurden Attribuirte, ſobald ſie das Latiniſche Recht hatten, zugelaſſen, da deren Bekleidung nicht nur eine Ehre, ſondern auch mit vielen Unkoſten verbunden war. — Wer immer die Stellung der Plebs innerhalb des römiſchen Gemeinweſens richtig würdigen will, darf künftighin das wichtige Kapitel über die „Attribuirten" nicht außer Acht laſſen. Auch die Begriffe von ager publicus, von commercium u. ſ. w. erfahren dadurch Aufklärung.

Ich will auf weitere Einzelnheiten nicht eingehen; aber ſo viel iſt klar, daß in den Munizipalrechten (beſonders der lex Genetivae) ein tralaticiſches Element zu Grunde liegt, das alle Entwickelungsſtufen der römiſchen Gemeinde repräſentirt: die Königszeit[2]), die Zeit der Decemvirn, die der galliſchen und puniſchen Kämpfe, die Zeiten Caeſar's und des Auguſtus[3]). —

[1]) Vgl. Staatsr. 3, 420 ff. Über die vindictarii in den kleinaſiatiſchen Städten (Sylleion) vgl. Mommſen in Zeitſchrift der Savigny-Stiftung 1890 S. 303 f.

[2]) So Mommſen in Bezug auf die Beſtimmungen der lex Genet. über die Gemeindefrohnden. Staatsr. 3, 227.

[3]) In Bezug auf die jüngeren Beſtandtheile der lex Genet., die auf Caeſar oder auf Zuſätze des Auguſtus zurückgehen, vgl. neuerdings H. Niſſen im Rhein. Muſ. 44 (1890), 100 ff.

Freilich, manche Thatsachen bleiben unaufgeklärt, z. B. warum hier duoviri, dort IIII viri die Magistratur bilden[1]), warum nur in Afrika der lupa, nur in Hispanien der scrofa Dedikationen zu Theil werden, warum nur gerade in Hispanien Stadtrechte zu Tage gekommen sind[2]); endlich der Zusammenhang, der zwischen den italischen Gemeindeordnungen, namentlich Caesar's lex Julia municipalis und denen der Provinzen vorhanden ist.

Die letzte Frage ist wichtig und kann nur in einem weiteren Zusammenhange und von mehreren Gesichtspunkten aus gewürdigt werden[3]).

Im allgemeinen scheint festzustehen, daß für je eine Gruppe von Gründungen eine gewisse Gleichmäßigkeit beliebt wurde; man kann diesen Zug schon in Italien verfolgen, wo z. B. das Recht von Caere und das von Ariminum maßgebend waren, das erstere seit dem 4. Jahrhundert v. Chr. für einen großen Theil der cives sine suffragio, das letztere seit dem Jahre 268 v. Chr. für alle jüngeren latinischen Kolonien[4]). Ferner wurden die sog. Seekolonien (coloniae maritimae) auf einem gleichen Fuße behandelt. Als während des hannibalischen Krieges die Kolonien dieser Kategorie auf Grund ihrer Privilegien sich weigerten, Felddienst zu leisten, forderte der Senat ihnen die Statuten ab. In Folge der vorgenommenen Revision wurde jene Befreiung vom Felddienst nur Ostia und Antium zuerkannt[5]), während man für die übrigen den Grundsatz formulirte, daß bei tumultus Italicus, also wenn der Feind auf italischem Boden stand, keinerlei Befreiungsgrund gültig sein sollte; was man nach der Katastrophe von 389 v. Chr. für den Fall des tumultus Gallicus bereits proklamirt hatte. Seitdem ging dieser Grundsatz in die Statuten jeder neugegründeten Kolonie über[6]).

---

[1]) Vgl. Marquardt 1², 152 f.; Mommsen in Hermes 16, 40 f.

[2]) Vgl. hierüber Giraud im Journal des Savants 1876 p. 755 f.

[3]) Über das Verhältnis der lex Julia municipalis zur lex Genetivae im allgemeinen vgl. Nissen a. a. O.

[4]) Vgl. Staatsrecht 3, 572. 624.

[5]) Liv. 27, 38; vgl. 36, 3. Mommsen, Staatsr. 3, 241 f.

[6]) Vgl. Ephem. epigr. 3, 100.

Eine Gruppe für sich sehen wir sodann die nach dem Ausgang des Hannibal'schen Krieges auf gallischem Boden angelegten Kolonien und Orte bilden. Dieselben wurden, soweit sie römisches Bürgerrecht hatten, der tribus Pollia zugeschrieben — des guten Omens wegen, das bei militärischen Gründungen immer Beachtung fand; daher denn die Pollia auch späterhin die rechte Soldatentribus gewesen und geblieben ist[1]). Wie Mutina, Parma, Eporedia so erscheint übrigens Narbo Martius im transalpinischen Gebiet, weil es eine analoge Gründung war, zunächst ebenfalls der tribus Pollia zugeschrieben und erst unter Augustus aus dieser in die Papiria versetzt[2]). — Auch hinsichtlich der übrigen Gemeinden in der Gallia cisalpina erfolgte eine gleichmäßige Regelung der Verhältnisse, indem nach der Ertheilung des Bürgerrechtes an dieselben ihrer geänderten Jurisdiktionskompetenz gemeinsam Rechnung getragen wurde[3]).

Eine weitere Gruppe entstand in Hispanien, wo schon vor den Gracchen aus dem römischen Garnisonsleben heraus sich Orte italischer Art entwickelten; so Italica, Carteia u. a. Über Carteia sind wir näher unterrichtet, da die Konstituirung des Ortes als latinische Kolonie im Senat auf die Bitten der Soldaten hin beschlossen wurde, welche mit hispanischen Weibern an die 4000 Kinder erzeugt hatten[4]). Nach demselben Muster

---

[1]) Pollia von pollere, im Griechischen *εὐτυχεῖν*, daher z. B. der Name Pollio mit *Εὐτυχής* gegeben wird. Vgl. im übrigen E. Bormann, die tribus Pollia. Archäol.-epigr. Mitth. aus Österreich-Ungarn 10, 226 f. — Über die tribus Galeria der ligurischen Städte Luna, Genua, Veleia vgl. Corp. 11, 273.

[2]) Vgl. Corp. 10, 6011 mit Mommsen's Anmerkung und O. Hirschfeld, Corp. 12, 522. Cicero pro Fonteio 46 [36] bemerkt in Bezug auf Narbo: ut oportet bello Gallico, ut maiorum iura moresque praescribunt, nemo est civis Romanus, qui sibi ulla excusatione utendum putet. Die bekannte Bestimmung über den tumultus Gallicus wird also hier im Statut gestanden haben.

[3]) Durch die lex Rubria; vgl. Marquardt 1², 67 f.; Mommsen in Hermes 16, 24 f.

[4]) Vgl. Liv. 43, 3. Hiezu Staatsr. 3, 624, und nachträglich S. XIII f. Anm. 1. Carteia hieß daher colonia Latina Libertinorum, und es zeigt

erfolgte ohne Zweifel die Konstituirung von Gracchurris (benannt nach dem Vater der beiden berühmten Gracchen), Valentia (gegründet 138 v. Chr.), von Palma und Pollentia auf den balearischen Inseln, wohin im Jahre 123 v. Chr. Cäcilius Metellus „Römer aus Hispanien" übersiedelte[1]), später von Metellinum, Corduba, Carthago nova, Tarraco (Scipionum opus) und anderen schon in der vorcaesarischen Zeit aufblühenden Orten.

Für die spätere Zeit besitzen wir die „hispanischen Stadtrechte". Die Statuten von Malaca und Salpensa enthalten das Recht für die unter Vespasian mit dem Latium beschenkten spanischen Gemeinden. Die lex Genetivae, die selbst nach dem Muster der Statuten von Mutina, Parma, Eporedia, Narbo abgefaßt sein muß[2]), war, wie es scheint, das Recht noch anderer römisch konstituirten Gemeinden, da man neuerdings ein Bruchstück jener lex auch im Norden von Hispanien entdeckt hat[3]). Überdies sehen wir seit Augustus ganze Landschaften oder innerhalb derselben gewisse Gruppen der gleichen Tribus zugeschrieben,

---

sich, inwiefern die Freigelassenen auch in den Provinzen für die römische Kolonisation herangezogen wurden, wie früher nach einer Äußerung des Königs Philipp V. von Macedonien (Hermes 17, 469) in Italien.

[1]) Strabo 3, 5, 2: *εἰσήγαγε δὲ ἐποίκους τρισχιλίους τῶν ἐκ τῆς Ἰβηρίας Ῥωμαίων.* Mommsen, Röm. Gesch. 2[5], 18, nennt sie „spanische Latiner". — Die Namen Valentia und Pollentia hatten auch zwei auf italischen (resp. cisalpinischen) Boden deduzirte Kolonien; es sind dies miliärische Kraftworte, ähnlich wie Hasta, Parma u. s. w.

[2]) Die darin enthaltenen Bestimmungen bezüglich des tumultus Italicus und Gallicus hatten für Hispanien keinen Sinn. Eines tumultus in Hispania thut Liv. 35, 2 Erwähnung, infolge dessen dort tumultuarii milites ausgehoben werden sollten, wie ja in bedrohten Grenzgegenden, z. B. früher in Emporiae und in Massilia, später noch in Tomi oder in Olbia, permanenter Wachtdienst eingeführt war, und namentlich auch die in älterer Zeit in Italien gegründeten römischen Kolonien, wie z. B. Anxur (vgl. Liv. 5, 8. 13) sich ähnlich verhalten mußten.

[3]) Vgl. Hübner in der D. Literaturzeitung 1888 Mai 19 (Recension von Asturias monumental, epigráfica y diplomatica, datos para la historia de la provincia por D. Ciriaco Miguel Vigil I. 1887); er erwähnt ein zu Oviedo befindliches Bruchstück des Stadtrechtes der Genetiva. Hübner spricht die Vermuthung aus, daß eine Rezeption jenes Stadtrechts stattgefunden habe.

wie z. B. die Narbonensis der Voltinia, Aquitanien der Quirina, Norikum der Claudia u. s. w., was auf eine einheitliche Konstituirung der betreffenden Orte zurückzuführen sein wird. Die „Kaisertribus", d. h. die Verleihung der Tribus, die der regierende Kaiser hatte, an die von ihm konstituirten Städte[1]), besagt auch nichts anderes, als daß man sich im Laufe der Zeit einer immer größeren Uniformität befleißigte.

Die neue Ära der Koloniegründungen in den Provinzen datirt bekanntlich erst seit Julius Caesar, da bis dahin die oligarchische Regierung den von den Gracchen und ihren Nachfolgern entworfenen Plänen sich widersetzt hatte. So war die „Junonische Kolonie" auf dem Boden Karthagos nach dem Sturze des C. Gracchus wieder eingegangen; selbst Narbo Martius, das zur Aufrechthaltung der Verbindung zwischen Gallia cisalpina und Hispanien unbedingt nothwendig war, kam erst nach erregten Debatten im Senat zu Stande[2]). Es blieb während der Herrschaft der Oligarchie fast die einzige römische Bürgerkolonie außerhalb der Appenninenhalbinsel[3]).

---

[1]) Vgl. Mommsen, Ephem. epigr. 3, 230 ff.; Kubitschek, de Romanor. tribuum origine ac propagatione (Wien 1882) p. 115 ff. Die Festhaltung dieser gruppenmäßigen Konstituirungen kann unter Umständen von Wichtigkeit sein, z. B. wenn man die munizipalen Verhältnisse Raetiens erwägt, wo in der dazu gehörigen Vallis poenina die fora durch Claudius latinisches Recht erhielten. Augusta Vindelicorum muß im 1. Jahrhundert n. Chr. dieselbe Rechtsstellung gehabt haben. Eine Änderung trat hier wie dort unter Hadrian ein; Augusta Vindelicorum erscheint seitdem als municipium Aelium; in der vallis Poenina die tribus Hadrian's, die Sergia, was im Zusammenhange stehen wird. Vgl. meine Auseinandersetzungen über die Rechtsstellung der alpinen civitates in den „Wiener Studien" 11 (1890), 98 ff.

[2]) Es handelte sich dabei um die Frage nach dem Bodenrecht in den Provinzen; vgl. Staatsr. 3, 733 ff.

[3]) Wenn es im bell. Hispan. 7, 4 von den Legionen des Cn. Pompeius heißt: una facta ex coloniis quae fuerunt in his regionibus, so meinte Mommsen in Hermes 1, 100, „daß coloniæ bei einem plebeischen Autor verstanden werden könnte von den fundi der in den pagis und vicis jener Gegend zerstreut lebenden, ausgedienten, römischen Bürger". Es ist ein allgemeinerer Ausdruck, der sich auch auf eine Kolonie latinischen Rechtes, wie Carteia, erstreckte. — Mariana auf Korsika ist eine Gründung des C. Marius.

582203

Indem Caesar mit der Politik des Senates in der radikalsten Weise brach, gründete er Kolonien auf dem den Massalioten abgenommenen Gebiet und in Hispanien auf Kosten der pompeianisch gesinnten Gemeinwesen; er stellte, wie früher Capua, so jetzt Karthago und Korinth wieder her. Auf ihn gehen auch die Anfänge des römischen Städtewesens im neueroberten gallischen Gebiet (colonia Equestris, Lugudunum, Rauraca) und in Illyrikum (Salonae) zurück, wenn gleich die Konstituirung derselben zum Theil erst nach seinem Tode erfolgte[1]).

Großartig war dann die Thätigkeit des Augustus für die Reorganisation des Munizipalwesens, wo u. a. die Libertinenvertretung der Augustalen auf ihn zurückgeht; was für die Finanzwirthschaft der Munizipien insofern von Bedeutung war, als nunmehr die Vorstände der Freigelassenen ebenso zu Spenden und Leistungen für öffentliche Zwecke herangezogen werden konnten, wie die ordentlichen Magistrate[2]). — Überdies wurden von Augustus fast in jeder Provinz Kolonien begründet, wie er im Monumentum Ancyranum selbst rühmt[3]), und dadurch der weiteren Entwickelung die Bahn gewiesen.

Sein Nachfolger Tiberius begnügte sich, das Augustische System auszubauen, so daß von Gründungen desselben kaum die Rede ist, wohl aber von coloniae Juliae Augustae in Provinzen, auf die Augustus seine Thätigkeit nicht erstreckt hat, wie Sardinien und Bithynien; infolge dessen diese Kolonien dem Tiberius zuzuschreiben sein werden[4]). Unter der kurzen Regie-

---

[1]) Über die Kolonien Illyrikums vgl. Cuntz, de Augusto Plinii geographicor. auctore p. 20; in den neugewonnenen gallischen Gebieten Mommsen, res gestæ divi Augusti p. 120.

[2]) Vgl. hierüber Staatsr. 3, 454 ff.

[3]) Augustus sagt Mon. Ancyr. c. 28: colonias in Africa, Sicilia, Macedonia, utraque Hispania, Achaia, Asia, Syria, Gallia, Narbonensi, Pisidia militum deduxi. Hiezu Mommsen's Kommentar in der zweiten Ausgabe S. 119.

[4]) Vgl. O. Cuntz, de Augusto Plinii geographicorum auctore (diss. Bonn 1888) p. 19 f.: de coloniis Tiberianis excursus. Er glaubt, daß die colonia Julia Augusta Uselis auf Sardinien, ferner die colonia Julia Concordia Apamea und die colonia Julia Felix Sinope in Bithynien,

rung des Gaius kam man nicht weiter, außer daß damals vielleicht Vienna neu konstituirt wurde[1]) und die Organisation des eben dem Reiche einverleibten Mauretaniens, die zum Theil schon früher in der Zeit der Selbständigkeit des Königreiches unter Augustus begonnen hatte[2]), einen neuen Anstoß erhielt.

Diese wurde von Claudius vollendet, dessen Regierung überhaupt für das italische Städtewesen in den Provinzen einen nicht zu unterschätzenden Fortschritt bedeutet[3]). So in den alpinen Landschaften, wo Nero diese Thätigkeit fortsetzte, in Germanien, wo das oppidum Ubiorum als Kolonie konstituirt wurde, in der Belgica, wo allem Anschein nach das oppidum der Trevirer von ihm Stadtrecht empfing, in Britannien, wo Camulodunum seine Gründung ist, in Thracien und, wie wir sehen werden, auch in Pisidien.

Eine neue Ära begann nach den Stürmen des Vierkaiserjahres. Vespasian machte Aventicum, den Hauptort der Helvetier, zur Kolonie und konstituirte in Norikum Flavium Solvense, ebenso die hispanischen civitates von bisher peregriner Rechtsstellung im Jahre 75 n. Chr. als municipia Flavia; er führte in Afrika das concilium provinciae ein, an dem die Kommunen Antheil zu nehmen hatten; endlich beförderten die flavischen Kaiser das Städtewesen im südlichen Pannonien (Siscia, Sirmium) und in Moesien (Scupi), speziell Domitian auch die nachher recht gut sich entwickelnden Anfänge im neuokkupirten südwestlichen Germanien (arae Flaviae).

Von Kaiser Nerva erhielt Sitifis in Afrika Stadtrecht, von Traian die colonia Ulpia Traiana am Rhein, Ratiaria und

---

da im Mon. Ancyr. a. a. O. von Koloniegründungen in diesen Provinzen nicht die Rede ist, auf Tiberius zurückgehen müßten. Vgl. auch Mommsen, Hermes 18, 184. Bezüglich Virunums in Norikum Corp. 3, 597; Hermes 7, 301.

[1]) Vgl. Corp. 12, 218 f.; O. Cuntz a. a. O. S. 14 Anm. 5.

[2]) Vgl. Marquardt, röm. Staatsverw. 1², 487; Mommsen, res g. divi Aug. p. 121.

[3]) Vgl. die Würdigung dieser Thätigkeit der Claudischen Zeit durch Mommsen, Hermes 19, 77 f.

Oescus an der Donau, Sarmizegetusa in Dacien; ebenso in Afrika Hadrumetum und Thamugadi, wahrscheinlich aber noch andere Städte[1]). Und so ging es fort unter dem vielfach nach neuen Gesichtspunkten sich richtenden Hadrian, unter den Antoninen, welche die zivilisirten Landschaften begünstigten, unter Septimius Severus und den folgenden Kaisern, welche sich auf den militärisch kräftigen Barbarismus im Reiche stützten.

Das Ziel, das trotz aller Systemwechsel stetig im Auge behalten wurde, war die munizipale Organisation vollständig durchzuführen und sie zum Träger der unteren Instanz im ganzen Reiche zu gestalten. Damit vollzog sich zugleich die Assimilation der unterworfenen Landschaften an das italische Wesen.

In Bezug auf die Rechtsstellung der Gemeinden gab es in der Provinz dieselben Kategorien, wie vor dem Bundesgenossenkriege in Italien[2]). So in der Gallia cisalpina, wo im Jahre 89 v. Chr. den bisher föderirten Gemeinden das latinische Recht verliehen worden war, an dessen Stelle im Jahre 49 v. Chr. das volle Bürgerrecht trat; jedoch nicht ohne daß die den Städten zugetheilten (attribuirten) Thalschaften noch längere Zeit bloß das Latium besessen hätten[3]). In ähnlicher Weise wurden in der Narbonensis, sei es durch Cäsar, sei es durch Augustus, diejenigen Vororte, welche nicht wie Forum Julii, Arelate, Arausio, Baeterrae durch Deduktion von Veteranen zu Bürgerkolonien umgeschaffen oder wie Narbo als solche verstärkt worden waren, mit dem Latium betheilt, kraft welcher Rechtsstellung die Personen, die in die Magistratur gewählt wurden, das römische Bürgerrecht erlangten[4]).

Nachher gelangte das Latium auch in den anderen Provinzen zu ziemlicher Verbreitung: in Aquitanien und in der

---

[1]) Vgl. Mommsen in Ephem. epigr. 3, 235 f.

[2]) Abgesehen von den aus den frühesten Zeiten stammenden Kategorien der älteren Latinität (Staatsr. 3, 623 f.) u. s. w.

[3]) Vgl. Mommsen im Staatsrecht 3, 768.

[4]) So Strabo 4, 1, 12 über Nemausus. Im übrigen vgl. O. Hirschfeld, zur Gesch. des latin. Rechts (1879), dessen Ausführungen durch Mommsen, Hermes Bd. 16 und 19, modifizirt sind.

Baetica; in den Alpenländern: den Alpes Cottiae, der vallis Poenina, Raetien, Norikum, bei den Helvetii; am Rhein, in den Donauländern, in ganz Hispanien, in Afrika[1]). Das Latium war die Vorstufe zur Erlangung des Bürgerrechtes und einer der Schrittsteine zur „Romanisirung" auf „munizipalem Wege."

Hiebei sehen wir die Regierung von verschiedenen Gesichtspunkten aus eingreifen. Bei der Konstituirung der coloniae Latinae in der Narbonensis scheinen noch militärische Absichten für die Sicherung dieser Provinz maßgebend gewesen zu sein, da mehrere davon mit Mauern umgeben wurden[2]); so daß also durch die verbesserte Rechtsstellung die Einwohner in das italische Interesse hereingezogen werden sollten. Unter Kaiser Claudius kam in Betracht, daß die Latini coloniarii ebensowohl für die Legionen rekrutirt werden konnten, wie für die Auxiliartruppen. Nach dem Sturze Nero's wetteiferten die Prätendenten durch Verleihung des Latiums sich Anhänger zu werben; während Vespasian seiner ganzen Politik treu, billigen Ansprüchen gerne entgegenkam, allerdings auch zunächst die Anhänger des Galba bevorzugte.

Eine weitere Begünstigung war es, wenn die Latini coloniarii mit dem Bürgerrecht betheilt wurden. Aber auch da gab es noch Abstufungen, indem z. B. die Provinzialen trotz des Bürgerrechtes nicht zu den Reichsämtern in Rom und also auch

---

[1]) Vgl. Ephem. epigr. 5 n. 748 in Bezug auf Lambaesis und Gemellæ und hiezu Mommsen's Anmerkung.

[2]) Dies betont C. Jullian im Journal des savants 1889 p. 370 ff., indem er die Anhäufung von Kolonien in der Narbonensis mit jener in der Cisalpina während der vorhergehenden Epoche vergleicht und auf die Wichtigkeit der Straßenzüge in der Narbonensis für die Verbindung sowohl nach Hispanien, wie nordwärts nach den germanischen Grenzlandschaften verweist. In der That erhielt z. B. Nemausus Thore und Mauern durch Augustus (Corp. 12, 3151 vgl. p 382); ähnlich war es zu Vienna (n. 6034). Daß eine Kolonie keine Befestigungswerke hatte, kam vor und erwies sich für Camulodunum in Britannien im Jahre 61 n. Chr. sogar als verhängnisvoll. Vgl. Tac. Ann. 14, 31: nec arduum videbatur excindere coloniam nullis munimentis saeptam; quod ducibus nostris parum provisum erat, dum amoenitati prius quam usui consulitur.

nicht in den Senat zugelassen wurden. In dieser Beziehung trat erst mit der Zeit eine Änderung ein, zunächst für gewisse Landschaften, wie z. B. unter Claudius für Gallien und vielleicht auch Hispanien, dann unter Vespasian für die ziviliſirteren Landschaften überhaupt[1]).

Von Wichtigkeit war die Stellung der deduzirten Kolonisten zu der enchorischen Bevölkerung. Vielfach standen die neuen Ansiedler ganz für sich da, wie dies z. B. bei den Veteranenkolonien des Julius Caesar in der Narbonensis der Fall gewesen sein dürfte[2]). Da erscheint neben den wohlbekannten italischen Namen der Ansiedler — man kann danach z. B. in Narbo sogar die Gegend erkennen, aus der die unter Julius Caesar hier angesiedelten Legionare stammten, nämlich Picenum, Umbrien, Etrurien[3]) — kaum ein keltischer Namen. Hier trat also das neue Element unvermittelt an die Stelle des alten, das dafür in den coloniae Latinae desto stärker vertreten war, wie denn eben Vienna sich nach wie vor als das Haupt der Allobroger fühlte[4]).

Es entsprach dies der Politik, die man in Hispanien schon bei der Gründung der ersten außeritalischen Kolonie latinischen Rechtes befolgt hatte, nämlich im Jahre 171 v. Chr. bei Carteia. Man gestattete der bisherigen Bevölkerung von Carteia sich in die Kolonie aufnehmen zu lassen zu gleichem Rechte mit den

---

[1]) Staatsr. 3, 876. Es notirte jede Provinz sich die Landsleute, die zuerst in den Senat kamen, so die Asiaten, Pannonier u. s. w.; wie die Aeduer sich rühmten, zuerst aus den Galliern in die römische Kurie gekommen zu sein. Tac. ann. 11, 25.

[2]) Zum Vergleich können die Verhältnisse in den kampanischen Kolonien Caesar's, wie sie nach seinem Tod hervortreten (Nikol. Damasc. c. 31 f.), sowie die von Camulodunum (Tac. ann. 14, 31 f.) herangezogen werden.

[3]) Vgl. O. Hirschfeld, Beiträge zur Geschichte der narbonensischen Provinz (Westd. Zeitschrift 1889) S. 13 f.

[4]) Tacitus, ann. 14, 33, gebraucht von Londinium den Ausdruck: cognomento quidem coloniæ non insigne, woraus zu schließen ist, daß anderswo dieses cognomentum allerdings ertheilt wurde. Mommsen und Hirschfeld glauben dies in Bezug auf die col. Latinæ der Narbonensis.

deduzirten Sprößlingen der römischen Soldaten[1]). Bezeichnend sind auch die Verhältnisse, die Livius für Emporiae (in der Tarraconensis) berichtet. Hier verschmolzen zunächst die Hispaner mit den von Julius Cäsar hieher geführten römischen Kolonisten, während das griechische Element, wie in der Narbonensis (Massilia), in Sizilien und selbst in Italien (Neapolis), sich spröder verhielt. Doch bekamen zuletzt auch die Griechen das römische Bürgerrecht[2]).

Aus dem Jahre 70 n. Chr. werden wir über die Bevölkerungsverhältnisse der colonia Aggrippina (Köln) unterrichtet. Den Grundstock der Bevölkerung bilden noch die Ubier, in deren oppidum die Kolonie deduzirt ist. Nachher sind Kaufleute u. s. w. hiehergezogen. Alle genießen dasselbe Stadtrecht und sind durch Zwischenheiraten miteinander so verbunden, daß die Ubier es ablehnen, mit den aufständischen germanischen und belgischen Stämmen gemeinsame Sache zu machen[3]).

Anders lagen die Verhältnisse im Jahre 61 n. Chr. in Britannien, da sich dieselben seit der Okkupation noch nicht konsolidirt hatten. Als der Aufstand ausbrach, wendete sich der Groll der Insurgenten sofort gegen die Kolonie Camulodunum wo die angesiedelten Veteranen es an Überhebung nicht hatten fehlen lassen[4]), und auch das kaufmännische Element wurde nicht

---

[1]) Liv. 43, 3: qui Carteiensium domi manere vellent, potestatem fore, uti numero colonorum essent, agro adsignato.

[2]) Liv. 34, 9: tertium genus Romani coloni ab divo Caesare post devictos Pompei liberos adiecti. nunc in corpus unum confusi omnes Hispanis prius, postremo et Graecis in civitatem Romanam adscitis.

[3]) Tac. h. 4, 65. Die Ubier antworten den Aufständischen: deductis olim et nobiscum per conubium sociatis, quique mox provenerunt, haec patria est ... ut interfici a nobis parentes fratres liberos nostros velitis. Man sieht, daß hier die enchorischen und die zugesiedelten Elemente sich verbanden, wie wir das in Emporiä sahen und wie es in der älteren Geschichte zuerst in Antium vorkommt; vgl. Liv. 8, 14; Mommsen, Staatsrecht 3, 778.

[4]) Tacitus sagt, ann. 12, 32, über die Begründung der Kolonie im Jahre 50 n. Chr, wonach Silurum gens non atrocitate, non clementia mutabatur, quia bellum exerceret castrisque legionum premenda foret. Colonia Camulodunum valida veteranorum deducitur in agros captivos,

verschont. — Wie sehr die Kolonien auf den Rückhalt des Mutterlandes angewiesen waren, zeigt überdies die Haltung von Lugudunum im Jahre 68, wo es dem Kaiser Nero treu blieb, im Gegensatz zu den keltischen Gauen und namentlich auch zu Vienna[1]).

Die Assimilirung ging, wie seiner Zeit in Italien, nicht ohne Reibungen vor sich und bedurfte zu ihrer Durchführung vollauf der Ruhe, wie sie nach dem Vierkaiserjahr wieder auf fast zwei Jahrhunderte eintrat. Es ist bezeichnend, daß bei den Schriftstellern Ausdrücke, die früher streng unterschieden waren, in sehr verallgemeinerter Bedeutung gebraucht wurden, so zwar daß man aus Plinius dem Älteren nicht entnehmen kann, was colonia c. R. oder colonia Latina ist; Tacitus nennt Augusta Vindelicorum, das erst unter Hadrian Munizipalrecht erhielt, bis dahin aber rechtlich bloß forum war, ohne weiteres colonia[2]); Nikopolis in Epirus, das Augustus zum Andenken an den Sieg bei Actium durch den Synoikismus mehrerer Gemeinden gegründet, aber gar nicht als Stadt nach italischer Art konstituirt hatte, ist ihm gleichwohl colonia Romana[3]). Auch sonst treten die Verschiedenheiten zurück. Die Orte latinischen Rechts sind in der Narbonensis coloniae, in Norikum und Hispanien municipia,

subsidium adversus rebelles et inbuendis sociis ad officia legum. Nach 14, 31 schließen sich die Trinobanten der Rebellion an, in deren Gebiet die Kolonie lag, acerrimo in veteranos odio. Quippe in coloniam Camulodunum recens deducti pellebant domibus, exturbabant agris, captivos, servos appellando, foventibus inpotentiam veteranorum militibus similitudine vitae et spe eiusdem licentiae. Man deduzirte die Legionssoldaten, welche zusammengedient hatten, auch jetzt noch in der Regel an einen und denselben Ort. Vgl. Tac. ann 14, 27, wonach die Neronischen Kolonien in Italien nicht florirten, weil man sich hier von der alten Regel entfernte; auch ann. 1, 44.

[1]) Vgl. Tac. hist. 1, 65; hiezu Mommsen, Hermes 13, 94. Die Lugudunenser ermuntern die Vitellianer zur Plünderung von Vienna; exscinderent sedem Gallici belli: cuncta illic externa et hostilia; se coloniam Romanam et partem exercitus et prosperarum adversarumque rerum socios.

[2]) Tacit. Germ. c. 41.

[3]) Tacit. ann. 5, 10. Vgl. Mommsen, röm. Gesch. 5, 271.

in den Alpes Poeninae und bei den angrenzenden Centrones fora, die doch wieder so selbständig gestellt zu sein scheinen, wie dort die coloniae oder municipia[1]). — Mitunter stellten municipia, die seit alter Zeit ihr eigenes Statut hatten, so unter Hadrian Italica und Utica, das Ansuchen, daß ihnen das Recht der Kolonien verliehen werden möge; was weiter keinem Anstand unterlag und nur die Uniformirung förderte[2]).

Daneben erhielten sich die Verschiedenheiten der landschaftlichen Entwicklung, mit denen die Regierung rechnen mußte und auch thatsächlich gerechnet hat.

Im inneren Gallien dauerten die althergebrachten Stammverbände und das Gausystem fort; so selbst zum Theil in der Narbonensis, wo z. B. das Territorium der Allobroger in Gaue (der größte davon das heutige Savoyen) zerfiel, die für sich administrirt wurden[3]); neben Vienna zweigten sich später Cularo (Gratianopolis) und Genava als selbständige Stadtgebiete ab. Bei den Vokontiern entwickelten sich zwei Vororte, Vasio und Lucus Augusti, zu Städten, was eben die Abweichung vom italischen System zeigt[4]).

In den III Galliae schuf die Organisation des Augustus 60 (später 64) Mittelpunkte durch Attribuirung kleinerer Stämme an die größeren, wie solche schon in der Zeit Cäsars und sicherlich auch vor ihm stattgefunden hatte[5]).

Die Vorstände dieser Mittelpunkte waren der Vergobret und seine Unterbeamten, die als quaestores und aediles bezeichnet werden[6]). Die gallischen Vornehmen hatten meist schon durch

---

[1]) Vgl. Corp. insc. Lat. 12, XIII.

[2]) Gell. noct. Att. 16, 13, 4. Vgl. Hirschfeld zu Corp. Bd. 12 n. 1856.

[3]) Vgl. Ch. Morel, Genève et la colonie de Vienne (1888). Hirschfeld, Beiträge u. s. w. S. 2. Eine vorzügliche Studie gibt C. Jullian im Bull. epigraph. (1885) p. 165 ff.: un pagus de la cité d'Arles.

[4]) Vgl. O. Hirschfeld, gallische Studien Bd. 1 (Sitzungsber. d. Wiener Akad. 1883). Später kam an Stelle des abgeblühten Lucus Augusti das religiöse Centrum des Vokontierlandes, Dea, empor; a. a. O. S. 28 ff.

[5]) Vgl. Caesar b. g. 7, 9 f.; 1, 28. Mommsen, Staatsr. 3, XVIII Anm. 1.

[6]) Vgl. Hirschfeld, gall. Studien 1, 41. 44.

Julius Caesar das römische Bürgerrecht gewonnen, daher sie sich als Julii zu bezeichnen pflegten und nur durch das keltisch gebliebene Kognomen sich unterschieden. Manche dienten als tribuni militum oder auch in untergeordneterer Stellung bei den Auxiliartruppen und ließen sich dann für Orden und Pension noch weiter verwenden. Die höchste Ehre aber war es, wenn einer dieser Männer sacerdos ad templum Romae et Augusti ad confluentem Araris et Rhodani wurde und damit an die Spitze der sakralen Organisation trat, die Augustus für die III Galliae geschaffen hatte, als Gegengewicht gegen den nationalen Kultus, der hier viel langsamer als anderswo den Formen der römischen Religion sich assimilirt hat[1]). Auch als curator civium Romanorum, d. h. der römischen Bürger, die sich innerhalb eines Sprengels aufhielten, der minderen Rechtes war, machte man eine gute Figur[2]).

Die Rechtsstellung jeder einzelnen civitas war, der römischen Politik getreu, besonders verbrieft, die einen waren liberi, die anderen foederati, die Hauptsache war, daß nicht alle dasselbe Interesse hatten, und durch Steuererlässe oder das Latium oder gar das Bürgerrecht belohnt werden konnten[3]).

---

[1]) Vgl. Hirschfeld, Beiträge S. 17 ff. 48 ff.

[2]) Vgl. einige neuerlich gefundene Inschriften aus dem Gebiete der zu Aquitanien gehörigen Santones oder Santoni. Revue epigraphique du midi de la France 1887 no. 54 (Wochenschrift f. klass. Philologie 1890 Nr. 5): [sacerdo]tali, primo c[uratori] c[ivium] R[omanorum], quaestori, verg[obreto]. Ferner Revue archéol. 1888 (3, 12) p. 397 n. 170: praefecto fabrum, tribuno militum cohortis [Bel]garum, sacerdoti Romae et Augusti ad confluentem. Endlich drittens die von Mommsen in Hermes 22, 547 besprochene Inschrift: duplicario alae Atectorigiana[e], stipendis emeritis XXXII aere incisso, evocato gesatorum DC Raetorum castello Ircavio . . . Alle drei Inschriften beziehen sich auf je einen gallischen C. Julius (von der tribus Voltinia, während sonst in Aquitanien die Quirina üblich war).

[3]) So belohnte Augustus die Stadt Apollonia für die im Jahre 44 v. Chr. bewiesene Anhänglichkeit: *παρελθὼν εἰς τὴν ἀρχὴν ἐλευθερίαν τε αὐτοῖς καὶ ἀτέλειαν ἄλλας τε οὐκ ὀλίγας χάριτας ἐπιδοὺς καὶ εὐδαίμονα τὴν πόλιν ἐν τοῖς μάλιστα ποιήσας.* Nikol. Damasc. c. 17. Vgl. Philo S. 587, wo König Agrippa zu Kaiser Gaius sagt, daß er es nicht mache wie andere amici des Kaisers: *φίλων ἐνίων πατρίδας ὅλης τῆς Ῥωμαικῆς ἠξιώσας*

Man weiß, daß das städtische System in der III Galliae zur Durchführung gebracht wurde, indem der Mittelpunkt der civitas kurzweg nach dieser benannt wurde: Mediolanum, der Vorort der Santones, wurde so zum heutigen Saintes, die Lutetia der Parisii zum heutigen Paris, Durocortorum der Remi zu Rheims u. s. w.; selbst in Bezug auf die pagi zeigt sich die gleiche Erscheinung[1]). Nur wo sich eine civitas theilte oder ein Vorort nicht Konzentrationskraft genug besaß, traten andere Gestaltungen ein; so bei den Helvetii, wo einerseits Vindonissa sich abzweigte und selbständige Stadt ward, andrerseits die 4 pagi des Gebietes neben Aventicum fortfuhren, eine selbständige Rolle zu spielen und Beschlüsse für sich zu fassen, ja sogar vici wie Lausanna oder Vitodurum (Winterthur) keineswegs absorbirt wurden[2]). Ähnliches war im benachbarten Raetien der Fall, wo Augusta Vindelicorum den städtischen Mittelpunkt bildete (woneben noch Brigantium und Cambodunum in Betracht kamen). In den Militärlisten wird der Raeter, der in der Legion oder bei den Prätorianern diente, immer als aus Augusta stammend angeführt[3]), aber in Wirklichkeit waren die Raeter weit entfernt, sich von der Stadt am Lech als „Attribuirte" gewöhnlichen Schlages behandeln zu lassen, wie wir noch sehen werden.

In Britannien wetteiferte die Bevölkerung mit den Galliern, besonders seitdem einer der Statthalter den Leuten weis gemacht hatte, daß sie mehr Talent hätten, als ihre Stammverwandten jenseits des Kanals. Mit Eifer gaben sich die Britanner den

---

πολιτείας, καὶ γεγόνασιν αἱ πρὸ μικροῦ δοῦλοι δεσπόται ἑτέρων. Er verlange μὴ τὴν Ῥωμαικὴν πολιτείαν, ἐλευθερίαν γοῦν ἢ φόρων ἄφεσιν, sondern nur Billigkeit gegenüber dem Tempel. — Die Vorgänge im Vierkaiserjahre sind bekannt. Vgl. Tacit. h. 1, 78. Hiezu Mommsen in Hermes 13, 104; Staatsr. 3, 653 f.

[1]) Vgl. C. Jullian im Bulletin epigraphique 1885 p. 179. Melodunum (Melun) ist bei Gregor. Turon. der Name zugleich des pagus.

[2]) Vgl. Mommsen in Hermes 16, 457. Ch. Morel, Notes sur les Helvètes et Aventicum sous la domination romaine (Zürich 1883).

[3]) Es ist bemerkenswerth, daß meines Wissens auch Brigantium oder Campodunum in den erhaltenen Soldatenlisten nicht vorkommen, sondern nur Aelia Augusta.

italischen Kultureinflüssen hin, bauten Häuser nach römischem Stil, Bäder, Säulenhallen; sie ließen ihre Kinder von römischen Schulmeistern unterrichten und nahmen die römische Tracht an[1]). Es scheint, daß die strengen Vorschriften, welche das Tragen derselben durch Nichtberechtigte untersagte, hiebei außer Acht blieben, und daß man mit der Verleihung des Rechtes freigebig vorging[2]). — Neben Camulodunum entwickelte sich Londinium als der Sitz eines ausgedehnten Handelsverkehrs, Eboracum, Gleva, Lindum als militärische Centren, überdies wird das municipium Verulamium schon im Jahre 61 n. Chr. erwähnt und in späterer Zeit noch mehrere, welche die britannischen Autoren verzeichnen. Das römische Leben hatte an der starken Garnison seinen Rückhalt, während im übrigen Britannien eine Welt für sich bildete, wie sich sofort zeigte, als die Legionen von hier abberufen wurden.

In Hispanien können wir für die einzelnen Landschaften den Übergang von dem Gausystem zum munizipalen an der Hand der bei Plinius dem Älteren und Ptolemäus gegebenen Listen verfolgen; wobei die Baetica und die Ostküste der diesseitigen Provinz in der Entwicklung vorangingen, während die asturisch-galläcischen Gebiete am langsamsten nachfolgten. Aus einigen Inschriften ist zu entnehmen, daß vor der Verleihung des Latiums an die hispanischen Gemeinden „Zehnmänner" mit einem vir maximus an der Spitze die Magistratur gebildet hatten[3]). Im übrigen bildete das Vorrücken aus dem Latium in das Bürgerrecht das Ziel der Entwicklung, das unter Hadrian im großen und ganzen erreicht scheint[4]).

In Afrika, wo das punische Kulturelement um tausend Jahre älter war als das römische, übte dieses einen erheblichen Ein-

[1]) Tacitus Agricola c. 21. Ähnlich nennt Kaiser Claudius die Gallier iam moribus artibus adfinitatibus nostris mixti . . . Tac. ann. 11, 24.

[2]) Vgl. Mommsen, Staatsrecht 3, 222.

[3]) Vgl. Hirschfeld's Auseinandersetzungen in seiner Anzeige des Corp. insc. Lat. Bd. 2: Gött. Gel. Anz. (1870) S. 1081 ff.; Giraud im Journal des Savants 1876 p. 755 f.

[4]) Vgl. Mommsen in Hermes 16, 471. Gleichzeitig mit der Ertheilung des Latiums an die bisher peregrinen Gemeinden Hispaniens war schon von Vespasian an andere Gemeinden das römische Bürgerrecht verliehen worden.

fluß, ja seit die exklusive Tendenz der alten Karthager weggefallen war, entwickelte sich unter der römischen Herrschaft das Puniertum viel freier als vorher. Das zeigt sich ebenso auf dem Gebiete des Sakralwesens und der Kunst wie in der munizipalen Organisation. Die Magistrate heißen nicht II viri, sondern Sufetes, selbst noch in Neugründungen aus der Zeit der Antonine und der Dynastie des Septimius Severus; zu Anfang auch im wiederhergestellten Karthago, das „punische Rom", wie die Afrikaner es mit Bedeutung nannten. Im Binnenlande findet man, besonders in den Nekropolen der größeren Städte neben den lateinischen überall neupunische Inschriften und zahlreiche Bilinguen; die Bauern weiter Striche redeten nur punisch. Daneben gedieh das libysche Wesen, das sich wohl auch direkt, ohne Vermittlung des punischen, an das römische anschloß. In der Kunst kreuzen sich libysche, punische, römische Motive oder sie gehen nebeneinander her[1]); die altpunischen Götter verstecken sich kaum unter den römischen Namen: Cöleſtis für Tanit, Venus für Astarte, Saturn für Moloch. So bildete Afrika gleichsam eine Welt für sich; was für das Reich ohne Bedeutung war, so lange dieses in Kraft blieb, als dieses nicht mehr der Fall war aber zur Reaktion führte, die hier wie anderswo in Pronunciamentos der Statthalter und schließlich in der Etablirung eines Provinzialkönigreiches der germanischen Eroberer zum Ausdruck kam.

Bis diese kritische Periode eintrat, war das munizipale System im ganzen Reiche zur Durchführung gelangt; beziehungsweise waren die Ausnahmen mehr und mehr zusammengeschwunden. Doch ist es von Interesse, auch diese zu beachten, da das ganze Gemälde nur dadurch in das richtige Licht kommt. Die munizipale Organisation erwies sich als undurchführbar in den raetischen Alpendistrikten, die daher das alte Gausystem aus der römischen Kaiserzeit bis in die germanische Epoche hinein bewahrt haben. Ferner begegnen exzeptionelle Verhältnisse in

---

[1]) Vgl. La Blanchère, l'art provincial dans l'Afrique Romaine. In der Revue archéol. (1889 sept.—octobr.) p. 259 ff.

Afrika. Hier hatte das schon unter der karthagischen Herrschaft blühende System der Latifundien auch in der römischen Zeit sich erhalten. Es waren Strecken, die den städtischen Territorien an Umfang nicht nachstanden, ja vielfach sie übertrafen, Eigenthum eines einzigen Herrn. Diese Latifundien einem Stadtgebiete zu attribuiren, ging nicht an, da die munizipale Autonomie mit einem solchen doch gleichsam exterritorialen Besitz sich unmöglich vertrug. Daher wurde dieser in der Weise konstituirt, daß der Besitzer, beziehungsweise der Prokurator, in dem Territorium alle die Befugnisse übte, welche anderswo den Munizipalmagistraten zustanden[1]).

Ähnliche Verhältnisse lernen wir auf der Pyrenäenhalbinsel kennen, wo umfangreiche Bergwerksdistrikte sich vorfanden. Auch diese waren keinem städtischen Territorium einverleibt, sondern sie standen unter dem Prokurator, der die Verwaltung führte; in den kaiserlichen Distrikten Namens des Kaisers. Er übte in der Ansiedlung der Bergarbeiter die Befugnisse des Bürgermeisters[2]).

Des weiteren sind in diesem Zusammenhange zu erwähnen diejenigen Distrikte, die unter militärischer Jurisdiktion standen. Diese befanden sich in den Grenzprovinzen und sind für uns von besonderem Interesse, weil gerade am Rhein und an der Donau ihre Geschichte in den letzten Jahren mancherlei Aufklärung erfahren hat und voraussichtlich in den kommenden noch erfahren wird[3]).

Die Lager der einzelnen Truppenabtheilungen waren auf Kosten der enchorischen Organisationen errichtet worden; was

---

[1]) Vgl. Ephem. epigr. 2, 271 ff.; Hermes 15, 391 f.; Staatsrecht 3, 782. Auch in Italien standen die kaiserlichen Domänen außerhalb der munizipalen Organisation. Vgl. Mommsen im N. Archiv der Ges. f. ältere d. Geschichtskunde 15 (1889), 187.

[2]) Vgl. die lex metalli Vipascensis, Ephem. epigr. 3, 187 f.

[3]) Grundlegend für diese Verhältnisse ist Mommsen's Abhandlung über die römischen Lagerstädte in Hermes 7, 299 ff., woran alle seitherigen Untersuchungen über Lambaesis u. s. w. angeknüpft haben. Daneben kommen Th. Bergk's Auseinandersetzungen in der Westdeutschen Zeitschr. 1 (1882), 502 ff. in Betracht.

namentlich bei Legionshauptquartieren etwas besagen wollte, da hier auch auf Heu und Futterplätze Rücksicht genommen werden mußte[1]). Dazu kam der beständige Courierdienst von und nach Italien, dessen Last den Unterthanen aufgebürdet war. Es nimmt unter diesen Umständen nicht Wunder, daß es an Reibungen zwischen dem Militär und den außerhalb des Militärdistriktes Wohnenden nicht fehlte. So z. B. zwischen den Legionaren, die in Vindonissa stationirt waren, und den Helvetiern. Vindonissa war früher ein vicus der Helvetier gewesen, jetzt von denselben abgetrennt und der Jurisdiktion des Lagerkommandanten unterstellt. Die damals meistbenutzte Verbindungsader führte von Vindonissa durch das helvetische Gebiet über den Großen Bernhardt nach Italien. Die Helvetier selbst bildeten seit Julius Caesar eine durch Privilegien in bevorzugter Stellung sich befindliche civitas, die in Aventicum und einigen Flecken sich dem italischen Wesen assimilirte. Es wohnten auch Italiker da: der Vater des Kaisers Vespasian ist hier Banquier gewesen. Aquae (Helveticae), das heutige Baden an der Limmat, fand lebhaften Zuspruch und baute sich nach italischer Art aus[2]).

Alle diese Verhältnisse lernen wir kennen aus der Darstellung, die Tacitus von den Ereignissen des Jahres 69 gibt. Mit den übrigen gallischen civitates waren auch die Helvetier für Julius Vindex und nachher für Galba eingetreten; die Legionen hatten die gallische Bewegung niedergeworfen, und als Galba Miene machte, die Parteigänger des Vindex zu belohnen, brach der Aufstand gegen ihn aus und wurde Vitellius zum Kaiser ausgerufen. Und wie früher der Kampf bei Vesontio durch die Leidenschaftlichkeit der Legionare gegenüber den Milizen der gallischen Gaue entbrannt war, so ging jetzt die leg. XXI

---

[1]) Vgl. Eph. epigr. 3, 188. Archäol.-epigr. Mitth. 14, 66.

[2]) Tac. h. 1, 67: in modum municipii extructus locus, amoeno salubrium aquarum usu frequens. Baden war ein vicus, vgl. Insc. Helv. p. 241: vicani Aquenses; vgl. auch Korrespondenzbl. der Westd. Zeitschrift 8 (1889), 135 f. über Bronzebeschläge mit der Inschrift: Aquis Hel[veticis] Gemellianus f[ecit], woraus wir den vollen Namen des Ortes kennen gelernt haben.

rapax gegen die Helvetier vor, die ihre Couriere abzufangen sich erdreistet hatten. Die helvetische Miliz wurde niedergemacht, Aventicum eingenommen und geplündert[1]).

Gerade aus der Parteistellung in den Jahren 69 und 70 ersehen wir den Gegensatz, der zwischen den militärisch okkupirten oder in das Interesse der Okkupationstruppen gezogenen Distrikten und den inermes provinciae des gallischen Ländersprengels vorhanden war. Die innerhalb des Militärdistriktes Sitzenden genossen dadurch so viele Vortheile, daß sie sich den außerhalb desselben verbliebenen Stammverwandten völlig entfremdeten und mit den Legionstruppen Hand in Hand gingen[2]).

Dabei war von Anfang an das Lager der Mittelpunkt eines sehr bedeutenden Verkehrs von Marketendern und Kaufleuten. Diese hatten hier ihre Schupfen und Keller zur Unterbringung der Vorräthe, daneben ihre Wohnungen, die, seitdem die Lager stabil geworden waren, immer komfortabler sich gestalteten.

Innerhalb des Lagerdistrikts herrschte unbedingt die militärische Disziplin, deren Wahrzeichen der Legionsadler und der Rebenstock des Centurionen waren; im bewußten Gegensatz zu der lavinatischen Sau oder der säugenden Wölfin und den Ruthenbündeln der munizipalen Liktoren; hier genossen der Legionsadler und die Feldzeichen die sakrale Verehrung[3]).

Daher war den Lagerhändlern, soweit sie römische Bürger waren, nur erlaubt, sich zu einer Korporation zusammenzuthun,

---

[1]) Tacit. hist. 1, 68 f.

[2]) Wir haben gesehen, daß dies selbst bei der civitas Ubiorum der Fall war.

[3]) Dieser Kult tritt bei allen Legionslagern und auch bei kleineren Garnisonen hervor. Als die von Gordian III. kassirte legio III Augusta unter Valerian wieder hergestellt wurde, dedizirte die Inschrift in honorem leg. III Augustae Valerianae Gallienae Valerianae (Corp. 8, 2634 = Wilmanns 1471) der primus pilus, qui primus legione renovata aput aquilam vitem posuit. Innerhalb des Lagerdistrikts setzte man Inschriften wie folgende (aus Moesia inferior. Corp. 3, 7591): Dis militaribus, Genio, Virtuti, Aquilae sanctae signisque leg[ionis] I Ital[icae]. Man feierte auch ob natalem aquilae (Ephem. ep. 1, 145) oder die natales signorum (Corp. 2, 2553. 2556).

welche ihre Vorstände selbst wählte; sie galten als bloß „konsistirend", wie der technische Ausdruck für einen vorübergehenden Aufenthalt lautete, mit dem eine Gemeindeangehörigkeit nicht verknüpft war[1]).

Es wiederholte sich unter anderen Vorbedingungen, was vor Jahrhunderten auch schon dagewesen war, als nämlich die römische Regierung aus politischen Gründen die Entwickelung von nach italischer Art konstituirten Gemeinden in den Provinzen hintangehalten hatte. Auch jetzt war die Regierung dagegen, daß die Lageransiedelung sich formell als Stadt organisirte, obwohl die meisten derselben am Ausgang des 1. Jahrhunderts n. Chr. viel bedeutender waren, als manches 50 oder 100 Jahre früher im Innern der Provinzen als Munizipium oder colonia konstituirte Gemeinwesen.

Aber thatsächlich näherten sich die canabae, wie sie technisch genannt wurden, in ihrer Organisation mehr und mehr den Städten, so daß z. B. in Dorostorum der Lagerort sich geradezu canabae Aeliae benannte[2]) nach Analogie der municipia Aelia, die Kaiser Hadrian konstituirt hatte.

Derselbe Kaiser Hadrian, der in so vieler Hinsicht neue Bahnen einschlug, gab der Entwickelung eine andere Wendung, indem er mehreren canabae das Munizipalrecht ertheilte, wozu nicht am wenigsten der Umstand beitragen mochte, daß die ausgedienten Soldaten irgendwo Heimatrecht empfangen mußten; da der übrige Provinzialboden im Laufe der Zeit in feste Hände übergegangen war, also Deduktionen und Assignationen in der althergebrachten Weise nicht mehr stattfinden konnten[3]), so blieb nichts übrig, als die Ansiedlung derselben bei den castra der

---

[1]) Über die consistentes ist neuerdings zu vergleichen Mommsen im Korrespondenzbl. d. Westd. Zeitschrift 1889 S. 19 f.; N. Archiv der Ges. f. ältere deutsche Geschichtsk. 14 (1889), 529.

[2]) Corp. 3, 7474.

[3]) Unter Traian haben solche Deduktionen, z. B. nach Poetovio, noch stattgefunden, unter Hadrian vielleicht nach Mursa. Dann hören wir nichts mehr davon.

betreffenden Legion zu gestatten[1]), infolge dessen die Heimatbezeichnung castris in Verbindung mit der Soldatentribus Pollia namentlich in Afrika und Ägypten, aber auch in den Donaulandschaften begegnet[2]).

Wir können diese Entwickelung für sämmtliche mit Militär belegte Provinzen verfolgen, für Afrika, wo Lambaesis auf diese Weise nach Cirta zur zweiten Stadt von Numidien heranwuchs, am Euphrat, wo wir über Melitene näher berichtet sind[3]), an der Donau, wo Vindobona, Carnuntum, Aquincum, Singidunum, Viminacium, Novae, Dorostorum, Troesmis bis auf den heutigen Tag durch die erhaltenen Denkmale von der einstigen Blüte Zeugnis ablegen, am Rhein, wo einige unserer bedeutendsten Städte, wie Argentoratum und Mogontiacum aus den canabae entstanden sind, in Hispanien, wo Leon von der hier stationirten Legion benannt ist, und nicht anders war es in Dacien und Britannien. In Ägypten hatten die beiden dort stationirten Legionen ohnedies ihr Lager nahe bei Alexandria[4]), um diese zweite Stadt des Reiches, die zugleich in mehr als einer Beziehung ganz Ägypten bedeutete, ebenso fest im Zaum halten zu können, wie dies in Rom durch die Prätorianer geschah.

Dieselbe Entwickelung aber, welche die großen militärischen Centren des Reiches durchmachten, können wir auch bei den kleineren verfolgen, wo nur Kohorten oder Detachements in Garnison lagen. Am besten sind wir in dieser Hinsicht bezüglich der gegen die Stämme des Kaukasus errichteten Station in Phasis

[1]) Vgl. Corp. 3, 7505 (aus Troesmis), wonach ein Soldat der leg. V Macedonica, der unter L. Verus den Orientkrieg, unter Marcus den markomannischen mitgemacht hatte, als Veteran ad lares suos, d. h. nach dem Hauptquartier der genannten Legion zurückkehrt.

[2]) Vgl. Corp. 3, 1212.

[3]) Vgl. (nach einem älteren Gewährsmann, vielleicht Arrian?) Procop. de aedif. 3, 4. Hiezu E. Kuhn, städtische und bürgerliche Verfassung des röm. Reiches 2, 235, und meine Bemerkungen in den „Wiener Studien" 2, 106 Anm. 91. Über die Örtlichkeit Sterret, an epigraphical journey in Asia minor p. 300 f.

[4]) Es ist neuerdings beschrieben von Neroutsos-Bey, l'ancienne Alexandrie (1888) p. 2.

unterrichtet, da dieselbe unter der Regierung des Kaisers Hadrian von dem damaligen Statthalter der Provinz Kappadocien, dem als Philosophen und Historiker bekannten Flavius Arrianus, einer Inspektion unterzogen wurde. Es handelt sich hier um ein Kastell von 400 Mann; außerhalb desselben hatten sich Veteranen und Händler ihre Häuser gebaut, die von Arrian in die Befestigung einbezogen wurden[1]).

Nicht anders stand es aber in Raetien oder an der germanischen Grenze, wo in den letzten Jahren eine Reihe von Kastellen einer näheren Untersuchung unterzogen worden sind, theilweise auch Inschriften neue Kunde brachten. So über die Militärstationen von Passau, Künzing, Wischelburg und Straubing an der Donau[2]), ferner am raetischen limes über Abusina (Eining bei Abensberg)[3]) und Vettonianis (Pfünz bei Eichstätt)[4]); am obergermanischen limes über den vicus Aurelianensis[5]) (Öhringen), das Kastell der Mattiaker[6]) und andere kleine militärische Centren dieser Art[7]).

Diese Stationen entwickelten sich seit Hadrian, der auch in Raetien und Obergermanien dem limes seine Aufmerksamkeit

---

[1]) Vgl. Arriani periplus Pont. Euxin. c. 9: *ὅσα ἐξω τοῦ φρουρίου κατῳκεῖτο ὑπό τε τῶν πεπαυμένων τῆς στρατιᾶς καὶ τινων καὶ ἄλλων ἐμπορικῶν ἀνθρώπων . . . τὰς ἐξω τοῦ τείχους οἰκίας.*

[2]) Ohlenschlager in den Abhandl. der baier. Akademie 1884.

[3]) Vgl. Ohlenschlager, die röm. Grenzmark in Baiern S. 83, und „Ausland" 1883 Nr. 19: „Eine wiedergefundene Römerstätte".

[4]) Vgl. K. Popp in den Beiträgen zur Anthropologie und Urgeschichte Baierns 1887 S. 120 ff.; Korrespondenzbl. der Westd. Zeitschr. 1887 S. 160 f., 1889 S. 71 f.

[5]) Über den vicus Aurelianensis (so ausgeschrieben in einer aus Etrurien stammenden Inschrift Corp. 11, 3104, während man früher die Schreibung vicus Aurel. mit vicus Aurelii auflöste) vgl. Domaszewski im Korrespondenzbl. der Westd. Zeitschr. 1889 S. 46.

[6]) Vgl. Mommsen in Hermes 22, 557; Korrespondenzblatt 1889 S. 27. 50 f.

[7]) Inwiefern die im Binnenlande gelegenen Kastelle, die von den Lokalmilizen der Helvetier, Raeter u. s. w. (vgl. Hermes Bd. 22) besetzt waren, eine ähnliche Entwickelung durchmachten? Jedenfalls ist es bemerkenswerth, daß das Kastell Sabiona nachher Bischofssitz wurde.

zuwendete, unter Antoninus Pius, während dessen Regierung völlige Ruhe herrschte, die zur Ausgestaltung des ganzen Limes-Systems, wie in Britannien so auch in Rätien-Germanien, verwendet wurde[1]); unter Kaiser Marcus, wo infolge des großen germanisch-sarmatischen Krieges die Garnison der Provinzen Raetien und Norikum verstärkt wurde — bekanntlich geht die Einrichtung des Legionslagers von Lauriacum, wie auch desjenigen von Castra Regina, das in seinen Umrissen bis zum heutigen Tag in Regensburg sich erhalten hat[2]), auf Kaiser Marcus Aurelius zurück. Unter dem Sohne des Septimius Severus begannen die Alemannenkriege, welche die Regierung zu besonderen Anstrengungen nöthigten. Alexander Severus schuf oder vollendete eine neue Institution, wonach der Militärdienst in den Grenzlandschaften mit dem Besitz von Grund und Boden verbunden sein sollte; die Grenzsoldaten würden dadurch ein persönliches Interesse an dem Sicherheitsdienst längs des limes gewinnen[3]).

Jeder Garnison wurde ein bestimmtes Territorium zugewiesen, innerhalb dessen dem Kommandoführer die Gerechtsame eines Gemeindevorstehers zukamen, ganz wie früher innerhalb des Lagerbezirkes dem Legaten der betreffenden Legion[4]).

Dabei gestalteten sich die Verhältnisse der oft aus entlegenen Gegenden, z. B. aus Syrien, hiehergezogenen Truppenabtheilungen zu der enchorischen Bevölkerung in der mannigfachsten Weise. Besonders tritt dies auf sakralem Gebiete hervor, von dem ausgehend eine besondere Art von Gemeindebildung sich vollzog.

Wir finden, daß die castellani mit den Einheimischen zu einer religiösen Gemeinschaft zusammentraten, innerhalb deren

---

[1]) Auf Antoninus Pius beziehen sich verhältnismäßig zahlreiche Inschriften dieser Grenzkastelle, so in Pfünz, an der sog. Mümlingslinie (Korrespondenzbl. 1889 S. 161 f.) u. a. O.

[2]) Vgl. J. Dahlem bei H. v. Hölder, die Skelette des römischen Begräbnisplatzes in Regensburg. Separatabdruck aus dem Archiv f. Anthropologie Bd. 13 Suppl. (1881).

[3]) Vgl. Mommsen's Kommentar zu einem Militärdiplom aus dieser Zeit. Archäolog.-epigraph. Mitth. 3, 2 ff. = Ephem. epigr. 4, 508 ff.

[4]) Vgl. Mommsen in Hermes 24, 200.

beide Theile in der Vorstandschaft abwechselten [1]). Es waren hauptsächlich orientalische Kulte, die auf diese Weise propagirt wurden: des Mithras, des Jupiter von Doliche, der „großen Göttermutter" u. a.[2])

Wie bei den canabae der Legionen, so vollzog sich die Organisation in diesen kleineren Stationen zunächst in der Form eines Kollegiums, das gemeinschaftlichen Götterkultus, gemeinschaftliche Feste, endlich eine gemeinschaftliche Begräbnisstätte zu besitzen pflegte. An der Spitze stand ein magister oder curatores oder auch ein sacerdos[3]), woneben noch servi, aeditui, scribae vorkommen, je nach der Bedeutung der Korporation und des Ortes. Auch an einem templum wird es nirgends gefehlt haben[4]). Die sakrale Gemeinschaft bildete die Grundlage der weiteren Entwickelung, wie denn z. B. im Kastell der Mattiaker die Diener des Mithras und der Bellona zugleich zur Grenzvertheidigung verpflichtet waren[5]). Aus einer Inschrift ersehen wir, daß ein Unteroffizier, der cornicularius des hier stationirten numerus, der nach dem Garnisonsort und dem regierenden Kaiser Mattia-

---

[1]) Vgl. Mommsen im Korrespondenzbl. 1889 a. a. O. Man kann dabei an Liv. 5, 50 erinnern, wo nach dem Abzug der Gallier die ludi Capitolini beschlossen werden: conlegiumque ad eam rem M. Furius dictator constitueret ex iis, qui in Capitolio atque arce habitarent. Vgl. hiezu Mommsen, röm. Forschungen 2, 55 f., und den Kommentar zur lex Genetivae c. 28, Ephem. epigr. 2, 128 f.

[2]) Im castellum Mattiacorum pflegte man den Kult der mater magna, des Mithras, der Bellona (Hermes 22, 557), bei Dillingen den der mater magna (Sitzungsber. der baier. Akad. 1889 S. 96 f.). In Pfünz, wo die cohors I Flavia Canathenorum (aus Syrien) stand, den des Jupiter Dolichenus. — Über die osrhoënischen Bogenschützen, die Alexander Severus zum Kriege gegen die Germanen heranzog, vgl. Domaszewski im Korrespondenzbl. 1889 a. a. O.

[3]) So in Pfünz ein sacerdos des Dolichenus.

[4]) So auch in den canabae, z. B. von Dorostorum (Corp. 3, 7474). Über die sakrale Organisation der pagi vgl. Hermes 16, 457; Bulletin epigr. 1885, p. 177 f.

[5]) Auf einer neuerlich gefundenen Inschrift sind sie bezeichnet als hastiferii sive pastor[es] consistentes Kastello Mattiacorum. Vgl. darüber Mommsen in Hermes 22, 557; Korrespondenzbl. 1889 S. 19. 27.

corum Gordianorum beigenannt wird, von den vicani des Ortes durch Allektion in ihren Korporationsverband aufgenommen ward[1]). Die Bezeichnung der Ortsbewohner als vicani zeigt, daß sie der Gemeindeautonomie entbehrten und nur sakralen Verband hatten, was auch bei den größeren canabae auf diese Weise zum Ausdruck gekommen war[2]).

Wie die canabae der Legionen zu Städten heranwuchsen, so erscheinen manche von den Kohortenlagern im 4. und 5. Jahrhundert gleichfalls bezeichnet als oppidum oder urbs; es genügt, an die Kastelle von Ufernorikum zu erinnern, von denen Eugipp's vita Severini ein so anschauliches Bild entwirft. Orte wie Passau sind auf diese Weise entstanden. Im übrigen gibt die eben besprochene sakrale Organisation einen Begriff davon, wie die Göttermischung in unseren Gegenden sich vollzogen hat und wie dem „neuen Glauben" die Bahn bereitet wurde.

Dies führt uns zum Schlusse dazu, des römischen Städtewesens im Orient Erwähnung zu thun, über welches erst in neuester Zeit durch die Erforschung der hellenistischen Landschaften, besonders von Seite französischer, englischer und amerikanischer Gelehrter, wichtige Aufklärungen erzielt worden sind.

Seit dem 2. Jahrhundert v. Chr. hatten die „Italiker", wie sie im Auslande sich nannten, kraft der politisch dominirenden Stellung, die sie gehörig ausnutzten, den Handel aus dem Orient nach dem Westen in ihre Hände gebracht und in allen Küstenstädten Griechenlands oder Asiens Faktoreien begründet. Von der Zahl dieser Italici negotiantes oder consistentes (wie sie auch hier hießen) kann man sich einen Begriff machen, wenn man sich an das Resultat des Blutbefehls von Ephesus erinnert, infolge dessen an die hunderttausend Italiker das Leben verloren. Ebenso hatte die Eroberung von Delos, wo das Centrum dieses italisch-orientalischen Handels gewesen war, durch Mithridates

[1]) Vgl. Becker, Katal. des Mainzer Museums S. 267, hiezu Korrespondenzbl. 1889 S. 27.

[2]) Vgl. Brambach, Corpus inscr. Rhenanar. n. 1891 (aus Argentoratum, dem Hauptquartier der leg. VIII Augusta): [g]enio vici ca[n]abar[um] et vi[ca]nor[um] canabensium. Hiezu Hermes 7, 312.

immense Verluste zur Folge[1]). Nachdem die römische Herrschaft wiederhergestellt war, finden wir die italischen Niederlassungen in den Städten des Ostens sofort wieder und sehen, daß sie sowohl die römische Provinzialpolitik im allgemeinen[2]), wie auch die Angelegenheiten der Städte im einzelnen beeinflussen: bei Gemeindebeschlüssen wird ihre Mitwirkung ziemlich regelmäßig in Anspruch genommen[3]). In dieser Hinsicht nahmen jetzt die römischen Bürger hier eine ähnliche dominirende Stellung ein, wie in der Zeit der Diadochen die Makedonier und Griechen[4]).

Die Begründung römischer Städte im Osten beginnt auch erst mit Julius Cäsar, der nach Korinth eine Freigelassenenkolonie ausführte, zum großen Mißvergnügen der Griechen, die dadurch die Gräber ihrer Vorfahren geschändet sahen[5]).

Augustus folgte diesem Beispiele durch Ausführung von Italikern nach Patrae, Dyrrhachium, Cassandrea, Philippi, Cnossus. Aber auch in Asien, wo in Pisidien Alexandrea Troas, und in Lykaonien, wo eine ganze Reihe von Orten (Antiochia Pisidiae, Cremna, Olbasa, Comama, Parlais), endlich in Syrien, wo

---

[1]) Vgl. (nach Homolle) Ephem. epigr. 4, 43; 5, 601. Schöffer, de Deli insulae rebus (Berlin 1889) S. 193 ff. 214 ff.; Mommsen in Hermes 21, 416 f.

[2]) Man denke an den Kommandowechsel im mithridatischen Kriege, wie früher im Kriege gegen Jugurta, wo die in Cirta wohnenden Italiker (Sallust Jug. 26) ihre Hand im Spiele hatten.

[3]) Vgl. Caesar. b. c. 3, 102: consensu omnium Antiochensium civiumque Romanorum, qui illic negotiantur. — Zahlreiche Beispiele aus späterer Zeit gibt Sterret, the Wolfe expedition to Asia minor (Boston 1888); z. B. n. 181 (aus Zengibar Kalesi = Palaia Isaura): *Ἰσαυρέων ἡ βουλὴ καὶ ὁ δῆμος οἵ τε συνπολιτευόμενοι Ῥωμαῖοι.* n. 473 (aus Günen = Konane): *ἡ βουλὴ καὶ ὁ δῆμος καὶ οἱ κατ[οικοῦντες Ῥωμαῖοι].* Eine Zusammenstellung anderer Plätze, wo solche römische consistentes sich finden, in den Papers of the Americain school of classical studies at Athens 1, 31. Corp. inscr. Lat. 3, 1306; hiezu Ephem. epigr. 7, 425 n. 5.

[4]) Vgl. E. Kuhn, die Entstehung der Städte der Alten S. 362 ff.

[5]) Vgl. ein Epigramm des Krinagoras darüber. Bücheler, Rh. Museum 38, 511; Mommsen bei Eichorius in den Sitzungsber. der Berl. Akad. 1889 S. 980.

Berytus als colonia Julia Augusta begründet wurde[1]). Unter Claudius kamen hinzu Seleucia Siderus in Pisidien, Claudiopolis in Cilicien, Germanicopolis, Iconium und Laodicea in Lykaonien[2]).

Diese Städte bildeten lateinische Enklaven im hellenistischen Osten, innerhalb deren offiziell die lateinische Sprache gebraucht wurde, aus der dann eine ganze Reihe technischer Ausdrücke auch in das Griechische übernommen wurden: πάγος = pagus, παγαρχός, castellum, regio (ῥεγεών), iugerum, milliarium, strata für Straße u. a. Wie man sich die Pflege des lateinischen Idioms angelegen sein ließ, zeigt der Umstand, daß in Philippi eine lateinische Schauspielertruppe auf Kosten der Stadt erhalten wurde[3]). Zudem war der Verkehr mit Italien sehr rege und die Ertheilung des Reichsbürgerrechtes an die Honoratioren verpflichtete diese (wenigstens im 1. Jahrhundert n. Chr.) zur Aneignung des italischen Idioms.

Bei den großen Vortheilen, die das Reichsbürgerrecht, z. B. in Bezug auf den Gerichtsstand, gewährte, wurde es eifrig erstrebt und, wie die weite Verbreitung der Namen Gaius Julius, Julius Agrippa, Tiberius Julius, Tiberius Claudius im Orient erweist, schon in früher Zeit mit vielem Erfolg[4]). Solche römische Bürger einheimischer Herkunft begegnen in allen Landschaften Syriens und Asiens[5]), allerdings auch hier hinter anderen römischen Bürgern

[1]) Vgl. Mommsen, Res gestae divi Augusti p. 64 f. 119. Über die coloniae Juliae Augustae in Bithynien, Apamea und Sinope vgl. oben S. 12.

[2]) Vgl. Ramsay, Laodicea Combusta and Sinethandos. Mitth. des d. archäol. Inst. in Athen 12, 233 ff. Im allgemeinen Mommsen, röm. Gesch. 5, 310. In Bezug auf Syrien (Ἑαικαία, Gaza u. a.) Marquardt 1², 428 f.; vgl. auch Corp. 3 (suppl.), 1216 (Emmaus); die Entwickelung in Kappadokien Kuhn, städt. u. bürgerl. Verfassung 2, 231—258; Entstehung der Städte S. 380 ff.

[3]) Corp. 3 (suppl.), 7343. Sonst ist das Latein in den griechischen Reichstheilen reichlich mit Gräcismen erfüllt.

[4]) Hiebei tritt der Gebrauch der Kaisertribus zuerst hervor. Einem Gaius Julius kommt die Fabia zu, d. i. die Tribus der Julier, einem Ti. Claudius die Quirina, d. i. die Tribus der Claudier.

[5]) Vgl. über die Verhältnisse von Stratonicea, bzw. im Tempelbezirk von Lagina, wo die römischen Bürger Antheil an den Festen und Erträgnissen des Heiligthums hatten, Bull. hellen. 11, 145 ff.; 12, 94 f.

zurückgesetzt, was Anlaß zu allmählicher Verbesserung der Stellung[1]) oder zu Klagen über die Zurücksetzung gab. Das letztere war z. B. der Fall, als der Prokurator von Judäa, Gessius Florus, bei Beginn des Aufstandes im Jahre 66 n. Chr. Juden, die römische Bürger, ja Ritter waren, zum Tode am Kreuze verurtheilte[2]).

Als Plinius d. J. in der Provinz Bithynien auf die Christen inquirirte, machte er den Kaiser Traian darauf aufmerksam, daß sich unter denselben auch römische Bürger befänden[3]).

Flavius Arrianus, der aus Nicomedia stammte, nachher Statthalter des Hadrian in Kappadocien, verweilt mit Wohlgefallen bei dem Gedanken, daß die Zwölftafelgesetzgebung der Römer nichts sei, als eine Kopie der solonischen Gesetze, und daß sie schon sehr frühe aus Phrygien sich mit Göttern versehen hätten[4]). Es war dies die Zeit, in der das römische Recht, wie es als subsidiäres neben allen Peregrinenrechten in Gültigkeit kam, andrerseits doch auch wieder allen brauchbaren Stoff aus diesen Peregrinenrechten an sich zog. Viele der namhaften Juristen aus der Zeit der Antonine, bzw. des Septimius Severus und seiner Dynastie, waren Orientalen. So, dem Namen und anderen Umständen nach zu schließen, schon Gaius[5]), der seine Institutionen um das Jahr 160 n. Chr. abfaßte. Er war ein

---

[1]) Dies zeigt sich in Bezug auf die Tribusverhältnisse; aus der schlechteren tribus Collina avancirt man in die bessere Quirina. Vgl. Ephem. epigr. 4, 35 f. In den Senat kamen einzelne Kleinasiaten schon im 1. Jahrhundert, solche jüdischer Herkunft um das Jahr 140 n. Chr. Vgl. S. Reinach in Revue archéol. (1888 sept.—oct.) p. 225; Liebenam 1, 55.

[2]) Vgl. Joseph. b. I. 2, 14, 9; vgl. H. Z. 64, 408. 416.

[3]) Plin. ad Traian. epla 96, 4. Vgl. Corp. 3 (suppl.), 7532 (Inschrift aus Tomi): Römische Bürger aus den Pontus-Landschaften Thracien (Perinthus), Bithynia-Pontus (Tius, Nicomedia, Heracleia, vielleicht auch Cäsarea), Galatien (Abonoteichos), Kappadocien (Mazaca, Tyana).

[4]) Arrian. takt. c. 33.

[5]) Vgl. Krüger, Gesch. der Quellen und Literatur des röm. Rechtes S. 191 Anm. 54. — Gaius als einfacher Name findet sich u. a. bei Sterret, epigraphical journey in Asia minor n. 43. Vgl. auch Ephem. epigr. 4, 894 c, 8: M. Aur[elius] M. F. Cl[audia] Caius Apam[ea].

römiſcher Bürger, der die griechiſche Umgangsſprache und die Sonderrechte der Athener (die ſoloniſchen Geſetze, die unter Hadrian neu redigirt worden waren), der Bithyner und der Galater (bei welchen ihre ausgezeichnete Stellung im Legionardienſt von großer Bedeutung war[1]) kannte; als Beiſpiele für das Jus italicum (d. i. die beſte Form des römiſchen Munizipalrechtes) nennt er nur Städte aus dem griechiſchen Oſten, wie Troas, Berytus, Dyrrhachium, und da Städte latiniſchen Rechtes in Aſien, wo er ſchrieb, nicht vorhanden waren, drückte er ſich ſo aus, als habe es zu ſeiner Zeit ſolche überhaupt nicht mehr gegeben[2]).

Bald nachher begann die Rechtsſchule zu Berytus zu blühen, indem ſie aus allen aſiatiſchen und ſyriſchen Landſchaften junge Leute an ſich zog. Seit man als Juriſt eine glänzende Carriere erhoffen konnte, wurde fleißig Latein gelernt, ſoweit es für dieſen Zweck nothwendig war; denn die Jurisprudenz wurde zu Berytus in lateiniſcher Sprache dozirt und das Latein blieb auch noch ſpäter die Sprache der Juriſten[3]); wie aus einem erhaltenen Rechtsbuch dieſer Schule zu erſehen[4]), wurde auf die lokalen Inſtitutionen nicht geringe Rückſicht genommen.

Von der größten Bedeutung für den Orient war dann die Constitutio Antonina vom Jahre 212 n. Chr., welche das

---

[1]) Vgl. Mommſen in Corp. insc. Lat. 3 (suppl.), 1211.

[2]) Vgl. Mommſen, Staatsr. 3, 625 Anm. 1.

[3]) Vgl. die oratio panegyrica ad Originem des Gregorius Thaumaturgos (opp. ed. Gerard Vossius, Moguntiae 1604) p. 180. 185 f. Er hat (in Kappodokien) einen Lehrer, um *τὴν Ῥωμαίων φωνὴν ἐκπαιδεύειν* ... Von dieſem lernt er *τῶν Ῥωμαίων ἐκμανθάνειν νόμους*. Gregorius ſetzt ſeine Studien in Berytus, *πόλις ῥωμαϊκότερα πως καὶ τῶν νόμων — παιδευτήριον*, fort (in den dreißiger Jahren des 3. Jahrhunderts). Sein Schwager (*νομικός γὰρ τις ἦν*) wurde vom Statthalter Paläſtinas aus Kappadokien als Beiſitzer berufen. Vgl. einen Syrer *Συνπλίκιος υἱὸς Κασσιανοῦ, νομικὸς τὴν ἐπιστήμην*, d. i. iuris peritus, zu Callatis (in der heutigen Dobrudgea), Archäol.-epigr. Mitth. 11, 32.

[4]) Vgl. Bruns und Sachau, ſyriſch-römiſches Rechtsbuch aus dem 5. Jahrhundert (1880).

Reichsbürgerrecht auch an alle griechischen Städtebewohner verlieh, was zunächst in der veränderten Namengebung zu Tage trat; man nannte sich dem Kaiser zu Ehren allenthalben Aurelius: in Athen, in Macedonien, in Tomi, in Syrien, in Ägypten u. s. w. Seitdem verloren die Freistädte ihr eigenes Statut, das sie bis dahin gehabt hatten, und wurden der Reichsgesetzgebung unterworfen, die das Munizipalrecht nach einem für Alle gleichen Schema formulirte, wie dies, von den späteren Rechtsbüchern abgesehen, jetzt auch aus den inschriftlich erhaltenen Stadtrechtsbriefen von Orkistos in Phrygien (an der Grenze Galatiens) und von Tymandos in Pisidien[1]), die aus diokletianischer und konstantinischer Zeit stammen, zu entnehmen ist.

Es ist dies die Dekurionatsverfassung, die dem Munizipalwesen der späteren Zeit die Signatur gibt, wo das „Volk" als Faktor gänzlich beseitigt war und die Mitglieder der Kurie allein das Regiment der Gemeinde führten, freilich auch dem Reiche gegenüber für nicht bezahlte Steuern u. s. w. allein die Verantwortung trugen. Es entsprach dies der letzten Phase der stadtrömischen Entwickelung, seit Tiberius die Comitien beseitigt hatte.

Dabei blieben in den griechischen Provinzen mancherlei Besonderheiten bestehen. Wenn man schon das Wort δεκοριῶνες aus dem Lateinischen entlehnt hatte, so sagte man doch auch fernerhin statt duoviri lieber ἄρχοντες oder στρατηγοί[2]). Von weitergehender Rücksicht zeigt es, wenn in Athen noch im 4. Jahrhundert der Archon als eponymer Magistrat erscheint, oder wenn in einer colonia iuris Italici, wie es Palmyra seit Septimius Severus war, neben dem griechischen das enchorisch-semitische Idiom als offizielle Geschäftssprache in Anwendung kam[3]). Am

[1]) Vgl Mommsen in Hermes 22, 316 ff.

[2]) Vgl. Marquardt, Staatsverw. 1², 212; nur in Arsinoë sind unter ἄρχοντες βουλῆς die Dekurionen gemeint, die zur Zeit im Amte sind. Wilcken in Hermes 20, 445 f. Vgl. auch Neumann und Petersen, Städte Pamphyliens und Pisidiens 1, 175 f.

[3]) Vgl. Mommsen in Hermes 19, 226. 231.

weiteſten entfernt vom allgemeinen Schema hielt ſich Ägypten, ſoweit hier die Nomenverfaſſung ſich erhalten hatte, die von der Constitutio Antonina nicht berührt wurde[1]), während die griechiſch konſtituirten Städte, wie Alexandria, Antinoë, Arſinoë, Herakleopolis, Ptolemais, Paraetonium, Hermupolis[2]) allerdings an dem Reichsbürgerrecht partizipirten, und ſeitdem römiſche Rechtsſätze, wie z. B. das ius liberorum, in Anwendung gekommen ſind[3]). Römiſche Kultuseinrichtungen begegnen neben den ägyptiſchen und griechiſchen, wie denn in Arſinoë ein Tempel des Jupiter Capitolinus exiſtirte, wo, mit Ausnahme der Feier des Stadtgottes Suchos und des ägyptiſchen Nationalfeſtes der Nilſchwelle, durchwegs römiſche Feſte begangen wurden: die Kalenden des Januar, der Gründungstag Roms, der Geburtstag des regierenden Kaiſers und ſeines Vaters[4]). Demnach iſt es nicht Wunder zu nehmen, daß die Dekurionenverfaſſung auch in Ägypten im Laufe des 3. Jahrhunderts feſten Fuß faßte, ſelbſt auf Koſten der Nomenverfaſſung[5]); es iſt in dieſer Hinſicht bemerkenswerth, daß die Verordnungen des Codex Theodosianus, welche den Schutz der Kurialen gegen die überhandnehmenden Privatpatronſchaften bezweckten, gerade an den Statthalter von Ägypten gerichtet ſind[6]).

---

[1]) Vgl. Mommſen, Hermes 16, 469.

[2]) Einige davon, wie Arſinoë, ſind erſt durch Septimius Severus konſtituirt worden. Vgl. Wilcken, Observationes ad historiam Aegypti provinciae Romanae (Berlin 1885) p. 14 ff.; dann in Hermes 20, 445 f.; 23, 629 f. Weſſely, Mittheil. aus den Papyr. Erzherzog Rainer's 4, 57.

[3]) Vgl. Weſſely in den Mittheilungen u. ſ. w. 4 (1888), 60: *χρηματίζουσα τέκνων δικαίῳ κατὰ Ῥωμαίων ἔθη*. Über das römiſche Bürgerrecht in Ägypten zu Anfang der Kaiſerzeit, namentlich mit Rückſicht auf das Militärweſen, vgl. Mommſen, Corp. inscr. Lat. 3 (suppl.), 1211.

[4]) Vgl. Wilcken, arſinoitiſche Tempelrechnungen aus dem Jahre 215 n. Chr., Hermes 20, 455; W. v. Hartel, über die griechiſchen Papyri Erzherzog Rainer (1886) S. 53 f.

[5]) Vgl. Kuhn 2, 506; Staatsrecht 3, 752.

[6]) Codex Theodos. 11, 24: de patrociniis vicorum; vgl. H. Z. 42, 75 f.

Demnach bildet auch hier den charakteristischen Endpunkt die Einführung der städtischen Verwaltung, die zu dem Staatsganzen in unmittelbare Beziehung gesetzt ist. Das Ergebnis dieser Entwickelung aber, bemerkt Mommsen[1]), das in den Rechtsbüchern der spätrömischen Epoche niedergelegt ist, hat insbesondere durch diese „mächtig und zum Theil segensreich auf diejenige Entwickelung von Stadt und Gemeinde eingewirkt, welche das Fundament unserer Zivilisation ist".

---

[1]) Staatsr. 3, 773.

# Boyen's Denkwürdigkeiten.

Von

**Max Lehmann.**

Erinnerungen aus dem Leben des General-Feldmarschalls **Hermann v. Boyen.** Aus seinem Nachlaß im Auftrag der Familie herausgegeben von Friedrich Nippold. Drei Theile. I. Der Zeitraum von 1771 bis 1809. II. Der Zeitraum von Ende 1809 bis zum Bündnis von Kalisch. III. Der Zeitraum vom Bündnis von Kalisch bis zur Leipziger Schlacht. Leipzig, S. Hirzel. 1889. 1890.

Feldmarschall Hermann v. Boyen, der erste, welcher in Preußen mit der Würde auch den Namen eines Kriegsministers vereinigte, ist 1771 in Ostpreußen geboren. Sein erster Feldzug war der polnische von 1794, den er als Adjutant des Generals Günther mitmachte. Im Jahre 1806 dem Generalstabe des Herzogs von Braunschweig überwiesen, wurde er bei Auerstädt verwundet; doch genas er so schnell, daß er nach Ostpreußen gehen konnte, wo er dem russischen General Tutschkow beigegeben wurde. Am 31. Januar 1808 wurde er Mitglied der zur Reorganisation des preußischen Heeres eingesetzten Kommission. Es geschah auf Scharnhorst's Vorschlag: dessen Wehrpflicht- und Landwehrgedanken machte er sich freudig zu eigen. Als im Juni 1810 der Reformator des preußischen Heeres auf Napoleon's Weisung scheinbar aus dem Kriegsministerium ausschied, erhielt Boyen die einflußreiche Stellung eines Chefs der 1. Division des Allgemeinen Kriegsdepartements. In fast täglicher Berührung mit dem Könige, ganz eingeweiht in die Pläne von Scharnhorst und Gneisenau, wie diese entschlossen das französische Joch

abzuwerfen, eifriges Mitglied des Tugendbundes, hatte er an den Rüstungen des Jahres 1811 hervorragenden Antheil. Damals schrieb Gneisenau über ihn[1]): „Seine Grundsätze sind die edelsten, und deswegen besteht er einen ewigen Kampf; er handelt ohne Rücksicht auf sich und nur für die gute Sache und ist bereit, jeden Augenblick dafür Alles aufzugeben." Zu diesem Äußersten schien es 1812 kommen zu sollen. Friedrich Wilhelm III. schloß das Bündnis mit Frankreich, Boyen forderte seinen Abschied und ging nach Rußland, um dort gegen den „Mann seines Hasses" zu kämpfen. Ein Auftrag des Zaren ließ es nicht dazu kommen; Boyen überbrachte Anfang Januar 1813 die Botschaft, daß Alexander bereit sei, Preußen, sobald es sich von Napoleon lossage, auf's kräftigste zu unterstützen und in dem Umfange von 1805 wieder herzustellen. Die Zauderpolitik des Königs bewirkte, daß Boyen erst am 9. März 1813 wieder in den preußischen Dienst aufgenommen wurde. Zunächst im Hauptquartier des Fürsten Kutusow, empfing er nach der Schlacht von Groß-Görschen den Befehl, eine energische Vertheidigung Berlins einzuleiten und namentlich die Organisation des Landsturmes zu beschleunigen. Unter den Befehl Bülow's gestellt, half er das Treffen von Luckau (4. Juni 1813) gewinnen. Die durch Scharnhorst's Tod erledigte hohe Stellung, zu der er vorgeschlagen wurde, erhielt er nicht; doch war ihm auch so eine höchst ruhmvolle Rolle beschieden: als Bülow's Generalstabschef gebührt ihm ein wesentlicher Theil von den Thaten der Nordarmee. Ungleich größer noch waren die Verdienste, welche er sich nach dem ersten Pariser Frieden erwarb. An die Spitze des Kriegsministeriums gestellt, begann er seine Thätigkeit damit, daß er die bereits aufgehobene allgemeine Wehrpflicht wieder herstellte; er wurde der Schöpfer des Wehrgesetzes vom 3. September 1814, welches bis zum Erlasse der norddeutschen Bundesverfassung die gesetzliche Grundlage der Heeresverfassung geblieben ist. Militärische und politische Meinungsverschiedenheiten zwischen ihm und dem Könige bewirkten, daß er Ende 1819 den Abschied nahm. Im März

[1]) Pertz, Gneisenau 2, 218. 224.

1841 berief ihn Friedrich Wilhelm IV. an die Spitze des Kriegsministeriums zurück; er verwaltete es bis in den November 1847, also fast bis an sein Lebensende (15. Februar 1848).

In der Zeit der Muße, welche zwischen seinem ersten und seinem zweiten Ministerium lag, hat er die Denkwürdigkeiten, welche jetzt veröffentlicht sind[1]), geschrieben. Er begann sein Werk am 14. Dezember 1833 und schloß es am 17. Juni 1840. Seine Absicht war, mindestens noch die Zeit der Demagogen-Verfolgung darzustellen[2]); sie ist unausgeführt geblieben, das Werk schließt mit dem Abmarsche des Bülow'schen Korps nach den westfälischen Provinzen Preußens im Oktober 1813. Zahlreiche Wiederholungen zeigen, daß der Verfasser sogar nicht die Zeit zu einer neuen Durchsicht fand.

Über die Gesinnung, in der das Buch geschrieben ist, unterrichtet die knappe ihm vorausgeschickte Einleitung. Sie lautet: „Die göttliche Vorsehung hat mich zu einem sehr wechselvollen Leben bestimmt. Nicht unbedeutende Erscheinungen der Zeit sind bei mir vorüber gegangen; an mehreren nicht unwichtigen

---

[1]) Dem Herausgeber, Friedrich Nippold, bleibt das hohe Verdienst, die Familie Boyen's zur Herausgabe ihres Schatzes bewogen zu haben. Wir müssen aber bemerken, daß er die Zeit, welche die Denkwürdigkeiten behandeln, nicht ausreichend kennt. Von den Gegensätzen, welche die historische Literatur in der Beurtheilung Friedrich Wilhelm's III. aufweist, hat er nur eine unvollkommene Vorstellung; er hat es unterlassen, die Irrthümer, die sich in Boyen's Werk eingeschlichen haben, kenntlich zu machen; auch ist es ihm nicht geglückt, die Handschrift überall richtig zu entziffern. So ist z. B. 1, 131 Porbeck zu lesen für Sorbeck; 2, 53 Süvern für Severn; 2, 190 Perlitz für Pedlitz; 3, 49 Kircheisen für Kirckeisen. Daß eine Reihe von Namen nicht voll ausgedruckt, sondern nur angedeutet sind, ist ein Zugeständnis an die Ängstlichkeit des Sohnes von Boyen. Auffallend bleibt, daß nur die Fürsten, Generäle, Obersten, Präsidenten u. dgl. geschont werden, während z. B. der Geh. Kriegsrath Crelinger (3, 131) preisgegeben wird. Die krause Orthographie des Verfassers der Denkwürdigkeiten beizubehalten, schien uns nicht erforderlich. — Von dem Gerüchte, daß die Denkwürdigkeiten zum Zweck der Veröffentlichung verstümmelt seien, nehmen wir Notiz nur, um dem Herausgeber Gelegenheit zu einer hoffentlich recht bald erfolgenden Widerlegung zu geben.

[2]) 3, 80.

Ereigniſſen des preußiſchen Staates bin ich entweder unmittelbar betheiligt geweſen oder habe doch die Triebfedern derſelben, die handelnden Perſonen ziemlich genau kennen gelernt, und dies alles beſtimmt mich, die mir am merkwürdigſten erſcheinenden Vorgänge meines Lebens, theils für meine Nachkommen, vielleicht auch zur Erläuterung einiger Geſchichtsabſchnitte hier einfach nieder zu ſchreiben."

Alſo nicht, wie bei anderen Memoiren, gekränkte Eitelkeit, erduldete Zurückſetzung, vorhergegangener Angriff, ſondern der Wunſch, den Nachkommen das Bild einer großen Zeit feſtzuhalten, hat dem Verfaſſer die Feder in die Hand gedrückt. Und das günſtige Vorurtheil, das die ſchlichten Eingangsworte erwecken, wird durch eine Prüfung des Inhalts beſtätigt.

Boyen beklagt einmal[1]), daß er aus dem Gedächtniſſe ſchreiben müſſe, da er 1812 beim Einrücken der Franzoſen in Berlin ſeine Papiere verbrannt habe[2]). In der That fehlt es nicht an Fehlern, welche unvermeidlich ſind, ſobald der Erinnerung zu viel zugemuthet wird; die Einzelheiten des Jahres 1811 ſind ſogar gänzlich verſchoben. Aber die vielen, über 1812 hinausreichenden urkundlichen Beilagen zeigen, daß der Verfaſſer nachträglich (wohl aus der Regiſtratur des Kriegsminiſteriums) ſeinen Verluſt ergänzt hat. In dem 3. Bande drängt ſich ſogar die Erwägung auf, ob nicht durch die häufige Bezugnahme auf die Beilagen das Ebenmaß der ſonſt höchſt charakteriſtiſchen und wohlthuenden Darſtellung etwas gelitten hat.

Ein umſichtiger Kritiker wird ferner nicht unbeachtet laſſen, daß Boyen eine ſcharf ausgeprägte Individualität iſt. Adlich geboren, hielt er ſich von jeder junkerlichen Geſinnung frei, er handelte und dachte ſtets nach dem Grundſatze: Noblesse oblige. Wer gutsherrliche Rechte bewache, müſſe auch die Verpflichtung zu fortſchreitender Verbeſſerung der Verhältniſſe ſeiner Untergebenen fühlen. In dem Bauernſtande, „überhaupt den ärmeren Klaſſen", ſah er die eigentliche Stütze der Staaten; ihm galt es

---

[1]) 2, 66.

[2]) Das Gleiche hat leider Grolman gethan.

als eines der größten Verdienste der Hohenzollern, daß sie sich fortdauernd als Advokaten der Bauern angesehen: dies sei vielleicht einer der mächtigsten Hebel zur Entwickelung des preußischen Staates[1]). Er war für Betheiligung der Nation am Staate und am Heere. Der gräßliche Zusammenbruch von 1806 hatte ihm sonnenklar bewiesen, daß eine Regierung, die sich nur auf Beamte und Miethlinge stütze, ebenso des Haltes entbehre wie das von ihr regierte Volk: mißtrauisch gegen die Regierung, ohne Vertrauen zur eigenen Kraft, überliefere es sich beim ersten Unfalle mit gebundenen Händen dem Feinde. Von dem Heere wollte er allen Drill und alle Künsteleien, welche seinen volksthümlichen Charakter gefährden könnten, fern halten. Die von einem populären Regimente untrennbaren Friktionen fürchtete der freie und muthige Mann nicht; im Gegentheil: nur das fortdauernde Entwickeln und Reiben der geistigen Kräfte gebe den Staaten die Gewohnheit und die Macht, unerwarteten äußeren Krisen männlich entgegenzutreten. Er gibt dem englischen Staatsmann Recht, der gesagt hat, daß man eine Opposition schaffen müsse, wenn keine da wäre[2]). Er findet es ebenso boshaft wie lächerlich, wenn die Reaktionäre nach 1815 die wiederholt gegebenen königlichen Versprechungen, dem Lande eine zeitgemäße Verfassung zu geben, als revolutionäre oder unbesonnene Tendenz einer Partei ansehen, die jenes Versprechen bloß zu ihren egoistischen Zwecken dem Könige abgeschlichen hätte[3]). Er ruft „diesen Menschen" zu: „Wenn die gerechten Forderungen einer fortschreitenden Volksentwickelung in euren Zwitterseelen auch keinen Werth haben, so bedenkt doch wenigstens die alte Markt-Erfahrung, daß man zu der einen Zeit nicht so wohlfeil wie zu der anderen kaufen kann." Und nun die Demagogen-Verfolgung, welche zur Thorheit den Undank fügte, welche Boyen selber zwar nicht vor Gericht stellte, wohl aber polizeilicher Beobachtung

---

[1]) 2, 200; 3, 69.
[2]) 2, 201.
[3]) 2, 94.

unterwarf[1])! Indem er den Abschnitt schließt, den er der Landwehr gewidmet hat, blickt er noch einmal auf das unsterbliche Werk zurück[2]). „Fünf Millionen, durch den Krieg vielfältig beschädigter Einwohner, stellten freiwillig ihrem Könige 135007 Mann Landwehr, worunter 13412 Berittene waren und wozu man noch die freiwilligen Jäger und die beiden National-Kavallerie-Regimenter rechnen muß, auf ihre Kosten bekleidet und beritten. Ist dies nicht ein Beweis von Treue und Anhänglichkeit, wie ihn selten die Annalen eines Landes verzeichnen? Und doch ward dies Volk, welches diesen großartigen Beweis der Treue vor den Augen von ganz Europa gegeben hatte, nach wenigen Jahren durch eine Vereinigung einzelner Menschen einer Neigung zur Untreue beschuldigt?! Einzelne Züge der Bosheit oder mehr noch der jugendlichen Unbesonnenheit zu einer Demagogen-Verschwörung ausgebildet, um zur Erreichung von Privatzwecken Mißtrauen in der Brust des Königs zu wecken?!"

Es wäre nicht zu verwundern gewesen, wenn derjenige, der also urtheilte, Bitterkeit und Ungerechtigkeit in sein Geschichtswerk getragen hätte. Boyen ist davor bewahrt geblieben durch seine Frömmigkeit und seine Vaterlandsliebe.

„Ich beuge mein graues Haupt"[3]), erklärt er bei der Erzählung des Krieges von 1812, „in tiefer Demuth vor dem sichtbaren Eingreifen einer höheren Weltregierung", und dies Bekenntnis ist ihm kein todtes Wort geblieben. Er ist sich der Beschränktheit menschlichen Schaffens bewußt, auch des eigenen. Er will nie vergessen, daß die ihm vielleicht zu Theil werdenden Lobsprüche großentheils dem redlichen Sinne seiner Gehülfen und Untergebenen gehören[4]). Er fühlt sich zu schwach, die große

[1]) Sie begann (man höre und staune) schon 1813 und wurde fortgesetzt bis in die dreißiger Jahre: „Ich weiß, daß ich, so unglaublich dies auch klingt, als Minister fortdauernd beobachtet wurde und daß ich auch jetzt noch [1838] der sogenannten schon mehrmals aufgehobenen geheimen Polizei die fortdauernde Unbequemlichkeit der Beobachtung verursache" (3, 80).

[2]) 3, 94.

[3]) 2, 175; vgl. 1, 225. 238. 373; 3, 98. 196.

[4]) 1, 308.

Zeit der Erhebung würdig und vollständig zu schildern[1]); er erhebt Anklage gegen sich selber wegen des gereizten, fast spöttischen Tones, in dem er eine Denkschrift verfaßt hat: „wenn man der Wahrheit Eingang verschaffen will, muß man vor allen Dingen ruhig bleiben und sich eines versöhnenden Tones bedienen“[2]); er macht es sich zum Vorwurf, seinem General (Bülow) nicht zur Versöhnung mit Bernadotte zugeredet zu haben[3]). Er scheut sich nicht, begangene Irrthümer einzugestehen[4]), und in gewissenhafter Abwägung des Firs und des Widers ist er bemüht, auch dem Gegner eine gute Seite abzugewinnen[5]).

Boyen stammte aus einer protestantischen Familie, die sich rühmte, durch die Dragonaden Ferdinand's II. aus ihrer böhmischen Heimat vertrieben zu sein; sicher war seine eigene Religiosität, so wenig kirchlich und konfessionell gefärbt sie war, erwachsen auf dem Boden der protestantischen Weltanschauung[6]). In eigenthümlicher Weise harmonirte damit die Richtung seines Patriotismus. Die übrigen Häupter der preußischen Patriotenpartei, Protestanten insgesammt, waren doch über die Gegnerschaft von Preußen und Österreich erhaben: sie hatten, um mit Stein zu reden, nur Ein Vaterland, und das war Deutschland. Derselbe Stein ist in seinem Zorne über die widerspruchsvolle Politik eines schwachen Herrschers so weit gegangen zu erklären: „Preußen wird unbedauert und ohne Nachruhm untergehen, und man wird es für ein Glück halten, daß eine Macht, die durch ihren Ehrgeiz anfangs Europa erschüttert, nachher durch ihr Tripotiren beunruhigt, die keine Pflicht weder gegen sich noch gegen den europäischen Staatenbund erfüllt hat, zu sein aufhöre“[7]). Von einer solchen Gesinnung ist Boyen weit entfernt

---

[1]) 2, 335.

[2]) 2, 162.

[3]) 3, 125.

[4]) 2, 114; 3, 66. 109. 115. 127.

[5]) 3, 86. 132. 154. 178. Ein wahres Meisterstück von Gerechtigkeit ist das über Schill Gesagte (1, 363).

[6]) Vgl. 1, 179. 233.

[7]) Troppau 12 Juli 1809.

geblieben. Sein Patriotismus trug eine spezifisch preußische Färbung. Bewundernd und ehrerbietig redet er von dem Geschlechte der Hohenzollern. Friedrich II., dem die Männer von 1808 theils gleichgültig, theils feindlich gegenüberstanden, ist ihm der Große, der Einzige, der auf der Bahn des Lichtes Vorangehende. Dem preußischen Nationalgefühle spricht er ein Daseinsrecht, dem preußischen Staate eine besondere, nicht rein deutsche Mission zu: eine Schirmmacht zwischen Ost und West zu bilden, zusammengesetzt aus deutschem und slawischem Blute, die sich dadurch zu einem neuen Volke ausbilden sollen[1]). In den schärfsten Worten tadelt er die Berufung eines nichtpreußischen Deutschen, dem er übrigens sowohl Bildung wie Charakter zugestehen muß, zum Erzieher Friedrich Wilhelm's III.: das sei ein unerhörter Mißgriff, ein wahrer Nationalspott gewesen. Ein „Ausländer" könne einem Prinzen wohl wissenschaftliche Kenntnisse und einige kosmopolitische Maximen beibringen, aber unmöglich aus eigener Brust das vaterländische Gefühl, den Nationalstolz schöpfen, mit dem er seinen Zögling zu ähnlichen Gesinnungen beleben solle[2]).

Es leuchtet ein, daß ein Zeugnis aus diesem Munde besonders schwer wiegt für die Zeit der preußischen Reform und Erhebung. Die Doppelfrage, wie stand Friedrich Wilhelm III. zur Reformpartei, wie zum Freiheitskampfe — sie wird ein spezifischer Preuße, ein loyaler Unterthan der Hohenzollern gewiß nur dann zu Ungunsten des Königs beantworten, wenn er Gewissens halber nicht anders kann.

Die zahlreichen, dem Boyenschen Werke eingestreuten Charakteristiken bekunden, außer dem uns schon bekannten Gerechtigkeitssinn, eine Feinheit der Beobachtung, wie sie sehr selten begegnet. Bei der Schilderung Friedrich Wilhelms III. hat man die Empfindung, als wenn der Autor sich bemüht hätte, doppelt scharf zu sehen, doppelt gerecht zu sein[3]).

---

[1]) 2, 163; vgl. 2, 4. 50. 302.

[2]) 1, 129 f.

[3]) 2, 14 ff. — Vortrefflich ist übrigens auch Ancillon geschildert (2, 152).

Boyen rühmt dem Könige ein vortreffliches Gedächtnis nach. Desto schwächer findet er seine Phantasie: „Dies hatte den großen Nachtheil, daß ihm nicht allein alle durch die innere Bewegung des Geistes erzeugten Empfindungen größtentheils fremd blieben, sondern daß er sie auch häufig verachtete und das Leben nur als ein Spiel gegeneinander prallender äußerer Erscheinungen ansah." Niemals hat Boyen eine Spur von Furcht vor physischer Gefahr bei ihm gesehen. „Dagegen war sein Trieb zu muthigen Unternehmungen sehr gering; in den Augenblicken eines zu nehmenden ernsten Entschlusses war er eine ganz veränderte Natur, und die peinlichste Unentschlossenheit, die sich oft mit einer gänzlichen Mißstimmung und Aufgeben seiner selbst aussprach, bezeichnete alsdann sein ganzes Wesen, machte die Geschäftsführung mit ihm in solchen Augenblicken höchst schwierig. Er war ganz gut unterrichtet und hatte durch sein gutes Gedächtnis noch obenein eine Menge Notizen sich gesammelt, die aber einzeln da waren, da über so etwas nachzudenken und Folgerungen daraus zu ziehen nicht seine Sache war. Über die Ressortverhältnisse sowohl der Regierung als der Justiz war der König genügend orientirt, ohne in das Innere dieser Verhältnisse eingedrungen zu sein. Die neueren staatswirthschaftlichen Ansichten waren ihm fremd geblieben, aber den Wunsch, die unteren Stände von ihren früheren Lasten zu befreien, hatte er wirklich, wohlverstanden indes, daß er dabei nur die Beförderung ihres materiellen Wohlseins, nicht die ihrer geistigen Entwickelung im Auge hatte; der letzteren war er nicht in gleichem Grade hold, und was in dieser Hinsicht unter seiner Regierung geschehen, ist ihm durch die Umstände abgedrängt worden. Seine Urtheilskraft konnte man im ruhigen Zustande zuweilen sogar scharfsinnig nennen, jedoch nur, wenn es darauf ankam, die Schwächen einer Sache oder Person zu enthüllen: hierin hatte er eine ganz eigene Geschicklichkeit, die aber leider auch der Grund eines allgemeinen Mißtrauens sowohl gegen die Menschen als den Einfluß wohl überlegter Anordnungen war. Sobald aber der zu beurtheilende Gegenstand ernste Entschlüsse forderte, die

Verwicklungen herbeiführen konnten, verwirrte sich seine Urtheilskraft, und er suchte dann sich die Sache, so gut es anging, vom Halse zu schaffen, und in solchen Krisen schien er selbst die früher gegebenen Bestimmungen zu vergessen. Er war in vielen Dingen ein vorurtheilsfreier Mann; so ging er z. B. gern mit allen Ständen um, hob eine Menge belästigende Vorschriften der alten Etikette auf und würde hierin noch weiter gegangen sein, wenn man ihm nicht in späterer Zeit dies als gefährlich für die Sicherheit des Thrones geschildert hätte; denn auf sein persönliches königliches Ansehen hielt er nicht allein mit allem Recht, sondern war hier auch sehr leicht verletzt."

Indem Boyen die große Bescheidenheit des Königs erwähnt, unterläßt er doch nicht hervorzuheben, daß sie zum Theil ihren Grund in einem großen Mangel an Selbstvertrauen hatte. „Seine Umgebungen konnten durch wiederholte Vorstellungen und kleine Vorspiegelungen seinen Willen oft merkwürdig von der zuerst ausgesprochenen Ansicht ablenken. Nur mußte er nicht durch direkten Widerspruch gereizt werden; denn alsdann war er entschieden hartnäckig und hörte auch keine Gründe. Er war zu stolz und mißtrauisch, um sich einen Vertrauten auszusuchen, an den er sich hätte anlehnen können; er nahm den ganzen Umfang der königlichen Gewalt, so wie sie Friedrich der Einzige ausgeübt hatte, in Anspruch. Dabei gab er niemalen, weder im Militär noch Zivil (mit einziger Ausnahme der Exerzir-Dispositionen) zusammenhängende Anleitungen, wie die Sachen gemacht werden sollten; einzelne Wünsche sprach er höchstens aus oder ließ in den bei weitem mehresten Fällen die Dinge an sich kommen. Wenn ihm nun, durch das Bedürfnis gedrängt, durch die Minister ein Entwurf vorgelegt wurde, so begnügte er sich größtentheils mit der Kritik einzelner ihm mißfälliger Stellen, verlangte, ohne das Ganze zu verwerfen, einzelne Abänderungen oder Einschaltungen, die oft dem Zweck, um dessentwillen das ganze Gesetz gegeben war, widersprachen. Dadurch entstand ein den Gang der Regierung mehrfach lähmendes Verhältnis. Der engere Kreis der königlichen Umgebung, aus einigen Hofleuten und Adjutanten gebildet, der den Tadel des Königs über seine

höheren Beamten hörte, stimmte mit ein. Ein ziemlich sicheres und leider oft gebrauchtes Mittel war, entweder die Personen der Beamten zu verdächtigen oder auf Grund einzelner abweichender Ansichten bei neuen Gesetzen große Besorgnisse beim Könige zu erregen und von allgemeiner Unzufriedenheit zu sprechen. Dieses letztere Mittel verfehlte selten beim Könige seine Wirkung, er gerieth ins Schwanken und verweigerte den zur Vervollständigung der begonnenen Bahn noch nothwendigen Schritten seine Zustimmung, ohne die daraus entstehenden Folgen weiter zu berücksichtigen."

Unmöglich konnte ein solcher Charakter die Durchführung einer tiefgehenden Reform unternehmen. Boyen gehörte, wie sich nach dem Gesagten versteht, nicht zu den blinden Bewunderern[1]) von Stein. Um so bedeutungsvoller ist die Erklärung, die er unter Zurückweisung der Verunglimpfungen Schön's abgibt[2]): „Ich für meine Person bin des Glaubens, daß ohne die eiserne Festigkeit Stein's und ohne die Unabhängigkeit, welche er gegen jeden zu behaupten wußte, vielleicht keines der erwähnten Gesetze" — er meint die Reformgesetze von 1807 und 1808 — „die Zustimmung des Königs erhalten hätte." In tiefer Erregung schildert er die gewaltigen Hindernisse, mit denen Stein und Scharnhorst zu kämpfen hatten: die Unentschlossenheit des Königs, die niedrigen Umtriebe der Umgebung des Königs[3]); und geradezu als ein Unglück für den preußischen Staat sieht er es an, daß Stein 1808 aus dem Ministerium schied[4]). „Seine Charakterfestigkeit zügelte ebenso den unter ihm stehenden bösen Willen, als sie auch nach oben imponirte; man ergab sich bei seinem energischen Auftreten in das Unvermeidliche, und wahrscheinlich wäre es ihm gelungen, die begonnene Gesetzgebung, die selbst jetzt als ein Torso dasteht, nach gleichen Prinzipien als ein Ganzes zu vollenden."

---

[1]) Eigener Ausdruck von Boyen (1, 334).
[2]) 1, 299.
[3]) 1, 301.
[4]) 1, 334.

Auf die Einzelheiten der bürgerlichen Reformen Stein's geht Boyen nicht weiter ein. Desto ausführlicher ist er über die militärische Reform.

Auf Grund des bisher bekannt gewordenen Materials durfte man annehmen, daß der König zu dem Haupte der militärischen Reformpartei ein wenn auch nicht herzliches, so doch im Wesentlichen gutes, aus Achtung und Neigung gemischtes Verhältnis gehabt habe. Boyen belehrt uns, daß diese Ansicht zu optimistisch war. Indem er einräumt, daß der König in der Schillschen Angelegenheit mit großer Milde verfuhr, macht er doch eine Ausnahme[1]): „Nur gegen Scharnhorst war der König ungerecht, indem er die Schuld seiner Unentschlossenheit von sich auf andere Gegenstände zu wälzen suchte, auch oft Verdacht äußerte. Diese Verhältnisse wirkten auf Scharnhorst so nachtheilig, daß ein Nervenfieber ihn an den Rand des Grabes brachte; der edle Mann trug von da ab den Keim der zerstörten Gesundheit in sich". In der damals bekundeten Gesinnung verharrte Friedrich Wilhelm bis in das Jahr 1813. Er hegte fortdauernd gegen Scharnhorst einen innern Groll, der nach Boyen's Ansicht seinen Grund darin hatte, daß „Scharnhorst mit seinen Kriegsansichten doch endlich durchgedrungen war." Noch am Tage der Schlacht von Groß-Görschen, also wenige Wochen vor Scharnhorst's Tode, entlud sich diese Mißstimmung in einer augenfälligen Weise. Der König, welcher Scharnhorst für das Kreuzen der Kolonnen von Blücher und Yorck verantwortlich machte, erklärte, daß so etwas eigentlich mit Festungsarrest bestraft werden müßte: zur Genugthuung von Kneſebeck, zum Kummer von Boyen, der seinen Bericht mit den Worten schließt: „Selten hat mich ein Vorgang tiefer in meinem Innern verwundet als dieser."[2])

Dem Verhältnisse der beiden Personen entsprach im wesentlichen das ihrer Ansichten.

„Der König", so lautet das gewichtige Zeugnis von Boyen[3]), „unterstützte nur sehr bedingt die von Scharnhorst beabsichtigten

[1]) 1, 367.

[2]) 3, 36. Dazu 2, 325.

[3]) 1, 294. Dazu 2, 16.

Schritte. Er wollte eine Abschaffung der ökonomischen Mißbräuche und ebenso aufrichtig eine bessere Behandlung des Soldaten, und deshalb eine neue Organisation des Heeres, doch immer nur hauptsächlich in dem Kreise einer gut exerzirten und nach seinem Geschmack wohlgekleideten Linienarmee. Alles das, was Landesbewaffnung oder außerhalb der Bahn des Herkommens liegende Entwickelung eines freieren, kriegerischen Geistes beabsichtigte, hatte entweder bei ihm kein Zutrauen oder fand sogar an ihm einen entschiedenen Gegner. Er hatte wohl den Wunsch, die kriegerischen Institutionen des Landes in demselben Ansehen, wie er sie von seinen Vorfahren ererbt hatte, zu erhalten, aber indem sich dies nur auf Exerziren und Parade bezog, war sein Einfluß auf die Kriegsfähigkeit des Heeres nicht bedeutend. In Hinsicht der Handhabung der Disziplin war er leider, theils aus natürlicher Gutmüthigkeit, theils aus Unbekanntschaft mit der geistigen Wirkung derselben, viel zu nachsichtig, so daß diese bei ihm leicht erschlaffte; ein großer Theil der Unfälle, die den Staat im Jahre 1806 trafen, hatte hauptsächlich diese Quelle. Dabei war seine eigene Wahl zu Befehlshaberstellen in der Regel nicht vortheilhaft, indem er größtentheils diejenigen, die auf dem Exerzirplatze seine Zufriedenheit erworben hatten, dem wirklichen Feldsoldaten oder dem geistig kräftigen Menschen vorzog, diese letzteren sogar häufig ungerecht behandelte. Die Liebhaberei des Königs in Hinsicht der Uniformen und des Anzuges war groß, und seine Ansichten hierüber einem ewigen, größtentheils durch Kleinigkeiten herbeigeführten Wechsel unterworfen. Alles sollte bei dem Anzuge in ein System einer selbst geschaffenen Symmetrie gebracht werden, und bei hier vorkommenden Fehlern war der König, der sonst mit einem schönen Bestreben sich zu beherrschen suchte, großer Aufwallungen fähig. An der Artillerie nahm Friedrich Wilhelm geringen Antheil, die Festungen waren ihm nicht angenehm, und strategische Ansichten, bei denen seine Phantasie entfernte Gegenstände hätte verbinden müssen, waren ihm auch zuwider, so daß es sehr schwer wurde, im Vortrage seine Aufmerksamkeit bei diesen letzteren Gegenständen festzuhalten oder über sie eine günstige Entscheidung zu bekommen. Die Kriegsvorbereitungen oder die

Anordnungen zu einem Feldzuge waren daher auch durch diese einseitigen Ansichten des Königs immer unvollständig."

Mit verschwindenden Ausnahmen sind die eifrigen Anhänger der Reform auch die konsequenten Fürsprecher des Freiheitskampfes geblieben: die Reform war eben gedacht als nationale Wiedergeburt. Schon daraus ergibt sich die Stellung des Königs zur Erhebung.

Für das Jahr 1809 kommt Boyen zu dem Ergebnis, daß es einen langen Zeitraum gab, in dem der König sich mit dem Gedanken an einem Krieg vertraut gemacht hatte; je näher aber die Stunde der Entscheidung rückte, desto stärker sei die Unentschlossenheit, „dieser Hauptcharakterzug des Königs", hervorgetreten und habe alle öffentlichen Geschäfte gelähmt: „es ward weder im Geiste der früheren Beschlüsse entschlossen fortgehandelt, noch wurden diese offen und entschieden zurückgenommen"[1]). Nicht anders war es 1811: nachdem er Rüstungen zugelassen, gerieth er in's Schwanken und wurde, da er keinen bestimmten Entschluß fassen konnte, in zwei ganz entgegengesetzten Richtungen fortgetrieben[2]). Im Laufe des Jahres 1812 wurde das Band zwischen Friedrich Wilhelm und den Patrioten weiter gelockert[3]); bisher mit Haß gegen Napoleon erfüllt, fing der König jetzt an, „mit mehr Zurückhaltung, ja sogar mit einzelnem Lobe von Napoleon zu sprechen": das Beispiel Österreichs, welches in neutralen Verhältnissen mit Napoleon durchzukommen hoffte, hatte Gewalt über ihn gewonnen[4]). Nun erst versteht man ganz die Haltung des Königs im Frühjahre 1813. Die berühmte Reise Stein's nach Breslau (Februar 1813) bezeichnet Boyen[5]) „als das Schlußglied jener Kette von Ereignissen, durch die gegen den eigentlichen Willen des Königs der Krieg gegen Napoleon und durch diesen die Wiedererhebung des preußischen Staates herbeigeführt und beschleunigt wurde". Ohne die Konvention von

---

[1]) 1, 358.
[2]) 2, 119.
[3]) Eine bisher unbekannt gebliebene Thatsache.
[4]) 2, 147.
[5]) 2, 339.

Tauroggen und die Beschlüsse des ostpreußischen Landtages, so versichert Boyen, wäre Scharnhorst höchst wahrscheinlich mit allen seinen Bemühungen nicht durchgedrungen. Der König hatte das Vertrauen auf die Kraft seines Volks verloren[1]).

Genug: Friedrich Wilhelm III. hat nicht die Führung bei inneren Reform gehabt, der Freiheitskampf ist ihm aufgedrängt worden. Der Bericht des kundigsten Zeugen und der Befund der geheimsten Akten beweisen das in gleichem Maße: an dieser Übereinstimmung muß jeder Rehabilitationsversuch scheitern.

Ist dies das Hauptergebnis des herrlichen Werkes, dem wir diese Blätter widmeten, so ist doch das Interesse, das es erweckt, damit entfernt nicht erschöpft. Es enthält durchaus kein Kapitel, das unser Wissen nicht vermehrte. Wenn der Historiker dankbar die neue ihm gewordene Kunde verzeichnet, so wird der Staatsmann sich an so weisheitsschweren Erwägungen wie die über Monarchie, Kabinetsregierung und Premierminister, der Soldat an so feinen Urtheilen wie über den Krieg von 1812, über Volksbewaffnung, über Truppenübungen, über einzelne Waffengattungen erquicken.

Es mag zweifelhaft sein, ob Boyen's Denkwürdigkeiten das schönste Memoirenwerk in deutscher Sprache sind, das wahrhaftigste und gediegenste sind sie gewiß.

---

[1]) 2, 324. 333.

# Miscellen.

## Boyen's Darstellung der preußischen Kriegsverfassung.

Das Werk der preußischen Heeresreform gerieth auch nach dem Wehrgesetze von 1814 noch in schwere Bedrängnis. Der König konnte sich mit ihren Grundgedanken nicht befreunden [1]). Der Finanzminister

---

[1]) Über jeden Zweifel wird dies erhoben durch zwei Stellen aus dem Tagebuche des Generaladjutanten Witzleben:

„9. Mai 1819. Bei dieser Gelegenheit kam das neue Militärsystem zur Sprache. Der König äußerte seine Meinung dahin, daß namentlich die allgemeine Verpflichtung nicht wohl durchzuführen, es auch wohl bedenklich sei, alles zum Soldaten zu machen, in keinem anderen Staate mit der Härte verfahren werde. Hiergegen erwiderte ich, daß 1) in Frankreich die allgemeine Verpflichtung auch als Grundsatz gelte, andere sich aber durch Geld abkaufen können, was ich für einen wesentlichen Mangel hielte, daß 2) es weit gefährlicher sei, in der jetzigen Zeit Exemtionen zu machen, weil diese alsdann als isolirte, der bewaffneten Macht entgegenstehende Theile zu betrachten seien, während jetzt die allgemeine Verpflichtung die ganze Nation wie ein gemeinsames Band umschlänge, dessen Enden in den Händen des Königs seien. Übrigens fänden Exemtionen allerdings dadurch statt, daß die ganze Zahl der waffenfähigen Mannschaft weder durch das stehende Heer noch die Landwehr konsumirt werde, aber diese Exemtionen seien auf das wirkliche Bedürfnis, was zum Wohl des Staates Berücksichtigung verdiene, gegründet."

„26. Juni 1821. Abends höchst unangenehmes Gespräch mit dem Könige über die Landwehr und manche andere unserer Militäreinrichtungen. Ich will es auf Rechnung eines durch Unwohlsein erregten reizbaren körperlichen Zustandes schreiben, daß er ungünstig über ein System urtheilte, das bis jetzt

widerstrebte einem Militärbudget, das er für zu hoch hielt. Die Anhänger des fridericianischen Heerwesens forderten die Beseitigung der Landwehr, die Wiederherstellung des alten Beurlaubungssystems. Die Freunde des Milizgedankens waren gegen jedes stehende Heer. Diese Gegner hat der Urheber des Wehrgesetzes von 1814, Kriegsminister Boyen, im Mai 1817 zu überzeugen gesucht durch die im folgenden mitgetheilte Denkschrift. Sie war für einen „engen Kreis" bestimmt [1]), vermuthlich für die Mitglieder des Staatsraths, wurde also nur in wenig Exemplaren vertheilt.

Das warme Lob, das Treitschke (Deutsche Geschichte 2, 204) der Denkschrift spendet, ist jedem Kundigen aus der Seele geschrieben. Doch wird man bei ihrer Benutzung zweierlei nicht übersehen dürfen. Sie ist Friedrich Wilhelm III. gewidmet, den vor allen der Autor auf seine Seite zu ziehen wünschte; begreiflich, daß er die schließliche Zustimmung des Königs zu den bereits ergangenen Reformgesetzen betont, über seine Zweifel und Bedenken schweigt. Ferner: der Inhalt der Denkschrift ist, wie schon der Titel besagt, zu gutem Theile historisch. Boyen hat früher und später der Geschichte des preußischen Heeres ein lebhaftes Interesse zugewandt; noch kurz vor seinem Tode schrieb er für die Mitglieder des Vereinigten Landtages von 1847 den „Überblick der preußischen Heeresverfassung und ihre Kosten". So willkommen das von ihm mitgetheilte Material ist, so sehr wird man sich doch hüten müssen, seine Behauptungen unbesehens anzunehmen: er war geneigt, die Verwirklichung eines Theiles seiner Ideale in der älteren preußischen Heeresverfassung vorauszusetzen, und die umfassenden Studien eines Gelehrten hat er nicht gemacht.

M. L.

---

nicht allein die erfreulichsten Resultate geliefert hat, sondern auch für immer die Unabhängigkeit seiner Krone sichert. Gern ertrage ich von ihm persönliche Kränkungen, theils weil ich ihm wahrhaft anhänge, theils weil ich der Stelle, die ich bekleide, gern meine Individualität opfere, solange ich absehe, Nutzen zu stiften. Aber ich bin immer auf's tiefste erschüttert und ergriffen, wenn ein Mann, dessen Wille jeden Augenblick Gesetz werden kann, sich gegen Verfassungen erklärt, die Hauptstützen seiner Monarchie sind. Wie würden unsere äußeren Feinde, wie würde Österreich triumphiren, wenn wir unserem Landwehrsystem entsagten?"

[1]) S. unten S. 67.

**Darstellung der Grundsätze der alten und der gegenwärtigen preußischen Kriegsverfassung. Berlin im Mai 1817.**

Seiner Majestät dem Könige Friedrich Wilhelm III., dem Stifter unserer gegenwärtigen Kriegsverfassung, ehrerbietigst gewidmet.

Friedrich II. hinterließ im Jahre 1786 am Schlusse einer glorreichen Regierung seinem Nachfolger bei einer Volksmenge von höchstens sechs Millionen Einwohner ein Heer von 190571 Streitern mit 34514 Pferden, ausgerüstet mit allen erfoderlichen Bedürfnissen der Kriegsführung damaliger Zeit. Ein Theil dieser Kriegsmacht, nahe an 143123 Mann, war auch außer den Übungszeiten besoldet, der übrige im Lande beurlaubt; nach den höchsten Annahmen waren von diesem besoldeten Heere, zum Vortheil der Kompagnie- und Schwadron-Chefs, noch 45000 Mann als Freiwächter beurlaubt, so daß 98000 Mann zum Dienst benützt, 92000 Mann beurlaubt wurden.

Zur Unterhaltung dieses Heeres wurden nach abweichenden Angaben verschiedener Schriftsteller 11—13 Millionen, folglich nahe an zwei Drittel des damals etwa 18—20 Millionen betragenden gesammten Staatseinkommens verwendet. Durch Zwangs-Naturallieferungen von Fourage, durch die Gestellung von Vorspann gegen Vergütung unter ihrem wahren Werthe, konnte die Unterhaltung jenes Heeres mit einem bedeutend geringeren Aufwande für die Staatskassen bestritten werden. Sehr beschränkte Pensionen und Versorgungsanstalten invalide gewordener Krieger, niedrige Etatssätze aller Bekleidungsstücke, welche man, namentlich bei allen wollenen Waaren, durch Ausfuhrverbote des rohen Materials von den Lieferanten zu erzwingen hoffte, verminderten gleichzeitig die Erhaltungskosten dieses Heeres.

Nach dem Tode des unsterblichen Königs fehlte es nicht an einseitig unterrichteten Schriftstellern, welche den Umfang dieser Kriegsmacht tadelten, deren Gesinnung sich bei dem weichlichen Geiste der folgenden Jahre auch über einen größeren Kreis verbreitete. Ein langer Friede hatte die Besorgniß eines wieder ausbrechenden Krieges entfernt. Die politischen Verhältnisse von Europa ließen jenen Tadlern eine unberechenbare Dauer dieses ungestörten Gleichgewichtes erwarten. Mit starken Zügen schilderte man den Druck aller Gewerbe, vorzüglich der arbeitenden Klasse, welcher mit einer so bedeutenden alljährigen Rekrutirung bei den ungünstigen Verhältnisse des Heeres zur Bevölkerung verbunden sein müsse.

Man vergaß bei diesen leidenschaftlichen Angriffen, daß die Selbständigkeit der Staaten nur dann geachtet und gesichert ist, wenn man die Mittel, sie zu erhalten, schon im Frieden vorbereitet.

Einzelner Mängel wegen, welche in der Heereseinrichtung stattfanden und sich bei dem zunehmenden Alter des Königs schneller als sonst vermehrt hatten, mißbilligte man das ganze wohldurchdachte System eines großen Mannes, ohne auf die Geschichte zurückzublicken, die hier allein hätte entscheiden sollen. Mehrere Einrichtungen des Heeres waren hinter ihrem Zeitalter zurückgeblieben. Der Handel mit ausländischen Rekruten, die das Ehrgefühl herabwürdigende oft barbarische Behandlung des Soldaten, die Befreiung der wohlhabenden gebildeten Stände der Nation vom Kriegsdienste, wodurch die höchste Vaterlandspflicht, beinahe ausschließend der niedrigsten Volksklasse zugemuthet, für diese eine drückende, ungerechte Last wurde: alle diese Einrichtungen mußten endlich die Mißbilligung des eigenen Volkes und die des Auslandes herbeiführen. Ihre Abstellung war gewiß ein Bedürfnis der fortgeschrittenen Ausbildung jener Zeit. Aber außer aller Verbindung mit ihr stand die Auflösung der Frage: ob die damals bestehende Kriegsmacht zur Erhaltung des preußischen Staates nothwendig, ob sie möglich sei? Für beide entschied die Erfahrung. Mit geringeren Kräften würde Friedrich II. die gewonnenen Siege nicht erkämpft, Deutschlands Gleichgewicht im Jahr 1778 und einen dauernden segensreichen Frieden seinen Staaten nicht erhalten haben. Aber auch die Ansicht der zerstörenden Wirkungen jener Kriegsmacht Friedrich's II. konnte man bei unbefangener Beurtheilung nicht theilen, wenn man sich erinnerte, wie selbst bei mannigfachen fehlerhaften Verwaltungsmaßregeln die Wunden des Siebenjährigen Krieges so schnell vernarbten und jene allgemein verbreitete Wohlhabenheit gegründet wurde, die im Jahre 1806/7 die Ertragung so großer Opfer möglich machte.

Die Bildung einer so bedeutenden Heeresmacht, welche der große König seinem Nachfolger hinterließ, kann nicht ausschließend als das Werk der Überlegung dieses Monarchen allein angesehen werden. Als ein Erbtheil seiner glorreichen Ahnherren wurde sie von ihm mit einer Ehrfurcht gepflegt, die ihm die Überzeugung ihrer nothwendigen Erhaltung einflößte.

Geleitet von der Absicht, die Selbständigkeit seiner Staaten sicher zu stellen, legte schon der große Kurfürst den Grund zu dieser damals ungewöhnlichen Kriegsrüstung. Selbst Friedrich I. befolgte diese Grund-

sätze seines sieggebietenden Vaters, und mit eiserner Beharrlichkeit führte Friedrich Wilhelm I. sie aus.

So hatte sich der Gedanke, daß ein wohldisziplinirtes geübtes Heer zur Erhaltung des Staates nothwendig sei, durch drei Regenten zu einer Staatsmaxime ausgebildet. Ihr verdankt das Haus Hohenzollern seine Größe. Bei einem Länderbesitz von 2000 Quadratmeilen und einer Volksmenge von 2 Millionen Einwohner hinterließ Friedrich Wilhelm seinem Sohne eine Heeresmacht von wenigstens 70—80000 Streitern und ungefähr 5000 Mann Landregimenter.

Die europäischen Heere damaliger Zeit, mit Ausnahme des französischen, waren im Frieden nur höchst unvollkommen zusammengesetzt. Noch in den Feldzügen der Jahre 1736—38 und 1740 bestand das österreichische Fußvolk fast ganz aus neugeworbenen Leuten. Von richtigeren Ansichten geleitet, erhielt Friedrich Wilhelm I. sein ganzes Heer immer vollzählig unter den Waffen. Nur ein sehr kleiner Theil desselben durfte auf einige Monate von der Kompagnie beurlaubt werden, um aus diesen Ersparungen den Ankauf ausländischer Rekruten zu bestreiten. Unverkennbar muß dieser vollzähligen Erhaltung des preußischen Heeres ganz vorzüglich das Übergewicht bei seinem Auftreten im Jahre 1740 zugeschrieben werden.

Was aber auch selbst die Mißbräuche des nachmaligen Beurlaubungssystems in jener Zeit weniger fühlbar machte, war die große Überlegenheit, welche selbst den beurlaubten, krieggeübteren preußischen Soldaten gegen den bei jedem ausbrechenden Kriege größtentheils neugeworbenen Österreicher gesichert blieb.

Diese Vortheile waren dem Nachbarstaate nicht entgangen. Bald nach dem Feldzuge vom Jahre 1745 hatte Österreich die Verfassung seines Heeres der des preußischen nachgebildet, und schon in der ersten Schlacht des Siebenjährigen Krieges erkannte Friedrich, daß die große Überlegenheit seiner Macht gebrochen sei, in jener bekannt gewordenen Äußerung: „es sind nicht mehr die alten Österreicher!“

Der Siebenjährige Krieg war eine lehrreiche Schule der Kriegswissenschaften geworden, neue Ansichten über den Gebrauch des Soldaten und die Einrichtung der Heere hatten sich auf diesem blutigen Schauplatze entwickelt. Dem höheren Standpunkte der preußischen Kriegsmacht waren die feindlichen Heere näher getreten. Dem Scharfblicke Friedrich's entging dieses veränderte Verhältnis nicht. Ernstlich beschäftigte ihn nach dem Hubertsburger Frieden der Gedanke, die bestehende Kantonsverfassung und das Beurlaubungssystem aufzuheben,

da er bei der fortgeschrittenen Kriegsverfassung der übrigen Mächte die Vertheidigung des eigenen Staates bei diesem angenommenen System nicht mehr gesichert glaubte.

Diese durch spätere Erfolge als so richtig bewährte militärische Ansicht mußte dem Drange der Verhältnisse und den Vorurtheilen jener Zeit weichen.

Friedrich, der die früheren Mißbräuche der Hauptleute bei Beurlaubung der Soldaten kannte, fand sich veranlaßt, diese Einnahme für sich selbst zu benutzen. Dadurch wurde die Beurlaubung eines Theiles des Heeres zum Vortheil der Staatskassen und die einer geringeren Anzahl zur Gehaltsverbesserung der Kompagnie- und Schwadrons-Inhaber gesetzlich. Eine Bestimmung, deren fortschreitende Erweiterung die späteren Mißbräuche dieser Einrichtung erleichterte, welche im Jahre 1806 dem Vaterlande so nachtheilig wurden. Durch das System der Beurlaubung und den Hang zu Ersparungen mußte nach und nach alle kriegerische Bildung und jede zweckmäßige Ausbildung des gemeinen Mannes völlig unausführbar werden.

Zerstreut in kleine Garnisonen, nach einzelnen Waffen vertheilt, ging für die Offiziere alle Gelegenheit zu einer angemessenen Ausbildung verloren. Die vorschriftsmäßige 20jährige Dienstzeit des Soldaten konnte diesen Nachtheil nicht aufwiegen. Bei der Reiterei verwendete man in der Regel das erste Dienstjahr zur Ausarbeitung des Rekruten, in den übrigen 19 Jahren fand die Einberufung früher auf sechs, später auf nur vier Wochen jährlich statt, so daß der beurlaubte Soldat am Schlusse seiner Dienstzeit durch mehrmalige Entlassungen oft unterbrochen, im ganzen nur zwei Jahre sieben Monate bei den Fahnen sich befand; bei dem Fußvolk war dies Verhältnis bei weitem ungünstiger. Die Meinung, die Zahl der Freiwächter zur Erhöhung des Einkommens zu benutzen, nahm in kleinen Garnisonen bis zum Unglaublichen überhand. Nur selten dauerte die Rekrutenzeit länger als zehn, die jährliche Exerzierzeit nicht über vier Wochen, so daß der Kern und die überwiegende Mehrzahl des Fußvolks nach Ablauf von 20 Jahren nur $21\frac{1}{2}$ Monate wirklich dienstthuend war. Bei diesem so oft wiederholten Übergange zu ungleichartigen Beschäftigungen war es unvermeidlich, daß auch die ältesten Soldaten das Erlernte leicht vergaßen und in ihrer militärischen Ausbildung unvollendet blieben.

Eine Reihe von Friedensjahren hatte diese Unvollkommenheiten allmählich ausgebildet, und nur die damalige geographische Lage des preußischen Staates konnte die nachtheiligen Folgen desselben weniger

fühlbar machen. Während der Regierungsjahre Friedrich's II. grenzte die preußische Monarchie nur mit Einer Hauptmacht. Gegen Österreich allein hatte der große König sein Kriegssystem ausgebildet. Schlesien war so reich an Festungen, daß es gegen jeden Überfall gesichert schien. Die zahlreiche Bevölkerung dieser Provinz machte die Unterbringung einer bedeutenden Anzahl Truppen möglich. In Berlin und in den Marken waren ähnliche Maßregeln getroffen. Diese Vorkehrungen erleichterten die schnelle Vereinigung einer hinreichenden Macht, unter deren Schutz die übrigen Regimenter versammelt werden konnten. Die Begrenzungen der Monarchie an der östlichen Seite bildete ein durch Parteiungen kraftlos gewordener Staat, durch ihn blieb sie von Rußland getrennt, dessen Heeresmacht noch nicht zu seiner heutigen Größe angewachsen war. Westlich lehnte sie sich an Holland und die verschiedenen kleinen Regierungen Deutschlands, welche keine Besorgnisse erregen konnten; so daß, wenn Rußland in Polen, Frankreich in Belgien feindlich einrückte, zu der Einberufung der Beurlaubten und der Vereinigung der Streitkräfte noch immer Zeit blieb.

Ein solches Verhältnis zu den übrigen Staaten mußte Friedrich II. wenigstens die Beruhigung gewähren, daß er bei der damaligen Lage seiner Länder mit seinem System, zu dessen Annahme ihn nur die Noth veranlaßt hatte, auskommen werde: wenn auch einsichtsvolle Offiziere schon im Feldzuge 1778 die Nachtheile desselben nicht ohne Besorgniß bemerkten.

Die ersten Regierungsjahre Friedrich Wilhelm's II. zeichneten sich durch eine völlig veränderte Ländervertheilung der europäischen Staaten aus. Preußen erhielt einen bedeutenden Zuwachs seines Flächenraumes; seine Volksmenge, sein Staatseinkommen waren beinahe verdoppelt worden. In welchem Verhältnisse seine militärische Macht zu dieser Besitzerweiterung, zu dieser Ausdehnung seiner Grenzen und der völlig veränderten Stellung zu den übrigen europäischen Staaten erweitert werden müsse: diese wichtige militärisch-politische Frage war nicht der Lage des Staates angemessen erwogen worden. Mit gewissenhafter Treue hatte Friedrich II. bei jedem neuen Ländererwerb nach dem einmal feststehenden Verhältnisse die Heeresmacht erweitert. Schlesien, Westpreußen gaben beinahe in dem Augenblicke, in welchem sie dem preußischen Staate einverleibt wurden, ihrer Bevölkerung genau entsprechende Beiträge zu der Verstärkung des Heeres und entwickelten unter dem Schutze desselben neue Quellen des Wohlstandes. Der Besitz neuer Provinzen hatte die erwähnten Begrenzungen völlig verrückt.

Umgürtet von mächtigen Staaten nach Osten, schienen Preußens Streitkräfte eine diesem Verhältnisse angemessene Erweiterung zu fodern. Ein lange genährter Wahn, als seien die höheren und begüterten Stände zu vornehm, König und Vaterland zu vertheidigen; alte, durch frühere Siege ehrwürdig gewordene Formen hatten die Zeit ungenützt an sich vorübergehen sehen. Man schlief in der Nähe eines Vulkans, und nur der Verlust der theuersten Güter konnte die Keime des Besseren entwickeln, ihm den Sieg über verjährte Vorurtheile verschaffen. Ohne von politisch-militärischen Grundsätzen geleitet zu werden, wich man von den früher beobachteten Verhältnissen der Heeresstärke zur Volksmenge ab. Im Kampfe mit entgegenstehenden Ansichten konnte nur eine Vermehrung von etwa 40000 Mann bei einer gesteigerten Einwohnerzahl von beinahe fünf Millionen erlangt werden. Während die Heere benachbarter großer Staaten vermehrt wurden, schien man fortdauernd dem Grundsatz zu huldigen, daß die in den alten Provinzen als zu groß erachteten Streitkräfte auf die neuen Erwerbungen übertragen werden und ihre Vertheidigung mitübernehmen könnten. Ohne die so sehr verlängerten und veränderten Grenzlinien zu beachten, regelte man die Gesetze, wodurch die Größe der bewaffneten Macht eines Staates bestimmt werden muß, nach bestehenden Finanzgesetzen, die in jedem wohlgeordneten Staate gerade umgekehrt einem großen Theile nach von der äußeren öffentlichen Sicherheit abhängig gemacht werden müssen.

Die französische Revolution gestaltete eine neue, aus allen Ständen der Nation zusammengesetzte Heeresmacht. Die Kriegführung, die aus ihr hervorging, war auf Benutzung des Terrains, auf das zerstreute Gefecht, auf den wirksamen Angriff in Massen, auf große Beweglichkeit, Verminderung des Gepäcks, auf den Krieg ohne Magazine, vorzüglich auf größere als bis dahin übliche Heeresmassen, auf gleichzeitige Aufstellung mehrerer Heereshaufen, auf die Erweckung der moralischen Kräfte berechnet.

Diese wirksame Umformung der ganzen Kriegsverfassung war von allen Mächten, welche gegen Frankreich in Kampf traten, vernachlässigt, als nicht wesentlich übersehen worden. Die Geschichte wird einst in den Jahrbüchern dieser Völker mit blutigen Zügen die zerstörenden Folgen dieser Irrthümer aufzeichnen.

Für Preußen mußte die veränderte Art der französischen Kriegsführung um so nachtheiliger wirken, als es sich früher gerade durch seine Überlegenheit in derselben zu einem Staate des ersten Ranges,

ohne überwiegende Volkszahl, ohne bedeutende innere Hülfsquellen erhoben hatte. Stillstehend in seiner Militärverfassung, war es zurückgeschritten. Das Beurlaubungssystem paßte nicht mehr zu seinen geographischen Verhältnissen. Die Beibehaltung desselben machte eine schnelle Vereinigung seiner Heeresmacht da, wo es die Umstände foderten, um dem besser gerüsteten Gegner zuvorzukommen, unausführbar.

Auffallend zeigte sich dies schon im Jahre 1794 vor dem Ausbruche der Revolution in Polen, die eben deshalb nicht verhindert werden konnte, den ein schnelles Einrücken schlagfertiger Regimenter in seinem Entstehen würde unterdrückt haben. Die Einziehung der Beurlaubten, die Unbeweglichkeit, die aus der bestehenden Einrichtung hervorging, gaben dem Feinde Zeit, sich kräftig uns entgegenzustellen. Verderblicher noch entwickelten sich diese nachtheiligen Folgen im Jahre 1806. Der Mangel eines geordneten allgemeinen Finanzplans hatte nur die schon erwähnte Heeresvermehrung von 40000 Mann möglich gemacht. Der so zweckmäßige Vorschlag, das Heer mit 72 Miliz-Bataillonen zu verstärken, war wegen der Schwierigkeiten, die man ihm entgegenstellte, unausgeführt geblieben. Die Streitkräfte bestanden aus 108133 dienstthuenden besoldeten und aus 131667 beurlaubten Soldaten. Die Unterhaltung derselben betrug etatsmäßig 16636196 Thaler. Im Jahre 1805 mußten wegen Unzulänglichkeit derselben noch zwei Millionen zugeschossen werden. Dabei bestand die früher stattgefundene Zwangslieferung von Fourage, sowie eine Verringerung der Ausgabe durch die Einrichtung, die Kavalleriepferde während $2^1/_2$ Monat auf Grasung zu geben. Die Brodverpflegung und die Bekleidungsgegenstände konnten für bedeutend geringere Preise als gegenwärtig beschafft werden — Minderausgaben, die, zu Gelde berechnet, die Erhaltungskosten des Heeres um mehrere Millionen würden gesteigert haben. Schon der Zahl nach war diese Streitkraft der von Frankreich aufgestellten nicht gewachsen, was sich an dem Schlachttage von Jena, wo nur französische Heere gegen uns standen, fühlbar zeigte. Sie war es noch weniger durch die Gebrechen ihrer inneren Verfassung und würde selbst bei einzelnen gelungenen Siegen den Kampf auf die Dauer mit diesem Gegner nicht bestanden haben.

Zu den wesentlichen Mängeln, welche die Ereignisse des Jahres 1806 herbeiführten, gehörten unverkennbar:

1) Die Beurlaubung der größten Hälfte des Heeres. Durch sie wurde die Vereinigung desselben zu der erforderlichen Zeit und auf

den militärisch wichtigen Punkten unausführbar. Ohngeachtet man schon im Jahre 1805 den Krieg als unvermeidlich vorhersah[1]), so war dennoch eine frühzeitige Zusammenziehung (abgesehen davon, daß sie von dem Nachbarstaate als eine außerordentliche Rüstungsmaßregel zu Anfragen und Beschwerden Veranlassung gegeben haben würde) ohne ansehnliche Zuschüsse zu dem Friedens-Etat nicht ausführbar. Beides sollte bis zu dem entscheidenden Augenblicke vermieden werden. Dadurch mußte aber auch die Wahl des günstigen Augenblicks zu der Vereinigung der Heere, von dem allein das Gelingen des Feldzuges zu erwarten stand, preisgegeben werden. Wären die 108133 dienstthuende Streiter als stehendes Heer, ohne Beurlaubte, die 131667 auf Urlaub entlassene Soldaten, als völlig davon getrennt, in Landwehr-Regimenter gebildet gewesen, so würde eine Vereinigung der Ersteren im Anfange des Jahres 1806, als eine Dislokations-Veränderung, ohne Beschwerden zu veranlassen, an der Weser und dem Thüringer Walde unter irgend einem schicklichen Vorwande zulässig geworden sein. Die Kosten ihrer Unterhaltung würden unverändert geblieben, den Unterhandlungen Nachdruck gegeben worden sein. Man würde in dem Augenblicke, wo der Ausbruch des Krieges als entschieden angesehen werden mußte, mit diesen Streitkräften vorgerückt sein, sich Hessen erhalten und unter dem Schutze dieser Bewegung die Landwehr als Reserve haben sammeln können. Bei der Schwierigkeit, die zerstreuten Beurlaubten einzuziehen, mußte man sich entschließen, den Kriegsschauplatz bis an die Saale zurückzulegen. Dennoch konnten die preußischen Regimenter bis zum Schlachttage nicht mit der übrigen Armee vereinigt werden[2]).

Nur zu oft hat die Erfahrung allen Staaten gelehrt, daß allein die schlagfertige Bildung eines stehenden Heeres unter den bestehenden europäischen Verhältnissen einen ausreichenden Schutz gegen Anfälle der Nachbarstaaten und jene Sicherheit gewähren könne, die ihrem beträchtlichen Kostenaufwand entspricht. Vernachlässigt man diesen Zweck, ordnet man ihm den einer kurzsichtigen Ersparung unter, so wird man immer in Gefahr stehen, die höchsten Güter aufs Spiel zu setzen.

---

[1]) Boyen war in die preußische Politik des Jahres 1805 nicht eingeweiht.

[2]) Dies trifft nur für die westpreußischen Regimenter zu. Der Befehl zur Mobilmachung der ostpreußischen ist erst am 30. September 1806 ergangen.

Gleich nachtheilig wirkte die Beurlaubung eines Theils des stehenden Heeres durch die ungenügende Ausbildung, die dem Soldaten während einer kurzen Rekrutenzeit in der Benutzung des Terrains beim zerstreuten Gefechte, im Scheibenschießen, in der Kenntnis und dem Gebrauch seiner Waffe und in den nöthigen Evolutionen gegeben werden konnte. Die Gewöhnung an militärische Ordnung und strengen Gehorsam, wodurch eine gänzliche Auflösung in den Tagen des Unglücks alleine vermieden werden kann, war in einer kurzen und oft unterbrochenen Dienstzeit nicht zu erreichen.

2) Die Einrichtung der Provinzen in Regiments-Kantons. Durch sie wurden die Regimenter auf einen kleinen Bezirk des Staates beschränkt, in welchem Offiziere und Soldaten sich einbürgerten und nicht selten die Pflicht der Vaterlandsvertheidigung vernachlässigten. Ganze Regimenter lösten sich auf, wenn die Provinz, in der sie geboren, vom Feinde besetzt war, und kehrten bei jenem Rückzuge des Jahres 1806 in ihre Heimath zurück. Ähnliche Erfahrungen hatte schon Friedrich II. gemacht, als er die sächsische Infanterie zusammenließ. Sie wiederholten sich an den südpreußischen Regimentern.

3) Die ehemals zerstreute Dislokation der Armee, im Frieden ohne alle Verbindung der verschiedenen Waffen unter sich, mußte die Bildung der Offiziere für den Krieg bei dem Abgang erfahrener Vorgesetzten ungemein erschweren. Beschränkt auf das Reglement ihrer Waffe, fehlte es an Mitteln, den kleinen Krieg praktisch kennen zu lernen. Die Ausbildung in den Kriegs- und anderen Wissenschaften, die Errichtung von Lehranstalten für so viele einzelne Garnisonen wurde völlig unausführbar.

Daß eine neue, den veränderten Zeit- und Staatsverhältnissen angemessene Organisation nothwendig geworden, hatten S. Majestät der regierende König längst mit Weisheit eingesehen und vorbereitet. Ohne Zeitverlust mit fester Hand entwarfen Sie schon im Jahre 1807 die Grundzüge unserer gegenwärtigen Militärverfassung. Ihre Ausführung wurde der einsichtsvollen verständigen Leitung Scharnhorst's anvertraut, der unbekümmert gegen vorschnelle Urtheile ruhig den vorgesteckten Zweck verfolgte und sich dadurch so große Verdienste um den Staat erwarb. An den Ufern der Memel und des Pregels wurden die Umrisse gezeichnet, deren kühne Ausführung den preußischen Fahnen den Sieg verlieh, sie vor die Thore von Paris führte, die rheinische Mark mit dem preußischen Staate vereinigte und ihm seine verlorenen älteren Provinzen größtentheils wiedergab. Auf den Grund-

linien jener neuen Bildung des Heeres, die erst nach dem Jahre 1813 ihrer Vollendung näher gebracht werden konnte, ruhen alle späteren neuen Einrichtungen desselben. Einfach, wie alles wahrhaft Große, bedeutend in ihren Wirkungen, umfaßte sie:

1) Die allgemeine Verpflichtung zum Kriegsdienste. Da, wo gleiche Rechte der Staatsbürger als das höchste Gut angesehen werden, muß auch die Vaterlandsvertheidigung allgemeine Pflicht sein. Wer würde wohl bei einer würdigen Ansicht derselben sich dem Dienste des Königs und Vaterlandes entziehen wollen, da jede Regel der Ausschließung ein Unrecht gegen die Nation, jede Ausnahme überhaupt ein mangelhaftes Gesetz begründet.

2) Die jährliche Ausbildung einer bedeutenden Anzahl von Rekruten. Nur durch diese Vermehrung der waffenfähigen Männer kann die Nation, militärisch gebildet, einen dauernden Kampf gegen übermächtigen Anfall bestehen. Der Umfang und die Lage des Staats fodern im Verhältnis zu den übrigen Mächten größere Anstrengungen in der kriegerischen Ausbildung der Nation. Von dem Augenblick, wo irrige Ansichten und weichlicher Sinn uns wieder von dieser Bahn ablenken, würden wir unserer Vernichtung unvermeidlich entgegengehen.

3) Die Zusammenziehung der Brigaden und der Garnisonwechsel der Truppen. Die Erfahrung aller Völker hat gelehrt, daß eine Armee in wenig Friedensjahren ihre Brauchbarkeit für den Krieg verliere, wenn sie nicht gegen das Einbürgern bewahrt wird. Die Ausbildung zum Felddienste erfodert große gemeinschaftliche Übungen aller Waffen; der Unterricht in den Wissenschaften zweckmäßige Lehranstalten auf den vereinigten Punkten der Brigaden.

4) Die Einrichtung einer Landwehr. Schon im Jahre 1808 war diese in den letzten Kriegen sich so rühmlich bewährte Maßregel beschlossen. Napoleon, der ihre Folgen durchblickte, beschränkte die Stärke des Heeres auf 40000 Mann und untersagte jede anderweitige Bewaffnung. Um dennoch die Elemente einer neuen außerordentlichen Verstärkung der bewaffneten Macht unmerklich vorzubereiten, wurde mit großer Umsicht und Weisheit ein fortdauerndes Einziehen und Entlassen von Rekruten eingeleitet. An diese erwähnten Einrichtungen schlossen sich an: eine angemessene, auf Ehrgefühl berechnete Behandlung des Soldaten, eine verbesserte Fechtart, zweckmäßigere Bekleidung, größere Beweglichkeit der Truppen durch Verminderung des Gepäckes, militärische Bildungsanstalten,

gleiche Ansprüche auf höhere Stellen, und die bei weitem wichtigsten: die Zusammensetzung des Heeres aus Eingebornen, die Abstellung des vormaligen Beurlaubungs-, des daraus hervorgegangenen schädlichen Freiwächter- und Ökonomie-Systems. Es würde für den engen Kreis, dem diese Blätter bestimmt sind, unpassend sein, die Vorzüge der Einrichtungen des nach dem Jahre 1807 neugeschaffenen Kriegsheeres noch weiter auszuführen. Die glorreichen Erfolge dieser mit Beharrlichkeit durchgeführten Militärverfassung haben sich unter den Augen von ganz Europa genügend bewährt. Vertrauensvoll hatten S. Majestät diese neue Schöpfung in die Hände des sorgfältig gewählten Mannes gelegt. Alle Verordnungen wurden mit immerwährender Berücksichtigung des Zweckes, in genauester Übereinstimmung des Ganzen gegeben. Unbekümmert gegen Vorurtheile und Mißbilligung, welche jeder neuen Einrichtung vor ihrer Vollendung so oft entgegentreten, überließ Scharnhorst in dem ruhigen Bewußtsein, wie viel leichter es sei, einzelne Maßregeln zu tadeln, als die Bedürfnisse des Staates, zu einem umfassenden Plane geordnet, fest im Auge zu behalten, der Zeit und der Geschichte unserer Tage die siegreiche Widerlegung.

Im Volke, wie im Heere, war der Gedanke kräftig zur That erwacht, der Welt zu beweisen, daß nur Überzahl und veraltete Kriegseinrichtungen, nicht Mangel an Muth den preußischen Fahnen den Sieg auf Augenblicke entrissen hatten. Des Königs Aufruf gab in den ersten Monaten des Jahres 1813 das Zeichen zu einem glorreichen Erwachen. Wie durch einen Zauberschlag erschaffen, gingen neue Heere aus dem Volke hervor. Die sorgfältig vorbereiteten Elemente bildeten die Stämme der neuen Einrichtungen. Bei Aufkündigung des Waffenstillstandes hatten 4½ Millionen Einwohner, mit Einschluß der Ersatzbataillone und Festungsbesatzungen, ein Heer von 271641 Soldaten, folglich 54328 Streiter von jeder Million seiner Staatsbürger, unter die Waffen gestellt. Ein ewig denkwürdiges Beispiel treuer Ergebung für König und Vaterland. Es kann hier nicht der Zweck sein, die großen Siege dieser neugebildeten Scharen, die Tage an der Katzbach, vor Paris, auf den Wällen vor Wittenberg, bei Dennewitz, Wartenburg und Nollendorf, die Namen der tapferen Führer des Heeres dem Gedächtnis zurückzurufen. Die Geschichte wird diese Siege mit den Großthaten ihrer Helden verherrlichen. Aber dem königlichen Herrscher wollen wir danken, der durch weise Gesetze solche glorreiche Erfolge vorbereitete;

die Asche des Mannes segnen, der so verständig, mit der Beharrlichkeit einer wahrhaft großen Seele die Befehle seines Königs ausführte.

Eine glänzende Reihe von Siegen gab im Jahre 1814 Europa den Frieden, seinen Völkern zum Theil neue Herrscher. Preußen erhielt beinahe zur Hälfte neue Unterthanen, durch die Lage seiner erworbenen Provinzen eine durchaus veränderte politisch-geographische Gestalt. Was diese erworbenen Länder im Verhältnis zu den Nachbarstaaten an Vertheidigungsmitteln zur Erhaltung ihrer Selbständigkeit bedürfen würden: diese Frage sollte das entworfene Kriegssystem zu lösen versuchen.

Mehrere kleine Staaten, welche den preußischen im Jahre 1806 umgaben und keine politische Besorgnisse erregen konnten, waren zum Theil nicht mehr oder zu größeren gebildet worden. Mit den drei Mächten des ersten Ranges trat Preußen in unmittelbare Grenzberührung. Die Niederlande, Baiern, Hannover, Würtemberg bildeten im Vergleich gegen die Vorzeit zahlreiche Armeen. Zwischen diesen und den größeren Königreichen wurde Preußen ein Länderbesitz von ungewöhnlicher Ausdehnung zu Theil, getrennt durch zwischenliegende fremde Besitzungen. Ein solches Verhältnis der eigenen zu den übrigen europäischen Staaten machte eine mehr als gewöhnliche Rüstung unerläßlich, und eben dadurch schien der Bedarf größerer Summen, als je zuvor, für den Militärhaushalt vollkommen gerechtfertigt. Kann man Holland tadeln, wenn es für die Erhaltung seiner Dämme größere Summen als andere Staaten verwendet?

Erhöht mußte der Militäretat auch noch dadurch werden, daß die Preise der Brodportionen und Kavallerierationen an den Ufern des Rheins und der Mosel ganz andere, bei weitem höhere wurden, als sie es vormals an den Ufern der Pilica und der Narew für diese Verpflegungsgegenstände waren.

Das Kriegssystem eines Volkes kann nicht auf die Gegenwart, nicht auf den erhabenen friedlichen Sinn des jetzt herrschenden Monarchen berechnet werden. Mit einem Blick in die Zukunft, geleitet von den Grundsätzen, welche überhaupt die Stärke der Streitkräfte für einzelne Staaten bestimmen, muß ein derartiger Plan entworfen werden.

Der preußische Staat kann, das dürfen wir uns nicht verhehlen, nach seinem geographischen Verhältnisse wohl in die Lage kommen,

einen doppelten Krieg zu führen, seine Kriegsrüstung rechts und links der Elbe theilen zu müssen. Die politische und finanzielle Wichtigkeit seiner östlichen und westlichen Grenzprovinzen muß ihn verhindern, jemals ihre Vertheidigung wie im Jahre 1806 aufzugeben und sich wie damals an der Saale gegen Westen zu konzentriren. Verbündet mit fast ganz Europa, folglich unter den denkbar günstigsten Verhältnissen, hatten wir den Krieg des Jahres 1815 eröfnet. Außer dem Garde- und Grenadiercorps waren noch fünf Armeecorps und die rheinische Landwehr, welche ihrer Stärke nach einem Armeecorps gleichgestellt werden konnte, in Frankreich eingerückt. An der Weser, bei Posen, an der Weichsel waren überdies noch eine Anzahl Truppen von der Stärke zweier Armeecorps aufgestellt. Es hat sich nicht gezeigt, daß ihre Zahl zur Führung des Krieges, zu den Belagerungen, zu den Besetzungen der Festungen und des zugetheilten Rayons in Frankreich, noch zur Unterstützung der Verhandlungen überflüssig gewesen wäre.

Soll die preußische Kriegsmacht gegen ihre Grenzen wehrhaft stehen, so bedarf sie innerhalb eines Dreiecks, dessen Winkel die Städte Trier, Cosel und Memel bilden, wenigstens zweier selbständig fechtenden, durch einen Raum von mehr als 100 Meilen getrennten Armeen und eines starken Reservecorps. Dazu wird das stehende Heer in seiner bestehenden Stärke, mit dem ersten Aufgebot der Landwehr in neun Armeecorps gebildet, nur so eben hinreichen. Die Sicherstellung von 28 festen Plätzen, unter denen Danzig und Magdeburg schon an sich kleine Armeen zu ihrer Besatzung bedürfen, sowie mehrere Grenzlinien unserer Provinzen, die dringend neue Festungsanlagen erfodern, werden, vorausgesetzt daß nicht alle Festungen gleichzeitig eine vollständige Besatzung erhalten, der ganzen Stärke des zweiten Aufgebots der Landwehr und der Garnison-Bataillone zu ihrer Besatzung bedürfen.

Nach Ausmittlung dieser nur in allgemeinen Umrissen angegebenen Stärke der bewaffneten Macht kam es darauf an, zu bestimmen, auf welchem Wege und mit welchen Mitteln sie beschafft werden konnte.

Wollte man die Vertheidigung des Staates ausschließlich einem stehenden Heere von dem angegebenen Umfange allein anvertrauen, so müßte man die Landwehr, die durch ihren rühmlichen Antheil an dem beendigten Kriege der Nation so werth geworden, von Sr. Majestät für ihre Tapferkeit mit Fahnen belohnt und dadurch zu

einer bleibenden Einrichtung erhoben war, gänzlich auflösen. Aber auch abgesehen von dem ungünstigen Eindrucke einer solchen Maßregel würde es der bedeutenden Kosten wegen durchaus unmöglich geworden sein, ein stehendes Heer zu unterhalten, welches auch nur einigermaßen den gegenwärtigen Bedürfnissen des Staates angemessen gewesen wäre. Nachstehende Zusammenstellung der Unterhaltungskosten des stehenden Heeres vom Jahre 1806 mit denen des Jahres 1817, ihr gegenseitiges Verhältnis zu den Streitkräften, welche sie gewähren, werden eine vergleichende Beurtheilung und zugleich eine Übersicht des militärischen Haushalts erleichtern können. Im Jahre 1806 bestand das Heer, wie sich aus nachstehender Übersicht ergiebt, aus 108333 besoldeten, aus 131667 beurlaubten, im ganzen aus beinahe 240000 Soldaten. Im Jahre 1817 zählte das stehende Heer mit Einschluß der größeren Stärke, welche das Corps in Frankreich nothwendig macht, 114600 Soldaten. Die Vertheilung des Heeres in diesen verschiedenen Zeitperioden war folgende.

| Es standen nach Abzug der beurlaubten, unbesoldeten Soldaten an diensthuenden im Jahre 1806 | | | Gegenwärtig stehen nach Abzug des Armeecorps in Frankreich | |
|---|---|---|---|---|
| | Mann | Pferde | Mann | Pferde |
| in Ostpreußen und Littauen . . | 14432 | 4099 | 5560 | 1411 |
| „ Westpreußen . . . . . | 7939 | 751 | 6520 | 1034 |
| im Großherzogthum Posen . . . | 4678 | 1201 | 4400 | 1127 |
| in Pommern . . . . . | 7760 | 3903 | 5650 | 1318 |
| „ der Kurmark Brandenburg . | 23248 | 4416 | 14001 | 2870 |
| „ „ Neumark und Niederlausitz | 4927 | 2553 | 4546 | 1038 |
| „ Schlesien . . . . . | 26180 | 9477 | 13408 | 2674 |
| im Magdeburgischen und Herzogthum Sachsen . . . . . | 10915 | 2714 | 10982 | 2445 |
| in Westfalen . . . . . | 8054 | 451 | 5099 | 1233 |
| „ den Rheinprovinzen . . . . | — | — | 18910 | 2687 |
| Summa: | 108133 | 29564 | 89076 | 17837 |

Der Kosten-Etat des Jahres 1805/6 des stehenden Heeres betrug 16636196 Thaler, zu welchen, wie schon oben bemerkt worden, bedeutende Zuschüsse gemacht werden mußten. Sowohl durch veränderte Verwaltungsmaßregeln als auch durch die gestiegenen Preise aller Gegenstände sind überhaupt beträchtliche Mehrausgaben für den Kriegshaushalt unvermeidlich geworden.

Zu den vorzüglichsten müssen nachstehende gerechnet werden:

| | pro 1805/6 Thlr. | jetzt Thlr. | also mehr Thlr. |
|---|---|---|---|
| Es kostete die Montirung . . . . . | 1302274 | 3000000 | 1700000 |
| „ „ Brod und Fourage . . . | 2264307 | 4318723 | 2005406 |
| Remontegelder, obgleich der Pferdestand sich um 7886 Pf. verringert hat | 234906 | 289600 | 54639 |
| Reisekosten, früher unbekannt . . . . | — | — | 104988 |
| Kleine Montirungsstücke, pro Kopf jetzt mehr 2 Thlr. . . . . | — | — | 300000 |

so daß man, wenn man die während dieser Zeit eingetretenen Soldverbesserungen, die kostbare Unterhaltung vermehrter Festungen in den neu erworbenen Provinzen, die weit größeren Ausgaben für das Invalidenwesen hinzurechnet, ein Heer von der Stärke und Verfassung des Jahres 1805/6 nach einer hierüber sorgfältig entworfenen Berechnung wenigstens 23 Millionen kosten würde. Dieser Mehrbetrag der Kosten eines gleich großen Heeres, jetzt und im Jahre 1805/6, ist völlig unabhängig von dem inneren militärischen Haushalte, als Folge der veränderten Staatsverwaltungsgrundsätze und der so bedeutend gestiegenen Preise aller Bekleidungsmaterialien anzusehen. Dahin müssen gerechnet werden:

a) der Ankauf von Fourage, welche vormals durch Zwangslieferungen gegen bestimmte und beträchtlich geringere Preise vom Lande geliefert wurde;

b) die nothwendig gewordene und zweckmäßige Bekleidung und die Versorgung der Infanterie mit Mänteln; obschon die Montirungen nur alle zwei Jahre verabreicht werden, so ist dennoch durch die so sehr gestiegenen Preise der Tücher eine beträchtliche Mehrausgabe in diesem Zweige veranlaßt worden; die Bekleidung eines Musketiers kostete vormals 5 Thlr. 12 Gr. 7 Pf., jetzt 9 Thlr. 3 Gr. 8 Pf., die eines Dragoners sonst 8 Thlr. 12 Gr. 11⅗ Pf., jetzt 18 Thlr. 15 Gr. 3¾ Pf.;

c) die sowohl wegen des nachtheiligen Erfolges als auch wegen der vorgeschrittenen Kultur nicht mehr stattfindenden Grasungen der Kavalleriepferde, deren Verpflegung mit hartem Futter an die Stelle der Grasfütterung beträchtlich mehr kostet;

d) die im Jahre 1807 nothwendig gewordene Ablieferung der Invaliden- und Magazin-Fonds an die Staatskassen, welche ehemals ausschließend von der obersten Militärbehörde verwaltet und in die

Kosten nicht mitberechnet wurden, wogegen die Summen zu diesen Ausgaben jetzt nach dem Bedarf dem Militäretat angewiesen werden;

e) die Abschaffung des vormals vom Lande gestellten Vorspanns, wogegen nach neueren Festsetzungen extrapostmäßige Bezahlung bei militärischen Dienstreisen vergütigt werden und Frachtfuhren bei Transporten viel höher als sonst bezahlt werden müssen;

f) der beträchtliche Zuwachs an Festungen und der in diesem Verhältnisse vergrößerte Artillerie-Etat hat die Ausgaben dieses Verwaltungszweiges sehr bedeutend vermehrt.

Im Jahre 1806 bestand die Armee aus

60 Infanterie-Regimenter, zusammen 150 Bataillone,
60 dritte Musketier-Bataillone,
1 Fußjäger-Regiment,
24 Füsilier-Bataillons,
4 Fuß-Artillerie-Regimenter,
1 Regiment reitende Artillerie,
15 Kompagnien Festungs-Artillerie,
2½ „ Pioniere,
4 „ Mineure,
1 reitendes Feldjäger-Corps,
13 Küraſſier-Regimenter,
14 Dragoner-Regimenter,
11 Husaren-Regimenter, einschl. der Towarzys zusammen 248 Schwadronen,
72 Invaliden-Kompagnien.

Die Armee besteht im Jahre 1817 aus

38 Infanterie-Regimentern einschl. der Regimenter des Garde- und Grenadier-Corps zusammen 114 Bataillone,
3 Jäger- } Bataillone einschl. der Garde,
3 Schützen- }
34 Garnisons-Bataillone,
5 Küraſſier-Regimenter
9 Dragoner-Regimenter } einschl. der Garde-Kavallerie, zusammen 144 Schwadronen,
13 Husaren-Regimenter
9 Ulanen-Regimenter
1 reitendes Feldjäger-Corps,
9 Artillerie-Brigaden,
9 Pionier-Abtheilungen,
4 Garde-Landwehr-Bataillone,

4 Grenadier-Landwehr-Bataillone,
136 Landwehr-Infanterie-Bataillone } ersten Aufgebots,
136 „ Kavallerie-Schwadronen }
136 „ Infanterie-Bataillone } zweiten Aufgebots,
136 „ Kavallerie-Schwadronen }
2 Invaliden-Bataillone,
19 „ Kompagnien.

Nach den neuen Militäreinrichtungen würde bei einem allgemeinen Angriff der Staat stellen können:

1) an stehendem Heere mit der alsdann hinzutretenden Kriegsreserve und Landwehr ersten Aufgebots 298187 Mann und 40587 Pferde;

2) an Landwehr zweiten Aufgebots, je nachdem dieselbe zur Vertheidigung ihrer Provinzen erforderlich würde, 180000 Mann. Die Unterhaltungskosten dieser Streitkräfte betragen für das stehende Heer mit Einschluß des Garde- und Grenadiercorps und der Landwehren 20919388 Thaler.

Aus dem Vergleich dieser Zahlen ergibt sich, daß die jetzigen Streitkräfte bei einem ausbrechenden Kriege die des Jahres 1805/6 um 238587 Streiter übersteigen. Die Unterhaltungskosten aber dieser weit beträchtlicheren Kriegsmacht, wenn man die durch die Zeitverhältnisse gesteigerten Preise des Materials dem Militär-Etat von 1805/6 zusetzt, werden 2080612 Thaler zum Vortheil der Staatskassen gegenwärtig weniger betragen.

Unverkennbar entstehen beide Vortheile aus der Einrichtung der Landwehren, die im Vergleich des älteren Beurlaubungssystems militärisch und staatswirthschaftlich so große Vorzüge gewährt:

1) weil, wenn die Beurlaubten nicht als Landwehren von dem stehenden Heere getrennt sind, über 5000 Offiziere mehr würden gehalten werden müssen;

2) die Beurlaubten zur Gleichstellung mit dem besoldeten Soldaten ebenso oft, nämlich alle zwei Jahre, neu bekleidet werden müßten, während der Landwehrmann nur alle sieben Jahre eine Montirung erhält;

3) weil der Landwehrmann, wenn er als Beurlaubter dem stehenden Heere angehörte, länger dienen und seinem Gewerbe entzogen werden müßte;

4) weil dadurch, daß die Übungen der Landwehren innerhalb ihrer Bezirke stattfinden, Zeitverlust durch Revue-Märsche vermieden

und der National-Gewerbsamkeit eine sehr bedeutende Anzahl Arbeits-Tage erspart werden.

5) Endlich dürfte es bei dem Beurlaubungssystem nach allen früheren Erfahrungen durch keine Mittel jemals gelingen, den Rückfall in die vorigen Mißbräuche zu verhindern. Nur ein vollzähliges, marschfertiges, auch im Frieden gerüstetes Heer kann sich zur rechten Zeit und ohne andere Kosten, als die jeder Marsch verursacht, dahin bewegen, wo Gefahr droht, ohne zu politischen Spannungen der Nachbarstaaten Veranlassung zu geben, während die Landwehren da, wo es erfoderlich wird, und zwar provinzweise, die Besetzung im Innern des Landes übernehmen können. In jedem Fall macht die Zusammenziehung der Beurlaubten die Benutzung des günstigen Augenblicks unmöglich; ihr Abmarsch setzt ganze Provinzen der Gefahr aus, im Rücken überfallen zu werden. Die Erfahrung der jüngst verflossenen Zeit hat diese Behauptung bestätigt und die großen Vortheile des von Sr. Majestät befohlenen Systems, des stehenden Heeres und der Landwehr, jedem vorurtheilsfreien Beobachter überzeugend dargethan.

Gegen dieses System sind zwei sich völlig entgegengesetzte Ansichten aufgestellt worden, die, wenn auch unverkennbar aus einzelnen Standesverhältnissen hervorgegangen, der Vollständigkeit wegen hier nicht unerwähnt bleiben dürfen.

Die eine derselben ist gegen die stehenden Heere gerichtet; sie hält die Vertheidigung des Staates durch Landwehren allein ausreichend gesichert. Die ihr entgegenstehende fodert, wenn dieser hohe Zweck erreicht werden soll, schon im Frieden die Vereinigung der Landwehr mit dem stehenden Heere bis in die kleinsten Abtheilungen, unter gemeinschaftlichen Befehlshabern dieses letzteren.

Wie unhaltbar die erste Behauptung sei, da selbst die beste Landwehr, unter den günstigsten Verhältnissen gedacht, einem zerstreut kantonnirenden Heere ähnlich, nie zur rechten Zeit auf den bedrohten Grenzen würde vereinigt werden können, ergiebt sich beim ersten Blicke auf die bestehenden Einrichtungen anderer Staaten und durch unsere eigene Erfahrung. Hätte das stehende Heer die Schlachten von Groß-Görschen und von Bautzen nicht geschlagen, wie würde es der Landwehr möglich geworden sein, sich zu bilden? Aber auch die glücklichen Resultate der letzten Feldzüge können nur bedingungsweise als Muster für die kommenden aufgestellt werden. Fast ganz Europa, zu einem Zweck verbündet, stellte solche bedeutende Streitkräfte in dem Kampfe, die, wenn auch nicht alle vorhergegangenen Ereignisse jenen

herrlichen Willen erzeugt hätten, schon ihrer bloßen Zahl nach überwiegend waren. Der Feind hatte den größten Theil seiner alten erfahrenen Krieger verloren. Unsern neu ausgehobenen Wehrmännern wurden nur junge Konskribirte entgegengestellt. Nicht alle künftige Feldzüge werden gleich günstige Verhältnisse gewähren. Höchst verderblich würde es daher sein, bei der jetzigen Art, den Krieg zu führen, die ganze Ausbildung unserer Soldaten auf die unterbrochene Übung weniger Wochen beschränken zu wollen.

Wenn aber diese erste Ansicht als höchst nachtheilig für den Zustand des Krieges angesehen werden muß, so erscheint die entgegenstehende gleich nachtheilig für die staatsbürgerlichen Verhältnisse im Frieden.

Für das stehende Heer muß die höchste Ausbildung, die vollendetste Brauchbarkeit für den Krieg, höchster Zweck sein. Die Landwehr ordnet ihn im Frieden der Erhaltung der Gewerbe unter. Eine dreijährige ununterbrochene Dienstzeit im stehenden Heere verschafft dem Landwehrmann nach seinem Austritt aus demselben eine bei weitem vollendetere militärische Ausbildung, als bei der vormaligen Beurlaubung möglich wurde. Eine kurze alljährliche Übung in seiner Heimat reicht hin, sie ihm ohne große Aufopferungen seiner Zeit und ohne Vermehrung der Kosten zu erhalten.

Nur indem man die Landwehr vom stehenden Heer, auch in Rücksicht ihrer Befehlshaber, trennte, ließ sich der schwer zu vermeidenden Reibung der Militär- und Civilbehörden bei abweichenden Meinungen begegnen.

Dem Einfluß, den jeder Regiments-Commandeur, den die Chefs der Kompagnien und Schwadronen auf die Rekrutirung, auf die Einziehung der Beurlaubten ausübten, muß man einen großen Theil der Abneigung gegen die alte Kantonsverfassung zuschreiben. Sie begünstigte eine abweichende Behandlungsart und die Einmischung von Privatansichten, wodurch die verschiedenen Stände von einander entfernt, in den entscheidenden Augenblicken zu großen Zwecken nicht verbunden werden konnten. Bei jedem ausbrechenden Kriege mußte die so wichtige Ergänzungsangelegenheit der ungeübten Hand von zurückbleibenden subalternen Offizieren oder fremder Führung übertragen werden. Selbst die Militär-Gouverneure hatten in diesem letzten Kriege, da eine allgemeine Ergänzung der Erschöpfung einzelner Gegenden an Menschen nur allein vorbeugen konnte, mit großen Schwierigkeiten zu kämpfen. Bei dem Mangel erforderlicher Ein-

richtungen und hinreichenden Vorarbeiten mußten sich den Behörden Hindernisse entgegenstellen, deren Fortdauer noch fühlbar wird, und die nur dann erst werden beseitigt werden können, wenn unsere neue Landeseintheilung und die auf sie begründete Landwehreinrichtung vollständig ausgeführt sein wird.

Sie allein gewährt die Aussicht, mit Vermeidung eines ungerechten Drucks für einzelne Gegenden, einen regelmäßigen Ersatz im Frieden und im Kriege einzuleiten. Sie allein kann gegen die Rückkehr jener ungünstigen Eigenthümlichkeiten unserer alten Verfassung schützen, welche die verschiedenen Kantonsbezirke feindselig gegen einander stellte und sie veranlassen mußte, den Wechsel des Aufenthaltsorts ihnen angehöriger Kantonisten ängstlich zu bewahren.

Ein stehendes Heer mit Beurlaubten und ihm zur Seite eine Landwehr hieße zwei ungleichartige Landwehren neben einander stellen, von denen die eine nur durch ihre größeren Kosten sich vor der anderen unterscheiden würde. Bestände noch jetzt jenes frühere Beurlaubungssystem an der Stelle unserer Landwehren und ihr zur Seite die älteren, enge abgeschlossenen Regimentskantone statt der Corpsergänzungsbezirke, so würden ganz unverkennbar die Kreise, welche den Ersatz für die Regimenter des Armee-Corps in Frankreich zu stellen angewiesen würden, drückend benachtheiligt gegen die übrigen sein, welche ihre Beurlaubten nicht entbehrten.

Mit diesen Ansichten steht das Gesetz der Heeresergänzung in übereinstimmender Verbindung. Hätte man auch dem Gedanken Raum geben wollen, daß der preußische Staat bestehen und den zu seiner Vertheidigung unentbehrlichen Geist im Heere aufrecht erhalten könne, wenn ein Theil der Staatsbürger von der heiligen Pflicht, die Waffen zu seinem Schutze zu tragen, entbunden worden wäre, so mußte schon die Bestimmung der Grenze einer solchen Befreiung ihre Unausführbarkeit beweisen. Konnte man beliebige Exemtionen schaffen, ohne die älteren bestehen zu lassen, ohne sie auch auf die neueren Provinzen mit Beachtung ihrer älteren Privilegien auszudehnen? Wäre es auch möglich gewesen, solche willkürliche, den Ackerbau ausschließlich lähmende Gesetze durchzuführen, und würde man mit derartigen Ausnahmen Menschen genug gehabt haben, das Heer nach seiner jetzigen Einrichtung mit Einländern zu ersetzen?

Nur indem man bei gleichen Rechten auch gleiche Pflichten forderte, die wissenschaftliche und Kunstausbildung mittels einer kürzeren Dienstzeit für freiwillig Eintretende erleichterte, ließen sich die Fehler

der Vorzeit und der noch größere Mißbrauch, im eigenen Staate seine Verpflichtungen durch Geld zu lösen und gleichsam einen unmoralischen Menschenhandel gesetzlich festzustellen, vermeiden.

Der Grundsatz, das Heer aus Eingebornen zu ergänzen, fodert bei verschiedenen gleichzeitig stattgefundenen inneren Staatseinrichtungen dringend eine Abkürzung der Dienstzeit. Die Einrichtungen anderer Staaten hatten zum Theil schon bewiesen, daß eine kürzere Dienstzeit die Brauchbarkeit der Truppen im Kriege nicht schwäche. Die französische Konskription bestimmte sie im Frieden auf vier Jahre. Die eigene Erfahrung der letzten Feldzüge hat es bestätigt, daß, obschon per Kompagnie 60, per Schwadron 36 Rekruten als Ersatz für den Krieg nicht ausreichten, eine so bedeutende Zahl junger Krieger kühne Angriffe, glorreiche Siege nicht verhindern. Für den Friedenszustand wird auf jeden Fall die Rekrutirung des Heeres, bei dem Grundsatze einer dreijährigen Dienstzeit, weniger als die Hälfte des Bedarfs im Kriege betragen.

Die Verringerung des stehenden Heeres und die Nothwendigkeit, mit demselben die großen Städte und die festen Plätze vorzüglich zu besetzen, hat die gegenwärtige Dislokation veranlaßt. Durch sie sind die verschiedenen Waffen zu einer fortschreitenden Ausbildung mehr als sonst vereinigt worden. Der allgemeine Wunsch der Kasernirung der Truppen eröffnet außer anderen Vortheilen auch noch die günstige Aussicht, in den Festungen des Staates die ihnen für den Kriegsfuß noch fehlenden Kasernen erbaut zu sehen.

Für die gewöhnliche Friedensunterhaltung des Heeres sind 16813770 Thaler erforderlich. Dieser Summe würde noch die Anschaffung von Brod und Fourage, welche für das Jahr 1816 nach den Marktpreisen auf vier Millionen angenommen war, zuzurechnen sein; ob diese Gegenstände in dem laufenden Jahre dafür zu beschaffen sein werden, hängt allerdings von der Aussicht auf eine günstige Ernte ab. Insoferne diese die Preise in den letzten Monaten dieses Jahres günstiger stellt, wie es mit Wahrscheinlichkeit nach dem schon jetzt ermäßigten Stande derselben zu erwarten steht, läßt sich annehmen, daß die gewöhnliche Unterhaltung für das Jahr 1817 mit Einschluß des Soldes, der Bekleidung für das stehende Heer und die Landwehr, der Verpflegung mit Brod, Fourage und den Reisekosten mit etwas über 21 Millionen wird bestritten werden können.

Bedeutend größer mußten die Kosten des abgelaufenen Jahres sein, da eine beträchtliche Anzahl überzähliger Offiziere und Soldaten

verpflegt wurden, und die mit der Rückkehr des Heeres auf dem Friedensfuße jederzeit unvermeidlichen Ausgaben außerordentlich dem Kriegshaushalte hinzutreten.

Auch noch in diesem Jahre haben sowohl die politischen Verhältnisse des Staates, als die durch jeden beendigten Krieg herbeigeführten Mehrausgaben nachstehende außerordentliche Foderungen veranlaßt.

| | | |
|---|---|---|
| 1) Mehrkosten für das Corps in Frankreich, um es auf dem Kriegsfuß zu erhalten . . . . | 620 572 | Thlr. |
| 2) An Sold noch überzähliger Offiziere, für entlassene mit halbem Sold, welche nach und nach eingehen . . . . . | 805 402 | „ |
| 3) An Mehrkosten der Invalidenverpflegung nach dem Kriege, durch größere Unterstützungen der gänzlich Verkrüppelten . . . . . | 503 266 | „ |
| 4) Zur Instandsetzung der im Kriege zerstörten Artillerie . . . . . | 1 396 108 | „ |
| 5) Zum Festungs- und Magazin-Bau . . . . | 1 922 000 | „ |
| 6) Wiederherstellung des Feldgeräthes . . . . | 173 171 | „ |
| Summa | 5 420 519 | Thlr. |

Die Ausgaben scheinen allerdings sehr bedeutend, wenn man unbeachtet läßt, daß sie dem bei weitem größeren Theile nach durch die Rückkehr eines zahlreichen Heeres aus einem mehrjährigen, mit Anstrengung geführten Kriege veranlaßt worden sind.

Beträchtlich erleichtert wird ihre Bestreitung für die Finanzen dadurch, daß jährlich

| | | |
|---|---|---|
| a) zur Erhaltung des Corps in Frankreich in Gemäßheit des Pariser Traktates . . . . | 10 714 281 | Frcs. |
| b) zu der Anlage von Festungen . . . . . | 4 000 000 | „ |

folglich die Summe von 14 714 281 Frcs. innerhalb fünf Jahren, also 73 571 405 Francs, von Seiten Frankreichs beigetragen werden müssen. Auch würde obige Foderung weit geringer ausgefallen sein, wenn nicht bei den gegenwärtigen Verhältnissen Arbeiter und Fuhren bei den Festungsbauten baar bezahlt werden müßten, wogegen beide Leistungen vormals vom Lande für sehr geringe Preise gestellt wurden.

Am Schlusse dieser Darstellung der vormaligen und gegenwärtigen Kriegsverfassung wird es nicht unnöthig sein, die Kosten für die

Streitkräfte des Staates in den verschiedenen Zeitperioden zusammenzustellen.

Wenn man das Militär-Prinzip Friedrich's II. auf eine Volksmenge von 10 Millionen und auf die gegenwärtige Lage des Staates anwenden wollte, so würde ein stehendes Heer von 317 528 Mann nahe an 22 Millionen nach der Verfassung und den Etatssätzen jener Zeit kosten. Die Armee des Jahres 1806, welche aus 108 133 dienstthuenden und 131 667 beurlaubten Soldaten bestand, würde jetzt eine Ausgabe von 23 Millionen veranlassen. Wollte man dieses Heer bei den heutigen durchaus veränderten Staatsverhältnissen auch nur um ein Viertel vergrößern, so würde die Erhaltung desselben 29 bis 30 Millionen erfordern.

Die Unterhaltungskosten des stehenden Heeres für das Jahr 1817 von 114 600 Mann nebst der Landwehr beider Aufgebote würden etwa 21 Millionen betragen. Selbst wenn man, nachdem die außerordentlichen Ausgaben aufgehört haben werden, einige noch nothwendige Verstärkungen und Verbesserungen des Heeres eintreten ließe, Brod und Fourage fortwährend auf den Märkten kaufte, kann man mit Gewißheit annehmen, daß der Kriegshaushalt 22 Millionen nicht übersteigen werde, ohnerachtet mehrere Gegenstände ohne seine Veranlassung hinzugetreten sind, die denselben kostbar machen, namentlich die mit 103 000 Thaler jährlich zu berichtigende Accise beim Ankauf der Fourage- und Brod-Verpflegung.

Wenn es in dieser freimüthigen Darstellung gelungen ist, die Uberzeugung zu gewähren, daß die Ausgaben des gegenwärtigen Militärhaushalts noch unter höchst ungünstigen Umständen und bei größeren Anforderungen an denselben keineswegs das seit beinahe einem Jahrhundert für die preußische Monarchie angenommene Verhältnis des Militäretats zu seinen Staatseinkünften überschritten, vielmehr dasselbe zum Theil günstiger gestellt hat, so ist der Zweck dieser Blätter erreicht.

Wünschenswerth dürfte es sein, ähnliche geschichtliche Übersichten aller übrigen Verwaltungszweige zu besitzen.

Möge diese Entwickelung den Grundsatz bestätigen, daß die Stärke eines Heeres nicht willkürlich von Finanzgesetzen abhängig gemacht werden darf, wenn sie der Erhaltung des Vaterlandes genügend entsprechen soll.

Für jeden großen Staat wird die Beschaffenheit seines Gebiets, seine ausgedehnte oder abgerundete Grenze, die Streitkrafte seiner Nachbarstaaten, sein eigener Länderumfang, sein getrennter unzusammenhängender Besitz, seine offene oder durch Natur und Kunst geschützte Grenze, die Zahl seiner Einwohner, die Sitten und moralische Kraft seines Volks, Grundsätze und Regeln geben müssen, durch welche die Stärke und Zusammensetzung seiner Streitkräfte nur allein bestimmt werden kann, wenn seine Selbständigkeit gesichert bleiben soll. Nicht selten werden bei einseitiger Beurtheilung alle diese Rücksichten unzureichend gewürdigt. Es ist leicht, Ersparungen vorzuschlagen, wenn man die Größe des Heeres und seine Kriegsbrauchbarkeit nicht berücksichtigt. Es ist ebenso leicht, höhere militärische Bildung in Vorschlag zu bringen, wenn man die Kosten und die Erhaltung der Gewerbe unbeachtet läßt. Aber jeder derartige Vorschlag trägt mehr oder weniger das Gepräge einer theoretischen Täuschung, wenn er nicht alle jene Verhältnisse kennt, berücksichtigt und sie gewissenhaft umfaßt. Da, wo er bestehenden Gesetzen entgegentritt, sie durchkreuzt, wird die öffentliche Meinung ungewiß und unvermeidlich irregeleitet werden, welches niemals ohne Nachtheil für die heilige Sache des Vaterlandes bleiben kann.

# Literaturbericht.

Der römische Staat und die allgemeine Kirche bis auf Diokletian. Von **Karl Johannes Neumann.** I. Leipzig, Veit u. Ko. 1890.

Tillemont hat gründlich und zuverlässig den Unterbau für die römische Kaisergeschichte und die alte Kirchengeschichte geliefert. Gibbon suchte mit „feierlichem Hohne" das erstehende Christenthum wie einen pathologisch interessanten Vorgang zu begreifen. Seitdem haben neue Funde weitere Forschungsgebiete erschlossen. Namentlich gebührt der Archäologie und der Epigraphik, der Quellenkunde und der historischen Kritik das Verdienst, sowohl den Stoff vermehrt als auch durch Einzelstudien die Einsichten berichtigt und gefördert zu haben. Trotzdem bleibt noch viel zu thun, bis die Auffassung des merkwürdigen und einzigen Prozesses, in welchem das römische Weltreich eine Weltreligion erstehen sah und allmählich, trotz aller Abwehr, von derselben erobert wurde, zu abschließenden Ergebnissen gelangt sein wird. Das liegt in der Verschiedenartigkeit und in der Unvollständigkeit der Quellen; jene fordert Arbeitstheilung, diese macht Hypothesen nöthig. Dazu kommt die Schwierigkeit der Probleme, die hier zum Austrag kommen. Der Staat hatte zu einer unbekannten Größe Stellung zu nehmen. Das Christenthum gab sich als Menschheitsreligion. Von der Nationalität, mit welcher es in seinen Anfängen verbunden war, wurde es auf das entschiedenste abgelehnt. Diese jedem nationalen Zusammenhange entnommene Religion erhob den Anspruch, als göttliche Wahrheit alle nationalen Kulte zu beseitigen und alle Philosophie zu ersetzen. Sie erzeugte genossenschaftliche Bildungen, welche in drei Generationen einheitlich und fest, soweit die Römerherrschaft reichte, sich organisirten. Sie zog die begabtesten Geister und die thatkräftigsten, opfermuthigsten

Männer an sich. Sie rief eine entnationalisirte Literatur hervor, welche dem Gemüth, dem Verstande, der Phantasie Nahrung bot. Kurz, sie griff in die wichtigsten Lebensbedingungen der antiken Kultur fremdartig und rücksichtslos umformend ein. Der Kaiserhof, das Heer, Philosophenschulen, Werkstätten, Sklavenverbände waren ihrer erfolgreichen Propaganda geöffnet. Und die Religion selbst gab sich mit nichten als eine einheitliche Größe. Wer die Glaubenssätze ihrer Träger ermitteln will oder die neu sich formende Sitte, trifft auf mannigfache Strömungen. Die Vertretung der Glaubensgrundsätze führte früh zu Kämpfen und auch zu Ausschreitungen. In Fragen der Sitte geht die rücksichtsloseste Absonderung von allem, was der antiken Welt üblich und werth war, neben der naiven oder bewußten Ausgleichung mit der heidnischen Umgebung her. Alle diese Gegensätze sind aber nicht fertige und abgeschlossene; sie fließen und werden, steigen und mildern sich, je nach Zeiten, Personen und Umständen.

Die urkundlichen Nachrichten über die Beziehungen der christlichen Religion zum römischen Staate sind so verschieden bedingt, als diese Beziehungen selbst. Aber die alten Schriftsteller berichten nur gelegentlich über Maßregeln, welche gegen die Christen seitens der Obrigkeit getroffen wurden und geben beiläufige Urtheile über das Wesen der Christen. Die christliche Literatur andrerseits, insoweit sie das Verhältnis zum Staate berührt, wehrt ab oder greift an. Sie stellt die Thatsachen in eigenem Interesse dar. Sie feiert ihre Märtyrer als ein neues Heroengeschlecht, und in ihren Verfolgern sieht sie Werkzeuge gottfeindlicher Mächte. Hinter diesen vereinzelten und einseitigen Nachrichten, welche oft nicht sicher zu datiren sind, steht das geordnete Rechtsleben der Universalmonarchie, in welchem für die neuen Erscheinungen der christlichen Propaganda feste Normen noch fehlten. Daher hat der Darsteller dieser Beziehungen noch mehr die Aufgabe eines Exegeten als die eines Historikers zu lösen. Er muß die Einzelheiten verknüpfen, das Mehrdeutige bestimmen, das Thatsächliche ausscheiden aus dem Geranke des Sagenhaften und von dem Nimbus des Mythischen lostrennen, die Übertreibungen der Abneigung und des Interesses abziehen von dem Wirklichen. Kein Wunder, daß in Anbetracht der hohen Anforderungen, welche die eigenthümliche Beschaffenheit des Forschungsstoffes an den Scharfsinn, die Sachkenntnis und auch an das Gemüth stellen, sowohl im ganzen wie im einzelnen die Auffassung vielfach eine schwankende bleibt. Der Gegensatz von Tillemont und Gibbon besteht noch fort.

Daß Neumann sich die Aufgabe gestellt hat, eine möglichst erschöpfende, die Einzelforschungen zusammenfassende Überschau über das Verhältnis der römischen Universalmonarchie und der Christenschaft zu geben, entspricht daher einem wissenschaftlichen Bedürfnisse. Und er hat die Aufgabe erfolgreich gelöst, so daß der bisher erschienene erste Band seines Werkes für die Zeit vor Decius zur Orientirung über die Sachlage und zur Förderung der weiteren Arbeit einen sichern Ausgangspunkt darbietet. Dies beweisen auch die dadurch veranlaßten Abhandlungen von Mommsen, der Religionsfrevel im römischen Recht (H. Z. 64, 389 f.) und von Joh. Schmidt, ein Beitrag zur Chronologie der Schriften Tertullian's und der Prokonsuln von Afrika (Rhein. Museum für Phil. N. F. 46, 77 f.). N. orientirt fruchtbar, weil er nicht bloß die einzelnen in Betracht kommenden problematischen Nachrichten und Stimmungsbilder nebst den verschiedenen Ansichten darüber vergegenwärtigt, sondern weil er auf Grund ausgiebiger Kenntnis der Kaisergeschichte und umfassender Studien der Schriften namentlich des Justin, Irenäus, Tertullian, Clemens von Alexandrien und Origenes die einschlagenden Stoffe in ausgezeichneter Weise beherrscht.

Die Darstellung der Beziehungen zwischen Staat und Kirche wird durch eine Einleitung (S. 3—54) vorbereitet, welche gewissermaßen die Untermalung für die speziellen Abschnitte bietet. Sie erörtert die Bedingungen der Rechtslage des erstehenden Christenthums, die soziale Stellung der Christen, die ersten Maßnahmen der Obrigkeit, die Eindrücke der neuen Religion auf die Gesellschaft, die Ansätze zu einer Gemeindeverfassung. In fünf Kapiteln werden sodann die Nachrichten über die Entwickelung und die Wandlungen des Verhältnisses von Staat und Christenthum bis auf die Zeit des ersten planmäßigen Versuchs einer Vernichtung der Kirche gruppirt und untersucht. Besonderes Gewicht ist dabei auf die provinzielle Sonderung gelegt. Das erste Kapitel beschäftigt sich mit den Anfängen der Synodalverfassung und den Ereignissen unter der Regierung des Commodus, das zweite mit den ersten Regierungsjahren des Septimius Severus und den Geschicken des Christenthums am Ausgange des zweiten Jahrhunderts. Das dritte Kapitel untersucht das Verhalten des Septimius und seiner Nachfolger gegen die immer mächtiger werdende Religion, das vierte die Verfolgung des Maximinus Thrax, das fünfte die Friedenszeit der Christen unter Philippus Arabs und die ersten Vorboten der entscheidenden Kämpfe. Sehr überzeugend wird für diese die durch die Jubelfeier des tausendjährigen

Bestehens des Römerreichs neu belebte nationale Stimmung in Anschlag gebracht. Diese Darlegungen werden durch kritische Ausführungen ergänzt. Das erste Stück derselben untersucht die verwirrte Überlieferung über Hippolytus, für dessen Werthung jetzt auch neue Funde in Betracht kommen (vgl. Harnack, Theol. L.-Z. [1891] S. 33 f.); das zweite stellt die Abfassungszeit und Veranlassung der Bücher des Origenes gegen Celsus fest, das dritte bringt sehr lehrreiche Beiträge zur Kritik der Acta Sanctorum.

Die wichtigste Aufgabe der geschichtlichen Behandlung der einschlagenden Stoffe ist die klar absetzende Markirung der einzelnen Wendepunkte der Entwickelung. Einerseits liegt eine Reihe von Thatsachen vor, aus denen Schwanken und Wandel in dem Verhalten des Staates zum Christenthum hervorgeht. Diese offenbaren eine gewisse Ungleichmäßigkeit und Willkür, wie sie aus der Schwierigkeit, eine sichere Schätzung der Triebkräfte des Christenthums zu gewinnen, sowie den Stimmungen des Volks und den Anforderungen eines geordneten Staatslebens gerecht zu werden, folgen mußte. Andrerseits handelt es sich um wesentlich gleichbleibende Verhältnisse. Die Christen bestehen auf dem Satze: sint ut sunt aut non sint. In der Beurtheilung ihrer Stellung zur Welt, ihrer Pflichten gegen die Obrigkeit, ihrer Ansprüche auf ausschließlichen Wahrheitsbesitz sind sie grundsätzlich eins. Daher decken sich die Äußerungen des Tertullian trotz seines Montanismus, des Clemens, des Origenes in den entscheidenden Punkten, wenn es sich um die Glaubenspflichten und ihre Folgen handelt. Die Wiedergabe hiervon ist daher ohne eine gewisse Monotonie kaum ausführbar. Ebenso überwiegt das Übereinstimmende in den Maßregeln der Regierung, die mehr tastend als zielbewußt, mehr von den Volksinstinkten gedrängt als im Interesse der Selbsterhaltung gegen die Christen vorgeht. Angriff und Abwehr, Eroberungen auf dem Gebiete religiöser Überzeugungen vollziehen sich eben nicht in einer leicht festzustellenden, klar gegliederten Entwickelungsreihe. Ideen lassen sich weder durch leidenschaftliche Abneigungen noch durch kühle Verachtung, weder durch Heeresmacht noch durch Polizei erledigen. Die Probe darauf macht die Religionspolitik des römischen Staates und ihre Erfolge. Bei dieser Sachlage darf es N. kaum zum Vorwurf gemacht werden, wenn er die sich vielfach deckenden Aussagen der kirchlichen Schriftsteller nach einander anführt, und wenn die sich wiederholenden Anlässe öfter verwandte Erörterungen hervorrufen. Jedenfalls treten in seiner Darstellung sowohl alle

Abwandlungen in der Stellungnahme der Obrigkeit, die persönlichen und sachlichen Motive für das veränderte Verhalten, als auch die entsprechenden innerchristlichen Verhältnisse, namentlich die einzelnen Phasen der merkwürdig schnell sich durchsetzenden Organisation der „allgemeinen Kirche" deutlich heraus. Auch gibt er treffende Charakteristiken der orientirenden Personen, unter denen die des Tertullian und des Clemens von Alexandria wohl die sorgfältigsten sind.

Die Stoffe sind demnach mit großer Vollständigkeit gesammelt und die Ergebnisse mit Vorsicht abgewogen. Daß manches im einzelnen nachzutragen ist, und bei den einzelnen Ansätzen Raum für abweichende Meinungen vorhanden bleibt, folgt aus dem Thatbestande. Um einige Punkte hervorzuheben: Unter den Märtyrern zur Zeit Domitian's ist jetzt auch Acilius Glabrio zu erwähnen, den Dio Cassius unmittelbar nach den Märtyrern aus der Familie der Flavier nennt, *κατηγορηθέντα τά τε ἄλλα καὶ οἷα οἱ πολλοί* — nämlich *οἱ εἰς τὰ τῶν Ἰουδαίων ἤθη ἐξοκέλλοντες* (67, 14 R. 1112). Das Christenthum des Glabrio ist durch epigraphische Funde neuerdings bestätigt (vgl. die Nachweise Röm. Quartalschrift 1888 S. 297). Er gehört zu einer Familie, in der von alters her fromme Sitte geherrscht zu haben scheint (Dio Cass. R. 49, 34 f.). Sein siegreicher Thierkampf vor Domitian hatte vielleicht ähnliche Ursachen wie der des Apostel Paulus. (1. Kor. 15, 32.) — Die Epoche machende Bedeutung Hadrian's für die Entnationalisirung der Universalmonarchie verdiente stärker betont und belegt zu werden, ebenso für seine Stellung zu den Christen das auch von Mommsen für geschichtlich gehaltene Reskript an den Minutius Fundanus. — Die Datirung der Abfassung von Origenes' Büchern gegen Celsus scheint mir durch N. gesichert, ebenso das römische Gegenpapstthum des Hippolytus so wahrscheinlich gemacht, als es die verwirrten Nachrichten gestatten. Daß Hippolitus als römischer Bischof in den erhaltenen Listen übergangen ist, erklärt sich aus den Interessen der kirchlichen Autorität. — Die Schriften Tertullian's, de Corona und ad Scapulam können auf Grund von J. Schmidt's Nachweisen genauer datirt werden. — Eine zusammenfassende Erörterung des Begriffs des Martyriums (vgl. S. 75, 176, 217) wäre erwünscht. Der Übergang von der Vorstellung des Zeugen — nicht eines gerichtlichen — zu dem des Heros und Heiligen, die verschiedene Ausdehnung und Verwendung des Ehrentitels erfordern eine begriffsgeschichtliche Feststellung. — Unrichtig ist (S. 57) das seltene Wort *ἐθελοθρησκεία*, das Eusebius von der jüdischen Religion gebraucht, durch

„freiwillige Gottesverehrung" wiedergegeben. Es liegt darin ebenso wie in ἐθελοαχρίβεια und noch ausdrücklicher in ἐθελοπερισσοθρησκεία (Epiphan. haer. 16, S. 21) das Moment des Willkürlichen und Überflüssigen. — Bemerkenswerth ist die volksthümliche Umbiegung des Herrenwortes Matth. 7, 12 aus dem positiven Gebot in die negative Maxime der Weltklugheit, die dem Alexander Severus zugeschrieben wird (S. 207). [1])

Für die Gesammtbeurtheilung der Anfänge des Christenthums in sozialer und politischer Hinsicht sind folgende Punkte maßgebend: das Verhältnis der neuen Religion zum Judenthum, die Art der Organisation des Christenthums, die Bestimmung seiner Rechtslage, die Anlässe und die Bedeutung des Martyriums.

Betreffs des Verhältnisses zum Judenthum erkennt N. an, daß die Regierung von Nero's Zeiten an zwischen Christen und Juden geschieden habe. Es konnte nicht anders sein. Die Juden besaßen in dem Reiche vor der Zerstörung Jerusalems Privilegien als religiöse Nationalität. Danach blieb ihre Religionsübung, die sich zu immer entschiedenerer Ausschließlichkeit ausbildete, gleichfalls frei und unangetastet. Andrerseits wurde die Verbreitung des Judenthums über die Nationalität hinaus verschiedentlich unter Strafe gestellt. Diese Verhältnisse erforderten eine Kontrole der Judenschaft durch die Regierung. Letzterer konnte es also nicht verborgen bleiben, daß die Christen mit der Synagoge nichts zu thun hatten und daß die Juden jede Gemeinschaft mit ihnen zurückwiesen. Beanspruchten doch auch die Christen nicht das in die sozialen Verhältnisse des Reichs tief einschneidende Sabbatprivilegium oder die den Juden eingeräumten Befreiungen von Staatsleistungen. Aber mit der gesonderten Behandlung war noch kein positives Urtheil über die Art der Christen und das Wesen ihrer Überzeugungen gewonnen. Ihre Religion hatte ihren Ursprung in Palästina gefunden, das wußte man. Auch wurde beobachtet, daß sie das Alte Testament trotz und wider das Judenthum sich zueigneten, daß sie wie die Juden es sich gefallen ließen, wenn ihre Religion als Philosophie geschätzt wurde. Noch Chrysostomus schwelgt ordentlich in der Vorstellung, im Christenglauben die Philosophie aller Philosophie zu besitzen. Was Wunder, daß das Volk

[1]) Von sinnstörenden Druckfehlern ist mir aufgefallen S. 130 Z. 7 v. o.: „Christen" statt „Hellenen"; S. 241 Anm. Z. 5 v. u.: „hinter" statt „vor". In dem Citat aus Athenäus S. 207 Anm. 7 ist statt 44 **14** zu setzen.

die alten Vorwürfe, gegen welche Josephus in der Streitschrift gegen den Apion seine Stammesbrüder vertheidigt, Menschenopfer und derartige Greuel, gegen die Christen richtete, die ähnlich wie die Juden die soziale Gemeinschaft mit den Heiden flohen und ihre Überzeugungen als Mysterien behandelten. So galten die Christenverbände der Regierung als religöse Genossenschaften ohne nationalen Anhalt, die Gebildeten kamen zu keinem sichern Urtheile über ihren Glauben, auch wenn sie ihn um seines sittlich-frommen Gehaltes willen als „Philosophie" ansahen, das Volk haßte die Christen als Menschenfeinde. Werden diese aus den eigenthümlichen Lebensbedingungen der Christenschaft folgenden verschiedenen Momente unterschieden, so erklärt es sich, wie man dazu kommen konnte, die christliche Lebensführung als ἄθη Ἰουδαϊκά (Dio Cass. 67, 14) zu bezeichnen und das Christenthum zugleich als ἀθεότης anzusehen. Zur Zeit der Republik konnte ein Apollonius Molo auch die Juden noch ἄθεοι nennen (Joseph. gegen Apio II 14). Zur Zeit des Principats faßte der ihnen Abgeneigte sie als superstitiosi mit den Ägyptern zusammen (z. B. Tac. Ann. II 85) oder spottete darüber, daß sie coeli numen oder coelum oder nubes anbeteten, also ihr Kult sich auf einen unsichtbaren Gott bezog. Aber der mächtige Tempel dieses Gottes war berühmt, der prunkvolle Opferdienst, die reichen Feste, die Plutarch mit den Bacchanalien verglich, waren Gegenstand der Aufmerksamkeit. Man wußte, daß bei ihnen Nationalität und Religion aus einer Wurzel erwachsen waren. Das verstand der Römer und Grieche der Universalmonarchie und konnte es nicht mehr ἀθεότης nennen. Eine Religion, deren Bekenner als ἄθεοι galten, hätte die Regierung nicht mit wichtigen Privilegien ausgestattet. Auch mit den jüdischen Proselyten konnte sie die Christen nicht verwechseln. Diese besuchten mit den echten Juden die Synagoge und feierten den Sabbat und strebten danach, sich beschneiden zu lassen; sie erlernten, bewahrten, verehrteu Judaicum jus (Juven. sat. 14, 102). Denn was heißt ἄθεοι im Sinne der antiken Welt? Religionspolitisch betrachtet, sind es Menschen, über deren Frömmigkeit man nichts Positives auszusagen hat, weil sie keinem bekannten und anerkannten Kulte zugehören, religiös-sittlich betrachtet, solche, die an keine Gottheit glauben, Gottlose. Daher stehen Christen und Epikuräer dem frommen Heiden auf gleicher Linie.[1])

[1]) Zu ἄθεος vgl. Diog. Laet. 7, 119; Plutarch de superstitione c. 2. 6. 9; Lukian Alexander c. 25. 38.

Die Schwierigkeit der Abschätzung des Christenthums erklärt die schwankenden und undeutlichen Urtheile antiker Zeitgenossen. Eins der bemerkenswerthesten unter diesen gehört Älius Aristides, der in seiner großen Platonischen Rede (Orat. 46, Dindorf 2, 394 f.) die nationalen Helden Athens gegen die im Gorgias an ihnen geübte Kritik vertheidigt. Das Heldenthum der Selbstverleugnung, wie es der platonische Dialog preist, war wohl gegen die Verherrlichung des nationalen Heldenthums ausgespielt worden. Und von wem? N. schließt sich der Meinung von Jakob Bernays an, die Verhöhner des Nationalen, gegen die Aristides die ganze Wucht seines sittlichen Pathos aufwendet, seien Heidenchristen im Unterschiede von Judenchristen gewesen (S. 36). Diese Auffassung läßt sich nicht halten. Sie stützt sich auf die Aussage: Diese Unpatrioten sind „ihrer Gesinnung nach sehr verwandt durch Erbärmlichkeit und durch Selbstgefälligkeit den Gottlosen in Palästina"; *οἱ ἐν τῇ Παλαιστίνῃ δυσσεβεῖς* aber nennt Aristides nicht die Juden, sondern die Christen, ebenso wie sein Zeitgenosse Lukian, trotzdem er die Verbreitung des Christenthums durch die Monarchie kennt, den Peregrinus in Palästina die „Weisheit des gekreuzigten Schwärmers" studiren läßt. Der Scholiast des Aristides hat die vom Zusammenhange geforderte Auffassung. Er begleitet nämlich den ersten Abschnitt der leidenschaftlichen Invektive mit der Anmerkung: *ἐντεῦθεν ἡ καταδρομὴ σφόδρα καὶ ἀκάθεκτος καὶ τοιαύτη οἵαν οὐκ οἶδ' εἰ παρά τινι ἄλλῳ εὕρῃ τις*, — und dem zweiten, der die Analogie für die Verworfenheit der Verächter der Nationalhelden beibringt: *τοὺς χριστιανοὺς λέγει ὁ μεμηνὼς οὗτος* (Dindorf 3, 308, 309). Der erste Abschnitt ist gegen die Tadler des Demosthenes gerichtet, die Aristides, welcher die Rhetorik als sittliches Ideal pflegte, mit abgewogenen Epigrammen geißelt. Was hatten aber Heidenchristen mit Demosthenes zu thun? Aristides hat scheinheilige Philosophen im Auge, Seitenstücke zu den Kynikern Lukian's. Um diese noch tiefer herabzusetzen, als er es durch die bitterste Charakteristik vermag, vergleicht er sie mit den Christen (*τοῖς ἐν Παλαιστίνῃ δυσσεβέσι παραπλήσιοι*). Da geht ihm erst recht der Mund über. Er entwirft ein kräftiges Bild seiner Eindrücke. Sie sind ihm lichtscheue Götterfeinde, Störer des Familienfriedens, Verfälscher aller sittlichen Werthe, religiöser Erdichtungen froh, und, was das ärgste ist, sie behaupten, die wahren Philosophen zu sein, die im ersten Range des Welttheaters den Platz beanspruchen dürfen. Wo steckt in diesen Vorwürfen etwas Jüdisches oder Judenchristliches?

In ihnen macht der sittliche Stolz der römisch-griechischen Renaissance, welche aus der großen Zeit von Hellas ihre Ideale auch in religiösem Sinne sich gebildet hat, gegen die anmaßenden, nationalitätslosen Eindringlinge sich Luft, nicht ohne in der verächtlichen Charakteristik widersprechende Züge aneinanderzureihen.

Die Organisation der christlichen Gemeinden sowohl in ihren republikanischen Anfängen als auch in ihrem Fortgange bis zur Ausbildung des monarchischen Episkopats erklärt N. durch selbständige Fortbildung der neueren Untersuchungen über die altchristliche Gemeindeverfassung. In immer weiteren Kreisen setzt sich die Erkenntnis durch, daß die christlichen Gemeinden in ihrem Verfassungsleben erst dann richtig verstanden werden, wenn die analogen Organisationen, die religiösen Genossenschaften privater Art, die Kommunalverfassung und die staatlichen Einrichtungen der Universalmonarchie als Kommentar benutzt werden. Eine eindringendere Untersuchung der merkwürdigen Thatsache, daß für die christlichen Glaubensverbände des Weltreichs bereits Irenäus die Einheit der Verfassung als etwas Selbstverständliches betrachtet, bleibt noch wünschenswerth. Zweifelhaft erscheint die Annahme, daß die Christenbruderschaften unter dem Titel von Begräbnisgenossenschaften sich thatsächlich das Recht juristischer Personen jemals erworben hätten (S. 103 f.). Die Zwecke und Erfolge ihres gemeinsamen Lebens, wie sie die Apologeten rückhaltslos darlegen, würden den Versuch einer solchen Verhüllung vereitelt haben.

Besonders schwierig ist die Feststellung der Rechtsgrundsätze, nach denen der Staat gegen die Christen vorging. Hätte die Regierung die Christen jemals als Juden oder als jüdische Proselyten angesehen, so wäre der Weg rechtlichen Einschreitens ihr vorgeschrieben gewesen. Sie würde den Anschluß an das Judenthum bei den Nichtjuden bestraft haben. Der Jurist Paulus (sentent. 5, 22, citirt bei N. S. 158) bezeugt ja, wie gegen die jüdische Propaganda eingeschritten wurde. Nun aber fehlen über den „Christenprozeß" einheitliche Nachrichten. N. bemüht sich, durch genauere Bestimmung der Begriffe von sacrilegium und majestas und durch Sammlung und Erörterung der einschlägigen Nachrichten von dem kriminellen Verfahren gegen die Christen ein Bild zu gewinnen (S. 14 f. 143 f. 236 f.). Aber das Bild bleibt verschwommen; es wird einerseits die „Rechtslosigkeit" der Christen, andrerseits die thatsächliche Duldung miteinander betont. Mommsen will die verwickelte Sachlage klären, indem er alles staatliche Einschreiten als polizeiliche Repressivmaßregel faßt. Mit

entscheidenden Gründen lehnt er die Anwendung des Begriffs sacrilegium auf die Christenprozesse ab. Das Vorgehen gegen die Christen gehöre unter den Begriff der coërcitio; da dieser feste Normen fehlen, lasse sie für jeden Fall der Individualität des einzelnen Beamten und der Volksstimmung Raum. So gewinnt Mommsen eine Erklärung für die Thatsache, daß keine sichere legislatorisch festgelegte Praxis gegenüber der Christenschaft nachweisbar ist, keine fest geordnete Strafe und keine geordnete Prozeßform. Zugleich beseitigt er aus der Religionspolitik der Behörde alle eigentlich religiösen Motive; sie strafte nicht den Glauben, sondern Gesetzesübertretungen, welche im Glauben ihre Triebkräfte haben mochten. Aber dieser Gesichtspunkt wird doch dem Thatbestande nicht gerecht. Das Wort deorum injuriae diis curae hat für das „glaubenslose" letzte Jahrhundert der Republik Zugkraft. In den Tagen der Universalmonarchie wurde nicht mehr so kühl über religiöse Dinge gedacht und geurtheilt (vgl. Paulus sentent. 5, 21, bei Mommsen S. 400). Und wäre dies die Rechtslage gewesen, so hätten die christlichen Apologeten sich damit begnügt, darzuthun, daß die Christianer keine Verbrecher seien. Dagegen setzt Tertullian seinen ganzen Scharfsinn für den Beweis ein, daß die christliche Bruderschaft einen erlaubten Kult übe und daß der Christenglaube kein staatsgefährlicher, sondern ein wahrhaft sittlicher sei, auch wenn die Christen den Kaiserkultus, d. h. die eigentliche Staatsreligion des Principats ablehnen mußten. Und er war ein gesetzeskundiger Mann. Auch erscheint es zu eng, wenn Mommsen in den Christenverfolgungen nicht ein kriminelles Einschreiten wegen eines vorausgesetzten Verbrechens oder wegen eines Religionsfrevels überhaupt anerkennt, sondern allein ein polizeiliches Einschreiten gegen Bürger wegen Abfalls vom römischen Glauben. Von den Strafakten wider die Christen sind nicht bloß römische Bürger, sondern in größerer Anzahl Peregrinen und Sklaven beansprucht. Zu dieser Frage bedarf es wohl noch weiterer Forschung. Faßt man in's Auge, daß das Vorgehen gegen die Christen neue Rechtsmittel nöthig machte, welche die alte Rechtsordnung ergänzten, daß ferner im Bereich des jus extraordinarium Zivil- und Kriminalgerichtsbarkeit und Restriktionsmaßregeln der Verwaltung je nach den Anforderungen der Verhältnisse neben einander hergehen, so wird man vielleicht überhaupt auf eine einheitliche Formel für die Abschätzung der Rechtslage der Christen verzichten müssen.

Die Beiträge zur Kritik der Acta Sanctorum, mit denen Neumann den ersten Band abschließt, eröffnen in erwünschter Weise einen Durchblick durch das Dickicht dieser Literatur. Die einleitenden Bemerkungen geben Rechenschaft über die Methode, nach welcher die alten Martyrien auf ihre Glaubwürdigkeit untersucht werden: an den theils vorhandenen, theils annähernd wiederherstellbaren altkirchlichen Kalendern und Märtyrerverzeichnissen sind die späteren Märtyrerakten zu prüfen. Darauf folgt eine kritische Durchmusterung der Märtyrer von der Zeit des Commodus bis auf die Zeit des Philippus Arabs. Das Ergebnis bestätigt die Richtigkeit der Annahme einer sehr geringen Anzahl von echten Akten oder gerichtlichen Protokollen und von Passionen oder Berichten von Augenzeugen. Überhaupt ist die Anzahl der Märtyrer vor Decius nicht groß, was um so bedeutsamer ist, als die persönliche Sicherheit trotz der verhältnismäßig geordneten Rechtslage der Monarchie eine vielgefährdete war. Es sind vor Decius von mißtrauischen Kaisern vielleicht mehr Philosophen als Christen zum Tode verurtheilt worden. Eine Metzelei, wie sie Caracalla aus verletzter Eitelkeit über die Alexandriner verhängte, haben die Christen nicht erduldet. Von der Einfachheit, Herbheit und Zartheit der echten Akten und Passionen hebt sich als die bei weitem zahlreichere die Reihe der abenteuerlichen, übermüthigen, am Gräßlichen frohen, monotonen Akten ab, in denen das siegreiche Christenthum, dem Geschmack und den Instinkten der Menge entsprechend, für populäre Namen Märtyrerlegenden nach Bedürfnis erdichtete, um die Unüberwindlichkeit der über die Allmacht Gottes verfügenden Bekenner zu verherrlichen. Sie besitzen hohen Werth für die Schätzung des Geschmacks und der Ansichten der Reichskirche, ihr Werth für die Geschichte der Kirche vor Constantin ist aber sehr gering. Doch wird auch hier eine Prüfung von Fall zu Fall nicht unfruchtbar sein. Mag le Blant aus einzelnen juristischen Kunstwörtern zu weittragende Schlüsse auf die Geschichtlichkeit einzelner Akten thun, so hat er doch mit Recht die Frage nach dem Vorhandensein geschichtlicher Grundlagen auch bei Akten aufgeworfen, welche Ruinart nicht unter die „echten" aufgenommen hat. Man ersieht die Berechtigung dieses Verfahrens aus dem Vergleich der jetzt durch Harnack zugänglich gemachten echten Akten des Karpus mit den fingirten. So ist wohl auch z. B. bei den Akten des Symphorianus (S. 304), des Censorinus (S. 319), oder der Heliconis (S. 327) ein geschicht-

licher Untergrund nachweisbar. Und über manches weitere werden vielleicht die noch ungedruckten Schätze der Nationalbibliothek in Paris mehr Licht verbreiten. Was aber die wirklichen Antriebe zu Christenverfolgungen angeht, so bestätigen die Akten die sonstigen Ermittelungen es ist nicht sowohl die Sorge der Obrigkeit für den „römischen Glauben", als vielmehr die Abneigung des Volks gegen die grundsätzlich heimatlosen, unpatriotischen, die nationale Ehre mißachtenden, allen Wahrheitsbesitz für sich beanspruchenden Christen, welche sie als Feinde der Menschheit erscheinen ließ. G. Heinrici.

Friedrich der Große und die deutsche Literatur. Akademische Antrittsrede, gehalten am 29. April 1890 in der Aula der kgl. Rheinischen Friedrich-Wilhelms-Universität zu Bonn von **Arnold E. Berger.** Bonn, Emil Strauß. 1890.

Joh. Wilh. Löbell leitet in seinem Buche: „Die Entwickelung der deutschen Poesie seit Klopstock's erstem Auftreten" die Blüteperioden der Poesie, wie der Künste überhaupt, von kräftigen, nationalen und politischen Erhebungen her, glaubt aber bei der klassischen Periode der Deutschen eine Ausnahme von dieser Regel feststellen zu müssen, indem er der Poesie jener Zeit im Gegentheil die Erweckung des vaterländischen Gefühls und die Erzeugung politischer Ideen zuschreibt. Löbell's Hauptthese aufnehmend, bestreitet der Vf. vorliegender Schrift die von jenem gemachte Ausnahme und sucht in Anlehnung an den bekannten Ausspruch Goethe's, daß der erste wahre und höhere Lebensgehalt durch Friedrich den Großen und die Thaten des Siebenjährigen Krieges in die deutsche Poesie gekommen sei, nachzuweisen, daß die deutsche Literatur ihren Aufschwung im vorigen Jahrhundert Friedrich dem Großen zu verdanken habe, und zwar einestheils seiner direkten Einwirkung als Schriftsteller, Anreger und Förderer, anderntheils mittelbar der Einwirkung seiner Persönlichkeit, seines geschichtlichen Daseins und des durch ihn geschaffenen Staates. In der ersteren Beziehung rechnet er die Schriften Friedrich's des Großen zur deutschen Literatur, schreibt ihm die Förderung der Publizistik und Geschichtschreibung zu und rechnet ihm seine ablehnende Haltung gegen die deutsche Literatur als Verdienst an, insofern er ihr dadurch ihre freie Entwickelung gewahrt habe; in der zweiten Beziehung behauptet er, daß erst von Preußen aus die Idee des Vaterlandes sich nach dem übrigen Deutschland verbreitet und erst seit Friedrich's Auftreten zur wirkenden Kraft in der Dichtung geworden

sei, und daß die Poesie, auf dem Boden der Wirklichkeit sich aufbauend, seitdem es verschmäht habe, ihre Stoffe in der Fremde zu suchen. Als Zeugen der Wirkung der politischen Erscheinung Friedrich's des Großen in der Literatur führt er die patriotischen Gedichte der preußischen Dichterschule, die Flugschriften- und Volksliederliteratur, Wieland's 'Cyrus', die Absicht Schiller's, Friedrich den Großen zum Gegenstande eines Epos zu machen, und Lessing's 'Minna von Barnhelm' an. Aber, auch rückhaltlos zugegeben, daß Friedrich's Persönlichkeit und sein Wirken die Gedankenkreise seiner Zeitgenossen mehr als alles andere erfüllte, ja sogar, daß erst seine Thaten die Deutschen in eine Lage versetzten, in der sie ihrer materiellen und geistigen Güter froh werden konnten (was die Grundbedingung poetischer Stimmung ist), so kann doch eine Untersuchung, welche nur die Erscheinungen der Literatur, in denen sich Friedrich's des Großen Sein und Wirken wiederspiegelt, verfolgt, nicht aber auch die anderen darauf hin prüft, in welchem Verhältnis sie zu dieser zeitbeherrschenden Größe stehen, ja es überhaupt unterläßt, den fridericianischen Geist, wie den der klassischen Litteratur zu analysiren, nimmermehr zu einer befriedigenden Lösung des vom Vf. gestellten Problems führen. Denn die preußische Dichtung nimmt nur einen kleinen Raum in der Literatur der klassischen Periode ein und leidet theils an Befangenheit, theils an geschraubtem Pathos, das von der freien Menschlichkeit der Klassizität weit absteht; die eigenthümlich klassische Dichtung aber, von Klopstock an gerechnet, enthält, abgesehen von Wieland's schwächlichem Torso 'Cyrus', nicht die geringste Schöpfung, die als begeisterte Verherrlichung Friedrich's des Großen oder seines Staates auch nur im Bilde gedeutet werden könnte, und selbst Lessing's 'Minna von Barnhelm' enthält weit mehr eine Kritik des preußischen Geistes (Goethe nennt es Starrsinn), als eine Anerkennung seiner Vorzüge; im Gegentheil werden die Helden des klassischen Dramas jener Zeit, die Friedrich dem Großen an Energie ähneln, gerade zu tragischen Figuren durch den Konflikt, in den sie mit den gesetzlichen Zuständen gerathen. Ihre Stoffe haben die Klassiker nicht ausschließlich, ja nicht einmal überwiegend, in Deutschland gesucht. Es ist auch beachtenswerth, daß die klassische Dichtung nicht auf preußischem Boden erwachsen und gediehen ist. Eine eingehende Betrachtung der klassischen Dichtung dürfte ganz im Gegentheil zu dem Resultate führen, daß sich in ihr der deutsche Geist mit demjenigen Friedrich's des Großen auseinandersetzte und, das Geistesverwandte an ihm freudig begrüßend, im übrigen

ihre Idealwelt seiner wirklichen entgegenhielt. Pröhle hat in seinem gleichbetitelten Buche (1872, S. 192) mit Recht darauf hingewiesen, daß eine tiefe Kluft zwischen dem Geistesleben Friedrich's des Großen und dem seines Volkes lag, und die Abneigung des Königs gegen die Literatur hatte tiefere Ursachen, als den Abscheu vor den Lächerlichkeiten untergeordneter Dichterlinge. Die Vaterlandsidee in der Poesie von Friedrich's Thaten herzuleiten, ist gewagt, da sie schon in den Dichtern und Publizisten des 17. Jahrhunderts lebendig war, und die erste nationalpatriotische Dichtung aus Friedrich's Zeit, der „Hermann" Joh. Elias Schlegel's dem sächsischen Dichterkreise entstammt. Endlich ist auch die ganze Löbell'sche Theorie unhaltbar, und es dürfte weit weniger die Machtenfaltung Friedrich's des Großen, als vielmehr, dem Wesen der Kunst als der Harmonie in der Gestaltung eines begrenzten Stoffes entsprechend, seine Selbstbeschränkung zum Besten Deutschlands 1745, 1763 und 1779 gewesen sein, was die Wellenschläge der klassischen Dichtung erzeugte. Bei gründlicherem Eindringen in das Wesen Friedrich's des Großen würde der Vf. auch schwerlich den ethisch-patriotischen Aufschwung des Jahres 1808 lediglich als Nachwirkung des fridericianischen Staatspflichtsbegriffes aufgefaßt haben, ohne dabei des Gegensatzes, in dem sich die leitenden Geister jener Zeit zum Skeptizismus Friedrich's wußten, zu gedenken. Eine positive Förderung des Verständnisses der klassischen Literaturblüte als historischer Erscheinung ist demnach in der vorliegenden Schrift nicht zu erblicken. H. Fechner.

Schiller. Sein Leben und seine Werke. Dargestellt von **J. Minor.** I. II. Berlin, Weidmann. 1890.

Friedrich Schiller. Geschichte seines Lebens und Charakteristik seiner Werke. Unter kritischem Nachweis der Quellen. Von **Richard Weltrich.** Zweite Lieferung. Stuttgart, Cotta. 1889.

Zum Gedächtnis von Schiller's historischem Lehramt in Jena vorgetragen am 26. Mai 1889 von **Ottokar Lorenz.** Berlin, W. Hertz (Besser). 1889.

Als reife Frucht zehnjähriger, umfassender Vorarbeiten sind die ersten zwei Bände von Minor's großer Schiller-Biographie erschienen, die Hälfte des ganzen Werkes; die hohen Erwartungen, welche schon durch den voraufgeschickten Prospekt erweckt wurden, haben sich glänzend erfüllt. Der erste Band behandelt die schwäbischen Heimatsjahre. An die eingehendste Darstellung des Entwickelungsganges Schiller's im Vaterhause und auf der Fürstenschule

schließt sich das große Kapitel über die ‘Räuber’ an, ein Meisterstück literarhistorischer Forschung und Darstellung. Der folgende Abschnitt, welcher die Anthologie behandelt, dürfte vielleicht etwas zu weit ausgesponnen sein, wie er denn auch nicht frei von Wiederholungen ist. Doch scheint ein Endurtheil hierüber erst am Platze, wenn alle vier Bände abgeschlossen sind. Dann auch läßt sich erst entscheiden, ob die auffallend breite Behandlung der philosophischen und medizinischen Jugendschriften Schiller's durch die Ökonomie des ganzen Werkes bedingt war. Seinen natürlichen Abschluß findet der erste Band mit Schiller's Flucht nach Mannheim.

Der 2. Band umfaßt die pfälzischen nnd sächsischen Wanderjahre. Wieder können hier nur einzelne Kapitel hervorgehoben werden. Die Ausführungen über den ‘Fiesco’ sind vorzüglich gelungen; nicht ganz so kräftig zum Bilde konzentrirt die Betrachtungen über ‘Kabale und Liebe’. Dagegen spürt man, mit welchem Feingefühl Minor historische Dokumente kritisirt, wenn man verfolgt, wie er die Unhaltbarkeit von Schiller's Stellung in Mannheim aus den dortigen Theaterverhältnissen ableitet. In ‘Kabale und Liebe’ erreicht Schiller den Höhepunkt seines jugendlichen Schaffens; die nun folgenden Jahre stellt Minor mit Recht als eine Übergangsperiode dar. Folgenreiche menschliche Verbindungen knüpfen sich an, Schiller's reiferes Urtheil wird auch dem Drama der Franzosen gerecht, und in erneutem Studium Lessing's erzieht er sich zu künstlerischer Mäßigung. Als ein Werk der Übergangszeit ist deshalb auch ‘Don Carlos’ zu betrachten, in Einzelheiten besser gelungen, als in seiner Totalität.

Minor hat durch sein ganzes Werk hindurch den Stoff in biographische und literarhistorische Kapitel zerlegt. Auf diesen letzteren liegt, sei es wegen des Interesses, sei es wegen der Begabung des Vf., der Nachdruck. Die biographischen Abschnitte sind nicht überall künstlerisch so abgerundet, wie die literarhistorischen, hie und da spürt man die mosaikartige Zusammensetzung; und während der Autor oft beweist, daß ihm die Töne des Pathos zu Gebote stehen, fehlt ihm manchmal der Humor, ohne den eine so ausführliche Darstellung zum Theil kleinlicher und widerwärtiger Erlebnisse unerfreulich wirkt. Dagegen sind die literarhistorischen Kapitel musterhaft. Dem weiten Blick des Vf. und seiner außerordentlichen Belesenheit ergeben sich mit Leichtigkeit alle Filiationen und Analogien, durch welche jedes besprochene Werk seinen Platz in dem großen literarhistorischen Zusammenhang erhält, ohne daß Minor darum sein Auge dem

verschlösse, was ureigene Neuschöpfung Schiller's ist. Hier wird kaum etwas Wichtiges nachzutragen sein. Einzig bei der 'Semele' hätte ein genaueres Eingehen auf die Gattung des „lyrischen Dramas" lichtvolle Ausblicke auf die lyrischen Monologe in Schiller's späteren Dramen eröffnet.

Die Anmerkungen, welche vielleicht noch manchmal zur Entlastung des Textes hätten dienen können, sind eine reiche Fundgrube für den Forscher. Ein paar stilistische Einzelheiten und Druckfehler wollen wir einem so schönen und stolzen Werke nicht nachrechnen.

Minor gegenüber hat Weltrich einen schweren Stand. Er arbeitet langsam. Mitten im Satz brach 1885 seine erste Lieferung ab, erst 1889 erhielten wir die Fortsetzung. Doch selbst diese zweite Lieferung reicht noch nicht bis an's Ende des 1. Bandes; sie führt Schiller's Leben noch nicht bis zur Flucht nach Mannheim. Alle Vorzüge und Schwächen des ersten Fragmentes finden wir in dem zweiten wieder. Kritische und polemische Abschnitte, allgemeine Reflexionen, Erörterungen über wissenschaftliche Methode, persönliche Anekdoten und Anspielungen auf Tagesereignisse unterbrechen den Gang der Darstellung. Dadurch schwillt der Text ungeheuer an: die Besprechung der Anthologie nimmt 125 Seiten, die Hälfte der ganzen zweiten Lieferung, ein. Weltrich hat sich die Grenzen literarhistorischer Betrachtung enger gesteckt als Minor. Ja, geflissentlich wendet er sich oft von dem Aufsuchen literarischer Traditionen ab und betont die eigene Schöpferkraft des Genies. Kein Wunder, daß sein Urtheil daher bisweilen sehr subjektiv gefärbt ist. Trotz alledem jedoch wäre es übereilt, zu sagen, daß die Schiller-Biographie, welche die seine an Schnelligkeit des Erscheinens überflügelt hat, sein Werk nun auch inhaltlich überholt habe. Beide können recht wohl nebeneinander bestehen. Denn eben das, was Minor fehlt, finden wir bei Weltrich: neben dem Ernst der Forschung einen liebenswürdigen, gelegentlich humorvollen Ton der Erzählung. Ein abschließendes Urtheil über das Werk darf aber erst laut werden, wenn mindestens der 1. Band vollendet ist. —

Daß Ottokar Lorenz seine an großen Gesichtspunkten reiche Festrede zum 26. Mai 1889 hat drucken lassen, wird ihm jeder Verehrer des Dichters danken. Gar zu oft wird die Zeit zwischen dem 'Don Carlos' und dem 'Wallenstein' als gänzliche Unterbrechung von Schiller's dichterischer Thätigkeit dargestellt. Dem gegenüber betont Lorenz mit Recht, daß Schiller's Bestrebungen auf den verschiedensten

Gebieten sich gegenseitig beeinflußten, und daß nicht etwa zeitweilig diese oder jene in den Ruhestand traten. An den Ideen zur Behandlung der Universalgeschichte hatte die spekulative Philosophie bedeutenden Antheil; die historischen Werke konnte nur der große Dramatiker, die späteren Dramen nur der Historiker Schiller so schreiben.

Albert Köster.

Zur Verfassungsgeschichte des Rheinbundes. Von **Karl Beck.** (Beilage zum Programm des großherzogl. Realgymnasiums zu Mainz. Ostern 1890.) Mainz, H. Prickarts.

Auf der Mainzer Stadtbibliothek ist der schriftliche Nachlaß des Freiherrn Karl v. Eberstein niedergelegt, des im Jahre 1833 gestorbenen Staatsministers in fürstlich-primatischen Diensten. Der wichtigste Theil desselben betrifft die Verfassung des Rheinbundes, für deren Zustandekommen Eberstein im Auftrage Dalberg's so lange sich bemühte, als überhaupt eine Hoffnung des Gelingens vorhanden war. Die Schriftstücke bestehen im wesentlichen in einer Denkschrift des Ministers Albini, der den Bundestag in Frankfurt eröffnen sollte, vom August 1806, in einem „Unterthänigsten Vortrag" über die erste Organisation des Bundestages vom 3. Oktober und in einem „Direktorial-Vortrag" über die für eine Vorkonferenz bestimmten Punkte vom 10. Oktober 1806, beide verfaßt von Eberstein, in einem Briefwechsel zwischen Dalberg und dem König Max Joseph von Bayern, gleichfalls vom Oktober 1806, ferner in Eberstein's Reisebericht über seinen Aufenthalt in Paris vom August 1807 bis zum März 1808, endlich in dem Entwurf eines Fundamentalstatuts, den Eberstein damals nach Paris mitbrachte. Auszüglich sind diese Schriften schon durch den Vortrag von Bockenheimer „C. Th. v. Dalberg's Aufenthalt in Paris in den Jahren 1807 und 1808", Mainz 1870, bekannt geworden. Eine ausgiebigere Verwerthung haben sie jetzt durch die Schrift von K. Beck gefunden, der, auf sie gestützt und mit Zuhülfenahme des sonst über den Rheinbund Bekannten, die ganze Verfassungsgeschichte des Bundes im Zusammenhang erzählt. Bekanntlich sind alle Vorarbeiten, für die wir Dalberg und seinen Minister Eberstein so eifrig am Werke sehen, zuletzt im Sande verlaufen. Man erkennt aber an der Hand der mitgetheilten Aktenstücke deutlicher die Ursachen dieses negativen Verlaufs. Schon das erste Zusammentreten des in Aussicht genommenen Bundestags, wozu der Fürst-Primas die Einladungen hatte ergehen lassen, scheiterte an dem Widerstand der Könige

von Bayern und Würtemberg, die von einer Bundesverfassung als einer Beschränkung ihrer Souveränität nichts wissen wollten. Der Ausbruch des Krieges gegen Preußen gab ihnen einen willkommenen Vorwand, den Aufschub der Eröffnung des Bundestages zu verlangen: „Das Waffengetöse, wovon die Umgebungen Frankfurts wiederhallten, würde ihres Erachtens leicht die Ruhe stören können, welche die ernsten Berathungen über das Gemeinwohl des Rheinbundes erforderte". Napoleon hatte die vorläufigen Grundzüge des Statuts, wie sie ihm Dalberg überschickt hatte, nicht ungünstig aufgenommen, auf seine Weisung waren vom Fürst-Primas die Einladungen zum Bundestag ergangen, er selbst hatte bereits einen Bevollmächtigten für Frankfurt ernannt. Die innere Ordnung der Bundesangelegenheiten war ihm gleichgültig. Ausdrücklich erklärte er, er gedenke sich in nichts den Antheil an der Souveränität anzumaßen, welche der deutsche Kaiser ausübte. Ihm war nur an einem gelegen: an der militärischen Beherrschung des Bundes, an der Ausnützung der Bundesländer zur Ausfüllung seiner Heere. Eben dies aber mußte ihn bestimmen, Rücksicht auf die zwei mächtigsten Fürsten des Bundes zu nehmen, welche ihm am meisten Menschenmaterial lieferten. Daran sind zuletzt alle Verfassungsentwürfe gescheitert. Nach dem Frieden von Tilsit forderte Napoleon zur Wiederaufnahme der Verhandlungen auf, aber Dalberg, der mit seinem Minister pflichtschuldigst zu diesem Zwecke (und zum Abschluß eines Konkordats) im August 1807 in Paris eingetroffen war, sah Woche um Woche verstreichen, ohne daß er auch nur ein einziges Mal mit dem Kaiser über die Sache reden durfte. Nur mit dem Divisionschef La Besnardière, der im auswärtigen Ministerium die deutschen Angelegenheiten zu besorgen hatte, konnte Eberstein das von ihm angefertigte Fundamentalstatut durchsprechen; auch das war verlorene Mühe, da der Kaiser niemals Vortrag darüber begehrte und ohne diese Aufforderung nichts vor ihn gebracht werden durfte. Il n'en est pas encore tems: das war die Antwort auf Dalberg's schüchterne Versuche, das Ohr des Kaisers zu gewinnen. Auch jetzt sah Eberstein einen Hauptgrund seines Mißerfolges in den Gegenwirkungen Bayerns und Würtembergs. Nach siebenmonatlicher Anwesenheit in Fontainebleau mußte Dalberg unverrichteter Dinge wieder abziehen. Am Aschermittwoch den 2. März 1808 verließ er mit seinem Minister Paris, und seitdem ist kein weiterer Versuch mehr gemacht worden, die Bundesakte zu einer Verfassung zu entwickeln. Eberstein selbst hielt auf sein Elaborat noch nach Jahren große Stücke

und war überzeugt, daß die Bundesakte von 1815 gar keinen Vergleich damit aushalten könne — „so leer, so verworren und so völkerrechts-, vorsichts- und vernunftswidrig" erschien ihm jene. In der That, wenn man sieht, wie Eberstein ein wirkliches Bundesgericht sich ausgedacht hatte (das freilich schon vor den Einwendungen La Besnardière's zusammenschmolz), wie er für das Bundesgebiet Gemeinsamkeit von Münze, Maß und Gewicht und eine gleichmäßige Gesetzgebung für das Verkehrs- und Gewerbewesen, ja für das Verhältnis zur römischen Kirche vorgesehen hatte, so wird man seinem Entwurf gern den Vorrang lassen: er dachte an eine einheitliche Reichsordnung, wie sie noch im Jahre 1815 sich undurchführbar erwies. Mit der ausführenden Gewalt war es freilich in seinem Entwurf so übel bestellt, wie später beim Bundestag. Eberstein wußte keinen andern Rath, als daß im äußersten Falle der Protektor eingreifen müsse. Die Nachwelt wird es kaum bedauern, daß sein Entwurf in den Archiven liegen blieb. W. Lang.

Quellen zur Behördengeschichte Baierns. Von **Manfred Mayer.** Die Neuorganisationen Herzog Albrecht's V. Bamberg, Buchner. 1890.

Die Aufforderung Neudegger's[1]) zur Herausgabe von Monumenta Regiminalia hat den Beifall Schmoller's[2]) gefunden, welcher unter Hinweis auf die Thätigkeit der badischen historischen Kommission und des preußischen Staates an diese Anregung die Hoffnung knüpfte, daß aus ihr eine große baierische Verwaltungspublikation für das 16. bis 18. Jahrhundert hervorgehen möchte. Das Bedauern, daß diese Hoffnung sich bis jetzt nicht erfüllte, wird, nachdem inzwischen auch das preußische Kultusministerium eine große Publikation über die innere preußische Staatsverwaltung des 18. Jahrhunderts unter Leitung einer von der Berliner Akademie gewählten Kommission in Angriff nehmen ließ, durch das vorliegende Buch Mayer's nur gesteigert. Dieses zeigt auf's deutlichste, daß solche Publikationen am besten einer Kommission von Sachverständigen übertragen werden, welche einen systematischen Plan festzustellen, bewährte Mitarbeiter heranzuziehen und die Durchführung des Unternehmens zu überwachen hat.

M. schickt seiner Edition eine Einleitung voran, welche die Hauptpunkte der Ordnungen des geistlichen Rathes, des Hofrathes

[1]) Beiträge zur Geschichte der Behördenorganisationen 2, 9.

[2]) Jahrb. f. Gesetzgebung, Verwaltung u. Volkswirthschaft 1888 S. 260.

und der Hofkammer in Kürze gut wiedergibt und die Besetzung der Behörden mittheilt. Leider wird diese Einleitung durch eine Fülle von Flüchtigkeiten, schiefen und unrichtigen Behauptungen entstellt, welche bei einer an die Akribie des Herausgebers die höchsten Anforderungen stellenden Quellenedition peinlich berührt. Hier einige Proben. S. 5 muß es nicht Emil, sondern Ernst Mayer, S. 8 nicht Nuntius Compejus, sondern Campeggi, S. 12 nicht Falician, sondern Felician Ninguarda heißen. Auf S. 10, 11 und 12 begegnet der Name Elsenhaimer in dreifach verschiedener Schreibweise. — Schief ist M.'s Vergleich S. 11: „Wir sehen, schon damals war der Kanzler (Eck) der Ministerpräsident, zugleich Ressortminister für Kirchen- und Schulangelegenheiten, wie es ja auch jetzt v. Lutz ist"; denn Ministerpräsident war im 16. Jahrhundert nicht der Kanzler, sondern der Landhofmeister. Allerdings stand 1570 der Landhofmeister Graf Schwarzenberg an der Spitze des geistlichen Rathes, schied aber 1573 wieder aus, und 1589 wurde dann Kanzler Dr. Eck Superintendent desselben. S. 20 wird der Hofrath als höchste Justizbehörde bezeichnet, während S. 28 seine Zuständigkeit richtig als auf Rechtspflege und Polizei sich erstreckend geschildert wird. Ungenau wird (S. 24) über die Bildung des Hofgerichts berichtet, denn die Doktoren sind auch Hofräthe; der Hofoberrichter begegnet erst seit 1589. Die Bezeichnungen „Hofgericht" und „Hofrath" lösen nicht einander ab (S. 25), sondern kommen nebeneinander vor. Erstaunlich ist die Behauptung (S. 25), daß die Bezeichnung Hofrath dem von Kaiser Maximilian I. 1512 geschaffenen Reichshofrath (als Quelle hiefür wird Lipowsky, Grundlin. d. baier. Gesch., angeführt) entlehnt sei; denn Maximilian hat 1512 überhaupt keine Behörde organisirt, und der „Reichshofrath" wurde erst 1559 von Ferdinand I. errichtet. „Hofräthe" kommen im Anschluß an die Maximilianische Hofrathsordnung von 1497 zuerst in der Landshuter Landesordnung 1501 vor. — Der Hofkanzler (S. 37) tritt nicht erst 1624, sondern schon unter Wilhelm V. auf; seit 1586 heißt so der frühere Vizekanzler, während der frühere Kanzler den Titel eines obersten Hofkanzlers angenommen hatte. — Nicht vier oberste Rechnungsmeister (S. 52), sondern vier oberste Steuerer ernannte die Landschaft. S. 54 belehrt mich M., daß die Hofkammer keine Kollegialbehörde, sondern nur eine Stelle gewesen sei, nachdem er schon S. 29 ausgerufen: „Es wäre eine eigenthümliche Kollegialbehörde, deren Räthe, je nach dem Bedarf, in der Hofkammer oder im Hofrathe zu verwenden

waren." Daß M. nichts von dem geschichtlichen Princip der Bildung einer Mehrheit von Behörden aus demselben Personal weiß, mache ich ihm nicht zum Vorwurfe; dagegen dürfte man erwarten, daß jemand, der über Kollegialbehörden schreibt, auch wenn er Andere nicht schulmeistern wollte, sich über die Gegensätze des Kollegial- und Bureausystems unterrichtet hätte. Außerdem ist „Stelle" auch kein fester terminus technicus, sondern die heutige baierische Verwaltungssprache bezeichnet die höheren Behörden als Stellen[1]). — Unbegreiflich ist die Polemik gegen Stieve (S. 83 Anm. 4), welchem M. höhnend Widersprüche nachzuweisen versucht. Stieve[2]) spricht nämlich S. 4 ganz allgemein von den „auswärtigen Räthen", die zum Theil vornehme Herren gewesen, und erwähnt, daß sich unter diesen auch einige Agenten befanden. S. 8 sagt er nun wieder ganz richtig, daß diese, nämlich die von ihm S. 5 ff. angeführten Agenten, mit Ausnahme Minuccio's, Männer in untergeordneter Stellung gewesen seien. Noch an einer anderen Stelle wird Stieve von M. höchst oberflächlich benutzt, nämlich S. 14, wo unter Berufung auf Stieve den Historikern vorgeworfen wird, daß sie die Abdankung Wilhelm's V. in das Jahr 1598 anstatt 1594 setzen. M. übersieht, daß Maximilian I. 1594 nur zum Mitregenten ernannt wurde und daß ihm sein Vater erst 1598 die Alleinregierung übertrug, was auch Stieve[3]) S. 432 ff. ausführlich darthut.

Gegenüber der Polemik M.'s gegen meine Bemerkungen[4]) über die vorbildliche Wirkung der österreichischen Kollegialbehörden auf die übrigen deutschen Territorien verweise ich der Kürze halber auf Bd. 1 meiner Geschichte des Gerichtswesens und der Verwaltungsorganisation Baierns (1889), wo ich S. 262 f. 462. 529. 537. 597 meine früheren kurzen Bemerkungen erläuternd ausführte. Obwohl Bd. 1 ungefähr ein Jahr vor M.'s Buch erschien, konnte es M. nicht mehr benutzen, da der Druck seiner Einleitung schon begonnen hatte. Warum M. es für nöthig hält, zur Erhärtung des trivialen Satzes, daß der Geschichtschreiber stets mit den thatsächlich durch die Quellen gegebenen Verhältnissen, mit der Wahrheit zu rechnen und sich zu hüten habe, sie einem philosophischen Geschichtssystem zum Opfer zu bringen, die

---

[1]) Seydel, Baier. Staatsrecht 2, 391.

[2]) Die Politik Baierns 1596—1607 Bd. 2.

[3]) Ebenda Bd. 1.

[4]) Behördenorganisation Kaiser Ferdinand's I. S. 174.

Werke von ungefähr 14 Geschichtsphilosophen aufzählt (Herder's Ideen z. Phil. d. Gesch., in den Ausgaben von 1784 und 1812, paradiren als zwei selbständige Werke; Isalie ist wohl Iselin), vermag ich nicht einzusehen. Wem sollen solche, nur die Kenntnis von Büchertiteln verrathende Anmerkungen imponiren?

Über die bei der Edition befolgten Grundsätze spricht sich M. nicht aus. Anstatt die von Cornelius, Kluckhohn, v. Druffel u. A. aufgestellten zu befolgen, druckt er seine Stücke aus dem 16. und 17. Jahrhundert, obwohl ihm sehr wenig Originale vorlagen, diplomatisch treu ab. Ich habe drei theilweise nachgeprüft, eines korrekt befunden, bei zweien eine mehr oder minder große Unzuverlässigkeit der Edition konstatirt.[1]) Eduard Rosenthal.

König **Maximilian II.** von Baiern und **Schelling.** Briefwechsel, herausgegeben von **Ludwig Trost** und **Friedrich Leist.** Stuttgart, J. G. Cotta. 1890.

Die Herausgeber haben sich die höchst dankenswerthe Aufgabe gestellt, den im kgl. baierischen Hausarchiv verwahrten, schriftlichen Nachlaß König Maximilian's II. von Baiern zur Ausarbeitung einer umfassenden Biographie dieses liebenswürdigen Monarchen auszubeuten. Dem Lebensbilde selbst wollen sie jedoch einige Monographien vorausschicken, welche über das Verhältnis des Königs zu vertrauten Persönlichkeiten seiner Umgebung erschöpfende Belehrung bieten sollen. Demgemäß veröffentlichen sie in vorliegendem Bande den Briefwechsel zwischen Maximilian und demjenigen Gelehrten, den er vor allen Zeit-

[1]) So ist z. B. in der Hofkammerinstruktion 1550 Folgendes zu verbessern: S. 275 Z. 4 fehlt Albrecht, Z. 8 lies Fraunstein statt Frauenstain, Eustachj statt Eustach, Z. 2 v. u. volkhumenliche statt volkhumienliche, S. 276 Z. 1 gestallt st. gestellt, Z. 17 dem st. deme, Z. 23 thuen st. thain, Anm. 1 Z. 2 daz st. do, Z. 4 teglichs st. täglicher, Z. 5 ausgab st. ausgaben, Z. 8 angericht st. aingericht, S. 277 Z. 1 berichtz st. bericht, Z. 6 ersehen st. versehen, Z. 19 sach st. sachen, Anm. 5 Z. 2 Articl st. Articul, Z. 6 ist „auch" zu streichen, Anm. 6 Z. 1 erstlichen st. erslichen, S. 278 Z. 3 daz st. do, Z. 16 gehörig st. gehören, S. 279 Z. 22 warten st. worten, nach jme fehlt „in", Z. 28 wan st. man u. s. f. Häufig steht o statt a, z statt tz. In der Hofrathordnung von 1551 S. 133 Z. 18 lies verholffen st. Erholffen, S. 134 Z. 5 verpflicht st. in Pflicht, Z. 16 gniettigist st. guettigist, Z. 30 nit st. mit, Z. 33 beschaidenlich st. bescheidenlich, Z. 34 yberflissige st. Überflissige u. s. f.

genossen am höchsten schätzte, Schelling. Die Korrespondenz bietet denn auch eine reiche Fülle neuen Materials sowohl zur Geschichte des Königs und des Gelehrten, als zur Beleuchtung des eigenartigen geistigen Lebens, das sich in Baiern unter dem genialen Kunstfreunde Ludwig I. und dem treuen Gönner der Wissenschaften, Max II., entfaltete. Schelling, dessen Schriften heute nur noch von Fachleuten zur Hand genommen werden, wirkte in den dreißiger Jahren an der Münchner Hochschule, gerade weil er mehr Künstler als Philosoph, mehr Dichter als Denker war, anregend, hinreißend, begeisternd auf seine Schüler. Zu letzteren gesellte sich im Dezember 1835 auch der Kronprinz von Baiern. Schelling stand damals bereits in seinem dritten Stadium; er war bei der Quidität und Quodität des Thomas von Aquin angelangt, seine Lehre konnte im wesentlichen nur als scholastische Mystik angesehen werden. Aber gerade daß er im Gegensatz zu Hegel in Christus nicht bloß einen Religionsstifter, sondern den Inhalt der Offenbarung erblickte, daß er zwar das petrinische Christenthum, das nur die Sache habe, d. h. den Katholizismus, und das paulinische Christenthum, das nur den Geist anerkenne, d. h. den Protestantismus, neben einander gelten ließ, aber die Vollendung von einem johanneischen Zeitalter, eine Zurückführung der Menschheit zum verlorenen Urbilde der Gottheit erhoffte, — gerade diese irenische Seite der Lehre Schelling's ließ ihn dem weichen, wissensdurstigen, aber vor den letzten Konsequenzen der „negativen" Philosophie Hegels zurückschreckenden Prinzen als erhabensten Führer und berufensten Rathgeber erscheinen.

Ängstlich klammert sich Max — diesen Eindruck gewinnen wir aus den Briefen — an das Wort des Lehrers, um zur Lösung der Zweifel zu gelangen, die seine nach Wahrheit ringende Seele beunruhigen. Er will aber nicht sich allein unter sichere Obhut bringen, er denkt auch an sein geliebtes Vaterland, er will, indem er selbst des verehrten Mannes Winke und Weisungen befolgt, Baiern auf eine höhere Stufe geistigen Lebens heben. In Bildung erblickt er des Menschen höchstes Gut; deshalb arbeitet er unermüdlich an seiner eigenen Aufklärung, und da er als Schüler Schelling's den Staat als sittlichen Organismus auffaßt und vom Gefühl seiner Verantwortlichkeit tiefst durchdrungen ist, — „das Gewissen auf dem Throne" nennt ihn einmal Friedrich Wilhelm IV. — ist ihm auch die Veredlung seines Volkes eine Herzenssorge. Deshalb empfand es der Kronprinz als nationales Unglück, daß Schelling im Jahre 1841, als

sich im preußischen Ministerium der bekannte Umschwung gegen den Hegelianismus vollzogen hatte, „zur Bekämpfung der Drachensaat des Hegel'schen Pantheismus" nach Berlin berufen wurde und sich entschloß, „vorerst nur auf kurze Zeit" der „von oben inspirirten" Einladung Folge zu leisten. „Nicht ohne Besorgnis sehe ich Sie dahin gehen", schreibt Max am 12. April 1841, „nicht als ob ich nach dem mir gegebenen Versprechen an Ihrer Rückkehr in's Vaterland zweifeln könnte, sondern darum weil ich, als sein treuer Sohn seine Zukunft im Herzen tragend, um jeden Strahl Ihres Geistes eifersüchtig, der einem anderen Lande, wenn auch dem befreundetsten, zukommen soll, da der Weg, welchen ich für den einzigen halte, meinem geliebten Vaterlande eine bedeutsame, geistige Stellung in Deutschland anzuweisen, durch Ihre Anwesenheit in Preußen diesem Lande gezeigt und erleichtert werde, welches zu materieller Kraft auch noch die größere Macht, die des Geistes hinzufügt! was bleibt dann Bayern noch übrig?" Freilich konnte der Thronfolger nur begreiflich finden, daß der Gelehrte aus München fortziehen wollte, wo seine Stellnng trotz der Gunst des Königs infolge der klerikalen Strömung unter dem Ministerium Abel immer peinlicher wurde. Gegen den Positivismus des Verfassers der „Philosophie der Offenbarung" ließ sich ja nichts einwenden, aber der Protestant war den herrschenden Kreisen unbequem; der exklusiv-katholische Charakter der ehemaligen Ingolstädter Stiftung konnte nicht „in seiner Reinheit wiederhergestellt" werden, so lange an der Hochschule so hervorragende gläubige Protestanten als Lehrer wirkten. Dem Wegzug Schelling's wurden also wenigstens keine ernsten Hindernisse in den Weg gelegt. Auch nach Ablauf des gewährten Urlaubs erklärte Schelling dem Kronprinzen, er könne die in Berlin übernommene Mission nicht aufgeben; die Trennung von seinem Schüler sei ja nur eine räumliche, ihm werde es nach wie vor zur Freude und zur Ehre gereichen, dem Wissensdrange des Prinzen nach jeder Richtung Genüge zu leisten. Dadurch ließ sich Max beruhigen, und fortan legte er in zahlreichen Briefen dem verehrten Mentor seine Gedanken, seine Zweifel, seine Pläne vor. „Sie wissen", schreibt er am 26. November 1841, „daß ich die möglichste Förderung und Unterstützung der Wissenschaft mir als Hauptaufgabe gesetzt habe; wie kann dies am besten in's Werk gesetzt werden?" Darauf wird nun eingehend besprochen, was zur Förderung der Naturwissenschaften, der Technik, vor allem aber der Geschichtswissenschaft geschehen könnte. Die Idee eines „Historischen Kongresses",

einer Zusammenkunft der bedeutenderen Historiker Deutschlands zu gemeinschaftlicher Besprechung einschlägiger Fragen taucht zum ersten Mal auf; die Aussetzung eines alle vier Jahre zu vertheilenden Preises für das gelungenste Geschichtswerk wird von Schelling angeregt ꝛc. Von einem deutschen Dichterverein, den Maximilian um sich versammeln will, verspricht sich Schelling nichts Gutes; Max erwidert aber, er habe leider schon, ehe ihm diese Ansicht Schelling's bekannt geworden, mehreren namhaften Dichtern den von Schenk ausgearbeiteten Entwurf mitgetheilt. Auch den in's Auge gefaßten Plan einer „deutschen Akademie" widerräth Schelling; sein Schüler möge daraus später, wenn er einmal König geworden sei, eine gemeinschaftliche Angelegenheit, wenigstens der angesehensten deutschen Fürsten machen. Dagegen gibt Schelling hocherfreut seine Zustimmung, als ihm Maximilian eröffnet, er wolle seine Privatmittel vor allem einer ausgedehnten Pflege der Wohlthätigkeit widmen; Schelling rühmt das scharfe Auge des Prinzen, denn es gelte heute insbesondere „den großen Stein des Anstoßes aller neueren Entwickelung, das Proletariat," aus dem Wege zu räumen. Was immer die Seele des jungen Königssohnes bewegt, enthüllt er dem väterlichen Freunde. Häufig wird dem heißen Wunsch nach Vereinigung der zur Zeit so feindselig gegenüberstehenden Bekenntnisse, nach Anbahnung des „Johanneischen Zeitalters" Ausdruck gegeben; die Möglichkeit, meint Maximilian, würde gegeben sein, wenn erst die katholische Kirche eine freiere Verfassung erhielte und damit den evangelischen Gläubigen der erste Schritt zur Verständigung erleichtert wäre.

Den Sturz des Abel'schen Regiments begrüßt der Thronfolger so dankbar, daß er sogar die damit zusammenhängenden peinlichen Umstände gelassen hinnimmt. „Ein neues Baiern habe ich vorgefunden", schreibt er nach seiner Rückkehr aus Sicilien am 17. August 1847, „Unglaubliches hat sich während meiner Abwesenheit verändert, Gott gebe zum dauernden Frommen des Landes! Er behüte uns vor einem Rückfalle in die vorige verdüsternde Richtung, das zweite Übel wäre weit schlimmer wie das erste. Verschiedene Elemente bemühen sich um das Erbe der abgetretenen Machthaber; mögen ihre Nachfolger nebst Geist und redlicher Gesinnung auch das Talent Herrn v. Abel's besitzen, wieder gut zu machen, was sowohl unter seiner fast zehnjährigen Verwaltung, als auch früher gefehlt wurde!"

Die Ereignisse in Baiern überstürzten sich. Am 2. April 1848 richtet Schelling den ersten Glückwunsch an seinen „allergnädigsten

König und Herrn"; er hätte gewünscht, daß die Thronbesteigung „bei heiterem Sonnenschein, in friedlicher, feierlicher Stille, nicht in Sturm und Unwetter erfolgt, wie jetzt geschehen, . . . aber von dem Wege selbst ist nicht mehr zurückzutreten, man kann ihn nur mitgehen, um der Bewegung mächtig zu bleiben und Euerer Majestät bedeutungsvollem, mit innigster Zustimmung von allen Rechtschaffenen vernommenen Wahlspruch gemäß, neben der Freiheit auch die Gesetzmäßigkeit zu erhalten." Nichts sei im Augenblick nothwendiger, als über den einzelnen deutschen Staaten eine mit allen Attributen der Macht ausgerüstete, starke Regierung für gemeinsame Angelegenheiten, ein ehrfurchtgebietendes Oberhaupt! Wo dieses zu finden, könne nicht zweifelhaft sein, seit mitten im Sturme, der durch die Rivalität Österreichs und Preußens entfacht wurde, mit dem Regierungsantritt Maximilian's von Baiern am dunklen Himmel ein neues, reines, in lauterem, durch keine Vergangenheit getrübtem Glanze strahlendes Licht aufging. „Helfen Eure Majestät, so viel Sie können, zu deutscher Einheit und Größe, weihen Sie dieser, eintretenden Falles, auch das Kostbarste, was Sie ihr geben können — Sich selbst!"

Der König geht auf solche Wünsche und Hoffnungen seines Meisters nicht ein, legt ihm aber einen Entwurf zur Lösung der Lebensfragen des Gesammtvaterlandes, der unter seinen Augen hergestellt und von ihm selbst revidirt worden sei (der Entwurf ist leider nicht abgedruckt) zur Begutachtung vor; es werde darin versucht, die Doppelaufgabe zu lösen: einmal, Deutschland die erforderliche einheitliche Kraft nach innen und außen zu sichern, dabei aber auch den Einzelstaaten die ihnen gebührende, nöthige Selbständigkeit zu wahren. In der Antwort, sowie auch in anderen Rathschlägen, die Schelling während der Sturmjahre 1848 und 1849 seinem königlichen Freunde unterbreitete, zeigt er sich gerade nicht als großen Politiker. Da die Verwirrung in Deutschland so beängstigend gewachsen sei, halte er für's beste, einen Krieg nach außen anzufangen; damit könne man nicht bloß für Deutschland die gebührende Machtstellung zurückerobern und die stehenden Heere vor der bei langem Stillsitzen unvermeidlichen Versumpfung erlösen, sondern vor allem auch die Völker beschäftigen, da sie beschäftigt sein wollen und müssen. Ein Vorschlag, der im Munde eines Philosophen gewiß etwas befremdlich klingt! Ein andermal erklärt er, offenbar auf den lebhaften Wunsch seines Schülers Rücksicht nehmend, Deutschland könne nur gesunden unter einer Triarchie, unter der Diktatur der drei größten Mächte.

Noch wunderlicher muthet es an, daß er sich zum begeisterten Lobredner der Politik Österreichs im Jahre 1848 aufwirft. „Wie groß steht Österreich da; das zeigt, was unter den gefährlichsten Umständen Muth im Verein mit hoher Intelligenz vermag!“ Die Berufung v. d. Pfordten's zum Premierminister begrüßt er freudig, da der neue Minister „mit dem Ruf wissenschaftlicher Bildung den Vortheil schicklicher und angenehmer Formen verbindet und in einem früheren Verhältnis erfahren hat, wohin das Gehen-Lassen führt“ ... König Max nimmt alle Eröffnungen und Rathschläge mit überschwänglichem Dank entgegen und bringt immer wieder neue Fragen zur Debatte.

Aus den Briefen des Königs empfängt man im allgemeinen einen günstigen Eindruck, denn sie beweisen, mit welchem Ernst er die Pflichten erfaßt, welche ihm als Menschen und als Monarchen oblagen. Freilich ist er nur eine rezeptive Natur; in philosophischen Fragen kommt nur selten eine selbständige Auffassung zum Ausdruck, in politischen vertheidigt er etwas vertrauensvoller die von ihm eingeschlagenen Wege. Es gereicht ihm zur Befriedigung, daß der aus dem hessischen Verfassungsstreit erwachsene Konflikt mit Preußen nach der grotesken Bronzeller Episode sich friedlich beilegen ließ. „So Gott will“, schreibt er am 11. Dezember 1850, „wird die drohende Katastrophe, deren Verwirklichung Sie mit Recht den ‘jüngsten Tag für Deutschland’ nannten, vor der Hand vielleicht für lange beschworen sein. Niemand kann sich darüber gewiß aufrichtiger freuen, wie ich es thue, und zwar aus ganzem Herzen; wäre aber dieses Unheil über Deutschland hereingebrochen, ich hätte ruhig mein Auge nach oben richten können, denn unser in Baiern wäre nicht die Schuld gewesen, wir hätten nur das Recht und die Ehre vertheidigt!“ — In Schelling's Briefen aus seinen letzten Lebensjahren tritt eine überraschende Gegnerschaft gegen die vom Liberalismus verlangte Ausbildung des konstitutionellen Systems zu Tage. Er mahnt (15. Febr. 1851), „das Vorurtheil allgemeiner Nothwendigkeit und Anwendbarkeit gewisser konstitutioneller Formen, das nicht nur gewissen Klassen der Gesellschaft ein Glaubensartikel geworden, sondern selbst in die höchsten Regionen gedrungen ist, mit der Wurzel auszurotten ..., um so wieder ein politisch gesundes und zufriedenes Volk herzustellen“. Er beklagt und verwünscht (25. Nov. 1851) die Verwirrung, die „in Europa so ziemlich überall dahin gelangen ließ, wo man nicht mehr aus noch ein weiß, und nach dem langen frevelhaften Spiel, das mit dem

Namen der Freiheit und den Formen angeblich volksthümlicher Einrichtungen zumal in Frankreich getrieben worden, auch die geübtesten konstitutionellen Ränkeschmiede rathlos und völlig au bout de leur latin sind. Es ist fast ein Zustand, wie er uns als vorhergehend dem Weltende beschrieben wird, da die Menschen vor Furcht und Erwarten der Dinge, die kommen sollen, nicht mehr zu athmen wagen." Zu dieser Verbitterung des Philosophen gegen die Gegenwart trug nicht zum wenigsten bei, daß über sein „System" zur Tagesordnung übergegangen worden war, daß sein Name in der gelehrten Welt immer mehr in den Hintergrund geschoben wurde. Nur eine kleine Gemeinde blieb um ihn geschart, und zu den Getreuesten zählte König Max. Wie ein rother Faden zieht sich durch des Königs Briefe die gespannte Erwartung, womit er dem „großen Werke" entgegensieht, worin der Meister sein letztes und höchstes Wort verkündigen wird. Schelling gesteht, daß er nur langsam vorrücke. „Vielleicht weil ich die Arbeit umfassender angelegt, als meinen Jahren gemäß war, aber vorzüglich doch, weil sie in den hiesigen Verhältnissen zu vielen Unterbrechungen ausgesetzt ist. Sie ist ein Werk de longue haleine, und die Natur der Philosophie bringt es mit sich, daß man von A bis Z bei jedem Schritte alles Vorhergegangene auf's genaueste gegenwärtig haben muß. Eine solche Arbeit sollte womöglich in einem Halbjahre gemacht, aber nicht Jahre hinausgezogen werden." Es handelt sich um das System der negativen Philosophie, das der „hektisch abgezehrten" Hegel'schen „Schule des leeren Begriffs" den Todesstoß versetzen sollte. Das „Lebenswerk" ist bekanntlich nicht mehr zum Abschluß gediehen; nur ein paar Bruchstücke sind in die Abhandlungen der Berliner Akademie aufgenommen. Auch aus den Briefen an König Max ist ersichtlich, daß das Ganze in eine Christologie auslief. Allzulange, schreibt er (17. Dezember 1853), sei das Sinnen und Wollen der Menschen dem Staate, also überhaupt dem Reiche dieser Welt zugewendet, in gleichem Verhältnisse aber von der höheren Welt, dem Reiche Gottes, abgewendet gewesen; jetzt sei die Zeit dieser ausschließlichen Richtung auf den Staat, wenn nicht abgelaufen, doch dem Ablaufen ganz nahe. In Frankreich bedurfte es nur eines kräftigen und entschlossenen Willens (Napoleon III.!), um die Bestrebungen, von welchen selbst begabte Köpfe, wie Lamartine u. A., eine glorreiche Regeneration der Menschheit und ihrer Nation erwartet hatten, als eitel, ja als verächtlich und lächerlich erscheinen zu lassen. In Deutschland zeige die unglaubliche Gleichgültigkeit gegen sog.

Kammerverhandlungen, die allgemeine Theilnahmslosigkeit in Bezug auf Wahlen, daß man im allgemeinen von dem ganzen, so lebhaft begehrten und so theuer erkauften Apparate nichts Ersprießliches oder wahrhaft Durchgreifendes mehr erwarte. Das nahe bevorstehende Ende der gegenwärtigen Weltkrisis werde also sein, daß der Staat wieder an seine wahre Stelle, als Bedingung, als Voraussetzung, nicht als Gegenstand und Zweck der individuellen Freiheit gesetzt und die vom Staat usurpirte Stelle von dem eingenommen werde, dem allein zusteht, Zweck zu sein: dem Reiche Gottes, wie wir ja auch angewiesen seien, zu beten: Dein Reich komme! Nur dürfe die Kirche nicht wie früher durch Zwang zu herrschen versuchen, denn der Bitte: Dein Reich komme! folge unmittelbar: Dein Wille geschehe auf Erden wie im Himmel, d. h. mit vollkommener Freiwilligkeit, denn erst absolute Freiwilligkeit der Hingabe an Gott sei Seligkeit.

Der Werth der vorliegenden Briefsammlung wird wesentlich dadurch erhöht, daß darin zahlreiche Urtheile über Männer, welche zum König oder zum Philosophen in näheren Beziehungen standen, niedergelegt sind. Von Dönniges spricht Schelling mit begeisterten Worten; Bodenstedt's und Melchior Meyr's Dichtungen werden dem königlichen Mäcen auf's wärmste empfohlen; dagegen wird von Liebig in lächerlich abfälliger Weise gesprochen. „An Liebig hat die Universität einen großen Techniker' gewonnen, nur sollte er sich nicht einbilden, es erwarte irgend wer von ihm, daß er sich über Philosophie äußere, an die bei seinen Erfindungen gewiß niemand denkt und deren Schuld es gewiß nicht ist, wenn sein 'künstlicher Dünger' — dergleichen 'Früchte' kann die deutsche Naturphilosophie freilich nicht aufweisen! — in Deutschland und England glänzendes Fiasko gemacht hat. Es liegt aber einmal in der Zeit, daß manche zu Kreisen und Stellungen, in die sie nun einmal nicht eindringen können und von denen sie darum verächtlich sprechen, doch durch eben dieses Sprechen sich ein Verhältnis zu geben suchen, wie wir es an den Demokraten sehen können." Auf derartige Ausfälle geht der König in seinen Antworten niemals ein, während er den Empfehlungen des alten Lehrers warme Theilnahme entgegenbringt; ist es doch für ihn die „größte Lebensfreude", wenn er der um ihn versammelten Tafelrunde einen neuen berühmten Namen einfügen kann. Noch der letzte Brief des Königs vom 21. Mai 1854 (Schelling starb in Ragaz am 20. August 1854) enthält ein edles Wort: „Möchte es mir doch gelingen, die wahre, echte Wissenschaft in München so heimisch zu machen, wie die Kunst;

könnte man sie nur so an Grund und Boden fesseln, wie die tief fundamentirten Baudenkmale, die nicht davongetragen werden können Wenn Gottes Wille es ist, so wird es mir gelingen!" Heigel.

Rechtsrheinisches Alamannien. Grenzen, Sprache, Eigenart. Von **A. Birlinger.** Stuttgart, J. Engelhorn. 1890.

A. u. d. T.: Forschungen zur deutschen Landes- und Volkskunde. Herausgegeben von A. Kirchhoff. IV, 4.

Die Arbeit entspricht ihrem Titel nur theilweise; sie gibt weniger „Forschungen" als Materialien; diese dafür in überreicher Fülle. Für Alamannien rechts des Rheins, d. h. Vorarlberg mit Lichtenstein, das Allgäu, einen Theil von Oberschwaben, Oberrhein, Schwarzwald, Hohenzollern, den Kanton Schaffhausen, wird die historische Entwickelung seit der Eis- und Pfahlbautenepoche über die Kelten- und Römerzeiten hin durch das spätere Mittelalter bis auf unsere Tage verfolgt, und in Orts- und Flur-, Volks- und Personennamen, Lehnwörtern und Alterthümern zeigen sich Überreste aus den einzelnen Perioden. Politische, kirchliche, mundartliche Grenzen werden gezeichnet und innerhalb derselben für die Eigenarten des Stammes in Orts- und Grenzneckereien, in Leitwörtern, Sprichwörtern, Räthseln, selbst in den verschiedenen Typen der Hausanlage außerordentlich reiche und dankenswerthe Sammlungen gegeben. Aber kaum angedeutet ist der Versuch, aus diesen Einzelheiten heraus ein einheitliches Charakterbild alamannischen Volksthums in klarem Zusammenhange zu entwerfen; allerdings ist es nicht für alle Theile der stofflichen Belege in gleicher Weise ersichtlich, ob sie spezifisch alamannisch sind und von abweichenden Entsprechungen bei den Nachbarstämmen sich deutlich genug abheben. Jedenfalls wird derjenige, welcher sich durch die geringe Übersichtlichkeit des Ganzen und die höchst individuelle Stilart des Vf. von dem Studium des Buches nicht abhalten läßt, darin für eine alamannische Volkskunde die allerergiebigste Ausbeute finden, freilich auch über viele Einzelheiten, sachliche wie methodische, mit dem Vf. zu rechten haben. Ferd. Wrede.

Geschichte des Algäus. Von **F. L. Baumann.** II. Kempten, J. Kösel. 1890.

Der 2. Band dieser Provinzialgeschichte ist dem ersten (über welchen wir H. Z. 53, 163—164 berichtet haben) nach einer Pause von sieben Jahren gefolgt. „Gut Ding will lang Weil haben" gilt

aber auch in diesem Falle. Der Band enthält die Zeit vom Tode Konradin's und der damit zusammenhängenden Auflösung des Herzogthums Schwaben bis zur Reformation (1268—1517). Der Stoff ist auf 776 Seiten vertheilt, von welchen auf die „äußere Geschichte" — die kriegerischen und politischen Vorgänge — nur 101, also ein starkes Achtel des Ganzen entfallen; man kann schon daraus entnehmen, mit welch unendlicher Sorgfalt der gelehrte Verfasser von allen Seiten her den kulturgeschichtlichen Stoff gesammelt hat, welchem seine Hauptarbeit extensiv wie intensiv gegolten hat. In politischer Hinsicht treten zwei Hauptereignisse von gegensätzlichem Charakter hervor: die Auflösung des Herzogthums Schwaben 1268, welche sofort die Bayernherzoge zur Besitznahme der Verlassenschaft ihres Verwandten auf den Plan rief, und die Bildung des schwäbischen Bundes 1488, wodurch wieder eine gewisse Sammlung der zersplitterten Kräfte auch des Algäus stattfand. Der Gegensatz erstreckt sich auch darauf, daß vom Erlöschen des schwäbischen Stammesherzogthums die Bayern den Vortheil hatten, während der schwäbische Bund gerade aus dem Bestreben hervorgeht, die wachsende Macht Bayerns, welches sogar Ulm zu bedrängen anfing, wieder einzudämmen. In schlichter, sachlicher Darstellung entwickelt Baumann die Geschichte der Landschaft unter steter Verknüpfung derselben mit der Reichsgeschichte. Von Einzelheiten heben wir heraus, daß schon um 1388 Ulrich Beham in Memmingen Kugeln aus Blei und Eisen goß, sowie daß 1489 alle Truppen der Reichsstädte, welche dem König Maximilian nach den Niederlanden Hilfe brachten, gleich gekleidet waren, „roth mit braun und weiß strichen schlecht auf der gerechten seiten durch nyder ab, ungeverlich zwayer finger breit" — eines der ältesten Beispiele von Uniformirung und überaus charakteristisch für den Geist des Zusammenhaltens unter den Städten. Die Kulturgeschichte ist von B. nach den Gesichtspunkten, die Verfassung und Recht, Kirche, Stände, Leben und Kultur an die Hand geben, behandelt und durch eine solche Fülle von Abbildungen erläutert, daß man wird sagen können, kaum irgend etwas Bemerkenswerthes aus dem Algäu wird fehlen, wenn einmal alle vier Bände des Werkes vorliegen. Durch Wort und Bild erhält man aber auch einen lebhaften Eindruck von dem Reichthum geistigen und materiellen Lebens, welcher in jedem kleinsten Stück deutscher Erde steckt. Was die Zustände vor der Reformation anlangt, so ist B. S. 407 der Ansicht, daß der Algäuer Klerus in seiner großen Mehrheit entsprechend den Bestrebungen der

damaligen seeleneifrigen Bischöfe von Augsburg und Konstanz eines tadelfreien Lebenswandels sich beflissen hat; die schlimmen Ausnahmen waren sehr vereinzelt, und nur die Weltgeistlichkeit von Isny und Memmingen gab durch Wirthshauslaufen, Rauf- und Streitsucht schweren Anstoß. Daß schließlich im Ablaßwesen „des Guten zu viel geschah", erkennt auch B. S. 475 an. Sein römisch-katholischer Standpunkt verleugnet sich nirgends, nirgends aber auch seine strenge Gerechtigkeitsliebe; jede Art von ultramontaner Geschichtsfärberei ist ihm fremd, und über die Janssen, Evers, Majunke und wie sie alle heißen, ist er, obwohl er dogmatisch zu ihnen gehört, thurmhoch erhaben. G. Egelhaaf.

Badische Geschichte. Von **Friedrich v. Weech.** Karlsruhe, Liebermann u. Co. 1890.

Dem Charakter des Stoffes entsprechend ist die Arbeit W.'s bis auf Karl Friedrich's Regierung (1738—1811) überwiegend genealogisch; nur ab und zu, wie bei der Schilderung der Reformationszeit und des Bauernkrieges, gibt sie diesen Charakter auf und wird zu einer wirklichen Geschichte auch des Landes. Es verdient gewiß Zustimmung, daß der Geschichte der letzten 160 Jahre fast die Hälfte des Buches gewidmet ist. Die Vorzüge des Werkes bestehen in der gewandten Darstellung, in der Beherrschung des weitschichtigen und zerstreuten Stoffes, der in zahlreichen Monographien und Zeitschriften zerstreut ist, sodann in dem überall hervortretenden Streben nach Objektivität, das vielleicht bei der Charakteristik einzelner Fürsten zu allzugroßer Schonung führt. So dürfte z. B. die Beurtheilung Christoph's I. (S. 101 ff.) doch zu günstig sein. Dieser Fürst hat bei verschiedenem Anlaß wenig politische Kraft bewiesen. Auch die Unternehmungen Georg Friedrich's von Baden-Durlach (vgl. S. 293 ff.) im dreißigjährigen Kriege, so ehrenwerth sie sind, machen nach Auflösung der protestantischen Union und bei Erwägung der geringen Macht, über die er verfügte, mehr den Eindruck eines Abenteuers als einer wohlüberlegten politischen Aktion.[1]) — Der Vf. hätte seinen Lesern einen großen Dienst erwiesen, wenn er noch genealogische Tafeln und eine übersichtliche historische Karte beigegeben haben würde. Wer nicht

[1]) Immerhin scheint uns der Ausdruck „Abenteuer" etwas hart zu sein. A. d. R.

schon eine ziemliche Sachkenntnis zur Lektüre des Buches mitbringt, dem wird mancherlei im ersten Theil nicht sehr deutlich werden.

Im einzelnen sei bemerkt zu S. 17, daß Otto IV. von Braunschweig nicht im Jahre 1227, sondern schon 1218 gestorben ist. Auf S. 428 sind die literarischen Beziehungen des Markgrafen und späteren Großherzogs Karl Friedrich geschildert, welche bekanntlich höchst bedeutsam waren. W. hätte neben Klopstock, Goethe und Herder auch noch Wieland nennen müssen. Die Beziehungen dieses Schriftstellers zu dem badischen Hofe sind viel zahlreicher, als man früher wußte. Wieland hat z. B. auf Wunsch des Markgrafen einen Plan für eine neu zu gründende Erziehungsanstalt ausgearbeitet, der auch in den gesammelten Werken Wieland's aufgenommen ist, allerdings ohne Angabe des Bestellers. Auf weitere Beziehungen hat H. Funck in einer kleinen Schrift (Beiträge zur Wieland-Biographie. Freiburg i. B. und Tübingen 1882) aufmerksam gemacht. Für die Beziehungen zu Klopstock durfte auch noch die anmuthige Arbeit von D. Fr. Strauß: Klopstock und der Markgraf Karl Friedrich von Baden (Bonn 1878) angeführt werden. Wir erfreuen uns übrigens dankbar eines Buches, das eine lange empfundene Lücke ausfüllt. X.

Die Simultankirchen im Großherzogthum Hessen, ihre Geschichte und ihre Rechtsverhältnisse. Dargestellt von **Karl Köhler.** Darmstadt, Waitz. 1889.

Der Umstand, daß die Provinz Rheinhessen eine verhältnismäßig große Zahl von Simultankirchen und darin eine unerschöpfliche Quelle von Streitfällen besitzt, bot dem Vf. den Anlaß, der Rechtslage dieser Kirchen wie den geschichtlichen Vorgängen, welche die Simultan-Verhältnisse herbeigeführt haben, nachzuforschen. Das vorliegende Werk ist das Ergebnis eingehendster Studien; es erregt keineswegs nur spezialgeschichtliches Interesse, ist vielmehr ein werthvoller Beitrag zur Geschichte der Gegenreformation überhaupt. — Der erste Abschnitt (S. 1—59) bringt die allgemeinen geschichtlichen Voraussetzungen für die eigentümliche Gestaltung der Konfessionsverhältnisse im Gebiet der hessischen Landeskirche zur Darstellung. Kaum war der Westfälische Friede abgeschlossen, so erhob sich die Streitfrage, ob ein katholischer Herr, der ein Gebiet besitze, in welchem nach dem dort festgesetzten Normaljahr die evangelische Konfession berechtigt war, neben derselben die öffentliche katholische Religionsübung einführen könne. Die Verneinung durch das Reichskammergericht gewährte nur für

kurze Zeit den Protestanten Rechtsschutz. Mit dem Aussterben der Pfalz-Simmern'schen Linie und dem Übergang der Rheinpfalz an die römisch-katholischen Pfalzgrafen von Neuburg fielen zusammen die französischen Raubzüge gegen Deutschland, welche zugleich Kreuzzüge gegen die protestantische Ketzerei waren. Mit Gewalt wurde nun in den protestantischen Kirchen der Pfalz das Simultaneum eingeführt. Es geschah unter Zustimmung des deutschen Kaisers, daß diese Errungenschaften der römischen Kirche dann in der berühmten Klausel des Ryßwicker Friedens (1697) sanktionirt wurden und durch die Anerkennung des letzteren in dem Friedenstraktat zu Baden (1714) dauernde Geltung erlangten. Alle Proteste des corpus evangelicorum und alle Berufungen auf den Westfälischen Frieden als die alleinige reichsgeschichtliche Norm für die kirchlichen Verhältnisse vermochten nicht zu verhindern, daß der status pacis Badensis mehr und mehr die Bedeutung erlangte, welche rechtlich allein dem westfälischen zukam.

Der zweite Abschnitt (S. 60—159) zeigt, wie die angeführten politischen Ereignisse von römisch-katholischer Seite ausgenutzt worden sind, wie unter dem Schutz der neuen Rechtsgrundsätze der Protestantismus aus seinem Besitzstand in der Pfalz systematisch verdrängt wurde. Es sind schlichte Berichte aus Pfarrakten, welche mitgetheilt werden. Der Vf. fügt ihnen nichts hinzu, sie sind dadurch um so wirkungsvoller. Am Ende der Vorrede hatte der Vf., auf Johann Jakob Moser zurückgreifend, angekündigt, daß Sachen zur Sprache kommen würden, von welchen man so wenig mit kaltem Blut reden könne, als von der Pariser Bluthochzeit. Wir finden dies bestätigt durch die Relationen über die Vorgänge in Harxheim i. J. 1698 (S. 85 ff.); über die Behandlung, welche von den beiden römischen Vormächten am Mittelrhein, Kurmainz und Kurpfalz, den Ortschaften Wörrstadt, Ober-Saulheim und Eichloch zu Theil wurde i. J. 1717 (S. 120—129); die Vergewaltigung an Neckar-Steinach in der zweiten Hälfte des achtzehnten Jahrhunderts.

In einem dritten Theil (S. 160—169) wird eine Übersicht über den gegenwärtigen Bestand der Simultankirchen in Hessen geboten. Danach gibt es deren zur Zeit in der Provinz Rheinhessen 25, in der Provinz Starkenburg 7, insgesammt also 32; resp. wenn die einzelnen Gotteshäuser gezählt werden 37.

Den Schluß (S. 170—224) macht eine kirchenrechtliche Untersuchung über die in und außerhalb Hessen bestehenden Gesetzes-

bestimmungen bezüglich der Simultankirchen, über den Charakter des Simultanrechts, über die in Betracht kommenden Rechtsgrundsätze, über die für Hessen wünschenswerthen Änderungen des Simultanrechts.

Carl Mirbt.

Das römische Lager zu Kesselstadt bei Hanau. Von **Georg Wolff.** Nebst einem Anhang von **Reinhard Suchier**: Fundstücke von Kesselstadt. Hanau, in Kommission bei F. König (E. Pracht). 1890.

A. u. d. T.: Mittheilungen des Hanauer Bezirksvereins für hessische Geschichte und Landeskunde. Nr. 13.

Das Kastell, über welches der Vf. auf Grund umfassender, in den Jahren 1886—1888 vorgenommener Ausgrabungen berichtet, befand sich an der Stelle des dicht vor Hanau gelegenen Dorfes Kesselstadt. Es hat vollkommen quadratische Form mit 375 Meter langen Seiten und lehnt sich mit seiner Südfront dicht an das alte Mainufer. Bemerkenswerth ist seine ungemeine Größe, worin es die gewöhnlichen Limeskastelle fast siebenmal, die Saalburg bei Homburg fast fünfmal übertrifft, so daß es nur mit den umfangreichen Befestigungsanlagen am linken Rheinufer verglichen werden kann. Seine Bedeutung sucht der Vf. darin, daß er es als Bestandtheil einer älteren, der Erbauung des Pfahlgrabens vorausgehenden Grenzkette betrachtet, welche die Neckar-Odenwald-Mainlinie nach Norden in geradem Lauf nach Friedberg fortsetzte und sich dort, etwa bei der Capersburg, an die gleichfalls alte Taunuslinie anschloß. Die Gegenden von Wiesbaden, Hedernheim und Friedberg, die erhebliche Zeit vor Errichtung des Limes von den Römern besetzt wurden, hätten ohne fortifikatorisch gesicherte Grenze nicht gehalten werden können, und die Besetzung des Friedberger Bezirks forderte gleichzeitig die der Mainlinie bis Hanau. Die so erklärte Gründung des Kastells bringt der Vf. zeitlich in Verbindung mit Domitian's Chattenkrieg im Jahre 83. Damals brauchte man größere Truppenmassen in den Grenzfestungen; diese selbst mußten also geräumig sein. Später, nach Anlegung des Limes in der Wetterau, wurden die Truppen in die kleineren Limeskastelle vorgeschoben; das Kesselstädter Kastell wurde geräumt und diente nur noch als Sammel- und Stützpunkt für Zeiten der Noth, falls etwa die Truppen von der Grenze zurückgeworfen würden. Daß ihm die ursprüngliche Bedeutung nicht mehr beiwohnte, schließt der Vf. mit Recht aus dem Umstand, daß die gleichzeitig mit den Ausgrabungen bei Baggerarbeiten entdeckte römische Mainbrücke

nicht hinter, sondern vor dem Kastell ihre Stätte fand, also nicht im Schutz des Kastells lag. Gleichfalls vor dem Kastell, auf dem Salisberg, wurden Villenanlagen mit zum Theil künstlerischer Ausstattung und die Spuren einer Militärstation aufgedeckt. Auch Verbindungsstraßen nach den Kastellen Rückingen und Kesselstadt ließen sich nachweisen. Die beigegebenen Karten erläutern den mit Umsicht und Sorgfalt festgestellten Thatbestand und die sich daraus ergebenden Verhältnisse auf das beste. Wanbald.

Die Namen der Verwandten und Geschlechtsgenossen in den Urkunden des Klosters Fulda. Von **Viktor Abée.** Witten, Druck von C. L. Krüger. 1890.

Der Vf. untersucht an der Hand des von Dronke veröffentlichten Materials die Namensbildungen in zehn Markgenossenschaften, in welchen das Kloster Fulda begütert war, und stellt fest, daß bis in's 10. Jahrhundert die Neigung bestand, bei Ertheilung der Personennamen die Blutsverwandtschaft zum Ausdruck zu bringen. Es geschah dies in der Weise, daß bei zusammengesetzten Bildungen die Theile oder ein Theil des neu zu gebenden Namens aus den Namen der Eltern oder naher Verwandten herübergenommen wurden. Vom 11. Jahrhundert ab verschwindet diese Sitte, und es erhält mit Vorliebe der Sohn (bei mehreren Söhnen der älteste) den unveränderten Namen des Vaters. Der bekannte Brauch edler Geschlechter, einen oder einige Vornamen beständig weiterzuvererben, findet sich nicht erst vom 14. Jahrhundert ab, wie der Vf. (S. 10) meint, sondern läßt sich erheblich weiter zurückverfolgen. Wanbald.

Die Eisenhütten des Klosters Haina und der dafür thätige Formschneider Philipp Soldan von Frankenberg. Von **L. Bickell.** Marburg, Elwert. 1889.

Unter den hessischen Eisenhütten waren die des Klosters Haina die bedeutendsten. Sie sind zugleich diejenigen, in welchen der Ofenguß am frühesten nachweisbar ist. Eine Reihe erhaltener Rechnungen, deren älteste dem Jahre 1555 angehört, gibt über die Hainaer Hütten manchen Aufschluß. Der Guß eiserner, mit Reliefs verzierter Platten, aus welchen man Öfen zusammensetzte oder mit denen man Kamine bekleidete, geschah in offenem Herd nach Abformung der kunstvoll in Holz geschnittenen Model in feinem, vorher angefeuchtetem Sand. Der hervorragendste Verfertiger solcher Model war der Bildhauer und Formschneider Philipp Soldan von Frankenberg. Von 1527 ab

erstreckt sich seine Thätigkeit über fast 50 Jahre, falls man nicht vielmehr in diese Zeit einen gleichnamigen Sohn einzurechnen hat. Von ihm bringt der Vf. eine Anzahl künstlerisch ausgeführter Arbeiten, meist nach seinen Modeln gegossene Ofenplatten, der Sammlung des hessischen Geschichtsvereins zu Marburg angehörig, in vortrefflicher Lichtdruckwiedergabe. Das von Engeln getragene Medaillon auf Tafel 4 scheint, obwohl die Umschrift einen Ausspruch Christi enthält, sonderbarerweise nicht diesen, sondern einen Türken im Turban darzustellen; vielleicht eine Anspielung auf den Namen des Künstlers (Soldan) Eine Fortsetzung der Arbeit wird in Aussicht gestellt.

Wanbald.

Die v. Derschau'sche Bibliothek in Aurich und die Personalakten ihres Stifters. Ein Beitrag zur Geschichte des Beamtenthums. Von **F. Fabricius.** Aurich, Tapper u. Sohn. 1889.

A. u. d. T.: Jahrbücher der Gesellschaft für bildende Kunst und vaterländische Alterthümer zu Emden. VIII.

Christoph Friedr. v. Derschau, geb. in Königsberg am 12. Januar 1714, wurde 1751 zum Regierungs- und Konsistorialpräsidenten des Fürstenthums Ostfriesland ernannt, erhielt 1785 auf sein Ansuchen seine Entlassung und lebte nun auf seinem Gute Wilhelminenholz bei Aurich, wo er am 19. Dezember 1799 gestorben ist. Er war ein großer Bücherfreund und hat sich um das Land, dem Jahrzehnte lang seine Thätigkeit gewidmet war, auch nach dem Tode noch dadurch verdient gemacht, daß er ihm seine reiche Büchersammlung nebst Kupferstichen und Münzen testamentarisch vermachte. Leider hat jedoch diese Stiftung bisher nicht den Segen gebracht, den der Erblasser, der damit die Grundlage für eine ostfriesische Landesbibliothek legen wollte, edelmüthig beabsichtigte. Das ersehen wir aus dem ersten Theile des obigen Büchleins, in dem uns in anziehender Weise die mannigfachen Schicksale jener Büchersammlung vorgeführt werden. Erst im Jahre 1869 wurde ihre wirkliche Nutzbarmachung durch den Obergerichtspräsidenten Wiarda erreicht, den der damalige Archivsekretär Dr. Friedländer seit 1872 bei diesem Bestreben in wirksamster Weise unterstützte. Was uns hier erzählt wird, zeigt wieder einmal sonnenklar, wie noth jeder Sammlung fachmännische Verwaltung thut.

Den zweiten Theil des Büchleins (S. 38—148) nehmen Aktenstücke zur Geschichte v. Derschau's ein, denen fleißig gearbeitete Erläuterungen, ein Stammbaum über die Nachkommen des 1663 vom

großen Kurfürsten geadelten Reinold's v. Derschau, des Urgroßvaters unseres Christoph Friedrich, u. A. beigefügt sind. Es scheint uns des Guten hier etwas viel gethan zu sein: ein wörtlicher Abdruck der Stücke wäre wohl nicht überall nothwendig gewesen. Das Ganze ist zumal für die Geschichte der Verwaltung Ostfrieslands während der ersten Zeit der preußischen Herrschaft nicht ohne Interesse. Bemerkenswerth ist auch S. 91ff. der Briefwechsel mit Voltaire. Von einer Schilderung der dichterischen Thätigkeit v. Derschau's hat Fabricius um so eher absehen zu können geglaubt, als diese im 5. Bande desselben Jahrbuchs, in dem obige Schrift ursprünglich erschien, von Professor Kohlmann eingehende Würdigung gefunden hat.

P. Zimmermann.

Regesten und Notizen zur Geschichte der Katharinen-Kirche in Osnabrück. Von **Hermann Veltmann**. Osnabrück, J. G. Kisling. 1889.

A. u. d. T.: Mittheilungen des historischen Vereins zu Osnabrück. XIV.

Den Regesten sendet der Vf. zunächst eine kleine Abhandlung über die „Zeit der Erbauung von Kirche und Thurm" voraus, in der mit überzeugenden Gründen die Aufführung der Kirche in die Zeit von 1218—53, die des Thurmes in die Regierung des Bischofs Gottfried Grafen von Arnsberg (1321—1349) verlegt werden. Die hier behauptete Identität der Ausdrücke fabrica (Baukasse), structura und tymmeringhe (S. 12 und 22) möchte Ref., so sehr auch der Sinn der betreffenden Stellen auf eins hinausläuft, doch noch bezweifeln. Hieran schließt sich eine „kurze Beschreibung der Kirche nebst weiteren Notizen zur Geschichte derselben". Erstere läßt die Anschaulichkeit etwas vermissen, was sich wohl durch die Entfernung des Vf. von dem Orte des von ihm geschilderten Bauwerkes erklären dürfte. Dann folgen die zwar ungleichartig, aber fleißig gearbeiteten Regesten, die von 1252—1796 in 175 Nummern die wichtigsten Quellen zur Geschichte der Kirche uns vorführen. Besondere Berücksichtigung haben die Siegel gefunden; manches hätte sich hier kürzer fassen lassen; so hätte z. B. für den vorliegenden Zweck bei den Siegeln, die in den 'Westfälischen Siegeln' von Philippi und Tumbült abgebildet sind, eine Verweisung auf dieses Buch vollständig genügt. — Das Werk ist ein schönes Zeugnis für die pietätvolle Anhänglichkeit des Vf. an die Stadt, die ihm eine „zweite Heimat" geworden ist. P. Z.

Geschichte des Klosters Marienstein in der Provinz Hannover. Von **Theodor Eckart**. Hannover-Linden, K. Manz. 1890.

Eine Geschichte des Klosters Steina oder Marienstein bei Nörten unweit Göttingen haben auf Grund fleißiger Studien Kanonikus Joh. Wolf in einer besonderen Schrift (Göttingen, 1800) und Pastor D. Heidemann in einem Aufsatze der Zeitschrift des historischen Vereins für Niedersachsen (Jahrg. 1871 S. 46—117) geliefert. Aus diesen verdienstlichen Arbeiten ist obiges Büchlein in kritikloser, oberflächlicher Weise hergestellt worden, ohne daß jene Vorlagen in derselben genannt sind. Was der Vf. selbständig hinzugefügt hat, beschränkt sich im wesentlichen auf ein paar Angaben über Pächter (S. 51) und Pfarrer (S. 56) zu Steina nach dem Jahre 1871, über den Tod des Professors Reuter, der sehr störend S. 24 eingefügt ist, und dgl. Von der Flüchtigkeit des Vf. nur ein paar Beispiele auf S. 22 u. 23. Abt Dietrich, heißt es hier, habe 1388 ein Haus in Bovenden gekauft. Nun hieß der Abt in dieser Zeit aber nach Heidemann S. 63 nicht Dietrich, sondern Conemund, der wie auch der Nachfolger von Eckart in seinem Verzeichnisse ganz ausgelassen ist; trotz dieser Lücke folgt E. aber bei den späteren Äbten Heidemann wieder ruhig in seiner Zählung derselben. Heidemann nennt S. 63 eine 1372 gestiftete Kapelle, die wahrscheinlich „als einziges residuum des alten Klosters“ in der Krypta an der Südostseite der jetzigen Kirche noch vorhanden sei. E. schreibt S. 23, die Kapelle sei „wie alle übrigen Klostergebäude verschwunden“, erwähnt dann aber S. 67, den Angaben Heidemann's auf S. 99 arglos folgend, jene Krypta doch wieder als Überbleibsel der alten Klosterkirche. Der lateinische Ausdruck famulus (Knappe), den Heidemann in seinem Texte hatte stehen lassen, ist von E. auf S. 22 einmal mit 'Famulus', das andere Mal mit 'Diener' wieder gegeben worden. Leider entschädigt auch die Darstellung den Leser nicht für den mangelhaften Inhalt des Buches.

P. Zimmermann.

Die Finanzverwaltung der Stadt Braunschweig bis zum Jahre 1374. Von **Heinrich Mack**. Breslau, W. Koebner. 1889.

A. u. d. T.: Untersuchungen zur deutschen Staats- und Rechtsgeschichte. Herausgegeben von Otto Gierke. XXXII.

In vorliegender Arbeit werden uns auf Grund eingehender, besonnener Forschung in klarer, anschaulicher Weise Entstehung und Entwickelung der Finanzverwaltung der Stadt Braunschweig dargelegt.

Das Buch ist als ein werthvoller Beitrag für die Geschichte dieser Stadt zu bezeichnen; es bedeutet gegenüber den Ausführungen, die Dürre in dem für seine Zeit höchst verdienstlichen Werke „Geschichte der Stadt Braunschweig im Mittelalter" (Br. 1861) auf diesem Gebiete gemacht hat, einen sehr bedeutenden Fortschritt, der nicht zum mindesten durch L. Hänselmann's inzwischen erschienene Arbeiten, wie M. dankbar anerkennt, ermöglicht worden ist. Nachdem der Vf. in der Einleitung (S. 1—7) eine kurze Übersicht über die Literatur zur Geschichte der Finanzverwaltung in den deutschen Städten des Mittelalters und insbesondere in der Stadt Braunschweig gegeben hat, orientirt er uns im ersten Theile (S. 8—17) über die sorgsam benutzten Quellen für seine Arbeit, die leider sehr bedeutende Lücken aufweisen. Dann erst folgt im zweiten Theile die eigentliche Geschichte der Finanzverwaltung. Sie beginnt für uns im Jahre 1227 mit den Städteprivilegien Herzog Ottos des Kindes, die M. mit Hänselmann gegen Frensdorff und Döbner in dieses Jahr legt. Die Anfänge der Entwickelung des Finanzwesens vollziehen sich gesondert in jedem der fünf Weichbilde der Stadt. Erst am 18. November 1269 schließen sich drei derselben, die Altstadt, der Hagen und die Neustadt, die weit mehr Selbständigkeit als die übrigen beiden besaßen, zu einer gewissen Gemeinsamkeit ('gemeine Stadt') zusammen, indem sie eine Centralbehörde ('gemeiner Rath') und eine Centralkasse schaffen, neben denen jedoch die Räthe der Weichbilde und deren Sonderkassen fortbestehen. Erst später treten Altewik und Sack, die von Alters her in größerer Abhängigkeit von den Braunschweigischen Herzögen standen als jene, dieser Einigung bei. Überwiegenden Einfluß besaß und bewahrte sich bei allen gemeinsamen Angelegenheiten der Rath der Altstadt, deren Geschlechter auch in den Räthen der anderen Weichbilde Platz nahmen. Das ganze Finanzgebahren der gemeinen Stadt wie der Weichbilde führt uns dann M., soweit die Quellen es gestatten, aus der Zeit von 1269—1354 vor, um darauf ein anschauliches Bild von der Finanzverwaltung der gemeinen Stadt wie insbesondere der Altstadt aus den Jahren 1354 und 1355 zu entwerfen, von welchen uns durch ein glückliches Geschick die Einnahme- und Ausgaberegister erhalten worden sind. Dann wird die Geschichte der Finanzverwaltung der gemeinen Stadt wie ihrer Theile bis zum Jahre 1374 fortgeführt. Das nicht immer gleiche Verhältnis der gemeinen Kasse zu denen der Weichbilde wird eingehend verfolgt, ihre Einnahmen und Ausgaben erörtert, und dabei werden die Mängel der gesammten

Finanzverwaltung gebührend hervorgehoben, insbesondere die leichtsinnige Geldwirthschaft, die durch das Fehlen jedes Voranschlages u. a. zu Tage trat und durch das eigennützige Verhalten der oligarchischen Räthe, denen jede Kontrolle so gut wie fehlte, noch verschlimmert wurde. Arge Mißgeschicke in der äußeren Politik kamen hinzu, die Finanzlage der Stadt zu einer äußerst trostlosen zu gestalten. Mit Recht erkennt nach Hänselmann's Vorgange auch M. in diesen finanziellen Nothständen eine Hauptursache des großen Gildeaufstandes vom Jahre 1374. Mit einem Hinweise hierauf schließt die fleißige Arbeit, der der Vf. hoffentlich recht bald eine Fortsetzung folgen läßt.

P. Zimmermann.

Die große Braunschweiger Stadtfehde (1492—1495). Von **Felix Priebatsch.** Breslau, Pribatsch. 1890.

Die vorliegende Dissertation, ein Theil einer größeren Arbeit des Vf. über die Kämpfe der Sachsenstädte gegen ihre Landesherrn um die Wende des 15. Jahrhunderts, behandelt die Streitigkeiten, die Herzog Heinrich der Ältere zu Braunschweig und Lüneburg mit Unterstützung zahlreicher Fürsten und Herren gegen die Stadt Braunschweig und ihre Bundesgenossen führte, und die den Zweck hatten, jene reiche und mächtige Stadt, die nicht ohne Aussicht auf Erfolg nach der Reichsunmittelbarkeit strebte, der landesfürstlichen Gewalt zu unterwerfen. Die allgemeinen politischen Verhältnisse werden kurz angedeutet und dann werden uns in eingehender Weise sowohl die kriegerischen Ereignisse vorgeführt, die mit dem Siege insbesondere der Stadt Hildesheim über den Herzog bei Blekenstedt am 13. Februar 1493 im wesentlichen ihren Abschluß fanden, als auch die langwierigen diplomatischen Verhandlungen, durch welche bei der allgemeinen Erschöpfung der Kräfte unter Vermittelung Erzbischof Ernsts von Magdeburg und Markgraf Johanns von Brandenburg in dem Recesse vom 4. Juni 1494 der Friede unter den streitenden Parteien hergestellt wurde. Der Vf. hat ein umfangreiches, zerstreutes Material mit Fleiß und Sachkunde verarbeitet. Die Darstellung läßt manches zu wünschen übrig; auch hätte auf Wiedergabe der Ortsnamen, Anführung der Citate, Korrektur u. s. w. größere Sorgfalt verwandt werden können. Angefügt ist dem Werke eine Übersicht über die einschlagende Literatur, in der vorzüglich die Nachrichten über die Tagebücher des Hildesheimer Bürgermeisters Hennig Brandis Beachtung verdienen. Aus letzteren sind in den Beilagen (S. 106—116) Auszüge

mitgetheilt. Ein vollständiger Abdruck der für die niedersächsische Geschichte wichtigen Quelle wird, wie wir jetzt mittheilen können, vom Stadtarchivar Dr. Hänselmann in Braunschweig vorbereitet.

P. Zimmermann.

Geschichte der braunschweigischen Landeskirche von der Reformation bis auf unsere Tage. Von **Johannes Beste.** Wolfenbüttel, Zwißler. 1889.

Das Buch kommt in dankenswertheſter Weise einem wirklichen Bedürfnisse entgegen. Denn wie gut und fleißig auch einzelne Theile der braunschweigischen Kirchengeschichte behandelt sind, so war doch eine zusammenfassende Geschichte der braunschweigischen Landeskirche bisher nicht vorhanden, und es bestand somit wirklich eine Lücke, deren Ausfüllung nicht nur im geschichtlichen Interesse des Herzogthums, sondern in dem der gesammten deutschen Kirchengeschichte als wünschenswerth bezeichnet werden muß. Ging doch der Einfluß, den Jahrhunderte lang die Universität Helmstedt zumal in theologischer Beziehung ausübte, weit über die braunschweigischen Grenzen hinaus.

Der Vf. zeigt sich seiner Aufgabe vollauf gewachsen. Er besitzt eine sehr anerkennenswerthe Kenntnis der braunschweigischen Kirchengeschichte bis in die kleinsten Einzelheiten hinein. Er hat überall aus dem Vollen geschöpft und sein Werk auf eigenen, gründlichen Forschungen aufgebaut. Insbesondere hat er dabei für das 18. Jahrhundert viel bis jetzt ganz unbekanntes Material zu Tage gefördert. Schon die Anmerkungen, die in knapper Fassung eine reiche Fülle bibliographischen, biographischen und sonstigen Stoffes beibringen, legen von dem Fleiße und der Gelehrsamkeit des Vf. ein deutliches Zeugnis ab. Dabei sind diese aber der Darstellung selbst nirgends zum Schaden gewesen. V. ist niemals in gelehrtem Kleinkram stecken geblieben; er hat es vielmehr trefflich verstanden, das ganze reiche Material stets im engen Anschlusse an die allgemeinen Ideen der Zeit, die gebührend hervorgehoben werden, lebensvoll und anschaulich zu gestalten und hat so nicht nur für theologische, sondern überhaupt für gebildete Leser ein klar verständliches, anziehendes Buch geliefert. Es kommt hinzu, daß V. das in dem Vorworte verheißene 'Streben nach Billigkeit und Unpartheilichkeit des Urtheils' in seinem Werke mit gutem Erfolge durchgeführt hat. Merkt man ihm auch unwillkürlich an, daß glaubensinnige Naturen, wie die Johann Arnd's, ihm vorzugsweise sympathisch sind, so muß man ihm doch gerechterweise zugestehen, daß

er ohne Unterschied alle Erscheinungen aus dem Geiste ihrer Zeit heraus zu erklären und zu verstehen sucht.

Der Vf. hat sein Werk in vier Hauptabschnitte getheilt. In dem ersten derselben behandelt er die altlutherische Periode (1521—1624), die Zeit der Reformation des Herzogthums und der Herrschaft der durch Herzog Julius begünstigten lutherischen Orthodoxie. Ihr bereitete den Untergang vorzüglich der große Theologe Georg Calixt, dessen Wirksamkeit, durch zahlreiche Schüler lebendig erhalten, auf lange Zeit hin für Braunschweig maßgebend blieb. Deshalb nennt B. mit Recht den zweiten Theil seines Buches die calixtinische Periode (1624—1747), in der er wieder die Blütezeit (1624—56) und die Epigonenzeit des Calixtinismus (1656—1709), sowie die Rückkehr zum lutherischen Bekenntnis (1709—1747) unterscheidet. Daran schließt sich drittens die Aufklärungsperiode (1747—1826), die er in drei Abschnitte theilt: in die Zeit des Übergangs vom alten zum neuen Glauben, in der besonders der Abt Jerusalem, in die Zeit der Neologie, in der Lessing und J. H. Campe, und in die des Rationalismus, in der der Helmstedter Professor H. Ph. K. Henke vorzugsweise behandelt werden. Der vierte und letzte Theil ist dem Zeitalter der Erneuerung gewidmet, das wieder in die Übergangszeit und die neulutherische Zeit zerfällt. Der ganze Stoff hat durch diese Eintheilung eine sachgemäße Gliederung erfahren. Sehr belebend wirkt die reichliche Einfügung biographischen Materials. Die Darstellung des Vf. ist gewandt und gefällig. Auch eine gewisse Vorliebe für gesuchte Bilder, die dem Ref. im Anfange mitunter störend auffiel[1]), verschwindet in den späteren Theilen des Buches fast ganz.

Daß bei einem so umfassenden und so sehr auf Einzelheiten eingehenden Werke, wie dem vorliegenden, dem in vielen Theilen die Vorarbeiten fast ganz fehlten, das eine oder andere gefunden werden kann, das der Berichtigung oder Ergänzung fähig ist, liegt in der Natur der Sache. Bei Beurtheilung einiger Fürsten scheint deren religiöse Stellung den Vf. zu stark beeinflußt zu haben. So wird Herzog Heinrich der Jüngere wohl zu ungünstig, Herzog August Wilhelm dagegen zu günstig beurtheilt. Die Eintracht zwischen den herzoglichen Brüdern Rudolf August und Anton Ulrich war trotz der darauf geschlagenen

[1]) Dahin sind Wendungen zu rechnen wie S. 60: „Sein Wandel war wie ein Blitz, darum waren seine Worte wie Donnerklang" u. s. w.

Medaille leider längst nicht so groß, wie B. S. 274 rühmt. Man lese bei Havemann 3, 298, wie bitter sich der erstere über den Bruder beklagte. — Daß der hl. Ludger das Kloster Helmstedt selbst gegründet und dort getauft habe (S. 44 und 635), wird sich nach Rettberg's Untersuchungen (Kirchengeschichte Deutschlands 2, 479 ff.) schwerlich noch beweisen lassen. — Graf Tättenbach ist nicht in Prag (S. 686 Anm. 15), sondern in Graz enthauptet worden. — Von einem 'hohen Thurme der Marienkirche' zu Wolfenbüttel (S. 233) kann im Jahre 1643 noch keine Rede sein. — Die auf Veranlassung Herzog Augusts veranstaltete Bibelübersetzung erschien nicht 1638 (S. 236), sondern 1664—66 und ist nicht von Johann Saubert dem Älteren, sondern von dessen Sohne gefertigt (vgl. Allg. deutsche Biographie 30, 415 f.). — Die Behauptung, daß Herzog Anton Ulrich niemals in Helmstedt gewesen sei (S. 377), wird widerlegt durch das 1711 im Druck erschienene Gedicht von Matthias auf Anton Ulrich's Besuch der Universität Helmstedt. — Mit der Regierung des Fürstenthums Blankenburg ist Ludwig Rudolf 1690 nicht betraut worden (S. 383), es wurde ihm damals nur die Nachfolge in das Fürstenthum zugesichert, dessen Regierung er erst 1714 antrat. — Graf v. Wolffradt war nicht 'Präsident des westfälischen Staatsraths' (S. 512), sondern Minister des Innern; König Jerome von Westfalen niemals 'Kaufmannsdiener' (S. 559) (vgl. Hessisches Jahrbuch für 1855 S. 57). — Leisewitz wohnte in Braunschweig nicht auf der Bruchstraße (S. 592), sondern auf der Wallstraße. — Mitunter hätte, zumal in den Anmerkungen, noch das eine oder andere Werk angeführt sein können, doch verbietet der uns zugemessene Raum, hierauf näher einzugehen.

Die Ausstattung des Werkes ist gut und würdig. Bei den Anmerkungen wäre eine durchlaufende Zählung sehr erwünscht gewesen, die ihre Auffindung sehr viel leichter gemacht haben würde, als es jetzt der Fall ist. Ein genaues Namen- und Sachregister ist dem Buche beigegeben.[1]) P. Zimmermann.

---

[1]) An obiges Werk hat sich eine nicht gerade erbauliche Polemik zwischen dem Vf. und dem Professor Koldewey in Braunschweig angeschlossen. Letzterer hatte dasselbe in den Braunschweigischen Anzeigen (1889 Nr. 43 und 1890 Nr. 126) und insbesondere in der Theologischen Literaturzeitung (1890 Nr. 15) durchaus sachlich und wohlwollend besprochen. Dennoch glaubte Beste den hier gemachten Ausstellungen mit einer Replik (ebenda Nr. 21) entgegentreten zu müssen, worauf Koldewey mit einer Duplik antwortete, in der er

Aus dem Oldenburger Lande. Bilder und Skizzen von H. **Bucholtz**. Oldenburg, G. Stalling. 1889.

Es ist leicht zu erklären, daß in kleineren Staaten, deren politische Geschichte nicht besonders interessant ist, die sog. Kulturgeschichte (besser Sozialgeschichte) mehr die Arbeitskraft der Geschichtsforscher in Anspruch genommen hat. Wer die sozialen Verhältnisse der Oldenburger Gegend in ihrer geschichtlichen Entwickelung kennen zu lernen begehrt, findet in dieser gut geschriebenen Arbeit, was er sucht. Sie ist eine Festgabe zur 100jährigen Jubelfeier der Stalling'schen Buchdruckerei, der ersten freien Anstalt dieser Art in diesem entlegenen Winkel deutscher Erde, und fängt demnach an mit einer kleinen Geschichte der Buchdruckerei in Oldenburg. Die eigentliche Festgabe ist eine Reihe theilweise schon früher veröffentlichter Artikel über oldenburgische Zustände. Wie Oldenburg aus einer gräflichen Burg zur modernen Residenz geworden; wie das Kloster Rastede ein Mittelpunkt mittelalterlicher Kultur war, bevor es als Sommerresidenz emporkam; wie die Umgebung des Zwischenahner Meers sich im Laufe der Zeiten entwickelte; wie die Weser die sozialen Zustände des Ländchens beeinflußte; wie

---

die Behauptung aufstellte, daß das Buch „wegen des Mangels an zureichender Schärfe der Kritik und an methodischer Genauigkeit auf den Namen eines wissenschaftlichen Werkes im strengen und eigentlichen Sinne des Wortes Anspruch zu erheben nicht berechtigt sei". Gegen diesen scharfen Ausspruch wandte sich B. in einer kleinen, als Manuskript gedruckten Broschüre: „Zur Kritik meiner Braunschweigischen Kirchengeschichte" (Wolfenbüttel 1890) und nöthigte dadurch Koldewey, die von ihm gerügten Mängel und namentlich obiges Urtheil näher zu begründen. Er versuchte dies in einer dem Buchhandel übergebenen Schrift: „Mein Urtheil über die braunschweigische Kirchengeschichte des Hrn. Superintendenten Joh. Beste zu Schöppenstedt" (Braunschweig, Schwetschke. 1890). Müssen wir auch anerkennen, daß Koldewey die Richtigkeit der von ihm nachgewiesenen einzelnen Versehen der B.'schen Schrift zumeist dargethan hat, so können wir doch keineswegs zugeben, daß er den Beweis für seine Behauptung, das Buch als Ganzes verdiene nicht den Namen eines wissenschaftlichen Werkes, erbracht hat. Was er an Irrthümern aus dem Buche vorbringt, ist zu solcher Verurtheilung nicht ausreichend, zum Theil sogar herzlich unbedeutend. Auch ist es ihm u. E. nicht gelungen, den von B. behaupteten Widerspruch zwischen dem Urtheile der Duplik und den früheren Kritiken trotz der äußerst gewandten Darstellung der Schrift zu beseitigen. Demnach sieht Ref. keinen Anlaß, sein Urtheil über das B.'sche Werk infolge der Koldewey'schen Broschüre irgendwie zu verändern.

das Meer und der Mensch am Jadebusen ihren Kampf ausfochten; wie die sächsischen Bauern seit den Römerzeiten lebten; das alles wird in lebhaften Zügen gemalt. Der Autor kennt seine Landesgeschichte bis in Einzelheiten, weiß sie zu benutzen und verfällt nicht in den Fehler, die politische Geschichte in den Hintergrund zu bannen. Sie ist ihm — wie sie sein muß — immer der Rahmen, innerhalb dessen er seine Schilderung der sozialen Zustände gestellt hat. Nur ausnahmsweise — am meisten im Artikel über das Zwischenahner Meer — läßt er sich in dilettantische Ausführungen über Natur und Volk locken; es ist wahr, daß die idyllische Gegend dazu Anleitung gab. Müßte ich noch etwas rügen, so wäre es der etwas breite, dann und wann verschwommene Stil, der sich sogar oft in sentimentalen oder überschwenglichen Formen ergeht. Übrigens ist die Arbeit wissenschaftlich gehalten, wie die Anmerkungen am Ende des Buches bestätigen, und verfällt nicht in unwichtige Einzelheiten. Ich bemerke noch, daß (S. 224) die „eigentliche Geschichte der Sturmfluth" in dieser Gegend nicht erst im 13. Jahrhundert, sondern schon viel früher, nachweislich schon seit dem 9. Jahrhundert anfängt. P. J. Blok.

Hanserezesse von 1477—1530. Bearbeitet von **Dietrich Schäfer.** IV. Leipzig, Duncker & Humblot. 1890.

Der Band führt vom Mai 1497 bis zum April 1504. In dem Material, das er bietet, treten die Hergänge, welche das Verhältnis zu Rußland und zu dem flandrischen Stapel betreffen, zumeist in den Vordergrund. Schon im 3. Bande hatte der Herausgeber betont, daß der Fall Nowgorods die Interessen des Hansabundes nicht so getroffen habe, wie man es bisher sich vorgestellt. Daher erklärt es sich, daß zwar der livländische Meister und die Städte Dorpat und Reval unermüdlich zu Verhandlungen mit den russischen Großfürsten trieben, von der Hansa, Lübeck eingeschlossen, indes nur ungenügende Unterstützung erfuhren, weil die Ableitung des Handels von Nowgorod zwar den ersteren sehr empfindlich, der Hansa jedoch keine Unterbrechung ihres Waarenverkehrs nach Rußland war. Im Westen wird zwar dadurch, daß Lübeck und Hamburg ihre Interessen rücksichtslos zur Geltung bringen, Danzig anderweitig gewinnen und Köln überstimmen, der Stapelzwang zu Brügge nach den Grundsätzen von 1487 noch einmal erneuert; dennoch scheiterte die Durchführung, namentlich für den Haupthandelsartikel des Tuches, an dem Widerstande sowohl der Holländer und Friesländer, wie der niedersächsischen Städte. Als

auch die wendischen Städte zurücktraten, ist der Vertrag nicht mehr zu halten und damit der Niedergang Brügges eingeleitet. Wenngleich dadurch die letzte Schranke gegen die vordrängende Konkurrenz der Holländer, Kurländer und Friesländer fällt, sieht der Herausgeber auch hierin keine unmittelbare Schädigung der Hansa. „Auch ohne Nowgoroder Hof und Brügger Kontor ist die Hansa zunächst Herrin des nordeuropäischen und zumal des Ostseehandels geblieben." In England behauptet sie noch ihre alte Stellung, Dänemark gegenüber wahrt sie mühsam den Frieden. Noch sind die 7 Jahre der Blüthezeit des Bundes zuzurechnen. — Der große Umfang der wichtigsten Rezesse nöthigte dazu, das Übrige meist in Regestenform zusammenzuziehen. Mkgf.

Hamburg und Ostfriesland in der ersten Hälfte des 15. Jahrhunderts. Von **H. Nirrnheim.** Hamburg, Meißner. 1890.

Die Herausgabe der Hanserecesse hat nicht allein die Handelsgeschichte der Nord- und Ostsee vielfach beleuchtet, sondern auch in die politische Geschichte der Nord- und Ostseeküsten überraschende Einblicke gestattet. Seit Wiarda's Ostfriesischer Geschichte hat sich in dieser Hinsicht Vieles geändert, ohne daß jedoch diese für den Anfang des 19. Jahrhunderts ausgezeichnete Arbeit ihren Werth verloren hat. Noch immer bleibt Wiarda's Buch — auch nach Klopp's dürftigem Kompilationswerk — das Beste, was über ostfriesische Geschichte überhaupt vorliegt. Haben die Jahrbücher der Emder Gesellschaft manchen werthvollen Artikel, manche gute Spezialforschung auf diesem Gebiete veröffentlicht; haben auch die Hansischen Geschichtsblätter mitunter eines oder anderes für die Geschichte Ostfrieslands geleistet, die sehr merkwürdige Geschichte des freiheitliebenden Friesenlandes östlich der Ems bietet dem Forscher noch viele schöne Früchte. Dr. Nirrnheim's Arbeit ist eine von diesen. In einer sehr gelungenen Erstlingsarbeit bietet er uns hier die Geschichte der hamburgischen Beziehungen zum Emslande im 15. Jahrhundert, erste Hälfte. Er zeigt, wie die mächtige Hansestadt im Kampf mit den Seeräubern damals festen Fuß in Emden faßte und mitarbeitete zur Herstellung gesellschaftlicher Ordnung in dieser von Parteihader, Seeräuberei und Häuptlingstyrannei zersetzten Küstengegend, wie die hamburgische Politik endlich den schlauen Cirksenas den Weg zur friesischen Reichsgrafschaft geebnet hat. In klarer fließender Darstellung wird uns der Parteikampf in Friesland vorgeführt; mit kritischem Blick werden

die oft einander widersprechenden Berichte geprüft, besonders in den werthvollen Beilagen.

Was wir ungern vermissen, ist eine — sei es noch so allgemein gehaltene — Übersicht der früheren Beziehungen Hamburgs zu Ostfriesland, das doch seit dem 13. Jahrhundert mit der Hansastadt in Kontakt war. Jetzt hängt die Geschichte so ziemlich in der Luft, was umsomehr zu bedauern ist, weil wir für jene Zeit keine Ausführung wie die v. Bippen's für die zweite Hälfte des 15. Jahrhunderts besitzen. Unter den vom Autor benutzten Quellen suchen wir vergebens den dritten Theil der Benninge'schen Chronik, herausgegeben von Brouerius von Nidek in seinen Analecta Medii Aevi (1725), dessen Werth ich in meiner Einleitung zur Feith'schen Ausgabe der ersten zwei Theile (1887) zeigte; auch diese letzte Ausgabe ist dem Autor leider unbekannt geblieben. Hätte er diese benutzt, der „heillosen Verwirrung" der friesischen Chroniken wäre vielleicht einigermaßen zu helfen gewesen.

Aber auch so dürfen wir dem Autor dankbar sein für seinen werthvollen Beitrag zur Geschichte der politischen Entwickelung Ostfrieslands.

P. J. Blok.

Forschungen zur hamburgischen Handelsgeschichte. Von **Ernst Baasch.** I. Die Islandsfahrt der Deutschen, namentlich der Hamburger, vom 15. bis 17. Jahrhundert. Hamburg, Herold. 1889.

Die hamburgische Handelsgeschichte, dieser neue Zweig am Baume der deutschen Wirthschaftsgeschichte, beginnt sich mit jungem Grün zu schmücken. Dr. Ernst Baasch, seit kurzem Bibliothekar der hamburgischen Kommerzbibliothek und daher durch seine Stellung ganz besonders berufen, sich aktiv an der Vermehrung unserer Kenntnisse von der früheren Entwickelung des hamburgischen Handels zu betheiligen, schildert in dieser ersten seiner hoffentlich recht zahlreichen Arbeiten die Wandlungen, welchen die Handelsfahrten der Deutschen nach Island besonders seit dem 15. Jahrhunderte unterworfen waren. Die äußere Entwickelung dieser interessanten Beziehungen wird auf Grund des gedruckten, durch eigene Forschungen im hamburgischen Stadtarchive wesentlich vermehrten Materials sorgfältig dargestellt. Leider reichen die hansischen Urkundenwerke noch nicht weit genug, um den Hergang der Loslösung des direkten hamburgischen von der allgemein hansischen Islandsfahrt über Bergen genau verfolgen zu können. Indes werden unsere Kenntnisse von dieser wichtigen Ent-

wickelung durch B.'s Schrift nicht unerheblich gefördert. Warum den Königen von Norwegen die Erschwerung des hansischen Verkehres mit Island durch die Engländer willkommen sein mußte (S. 19), wäre zu begründen gewesen, namentlich nachdem auf S. 4 mit Recht scharf hervorgehoben worden war, daß der Stapel in Bergen für die norwegischen Könige nothwendig war. Damals standen eben für die Politik hinsichtlich des „Königlichen Schatzlandes" fiskalische Erwägungen durchaus im Vordergrunde. Die Engländer werden wohl höhere Abgaben gezahlt haben als die Hansen. Wie dann im 16. Jahrhunderte die merkantilistische Handelspolitik der dänischen Könige, welche die Fremden, besonders die Deutschen, ausschloß, groß wurde, hätte verdient, wesentlich tiefer begründet und ausführlicher dargestellt zu werden. Jene interessante Doppelentwickelung: Das Emporkommen der hamburgischen Islandsfahrt zum Nachtheile der übrigen Hansestädte und die Verdrängung alles Fremden durch die Dänen — ist in mancher Hinsicht geradezu typisch. Ihre Bedeutung tritt in der Schrift nicht hinreichend hervor. Wichtig und interessant ist das statistische Material, das, auf Hamburger Archivalien beruhend, den Verkehr der Hamburger mit Island gerade während der kritischen letzten Periode desselben genau verfolgen läßt. Sehr schätzenswerth sind auch die Mittheilungen über manche isländische Waaren, die hauptsächlich alten hamburgischen Handlungsbüchern entnommen sind. Nicht zu loben ist die Gewohnheit, bei Citaten aus Zeitschriften die Verfasser nicht zu nennen. Auf S. 92 ist farina mit Mehl, nicht mit Zucker zu übersetzen. Ehrenberg.

Atlas zur Geschichte Hamburgs. Auf Veranlassung der Oberschulbehörde herausgegeben von **E. H. Wichmann.** Hamburg, Herold. 1889.

Eine hübsche Sammlung theils ganz neu hergestellter, theils wenigstens berichtigter kleiner Pläne zur topographischen Geschichte Hamburgs, durchweg sauber im Maßstabe 1 : 12000 ausgeführt und von kurzen Bemerkungen begleitet. E.

Aus den Erinnerungen eines schleswig-holsteinischen Offiziers. Von **F. v. Levetzow.** I. Vorgeschichte der Erhebung der Herzogthümer Schleswig-Holstein gegen Dänemark und der Krieg 1848 bis zum Waffenstillstand von Malmoe. Erstes Heft. Schleswig, Bergas. 1890.

Zu mehreren Malen sind ganz neuerdings die schleswig-holsteinische Erhebung von 1848 und die sich unmittelbar anschließenden Ereignisse

in den Vordergrund der historischen Beachtung gerückt worden. Die Denkwürdigkeiten des Herzogs von Coburg und das Sybel'sche Werk konnten nicht umhin, diese Dinge zu berühren, und brachten über sie neue Mittheilungen; in ansehnlichem Maße geschah dies ferner schon durch den zweiten Band Schleiden's, und von der Fortsetzung seiner „Erinnerungen eines Schleswig-Holsteiners" darf eine noch weit erheblichere Vermehrung unserer Kenntnis erwartet werden. Das inzwischen von Levetzow begonnene Werk verfolgt in der Hauptsache einen apologetischen Zweck. Der Vf. hat über die mannhafte Erhebung, die er als Adjutant der schleswig-holsteinischen Kavalleriebrigade mitgemacht hat, in jüngerer Zeit viel für ihn Schmerzliches zu hören bekommen, übrigens Äußerungen, denen wohl zu viel Ehre angethan wird, wenn in ihnen der Ausdruck einer allgemeiner verbreiteten geschichtlichen Meinung erblickt und wenn darin insbesondere ein innerer, auf Kenntnis beruhender Zusammenhang mit den vor jetzt mehr als 40 Jahren während des noch andauernden Widerstandes der Herzogthümer innerhalb des preußischen Landtages über sie und ihren „Aufruhr" von damaligen extrem-monarchischen Gesichtspunkten aus gethanen Äußerungen gesucht wird. Jedenfalls hat die von ihm wahrgenommene anmaßliche Verkennung und vergessende Undankbarkeit, die eher auf Unüberlegtheit und Unklarheit, überhaupt auf die blasirte Überlegenheit eines großen Theils des jüngeren Geschlechtes zurückzuführen sein wird, dem alten Soldaten die Feder in die Hand gedrückt, mit der er noch einmal für sein engeres Vaterland, dessen ruhmreiche That und altes Recht und nebenher für die Augustenburger zu Felde zieht. Vielleicht, wie noch zu bemerken ist, hat man ihn, wenn er auf letzteres Thema kam, bei den Jüngeren nicht immer ganz richtig verstanden oder der Widerspruchsgeist ist gereizt worden. Der Vf. ist, bei aller Treue gegen die Herzogsfamilie, doch vollkommen und rückhaltlos versöhnt und auch im neuen Reiche der beste Deutsche. Sein letzter Herzenswunsch wäre, wenn Fürst Bismarck „besser informirt" (als 1849) sich bereit finden ließe, „braven, ehrenwerthen Offizieren, welche für deutsches Recht und deutsche Ehre gefochten, noch, bevor sie für immer die Augen schließen, durch sein mächtiges Wort den Makel abzunehmen, „sich an einer ganz unmotivirten Rebellion betheiligt zu haben" (S. 124). „Daß Schleswig-Holsteins Erhebung die erste Etappe war auf dem Marsche der Deutschen zu Größe und Ruhm, kann nur böswillige Mißgunst oder Unkenntnis der Geschichte leugnen, und die alten Kämpfer von damals, so nutzlos

auch ihr Blut geflossen schien, dürfen sich mit berechtigtem Stolze sagen, daß sie den ersten Grundstein zu dem großen Bau gelegt haben, welchen zu vollenden der deutsche Gott Wilhelm dem Großen unseren großen Kanzler zum treuesten Diener gab" (S. 113).

Weniger eigentlich zur Aufklärung der Leser dieser Zeitschrift soll dies alles hervorgehoben werden, als um des Vf. willen, den es vielleicht freuen wird, die Meinung ausgesprochen zu sehen, daß gerade heutzutage jeder einigermaßen Einsichtige sich leicht mit ihm verständigen wird. Was das Stoffliche anbelangt, so bringt das 1. Heft noch keine eigenen Erlebnisse, sondern schildert den Verlauf der schleswig-holstein'schen Angelegenheit bis zur Abreise der aus den Herzogthümern erschienenen Abordnung von Kopenhagen, also bis zum 24. März 1848. Seine Darlegungen, Erzählung mit vielen Erörterungen durchsetzt, erneuern den Nachweis, daß die Umstände, welche die Berufung des dänischen „Kasino"-Ministeriums begleiteten, wirkliche Revolution waren und daß die provisorische Regierung in den Herzogthümern Recht hatte, wenn sie sich als die Vertreterin des vergewaltigten König-Herzogs betrachtete. Daß er auf eine eigentliche Erweiterung der geschichtlichen Kenntnis verzichtet, erklärt der Vf. selber im Vorwort unter Hinweis auf seine vertheidigende und mahnende Hauptabsicht; dem entspricht es, wenn an langen Citaten, insbesondere aus der Droysen-Samwer'schen aktenmäßigen Geschichte, kein Mangel ist, während die Fock'schen Darlegungen hier auf's neue mancherlei Zurückweisung erfahren. Gegen die durchaus sorgsame und umsichtige Darstellung selbst ist nichts von Belang zu erinnern, nur darauf sei hingewiesen, daß der herzerquickliche Zorn des Vf. gegen alles Renegatenthum sich mit Unrecht — wie man aber erst gleichzeitig mit dem Erscheinen des Levetzow'schen Heftes durch Schleiden erfahren hat — auch gegen den Grafen Heinrich Reventlow-Criminil als vermeintlichen Mitschuldigen an dem offenen Brief vom 8. Juli 1846 richtet. Im ganzen verspricht das Werk zu ausgiebiger Orientierung wohl geeignet zu werden, und da es angenehm zu lesen ist und durch die kräftige und ehrenwerthe Gesinnung, von der das Ganze und jedes Wort bestimmt ist, noch mehr für sich einnimmt, wünscht man ihm gerne einen recht weiten Leserkreis und die bestmögliche Erfüllung seiner Absichten. Ed. Heyck.

**Mecklenburgisches Urkundenbuch.** Herausgegeben von dem Verein für mecklenburgische Geschichte und Alterthumskunde. XV. 1360—1365. Schwerin, in Kommission bei Stiller. 1890.

Der erste Bogen des vorliegenden Bandes war gerade gedruckt, als der bisherige Herausgeber dieses Werkes, der um die mecklenburgische Geschichte sehr verdiente Geh. Archivrath Dr. Wigger, starb. Das Manuskript war jedoch unter seiner Leitung und Mitwirkung schon für den ganzen Band fertig gestellt. Einstweilen trat der Archivrath Dr. Schildt an die Stelle des Herausgebers und widmete sich dieser Aufgabe bis zum 34. Bogen. Von Bogen 35 ab übernahm die Fortführung der zum Amtsnachfolger des Verstorbenen als Vorstand des großherzogl. Geheimen und Hauptarchivs aus Frankfurt a. M. nach Schwerin berufene Archivrath Dr. Grotefend als erster Sekretär des auf dem Titel genannten Vereins. Derselbe hat an der bewährten Art und Weise der Herausgabe nichts geändert. Der vorliegende Band reiht sich daher den früheren ebenbürtig an. Er umfaßt den fünfjährigen Zeitraum von 1361 bis 1365. J. Wiggers.

Die niederländischen Kolonien der Altmark. Eine quellenkritische Untersuchung. Von **Theodor Rudolph.** Berlin, Walther u. Apolant. 1889.

Die Germanisirung der Länder östlich der Elbe. Von **Georg Wendt.** II. 1137—1181. Liegnitz, Druck von O. Heinze. (Beilage zum Programm der kgl. Ritter-Akademie zu Liegnitz, Ostern 1889.)

Das Land Lebus unter den Piasten. Von **Breitenbach.** Fürstenwalde a. d. Sp., Geelhaar (B. Trebs). 1890.

Diese drei Schriften beschäftigen sich mit einem und demselben geschichtlichen Probleme, der Frage nach der Zeit und dem Verlaufe der Germanisirung der an der Elbe und Oder belegenen, einst von Slawen bewohnten Landstriche, im besonderen der später die Mark Brandenburg umfassenden Gebiete. Als ob die drei Autoren nach Verabredung sich in das Arbeitsfeld getheilt hätten, beschränkt der erste seine Untersuchungen auf die Altmark, der zweite auf die Mittelmark, Mecklenburg, Vorpommern und Rügen, und der dritte auf das Land Lebus; die Resultate ihrer mit umfassender Quellenkenntnis und umsichtiger Kritik geschriebenen Arbeiten bieten sehr schätzenswerthe Beiträge zu einer Geschichte der deutschen Kolonisation dar, welche zur Zeit der Staufer sich im heutigen nordöstlichen Deutschland vollzog.

Rudolph's quellenkritische Abhandlung ist eine sorgfältige Prüfung der geschichtlichen Überlieferung, welche sich auf die im 12. Jahrhundert erfolgte Ansiedelung von Niederländern in der Alt-

mark bezieht. Der Vf. gibt durch seine Ausführungen der schon 1815 von Wersebe vertretenen Ansicht eine bessere Begründung, daß der einzig maßgebende Berichterstatter über die niederländische Einwanderung Helmold sei, dieser aber die Zahl der Eingewanderten und die Bedeutung der niederländischen Kolonisation übertrieben habe. Die an Helmold's Bericht geübte Kritik weist in der That dessen Neigung zu Übertreibungen in mehreren Fällen nach. Seine Zahlenangaben sind daher nicht ernst zu nehmen und bedürfen in jedem Falle einer sorgfältigen Prüfung. — Nach der Kritik Helmold's und der von ihm abhängigen späteren Chronisten wendet sich der Vf. der von Adler aufgestellten baugeschichtlichen Hypothese zu, der zufolge die niederländischen Kolonisten die Ziegelbautechnik an Stelle des Feldsteinbaues in der Mark eingeführt haben sollen. Diese Hypothese schließt eine Zeitbestimmung für die niederländische Einwanderung in sich. Nach Adler soll den Ausgangspunkt für die neue Bautechnik das 1149—1159 erbaute Kloster Jerichow bilden, welches „Anfang und höchste Vollendung des Backsteinbaues" darstellt. Er verlegt demnach die Einwanderung der Niederländer in die Zeit von 1144—1148. Hiergegen wendet Rudolph ein, daß Urkunden jener Zeit wohl von einem Klosterbau in Jerichow reden, aber keinen Anhalt bieten, diese Nachricht auf die heute noch bestehende Klosterkirche zu beziehen; ferner daß 1147 der Wendenkreuzzug gerade die Gegend um Jerichow und Havelberg heimsuchte und verwüstete; und endlich, daß erst im Dezember 1150 Bischof Anselm von Havelberg von Kaiser Konrad III. die Erlaubnis erhielt, in die entvölkerten Gebiete seines Stiftes coloni ex qua gente voluerit einzuführen, so daß man von einer niederländischen Kolonisation erst seit dem Jahre 1150 reden könne. Um diese Zeit auch übernahm Albrecht der Bär Brandenburg, worauf die Heranziehung von Kolonisten auch in das Havelgebiet begann. Hinsichtlich der Nationalität der Einwanderer kommt Rudolph zu dem Resultat, daß die Mehrzahl niedersächsischen Stammes und nur der kleinere Theil Niederländer gewesen seien, welche sich im Balsamer- und Marsciner-lande und sonst sporadisch in der Mittelmark und Priegnitz niedergelassen haben. Ein beigegebenes Verzeichnis von Orts- und Personennamen zweifellos niederländischen Ursprungs bestätigt, daß nirgends eine massenhafte Einwanderung von Niederländern in die Mark stattgefunden hat.

Während Rudolph vorwiegend irrige Vorstellungen über die deutsche Kolonisation berichtigt, verfolgt Wendt den Verlauf dieser

selbst in den ostelbischen Gebieten durch Zusammenstellung zahlreicher urkundlicher und chronistischer Nachrichten. Seine Arbeit ist einfach und klar geschrieben und reich an geschichtlichem Detail und sicheren Ergebnissen. Am eingehendsten behandelt er die Kolonisation in dem brandenburgischen Gebiete. Auch er geht wie Rudolph von dem Jahre 1150 als dem Beginn derselben aus, wenngleich ihm die Jerichower Klosterkirche noch als Erweis einer früheren Besiedelung der Gegend durch die Niederländer erscheint; auch in seiner Darstellung sind Anselm und Albrecht die ersten wahren Kolonisatoren. Nach der Besiegung des polnischen Fürsten Jaczo oder Jacza reichte Albrechts Gebiet bis zur Havel und Nuthe und war persönliches Eigenthum des Markgrafen. Einzelne Bezirke überließ er dem Klerus, andere vertheilte er unter die deutschen Edelleute seines Gefolges und noch andere überließ er Unternehmern, den sog. locatores, zur Anlage von Dörfern und Besiedelung mit deutschen Bauern. Jede Dorfmark wurde nach Hufen zu 30 Morgen vermessen und jedem Ansiedler meistens eine Hufe zugetheilt, gerade so viel Land als zur Erhaltung einer Familie genügte. Nach und nach wurden die alten Einwohner des Landes aus ihrem Besitze verdrängt und zur Auswanderung nach Osten oder zur Besiedelung unfruchtbarer Landstrecken oder der Flußufer genöthigt, denn der deutsche Bauer war arbeitsamer und leistungsfähiger als der slawische. Die Geistlichen und die Edelleute bevorzugten jenen vor diesem auf ihren Gütern, weil die deutschen Arbeiter ihnen höhere Erträge sicherten. In späterer Zeit bewohnten die Slawen besondere Fischerdörfer und in den märkischen Städten die am Wasser belegenen Kietze oder Fischervorstädte unter eigenen, Pristabel genannten Vorstehern. Ganz treffend vergleicht Wendt diese den Slawen gewährten Zufluchtsorte mit den Indianer-Reservationen in der Union. Weiter schildert dann der Vf. die germanisirende Wirksamkeit der Prämonstratenser und Cisterzienser, besonders der letzteren, zu deren Aufgaben gerade die Pflege der Landwirthschaft gehörte. Jedes im Wendengebiete gegründete Cisterzienserkloster begann sofort Dörfer in seinem Gebiete anzulegen und mit deutschen Bauern zu besetzen. Im wesentlichen wird auf den von Wendt eröffneten Bahnen die Forschung fortzuschreiten haben, jedoch neben den Fürsten, Rittern, Mönchen und Bauern, welche das Wendenland germanisirten, auch der Wirksamkeit des deutschen Kaufmannes zu gedenken sein, der vor jenen bereits, wie ein Schutzbrief Kaiser Konrad's II. vom Jahre 1025 für den Handel mit den Slawen bezeugt, das Land durchzog und Wege bahnte.

Die Handelsstraßen von Magdeburg nach dem Odergebiete, später zugleich die Militärstraßen der Anhaltiner, bedingten die Anlage von Faktoreien mit deutschem Personal und von Burgen mit deutscher Besatzung an den Flußübergängen, und damit waren die Punkte gegeben, an denen sich die Städte entwickeln konnten.

Breitenbach's Abhandlung führt uns weiter nach dem Osten in das Land Lebus, eine ursprünglich polnische Besitzung, welche durch die Politik deutscher Reichsfürsten und durch Germanisirung für das deutsche Reich gewonnen worden ist. Die landschaftliche Einheit dieses Territoriums bedingte auch dessen administrative unter der Herrschaft der Piasten und dessen kirchliche unter den Lebuser Bischöfen. Damit waren die Voraussetzungen zu einer besonderen geschichtlichen Entwickelung dieses Territoriums gegeben, welche vor 60 Jahren bereits Wohlbrück in mustergültiger Weise dargestellt hat. Die neueren Forschungen auf dem Gebiete der polnischen und schlesischen Geschichte und die Erschließung neuer Quellen haben Breitenbach die Mittel geboten, die ältere Geschichte von Lebus bis zum Jahre 1250 einer Neubearbeitung zu unterziehen, welche für diese Periode Wohlbrück's Arbeit weit überholt hat. Land und Leute, die Herrschaft der polnischen und schlesischen Piasten über Lebus, die Kämpfe der Deutschen mit den Polen in und um Lebus sind eingehend und übersichtlich geschildert; aber in der minutiösen Darstellung dieser Dinge liegt der Werth von Breitenbach's Arbeit nicht allein. Der Vf. hat vielmehr die wichtige Frage in den Mittelpunkt derselben gestellt, wie und wann das Land Lebus an das Erzstift Magdeburg und an die Markgrafen von Brandenburg gekommen ist, und eine sehr beachtenswerthe Lösung gefunden. Seine Untersuchung greift auf das Jahr 965 zurück, in welchem Polen christlich und ein deutsches Lehnreich und das Bisthum Posen dem Erzbischofe von Magdeburg unterstellt wurde. Als im Jahre 1000 Otto III. das Erzbisthum Gnesen mit den Suffraganbisthümern Krakau, Breslau und Kolberg in's Leben rief, wurde Posen auf das westliche Polen beschränkt. Unter Boleslaw III. (1102—1138) wird zuerst ein von dem Posener Sprengel abgetrenntes Bisthum Lebus erwähnt, welches Innocenz II. 1136 trotz aller Gegenvorstellungen des Erzbischofs von Magdeburg dem Erzbisthum Gnesen zuwies. Die Ansprüche Magdeburgs daran ruhten fortan, aber sie waren nicht aufgegeben. Im Anfange des nächsten Jahrhunderts machte sie Albrecht von Magdeburg von neuem geltend, und um 1207 schenkte ihm Philipp von Schwaben Bisthum, Schloß und Stadt Lebus.

Friedrich II. bestätigte ihm diese Schenkung 1226. Die thatsächliche Besitzergreifung aber bahnte erst Erzbischof Wilbrand an. Boleslaw der Kahle, ein Sohn des 1241 bei Liegnitz gefallenen Heinrich des Frommen, von seinem Bruder Heinrich III. bedrängt, rief die Hülfe des Erzbischofs Wilbrand an, indem er ihm am 20. April 1249 die eine Hälfte von Lebus zum Eigenthum überließ und die andere von ihm als Lehen übernahm. Heinrich von Breslau verband sich darauf mit Heinrich dem Erlauchten von Meißen. Wilbrand mußte daher einem schweren Kampfe mit dem letzteren entgegensehen und seinerseits wiederum Bundesgenossen suchen, zumal da Boleslaw ein charakterloser, untüchtiger Fürst war. Er fand dieselben in den Markgrafen von Brandenburg, mit denen er sich zu einer gemeinsamen Besetzung und zu einer Theilung des Landes Lebus verbündete. Eine Urkunde vom 12. März 1252 bezeugt die vollzogene Thatsache, und am 12. Juli 1253 schon gründeten die Markgrafen, um sich den wichtigsten Oderpaß des Landes zu sichern, die Stadt Frankfurt. Inzwischen war auch bereits die Besiedlung des lebusischen Gebietes durch deutsche Kolonisten erfolgt, welche der Vf. eingehend und mit genauer Ortskenntnis in einem besonderen Kapitel S. 112—132 dargestellt hat. Sie erst sicherte durch Germanisirung der vorhandenen spärlichen slawischen Bevölkerung dem deutschen Volke für die Zukunft den Besitz des neuerworbenen Landes. Die politische Herrschaft darin aber mußte einst ausschließlich den Markgrafen zufallen, da es den geographischen Verhältnissen nach eine Angliederung der Mark bildete.

J. Heidemann.

Übersicht der Geschichte des souveränen ritterlichen Ordens St. Johannis vom Spital zu Jerusalem und der Balley Brandenburg. Von **Freiherrn v. Finck.** Leipzig, Duncker u. Humblot. 1890.

Wie der Titel des Buches besagt, will dasselbe keine eingehende Geschichte des Johanniter-Ordens geben, sondern nur die Hauptmomente derselben dem Leser vorführen. Auf den ersten 24 Seiten sind daher die wichtigsten Ereignisse aus der Ordensgeschichte in Regestenform zusammengestellt. Ihnen folgt S. 35—56 ein Namensverzeichnis der Herrenmeister und Kommendatoren der Balley Brandenburg, und diesem ein Abschnitt, der sich über die inneren Organisationen und die Finanzen des Ordens verbreitet. Es folgen dann Ordensstatuten und Urkunden, die letzteren zum größten Theile sich auf die Balley Brandenburg beziehend. Wir finden hier das Edikt

König Friedrich Wilhelm's III. vom 30. Oktober 1810, durch welches die Balley aufgehoben und deren Güter eingezogen wurden; ferner die Kabinetsordre Friedrich Wilhelm's IV. vom 15. Oktober 1852, betreffend die Wiederherstellung des Ordens zum Zwecke der Krankenpflege; sodann die Ansprache des Herrenmeisters Prinzen Albrecht von Preußen an die Ordensmitglieder vom 26. Juni 1883 und endlich die in Sonnenburg am 23. August 1888 gehaltenen Reden Kaiser Wilhelm's II. — Das Werk beruht nicht auf selbständigen Forschungen, erfüllt aber in vollem Maße durch eine übersichtliche Gruppirung des Stoffes den Zweck eines Nachschlagebuches zur schnellen Orientirung für diejenigen, welchen die größeren Werke über den Johanniter-Orden von Beckmann, Herrlich und Winterfeld nicht zur Hand sind. An einzelnen Stellen wären Quellennachweise erwünscht, wie S. 17 für die Mittheilung, daß der Orden Ludwig XVI. von Frankreich zur Flucht nach Varennes 1½ Millionen Livres geliehen habe; an anderen Stellen bedürfte der Ausdruck noch der Feilung.

J. Heidemann.

Acta Nicolai Gramis. Urkunden und Aktenstücke, betreffend die Beziehungen Schlesiens zum Basler Konzil. Namens des Vereins für Geschichte und Alterthumskunde Schlesiens herausgegeben von **Wilh. Altmann.** Breslau, Jos. Max & Komp. 1890.

A. u. d. T.: Codex diplomaticus Silesiae. XV.

Für die Antheilnahme Schlesiens an den Reformbestrebungen des Basler Konzils gibt die Publikation wenig Auskunft. Sie handelt wesentlich von dem Schicksal der Gelder, die der zum Einsammeln des für die Zurückführung der Griechen in die Gemeinschaft der abendländischen Kirche ausgeschriebenen Ablasses vom Konzil eingesetzte Breslauer Dompropst Nicolaus Gramis eingenommen hat. Einerseits hat Gramis das Geld schlecht verwaltet, andrerseits entstand nach der Spaltung zwischen Eugen IV. und dem Konzil Streit über die Verwendung desselben. Bischof Konrad, der sich früh für Eugen IV. entschied, hielt das Geld an, zog Gramis zur Verantwortung und setzte ihn gefangen. Aus dieser Haft entkommen, fand er in Basel ein ähnliches Schicksal. Dafür ließ er durch ritterliche Freunde den Bischof befehden. Was er nach Verlust seiner Würden für ein Ende genommen hat, ist unbekannt. Für die schlesische Kulturgeschichte ist der Stoff nach verschiedenen Seiten hin interessant, man vergleiche die Einleitung, die auch über die Herkunft und die Art des Materials

sorgfältige Angaben macht. Für die Edition hat der Herausgeber die Grundsätze seines Lehrers Weizsäcker umsichtig zur Anwendung gebracht, die ganze Arbeit zeigt eine peinliche Gewissenhaftigkeit, auch die äußere Herstellung eine gefällige Sauberkeit. **Mkgf.**

Schlesien unter Friedrich dem Großen. Von **C. Grünhagen.** I. 1740 bis 1765. Breslau, W. Köbner. 1890.

Zwar nicht in seiner äußeren Erscheinung, doch inhaltlich ist das Buch eine Fortsetzung der 1884/86 in der Perthes'schen Sammlung erschienenen Geschichte Schlesiens, die Bd. 54 und 57 besprochen ist. Daß es breiter und ausführlicher angelegt ist, rechtfertigt sich durch die Bedeutung, die der zur Darstellung gebrachte Zeitraum für Schlesien gehabt hat. Führte doch die gewaltsame Ablösung von Böhmen das Land zu Vereinigung mit einem Staatswesen, das dem früheren in jeder Beziehung unähnlich war und das dementsprechend die sonst zu einem ruhigen, mehr innerlichen Leben, allenfalls zu passivem Heldenmuthe geneigte Bevölkerung gewaltsamer aufregte, als irgend ein Ereignis ihrer Geschichte. Um so dankbarer aber ist die Darstellung dieses Zeitraumes, als der eintretende Wechsel sich doch nach allen Richtungen hin als ein in die Augen fallender Fortschritt für Land und Volk bekundet. Daß dieser Fortschritt nicht aus der Initiative der Schlesier selbst sich vollzog, sondern durch den Willen eines genialen Herrschers ihnen aufgenöthigt wurde, könnte das Interesse mindern, wenn dasselbe nicht andrerseits vollauf Gelegenheit hätte, sich an der gewaltigen Thatkraft zu sättigen, mit welcher der junge Herrscher im Kriege wie im Frieden alles nach seinem Willen lenkte. Doch hat der Vf. sich nicht versucht gefühlt, den König mehr als nöthig in den Vordergrund zu rücken, er hält mit der Umsicht eines erfahrenen Schriftstellers an der Aufgabe, nur eine Geschichte Schlesiens zu schreiben, fest, sowohl in den beiden ersten Büchern, welche die beiden um das Land geführten Kriege behandeln, wie in dem dritten, welches die Einrichtung der preußischen Herrschaft im Lande bis zum Ausbruch des Siebenjährigen Krieges zusammenhängend darstellt. Die Kriegsereignisse werden nur insoweit erzählt, als sie sich auf schlesischem Boden abspielen oder von unmittelbarer Bedeutung für dessen Bewohner sind; diesem Interesse wird dann durch die Aufnahme mancher Vorkommnisse von nur lokaler Bedeutung Rechnung getragen, die wieder die Kriegsgeschichte bisher übergangen hat und die nur dem langjährigen Vorsteher des Landesarchivs bekannt

geworden sind. Ganz besonders kommt die amtliche Stellung und Praxis dem Verfasser für den dritten Abschnitt zu statten, der die Einrichtung der preußischen Herrschaft in der eroberten Provinz, ganz nach des Königs eigensten Gedanken, durchgängig auf Grund originaler Quellen, größtentheils der Akten des schlesischen Staatsarchivs darstellt. Auch wer sonst eben kein Interesse am schlesischen Lande nimmt, wird dieses dritte Buch, zumal in der anregenden Schreibweise des Vf., mit der Theilnahme lesen, die Friedrich's Regententhätigkeit, von jedem patriotischen Interesse abgesehen, beansprucht. Daß die Schlesier dieser Thätigkeit mit gemischten Gefühlen gegenüberstanden, verschweigt der Vf. nicht; es ist hervorzuheben, daß er die Stimmung, mit der seine Landsleute die preußische Herrschaft aufgenommen und wie sie sich in dieselbe hineingelebt haben, ebenso eifrig wie unparteiisch beobachtet hat; er betrachtet alle Kreise der Bevölkerung, die Stände und die Religionsparteien darauf hin, belauscht jede Regung und verzeichnet jede Äußerung. Im ganzen von der schlesischen Bevölkerung passiv empfangen[1]), hat Friedrich der Große sich dieselbe ebenso wie das Land erst unterwerfen müssen, aber der gänzliche Mangel an Sympathien für die österreichische Regierung erleichterte ihm das eben so sehr wie der Zauber seiner eigenen Persönlichkeit. Schon im zweiten Kriege bestand nach des Vf. Darstellung die Anhänglichkeit an das neue Regiment eine Probe, mit welcher der König wohl zufrieden sein konnte. Die folgenden elf Friedensjahre vollendeten die Umwandlung Schlesiens in eine preußische Provinz. Mkgf.

Samaiten und der Deutsche Orden bis zum Frieden am Melno-See. Von **Robert Krumbholtz.** Königsberg i. Pr., F. Beyer. 1890.

Der Vf. handelt von den Beziehungen des Deutschen Ordens zu der litthauischen Landschaft Samaiten, welche vermöge ihrer Lage zwischen Kurland und Preußen, sowie ihres starren Festhaltens am Heidenthum anderthalb Jahrhunderte lang ein Ziel seiner Eroberungspolitik bildete und, nachdem sie kurze Zeit unter der Herrschaft der Ordensritter gestanden hatte, im Jahre 1409 für immer sich von derselben befreite. Er schließt seine Arbeit ab mit dem Frieden vom Melno-See (1422), in welchem der Hochmeister seine Ansprüche auf

[1]) Das kann man von dem evangelischen Theile der Bevölkerung sicher nicht sagen. A. d. R.

Samaiten endgültig aufgab. Die Darstellung ist geschickt, das Urtheil des Vf. meistens zutreffend; leider aber macht sich mehrfach eine gewisse Flüchtigkeit bemerkbar. Ich denke dabei nicht so sehr an stilistische Unebenheiten und Druck- oder Schreibfehler, welche nicht ganz vereinzelt vorkommen, als an eine Reihe von Irrthümern, welche der Vf. bei gründlicher Prüfung seiner Niederschrift und sorgfältigem Vergleich derselben mit den Quellen der Mehrzahl nach wohl hätte vermeiden können. Ein Beispiel genüge. S. 112 wundert sich der Vf. darüber, daß in der Friedensurkunde von Sallyn-Werder (Bunge IV Nr. 1479) Samaiten nicht genannt werde, und meint, Witold habe es damals einfach zu terrae nostrae gerechnet, über die er als supremus dux Litwaniae Verfügung beanspruchte, die er deshalb auch nach seinem Belieben verkleinern konnte. Nach dem Wortlaute der Urkunde rechnete Witold Samaiten ganz zweifellos zum Gebiete des Ordens; denn die Nawese, welche Samaiten nach Osten hin begrenzt, sollte die Grenze bilden zwischen Witold's und des Ordens Landen, inter nostras et eiusdem ordinis terras. Panzer.

Geschichte des Kammergerichts in Brandenburg-Preußen. Von **Friedrich Holtze**. I. Berlin, F. Vahlen. 1890.

A. u. d. T.: Beiträge zur brandenburg-preußischen Rechtsgeschichte. I.

Die Geschichte des Kammergerichts zu Berlin, des obersten und zugleich ältesten Gerichtshofes des preußischen Staates ist oft zu schreiben versucht worden, ohne daß diese Versuche bisher zu einem befriedigenden Abschlusse gelangt wären. Bereits 1660 verfaßte der Kammergerichtsrath Martin Friedrich v. Seidel eine Brevis historiola camerae electoralis Brandenburgicae, die trotz ihres geringen Umfanges eine Reihe noch heute bemerkenswerther Notizen enthält. G. W. v. Raumer's Codex diplomaticus Brandenburgensis continuatus (1831, 1833) veranlaßte dann den Vizepräsidenten des Obertribunals Heinrich Gottlieb Köhler zu einer Darstellung der Geschichte der älteren märkischen Gerichtsverfassung und der höchsten preußischen Gerichtshöfe. Das Manuskript des unvollendet gebliebenen Werkes, welches bis zur Regierungszeit Joachim's II. geht, wird noch heute in drei Foliobänden auf der Kammergerichtsbibliothek zu Berlin aufbewahrt. Nachdem Heinrich v. Strampff 1846 Präsident des Kammergerichts geworden war, faßte dieser den Plan zu einer umfangreichen Geschichte des Gerichtshofes und setzte sich zu diesem Zwecke mit den damaligen Privatdozenten Kühns und Baron, sowie mit dem Gerichts-

assessor v. Horn in Verbindung. Kühns sollte die älteste Zeit, Baron die Periode vom Eindringen des römischen Rechts bis zum Tode des großen Kurfürsten, v. Horn das 18. Jahrhundert behandeln, während sich v. Strampff die neueste Zeit und die Redaktion des ganzen Werkes vorbehielt. Die Arbeit von Kühns erschien als besonderes Werk unter dem Titel: „Geschichte der Gerichtsverfassung und des Prozesses in der Mark Brandenburg vom X. bis zum Ablaufe des XV. Jahrhunderts (2 Bände, 1860/67)." Damit gerieth jedoch das begonnene Unternehmen in's Stocken. Insbesondere haben Baron und v. Horn von ihren Arbeiten nichts veröffentlicht.

Demgemäß beauftragte vor einigen Jahren der damalige Präsident des Kammergerichtes, v. Oehlschläger, den Vf. mit der Bearbeitung einer Geschichte des Gerichtshofes. Der Vf. hat dabei seinem Arbeitsplane engere Grenzen ziehen können, als es die Strampff'sche Kommission beabsichtigte, da die Geschichte der brandenburg-preußischen Justizorganisation überhaupt, welche die Kommission mit hineinziehen wollte, erst vor kurzem eine Bearbeitung in dem Werke von Stölzel, „Brandenburg-Preußens Rechtsverwaltung und Rechtsverfassung", gefunden hat.

Der Vf. gedenkt sein Thema in vier Theilen zu behandeln, von denen der erste, gegenwärtig vorliegende, die Entwickelung bis 1540, der zweite bis zum Regierungsantritte Friedrich's des Großen, der dritte bis 1848, der vierte bis zur neuesten Zeit zum Gegenstande haben soll.

Der 1. Band beginnt mit der Begründung des märkischen Staatswesens und schließt ab mit der Kammergerichtsreformation von 1540. Es ist dabei besonders anerkennend hervorzuheben, daß der Vf. den Gerichtshof nicht als ein einzelnes isolirtes Institut, sondern innerhalb des Rahmens der märkischen Gerichtsverfassung überhaupt und diese auf der Grundlage der allgemeinen Geschichte der Mark während des betreffenden Zeitraumes darzustellen unternimmt. An eine politische Übersicht der märkischen Geschichte bis 1540 als Einleitung schließt sich daher als 1. Abschnitt eine Schilderung der märkischen Gerichtsverfassung bis auf Kurfürst Friedrich II., worauf die beiden letzten Abschnitte das aus dieser Gerichtsverfassung herausgewachsene Kammergericht unter Friedrich II. und seinen Nachfolgern bis 1540 behandeln. Einige wichtige, bisher ungedruckte Urkunden sind in die Anlagen verwiesen.

Den Ergebnissen, zu denen der Vf. dabei hinsichtlich der märkischen Geschichte und Gerichtsverfassung gelangt ist, kann jedoch nur in sehr beschränktem Maße beigepflichtet werden. Erst in den beiden letzten Abschnitten steht er wieder auf festerem Boden. Eine kurze Hervorhebung der wichtigsten Punkte wird das Bedenkliche der Auffassungen des Vf. ergeben.

In der allgemeinen geschichtlichen Übersicht geht der Vf. (S. 6) entgegen der bisher herrschenden Ansicht, daß die Kolonisation des Ostens vorzugsweise durch freie Bauergemeinden erfolgt sei, davon aus, daß der Markgraf große Latifundien für ritterliche Herren gebildet habe, auf denen diese dann Bauern ansetzten. Nur auf seinen Domänen soll der Markgraf im Interesse der Rentabilität derselben freie Bauerschaften angesiedelt haben (S. 8). Eine nähere urkundliche oder sonstige Rechtfertigung dieser Behauptung wäre wohl zu erwarten gewesen. Indes kann man darüber hinweggehen, da eine völlig einwandfreie Geschichte der märkischen Kolonisation bei der Dürftigkeit der Quellen sich schwerlich jemals geben läßt. Positiv falsch ist es aber, wenn der Vf. (S. 8) weiter behauptet, die Hintersassen der ritterlichen Herren seien zum Kriegsdienste verpflichtet und für diesen auf den Gütern durch einen kleinen Stamm tüchtiger Unteroffiziere (!) ausgebildet worden. Die märkische Bauerschaft der askanischen Zeit hat nachweisbar nur Wachdienste, sowie Hand- und Spanndienste im militärischen Interesse geleistet, wofür es keiner besonderen Ausbildung bedurfte. Zum wirklichen Kriegsdienste wurde sie, wie dies auch die gesammte damalige Heeresverfassung ohne weiteres ergibt, nicht herangezogen. Die nicht unmittelbar unter dem Markgrafen stehenden Bauern hatten aber überhaupt keine militärischen Dienste zu leisten. Die Charakterisirung des Burggrafen als „markgräflicher Lieutenant" (S. 11) dürfte nicht ausreichen, gerade seine für die Gerichtsverfassung wichtige nicht militärische Stellung wird dabei übergangen. Daß es beim Tode Albrecht's des Bären schon Sitte gewesen sei, Fürstenthümer wie Privateigen zu vererben (S. 12), ist unrichtig. Aus den bei H. Schulze 'Recht der Erstgeburt in den deutschen Fürstenhäusern' angeführten Beispielen ergibt sich im Gegentheile, daß zu jener Zeit nur verschiedene Fahnenlehen, wie z. B. die Mark und Anhalt, unter mehrere Erben vertheilt werden konnten, niemals aber ein einzelnes Fahnenlehen. Von einer erbrechtlichen Behandlung der Fürstenthümer wie Privateigen ist also damals noch nicht die Rede. Wie so die Finanzpolitik Albrecht Achill's, welche

bekanntlich die Einführung einer indirekten Besteuerung (Bierziese) bezweckte, nachtheilig gewesen sei (S. 34), ist nicht recht einzusehen. Vielmehr konnte nur das indirekte Steuersystem dem Landesherrn eine zunächst relative, dann vollständige Unabhängigkeit von den Ständen sichern. Ein Nachtheil war das höchstens für die ständische Libertät, aber weder für die politische Machtstellung des Landesherrn noch für die volkswirthschaftliche Entwickelung. Die Ansicht, daß die Landestheilung nach dem Tode Joachim's I. mit den Bestimmungen der Achillea vereinbar gewesen sei, da diese nur die Anwendung der Vorschriften der goldenen Bulle auf das Haus Hohenzollern zum Inhalte gehabt habe, stellt wohl der Vf. (S. 37) zuerst auf. Allerdings gehörten Neumark, Krossen ꝛc. nicht zu den Kurlanden und waren deshalb durch das Theilungsverbot der goldenen Bulle nicht betroffen. Allein die Achillea, bekanntlich erlassen nach Wiedererwerb der Neumark, wiederholt nicht bloß den Inhalt der goldenen Bulle, sondern verbietet mit klaren Worten jede Theilung der außerfränkischen Lande.

Noch erheblicher sind die Bedenken, welche gegen die gesammte Darstellung der älteren Gerichtsverfassung erhoben werden müssen.

Zunächst gab es in der Altmark keine Grafen, über denen der Markgraf in der Stellung eines Herzogs gestanden hätte (S. 45), sondern bloß Vizegrafen, welche die dem Markgrafen selbst zustehenden Grafschaftsrechte als seine erblichen Vertreter wahrzunehmen hatten. Damit fallen die gesammten Ausführungen des Vf. über die markgräfliche Stellung in den westlichen Landestheilen in sich zusammen. Die Schilderung der burggräflichen Jurisdiktion als einer allgemeinen über einen größeren Bezirk (S. 48) findet in den Quellen keine Begründung. Aus diesen kennen wir die zwei oder drei märkischen Burggrafen lediglich als Stadtrichter. Daß an der Spitze der Dorfschaft und des Dorfgerichtes ein von der Bauerschaft gewählter Vertreter gestanden habe, folgert der Vf. (S. 50) aus Ssp. II, 55. Allein der dort erwähnte Bauermeister Niedersachsens hat im Osten niemals Eingang gefunden. In der älteren Zeit gibt es hier nur erbliche Lehnschulzen. Weiter erscheint auch die Stellung der Vögte (S. 57) nicht richtig aufgefaßt. Daß sie vorzugsweise Domänenbeamte gewesen seien, trifft für das 14. und 15. Jahrhundert zu, nachdem die Gutsherren die obrigkeitliche Gewalt auf dem flachen Lande allgemein an sich gerissen hatten, aber sicher nicht für die ältere askanische Zeit. Da sie damals über den Schulzen die einzigen Obrigkeiten des flachen Landes waren, so kann das Schwergewicht ihrer Thätigkeit nur in

der Wahrnehmung der staatlichen Aufgaben im mittelalterlichen Sinne, d. h. des Rechtsschutzes, bestanden haben. Aus dieser Grundauffassung des Vf. über die Stellung der Vögte ergeben sich dann die allerseltsamsten Konsequenzen. Das im Landbuche Karl's IV. erwähnte Judicium advocatorum, in dem der Vf. (S. 60) das Gericht des Vogtes sieht, während es nur ein provinzielles Hofgericht sein kann, soll es allein mit der Entscheidung über landesherrliche Steuern und Abgaben zu thun gehabt haben; also ein reines Verwaltungsgericht nach Art des Conseil de préfecture, von dem leider keine sonstige Quelle etwas weiß. Daß das Judicium injuriarum des Landbuches für den Nachfolger der burggräflichen Gerichtsbarkeit erklärt wird (S. 61), hängt eng zusammen mit der bereits erwähnten unhaltbaren Auffassung von der burggräflichen Jurisdiktion überhaupt. Für das wirkliche Vogteigericht, das Judicium supremum, bleibt dann natürlich kein Platz, und es soll unter dem Judicium supremum lediglich der landesherrliche Antheil an den Einkünften der Ortsgerichte verstanden werden (S. 69).

Ein näheres Eingehen auf die wirkliche Bedeutung der einzelnen Gerichtsinstitutionen ist an dieser Stelle ausgeschlossen. Es kann nur auf die vom Ref. im 1. Bande der Geschichte des preußischen Verwaltungsrechtes gegebene ausführliche Darstellung der märkischen Gerichtsverfassung, welche dem Vf. leider unbekannt geblieben ist, verwiesen werden. Soviel dürfte sich jedenfalls aus den angeführten Thatsachen ergeben, daß die Darstellung des Vf. von der älteren Gerichtsverfassung eine verfehlte ist, ein Ergebnis, welches bei gründlicherer Benutzung der Quellen und der sehr reichhaltigen Literatur, welche außer dem Werke von Kühns noch vorhanden ist, jedenfalls vermieden worden wäre.

Für die beiden letzten Abschnitte fußt dagegen der Vf. auf einem reichen archivalischen Materiale, und hier sind denn auch die von ihm gewonnenen Resultate wesentlich andere.

Der 3. Abschnitt behandelt die Geschichte des Kammergerichtes unter Joachim I. und zwar vorzugsweise im Anschlusse an den Entwurf einer Kammergerichtsordnung von 1516, der 4. Abschnitt die Reformation des Kammergerichtes vom 8. März 1540. Die Entwickelungsstadien beider Gesetzgebungsarbeiten und ihre Bedeutung für die Stellung des Kammergerichtes werden hier zum erstenmale vollständig klar gelegt. Daß es unter Joachim I. nicht bei dem bloßen Entwurfe geblieben, sondern thatsächlich etwas für die

Umgestaltung des Kammergerichtes geschehen ist, folgert der Vf. mit Recht aus dem Eingange der Reformation von 1540, welches auf die im 26. Jahre von Joachim I. vorgenommene Besserung verweist. Allein auf ein 1526 erlassenes Gesetz, welches spurlos verloren gegangen ist, braucht man deshalb nicht zu schließen. Näher liegt wohl die Vermuthung, daß „26" aus „16" verdruckt sei, und man den Entwurf von 1516 vorläufig zur Anwendung gebracht habe.

In den folgenden Theilen, für welche das urkundliche Material noch reichlicher vorhanden ist, darf daher wohl einer wirklichen Bereicherung der preußischen Rechtsgeschichte durch die Geschichte des obersten preußischen Gerichtshofes entgegengesehen werden.

Conrad Bornhak.

Der Große Kurfürst in der Dichtung. Von **Eduard Belling.** Berlin, Brachvogel u. Ranft. 1888.

Für den Historiker von unmittelbarem Werth ist der Anhang des Buches, eine aus den Beständen der Berliner königlichen und der Königsberger Universitätsbibliothek, sowie des Hohenzollernmuseums gewonnene Übersicht von Dichtungen, die Friedrich Wilhelm bei Lebzeiten und seitdem huldigend, in Vers und Prosa erzählend, oder in dramatischer Form zum Gegenstande genommen haben. Sie folgt demselben Anordnungsprincip, das auch den Haupttheil des Buches, die Auswahl aus jenen Dichtungen, regiert: nämlich dem nach Lebensabschnitten des Helden, wobei also zeitgenössische und moderne Erzeugnisse durcheinander gestellt werden mußten. Die Einleitung verfolgt auf anderem Wege dasselbe Ziel, wie die Anthologie selbst: sie verflicht erzählend, ergänzend und erläuternd jene ausgehobenen Gedichte und Stellen zu einem Gesammtbilde des Kurfürsten. Strengere Gesichtspunkte bei Anlage und Einführung walten zu lassen, war wohl ebenso wenig beabsichtigt, als Kodifikation, erschöpfende Bibliographie und Vollständigkeit der Titel. Im ganzen bietet das kleine Gelegenheitsbuch der Jugend und einem verwandten Leserkreise mancherlei Anregung und eine durchaus sympathische Führung. Dafür kann ja der Herausgeber nichts, daß ihm (wenn man die vier Namen H. v. Kleist, Alexis, Fontane und Putlitz mit Nachdruck ausnimmt) auf seinem schmalen Pfade die Musen und Grazien weder in der Mark noch — Ännchen von Tharau möge es verzeihen — im Herzogthum Preußen recht haben begegnen wollen. Ed. H.

Friedrich Wilhelm Freiherr v. Seydlitz. Von **E. Buxbaum**. Neue Auflage. Rathenow, Babenzien. 1890.

Die vorliegende Schrift war zuerst anonym im Jahre 1882 erschienen; ihr Vf. ist, wie sich nunmehr ergibt, ein baierischer Kavallerieoffizier. Er hat sein Buch, das klar und mit Frische geschrieben ist, „der deutschen Reiterei" gewidmet; warme Begeisterung für Seydlitz, für König Friedrich und für das preußische Herr durchzieht die ganze Arbeit. Des Vf. Kenntnisse auf militärischem Gebiete, insbesondere auf dem Gebiete des Kavalleriewesens setzen ihn in Stand, die großen Verdienste, die sich Seydlitz, wie kein zweiter, um die Ausbildung der preußischen Reiterei erworben hat, mit vollem Verständnis zu würdigen und anschaulich zur Darstellung zu bringen. Auch muß hervorgehoben und rühmend anerkannt werden, daß B., nicht ohne Erfolg, sich bemüht zeigt, von dem Charakterbild des großen Reiterführers so manche entstellende und falsche Züge zu entfernen, die in der landläufigen Tradition ihm angehängt worden sind. Als eine erschöpfende Biographie von Seydlitz kann jedoch das vorliegende Buch keineswegs betrachtet werden, als eine solche hat es auch der Vf. wohl nicht ansehen wollen. Bei einem abschließenden Werke würde man schärfere und mehr methodische Durchforschung und Kritik der Quellen verlangen müssen und vor allem auch eine größere Vertrautheit mit dem archivalischen Material und mit der gedruckten historischen Literatur fordern.

Mehrere wichtige historische Arbeiten und neuere Publikationen, wie die Korrespondenz Friedrich's II., die für Seydlitz' Leben manche sehr beachtenswerthe Beiträge liefern, sind dem Vf., wie es scheint, ganz unbekannt geblieben. Daher begegnen bei B. zuweilen Anschauungen, die längst als unrichtig erwiesen sind, so z. B. S. 43 die Auffassung der Schlacht bei Prag: „sie würde den ganzen Krieg beendet, die politische Lage von Deutschland umgestaltet haben, wenn nicht ein paar elende Pontons (bei den Truppen unter Seydlitz) gefehlt und das Los so vieler Nationen bestimmt hätten". Auch die ungedruckten Briefe und Berichte von Seydlitz z. B. im Berliner Staatsarchiv sind von B. nicht herangezogen worden.

A. Naudé.

Inventaire sommaire des documents relatifs à l'histoire de Suisse conservés dans les archives et bibliothèques de Paris et spécialement de la correspondance échangée entre les ambassadeurs de France aux Ligues et leur gouvernement. Par **Edouard Rott.** Publié par ordre du Haut Conseil fédéral suisse. I—III. Berne, Imprim. S. Collin. 1882—1888.

Neben der Vollendung des Werkes der Amtlichen Sammlung der älteren eidgenössischen Abschiede, sammt dessen Fortsetzungen (H. Z. 65, 541 ff.), nahmen die schweizerischen Bundesbehörden auch die Aufgabe an die Hand, die Beziehungen der Eidgenossenschaft zu den wichtigsten für die schweizerische Geschichte in Betracht fallenden europäischen Staaten aus den fremden Archiven zu beleuchten. Der Anfang wurde mit Frankreich gemacht, und der Verfasser des Werkes Henri IV., les Suisses et la Haute Italie, la lutte pour les Alpes [1598—1610], (Paris 1882), und Herausgeber von Aktenstücken über die gleiche Zeit unter dem Titel: Méry de Vic et Padavino, in Bd. 4 der Quellen zur Schweizergeschichte, 1881 (H. Z. 60, 137 u. 138), ein Neuenburger von Geburt, welcher aber durch langen Aufenthalt in Paris die dortigen Verhältnisse genau kennt, wurde mit der Aufgabe betraut, in den französischen Archiven und Bibliotheken in dieser Hinsicht Nachforschungen anzustellen. Die Frucht davon liegt bisher in den drei stattlichen Bänden vor, welche von 1444 bis 1610, von da bis 1648, wieder von da bis 1684 reichen. Aber neben dem Druck dieses Repertoriums schreiten die Kopiaturen fort, welche in Paris für das eidgenössische Archiv gemacht werden, und aus deren Anordnung das Unternehmen des Inventaire überhaupt entstand. Eine Denkschrift des Leiters dieser wieder in erster Linie vom Bundesarchivar Dr. Kaiser angeregten Arbeit, von Ed. Rott selbst, 1882 an Bundesrath Schenk gerichtet, als S. 1—15 dem Bd. 1 vorangestellt, verbreitet sich über den Zweck, die Quellen und die Anordnung der Arbeit zunächst bis zum Todesjahr Heinrich's IV.

In chronologischer Reihenfolge, rubrizirt nach den Namen der diplomatischen Vertreter bei den eidgenössischen Orten und den rätischen Bünden, werden die Akten nach Schreiber und Empfänger, mit der Verweisung auf die Nummer der Sammlung, der sie enthoben sind, mitunter mit einer Andeutung über den Inhalt oder mit Angabe der Anfangsworte des Schreibens, vorgelegt. Bd. 1 allein enthält die Aufzählung von etwa 8000 Stücken, unter denen 400 bis 500 wegen des Fehlens von Datum oder Unterschrift eine Einzeluntersuchung

zum Behufe der Einordnung erforderten. Eine Reihe von Anhängen faßt Spezialrubriken, abermals jede Reihe chronologisch geordnet, zusammen, wie die Korrespondenz der Könige und Minister mit den Schweizer Regierungen, die Instruktionen und Vollmachtsertheilungen an die Gesandten, Allianztraktate und anderweitige Verträge, Aushebungen und militärische Angelegenheiten, Pensionen und finanzielle Fragen überhaupt, Geschäfte, die sich auf einzelne Gebiete — Genf, Neuchatel, Graubünden, Wallis, Franche-Comté — beziehen. Außerdem ist in Bd. 2 je ein Abschnitt: Ire Armée de Valteline 1624—1627, und IIme Armée de Valteline (unter dem Herzog von Rohan) 1635—1637, S. 105 ff., S. 286 ff., zwischen die auf die Schweiz und Graubünden bezügliche Reihe eingeschoben, und von S. 429 an folgt, mit 1620 beginnend, ein besonderer weiterer Anhang betreffend Veltlin, von S. 499 an ein kürzerer betreffend Johann Ludwig v. Erlach (H. Z. 47, 85—87, 51, 275—277), über die Jahre 1634 bis 1649. Jeden Band schließt ein Inventaire des manuscrits qui ont été consultés ab: die Nationalbibliothek, die Archive des auswärtigen und des Kriegsministeriums stehen jedes Mal voran.

Wenn auch für die Benutzung des ganzen Werkes als solche nicht sehr bequem, aber ein Zeugnis des fortgesetzten eifrigen Sammlerfleißes sind die zahlreichen Nachträge, welche in Bd. 2 für diesen selbst 19, für Bd. 1 56 Seiten füllen. In Bd. 3 erstrecken sich von S. 631 an über nahezu ein Fünftel des Bandes diese Additions und Documents, in welchen besonders auch das 15. Jahrhundert ergänzt wird (darunter sind, S. 659—680, Aktenstücke, die sich auf die Neutralität der Franche-Comté beziehen). Doch verspricht der Herausgeber im Vorworte, später durch eine eingehende alphabetische Übersichtstafel die Orientirung in diesen Nachträgen zu erleichtern.

M. v. K.

Geschichte der Schweizer-Söldner bis zur Errichtung der ersten stehenden Garde 1497. Von **Wolfgang Friedr. v. Mülinen.** Bern, Huber u. Komp. 1887.

Die der philosophischen Fakultät der Berner Universität vorgelegte Dissertation will aus einem sorgfältigen Studium der Quellen, auch aus ungedruckten Materialien des Berner Staatsarchives, die Anfänge und erste Entwickelung einer Reihe von Erscheinungen beleuchten, welche in ihrer weiteren Gestaltung, vom 16. Jahrhundert an, die hervorragendste Bedeutung für die politische Geschichte der

Eidgenossenschaft gewinnen und in ihrer weitgehenden Verflechtung mit den inneren Angelegenheiten zeitweise auch dem Gange dieser inneren Fragen in bedeutendem Grade den Stempel aufdrückten. Der Vf. stellte in seine Einleitung einen Brief des 1887 verstorbenen Dr. v. Gonzenbach, des Biographen des Johann Ludwig v. Erlach, in welchem derselbe in seiner geistreichen Auffassungsweise diesem Schweizerdienste im Auslande wohl zu viele vortheilhafte Seiten, neben einigen unleugbar vorhandenen und naturnothwendig gegebenen Eigenschaften, welche Vorzügen gleichkamen, zuschreiben wollte. Die Dissertation dagegen bescheidet sich ihrerseits, einfach die Dinge zu zeigen, „wie es mit ihnen eigentlich gewesen".

In vierzehn Abschnitten folgt der Autor dem fremden Dienste von seinen ersten Spuren an. Diese letzteren findet er für Angehörige einzelner Landschaften in dem vom St. Galler Chronisten Kuchimeister erwähnten Solddienste von Schwyzern und Urnern für Abt Berchtold v. Falkenstein von St. Gallen in der Fehde mit dem Bisthum Constanz von 1249, oder vielmehr eher 1252, wie Vochezer, Geschichte von Waldburg, Bd. 1, S. 166 Anm. 2, gegen den Ref., als Herausgeber der Chronik, ausführt. Dagegen kamen Schweizer aller Orte einer fremden Macht zum ersten Male zu Hülfe, als die Eidgenossen 1373 Bernabo und Galeazzo Visconti zu einem Feldzuge gegen den wider sie geschlossenen italienischen Bund, Papst Gregor XI. an der Spitze, Truppen über den St. Gotthard zusandten. Nach Deutschland geschah die erste Werbung zum Kriege der Reichsstadt Nürnberg gegen den Markgrafen Albrecht Achilles von Brandenburg 1450, nach Savoyen — aus Bern und Freiburg — 1452 und 1454; zur gleichen Zeit werden die Beziehungen zu Frankreich immer enger, mochte auch Bern noch 1453 das Laufen von Knechten in den Dienst Karl's VII. zu verbieten suchen, worauf hinwieder 1465 (Mülinen stellt aber, S. 35 und 36, die Theilnahme von Schweizern an der Schlacht von Montl'hery entschieden in Abrede) die Obrigkeit die zu Karl dem Kühnen von Burgund gelaufenen Söldner bestrafte. Von S. 43 an verfolgt der Vf. die Burgunderkriege, soweit sie als Unternehmung der Schweizer im fremden Solde, besonders in dem Feldzuge für Herzog René von Lothringen mit der letzten entscheidenden Schlacht von Nancy 1477, in Betracht fallen, und betont die Nachwirkung dieser großen Kämpfe, welche erst die Eidgenossen zum insbesondere eifrig von fern her geworbenen Kriegsvolke erhoben. So folgt 1479 der Vertrag mit König Matthias Corvinus, 1480 der Bund mit Papst

Sixtus IV., während 1478 Venedig abgewiesen wurde. Im folgenden Kapitel hatte der Vf. Verwechslungen früherer Militärschriftsteller hinsichtlich der 6000 im Jahre 1480 nach Châlons gezogenen und der 6000 durch Ludwig II. im Lager von Pont de l'Arche gesammelten Schweizer Söldner zu berichtigen (S. 86—88). Aus der spanischen Krone Pulgar's stellt er die Berufung von Schweizern in den Dienst Ferdinand's des Katholischen 1483 fest. Vollends mit dem Beginne der Regierung König Karl's VIII. tritt aber die Geschichte des fremden Kriegsdienstes in ihre eigentliche dauernde Befestigung ein. Zwar fehlte es in den ersten Jahren des Königs durch französische Schuld nicht an einer Abwendung zu Maximilian hinüber; allein im Heere Karl's VIII., bei dessen Zug nach Neapel, nahmen nun schweizerische Söldner zum ersten Male an den großen Kämpfen um den Besitz Italiens Antheil, und 1497 wurde die Garde der Cent-Suisses errichtet, mit deren Organisation der Vf. das Ende seines Themas erreicht hat.

Die dem Rathsmanuale und Missivenbüchern entnommenen dreizehn Stücke der Beilagen erstrecken sich über die Jahre 1465 bis 1487 und behandeln überwiegend die Politik der Berner Obrigkeit gegenüber dem Reislaufen. Zwei Briefe von 1487 sind aus dem Lager der zur Unterstützung des Herzogs von Savoyen ausgerückten Truppe aus Bern und Freiburg, das vor Saluzzo aufgeschlagen war, von dem Hauptmanne geschrieben. M. v. K.

Geschichte der Benediktiner-Abtei Muri-Gries. Von **Martin Kiem.** I. Stans, Kasp. v. Matt. 1888.

Der Mönchskonvent der 1841 durch die Aargauer Regierung aufgehobenen Abtei Muri verlegte durch den 1845 geschehenen Ankauf der Gebäulichkeiten des in der Rheinbundszeit aufgelösten ehemaligen Augustiner-Chorherrenstiftes Gries bei Botzen seinen Sitz nach Tirol, und einer der ersten demselben dort beigetretenen Tiroler, welcher aber fast dreißig Jahre hindurch in dem von Muri-Gries her besorgten Schulkollegium zu Sarnen in der Schweiz weilte und dort als tüchtiger Forscher auf dem Boden der Geschichte der Urkantone sich bewährte, legt nun die Bearbeitung der Geschichte des altehrwürdigen Stiftes vor; leider hat eine verderbliche Feuersbrunst, 21. und 22. August 1889, seit dem Erscheinen dieses Bd. 1, den größeren Theil der ehemaligen Klosterbauten zu Muri in Asche gelegt[1]).

[1]) Vgl. zur Baugeschichte von Muri den aufschlußreichen Aufsatz von Dr. O. Markwart, Die baugeschichtliche Entwickelung des Klosters Muri, in

P. Kiem hatte schon durch die Ausgabe der Acta Murensia für die Quellen zur Schweizer Geschichte sich als künftigen Geschichtsschreiber von Muri ausgewiesen, freilich auch eine nachdrückliche Vertheidigung der Glaubwürdigkeit dieser ältesten historischen Urkunde gegenüber Th. v. Liebenau's heftigem Angriff antreten müssen (vgl. H. Z. 60, 136 u. 137). So versteht es sich ganz von selbst, daß er auch hier wieder einleitungsweise (S. VII—LVIII) auf die Entstehung und Glaubwürdigkeit der Acta und der mit denselben verknüpften Genealogie der Habsburger eintritt, unter Bezugnahme auf die gesammte bisherige Erörterung, wobei besonders auf die ganz überwiegend zustimmend lautenden Äußerungen der so wesentlich für alle diese Fragen in's Gewicht fallenden Studien von Al. Schulte: Geschichte der Habsburger in den ersten drei Jahrhunderten (1887) abzustellen war. Mit Erfolg hält der Vf. alle Hauptpositionen seiner früheren Behauptungen aufrecht.

Die Geschichtserzählung selbst behandelt in zwei Büchern Muri's älteste und mittlere Geschichte, jene bis 1410, d. h. bis zur Wahl des Abtes Georg Russinger, in dessen Zeit das Kloster durch die Heranziehung zur Schutzherrlichkeit der Eidgenossen dem habsburgischen Gründergeschlechte entzogen wurde, und diese bis 1596, wo die Abtei, nach einer „Sturm- und Drangperiode" in den Jahren der von Zürich — bis 1531 siegreich — sich verbreitenden Reformation, wieder in ihrem Bestande äußerlich und im Innern gesichert erscheint. Eben im Anschluß an den Anonymus und dessen Acta fundationis ist die Stiftung Muri's dargestellt, unter spezieller Würdigung des Bischofs Werner I. von Straßburg, des Bruders des Klettgauer Grafen Radeboto, welcher mit seiner Gemahlin Ida Werner's Stiftungswerk zu Muri nach dessen Tode, 1028, fortsetzte. Nach der Reihenfolge der einzelnen Äbte, mit Dazwischenschiebung von Abschnitten, in welchen das Material zu allgemeinen Schilderungen zusammengefaßt ist — so S. 51 ff. über die Landwirthschaft, S. 59 ff. über das innere Leben im Kloster, in dessen Anfängen, S. 125 ff. im 12. und 13. Jahrhundert — ist der Stoff weiter gruppirt. Von späteren Abtsregierungen fallen neben derjenigen des schon genannten Georg Russinger, welcher die Beziehungen zu den in den freien Ämtern regierenden sechs Orten geschickt zu ordnen und auch die Ökonomie gedeihlich zu leiten verstand,

---

der Jahresschrift Argovia der Aargauer historischen Gesellschaft, 20 (1889), 1—97.

besonders in Betracht zuerst die Zeit des Laurenz von Heidegg, 1508—1549, welche übrigens früher schon durch Th. v. Liebenau, in der Zeitschrift des katholischen schweizerischen Studentenvereins, Jahrgang 1861, behandelt wurde, dann die Wirksamkeit des Hieronymus Frei, 1564—1585, unter dem im Sinne des Tridentinums und der Gegenreformation in jeder Hinsicht, besonders in Berücksichtigung der Schule, die Abtei neu geordnet sich erhob. Von S. 369 an ist der Katalog der Religiosen, soweit sich die Namen von 1032 an sammeln ließen, bis 1596 zusammengestellt.

Das Buch ist eine mit großer Hingabe so viel als möglich aus den Quellen selbst geschöpfte Vorführung eines hoch angesehenen Benediktinerklosters, welches allerdings nie zur Bedeutung kulturhistorisch wichtigerer anderer schweizerischer Gotteshäuser dieses Ordens, etwa St. Gallen oder Einsiedeln, sich emporhob. Daß der Geschichtschreiber einer Abtei, deren Säkularisation von Zürich her nach dem ersten Kappeler Frieden betrieben wurde, welche die Berner im zweiten Kappeler Kriege, bei aller ihrer sonst hervortretenden Zurückhaltung gegenüber eingreifenderen Thaten, zu plündern die Muße fanden, sich der Kirchenreformation — „der traurigen Reformation" (S. 277) — gegenüber abgeneigt zeigt, kann nicht überraschen; nur sollte hier nicht geradezu Unrichtiges gesagt, Zwingli's Auftreten in Zürich vom Auftreten des Ablaßpredigers Samson abgeleitet werden (S. 282 u. 283), während bekanntlich gerade diese Ablaßangelegenheit für die Entwickelung der Zürcher Reformation ganz zurücktrat. Doch auch sonst begegnen etwa einmal Verwechselungen dem prüfenden Auge; so S. 26 u. 27 diejenige des Herzogs Rudolf von Schwaben mit dessen geistlichen Bruder Adalbero, oder S. 274 die Nennung des nachherigen Zürcher Antistes Heinrich Bullinger an der Stelle des gleichnamigen Vaters desselben, des Pfarrers von Bremgarten. M. v. K.

Zur 500jährigen Gedächtnisfeier der Schlacht bei Näfels (1388—1888). Festschrift, im Auftrag der Regierung des Kantons Glarus verfaßt von **Gottfr. Heer.** Glarus, Bäschlin. 1888.

In sehr zutreffender Auswahl der Persönlichkeit hatte die Regierung von Glarus, als die Erinnerungsfeier des die Freiheit des Landes im 14. Jahrhundert besiegelnden Gefechtes vom 9. April 1388 heranrückte, den auf dem Felde der vaterländischen Geschichtsforschung wohl bewährten Pfarrer Gottfr. Heer (vgl. 66, 123 ff.) als Verfasser der Festschrift bestellt. Die Aufgabe, zu deren Übernahme der

bescheidene Autor nur mit schwerem Bedenken sich verstand, erfüllt ganz den Zweck, der in das Auge gefaßt wurde.

In einem Buch 1 zeichnet der Verfasser in knappen Umrissen die Geschichte des Landes vor den Ereignissen von 1388, wie Glarus als Grundherrschaft der Äbtissin von Säckingen eingerichtet war, dann aber seit König Rudolf von Habsburg unter österreichische Herrschaft gerieth, dadurch, daß Reichsvogtei und Meieramt in der Hand der Herzoge lagen, wie dann 1351 das Land sich gern durch die Eidgenossen erobern und alsbald 1352 von diesen in den Verband sich hineinziehen ließ, der allerdings schon im Herbste dieses gleichen Jahres und vollends 1355 in den auf einander folgenden Friedensschlüssen unter Rückgabe von Glarus an Österreich wieder rückgängig gemacht wurde. Von S. 39 an führt Buch 2 die Ereignisse des Sempacher Krieges, von 1386 und 1387, vor und setzt aus einander, wie die Glarner, zur Wiedergewinnung ihrer früheren Stellung zur Seite der Eidgenossen, sich bei der Herausstellung des Gegensatzes gegen Österreich gleichfalls wider das herzogliche Haus wandten, wobei für Glarus die Hauptentscheidung gegen das befestigte Städtchen Weesen am Walensee fallen mußte, da dieses in österreichischer Hand den Schlüssel zum Lande bildete. So kam es, daß 1388 — mit S. 59 beginnt Buch 3 über den Krieg dieses Jahres — durch die österreichische Herrschaft gegen Glarus auch mit der Wiederbesetzung dieses Platzes, in der „Mordnacht" zu Weesen, vom 22. zum 23. Februar, der Kampf eröffnet wurde, dessen Fortgang die Abweisung des in seinen Bedingungen unerträglich erscheinenden österreichischen Ultimatums von Seite der am 29. März abgehaltenen Glarner Landsgemeinde beschleunigte. Nach einer Musterung der beiderseitigen Streitkräfte — wohl 5000—6000 auf Seite der Angreifer gegen anfangs kaum 300, im Laufe des Kampftages schließlich höchstens 600—700 Vertheidiger — folgt (S. 85—97) die Schilderung der Schlacht selbst, wofür S. 120—189 die Quellenberichte nachgebracht werden. Den Gefallenen — 54 oder 55 von Seite der Glarner, fast durchaus aus den unteren dem Schlachtplatze näheren Theilen des Landes, und urnerische, ebenso schwyzerische Zuzüger nennen die Jahrzeitbücher — und der Verpflanzung wenigstens eines Theiles der Leichen der auf österreichischer Seite Umgekommenen in die Kirche des Prämonstratenserklosters Rüti, ferner der Beute und besonders den gewonnenen feindlichen Fahnen, weiter den Folgen des Sieges, namentlich der durch die abziehenden Besiegten angestifteten Verbren-

nung Weesens, sind die weiteren Kapitel gewidmet. Buch 4 würdig die politische Wirkung der Schlacht, die mit dem Jahre 1394 endlich ausdrücklich von Seite der Herrschaft vertraglich zugesicherte politische Unabhängigkeit des Landes, und verfolgt die Entwickelung des 1389 beschlossenen und bis zur Gegenwart alljährlich, seit 1426 je am ersten Donnerstag im April abgehaltenen politisch-religiösen Gedächtnisfestes, der „Fahrt", welche in eigenthümlicher Weise auch die konfessionelle Trennung überdauerte, allerdings in der Art, daß eine Sonderung sich mit dem 17. Jahrhundert einstellte, bis mit dem Jahre 1836 ein alljährlicher Wechsel der Fahrtprediger nach den Konfessionen begann; für den S. 209—211 abgedruckten alljährlich verlesenen Fahrtsbrief wird nachgewiesen, daß diese nunmehr älteste Redaktion des offiziellen Berichtes über das Gefecht erst etwa dem ersten Drittel des 15. Jahrhunderts angehört, wie schon die vorgebrachte irrthümliche zeitliche Angabe, daß der 9. April des Jahres 1388 der „Donstag in der Osterwuchen" gewesen sei, sowie die übertreibende Schätzung der Zahl der Feinde lehrt.

Der Vf. wollte, bei aller streng wissenschaftlichen Forschung, die er anstellte, ein Volksbuch schreiben, und so sind einzelne in einem gemeinverständlicheren Tone oder lebhafter gehaltene Äußerungen ganz begreiflich, wenn auch z. B. S. 69 die aus der Gegenwart herangezogene Parallele auffällt; daß der Glarner auf den Zürcher Bürgermeister Brun, welcher sich seine österreichische Pension 1359 auf die aus Glarus zu erhebende Steuer anweisen ließ, nicht gut zu sprechen ist (S. 37 Anm. 2), ist gleichfalls begreiflich.

Ganz besonders gelungen, auf einer wohl angestellten Erwägung der örtlichen Verhältnisse, der Aussagen der Quellen, des Werthes der festgehaltenen und an lokale Denkzeichen sich anknüpfenden Überlieferung beruhend ist die Schilderung der Schlacht selbst, zu der das schöne von dem Ingenieurtopographen F. Becker entworfene Kartenbild gehört. Aber eben dieses durchaus aller Zustimmung würdige Hauptkapitel des Buches wurde theils in Zeitungsartikeln, theils in einer eigenen Schrift — von Linth-Ingenieur G. H. Legler: „Ambühl in Schneisigen und Alt-Weesen", Glarus, 1888 — heftig angefochten, so daß Heer nochmals in einer Rechtfertigungsschrift: „Die Schlacht von Näfels" (Glarus 1889) gegen jene sog. „kriegsgeschichtliche Studie" auftreten mußte. Unter vielfach ganz mißverständlicher Ausbeutung der Quellenzeugnisse war nämlich, in Anknüpfung an eine durch den Glarner Historiker M. Schuler zuerst

vorgebrachte Meinung, durch jene Anfechter der Festschrift aus der Aufstellung der elf an die Schlacht erinnernden Denksteine der Schluß gezogen worden, daß die den Feind zurückweisenden Glarner nach einander ebenso viele Angriffe in bestimmter Reihenfolge gemacht hätten, und zwar so, daß der erste Angriff und zugleich die Eröffnung des Kampfes durch den Glarner Feldhauptmann, Matthias Ambühl, bei Schneisigen, einem Dörfchen südlich von Näfels, etwa eine Viertelstunde thalaufwärts, stattgefunden habe. Heer erklärt dagegen ganz zutreffend, daß allerdings an allen elf Orten, doch in ganz verschiedenen Stunden des Tages, gefochten worden sei, der Hauptkampf aber, welchen die unter Ambühl's umsichtiger Führung nach dem ersten Schrecken des feindlichen Überfalles wieder gesammelte Schar aufnahm, beim sechsten Steine geschah, vom steilen Abhange der die Rauti genannten Berghalde her, am westlichen Rande des Dorfes Näfels selbst, da, wo noch heutzutage alljährlich auf dem Fahrtsplatze der Predigtgottesdienst stattfindet; bei Schneisigen oben steht der erste Stein deswegen, weil die von oben her thalabwärts nachrückenden Zuzüger hier zuerst mit den Plündernden handgemein wurden.[1]) Dagegen hat in einem anderen Punkte, wo der Linth-Ingenieur auf dem Boden seiner eigenen Thätigkeit steht, die Schrift von Legler völlig Recht, hinsichtlich der Lage von Alt-Weesen, dem 1388 zerstörten Städtchen, und der Brücke daselbst über die Maag, dem ehemaligen Abfluß des Walensees. Heer und mit ihm die beigegebene Karte von Becker verlegten diese Brücke, welche in der Mitte auf der die Feste Mühli tragenden kleinen Insel absetzte, unrichtiger Weise südöstlich an den Ablauf des Flusses aus dem See hin, während sie vielmehr südwestlich unterhalb des Städtchens lag; die neue Ortschaft wurde dann nach 1388 näher gegen die Gegend Fly hin, nordöstlich von der alten Stadt, als offener Marktflecken aufgebaut.

M. v. K.

Urkunden zur Verfassungsgeschichte Graubündens. Zusammengestellt von **Konstanz Jecklin.** Chur, Hitz u. Hail. 1886.

Als „Fortsetzung von Mohr's Codex diplomaticus", des 1848 bis 1865 in vier Bänden erschienenen Urkundenbuches zur rätischen

[1]) Sehr unterrichtend ist die Berichterstattung über den Meinungsaustausch hinsichtlich dieser Fragen, welche das Protokoll der Hauptverhandlung des Historischen Vereins des Kantons Glarus, vom 19. Oktober 1888, enthält (Jahrbuch des Historischen Vereins Heft 25, 1, S. VIII ff. [1890]).

Geschichte, kündigt sich die vorliegende, von der historisch-antiquarischer Gesellschaft des Kantons angeregte Arbeit als Bd. 5 jenes Codex diplomaticus an. Der Text soll die Urkunden über die Entstehung der einzelnen Bünde und der Verbindungen der drei unter einander enthalten und reicht also von 1367 bis 1814. Doch wird, wo Stücke schon bei Mohr gedruckt waren, auf jenen früheren Abdruck einfach verwiesen. Für andere, noch nicht gedruckte Urkunden wurde in manchen Fällen, wo die Originale als verloren zu erachten sind oder bei der mangelhaften Ordnung mancher Dorfarchive nicht zu finden waren, die handschriftliche große Mohr'sche Dokumentensammlung herangezogen, so schon zu 1407 für das Bündnis zwischen Oberhalbstein und Avers mit der Landschaft Rheinwald. Das bischöfliche Archiv, das Landesarchiv, auch das Churer Stadtarchiv boten weitere Orginaldokumente; doch wäre z. B. zu den Bundesbriefen des grauen Bundes 1424 noch auf den früheren Abdruck in Tschudi's Chronik hinzuweisen gewesen, oder bei den Artikelbriefen von 1524 und 1526, dem Bundesbriefe von 1524 auf Bd. 4 1a der Amtlichen Sammlung der älteren eidgenössischen Abschiede. In der Drucklegung hielt sich der Verfasser vielfach, besonders in der Behandlung der großen Anfangsbuchstaben, deren viele Eigennamen entbehren, zu genau an seine Vorlagen. Immerhin ist diese bequeme Vereinigung des ganzen Materials sehr erwünscht. In die Anfänge bis zum Ende des 16. Jahrhunderts fallen 35, in die Zeit der Reformation 13, in den nachherigen Zeitabschnitt bis 1814 noch 17 Nummern, deren letzte Stücke die helvetische, die Mediationsverfassung und diejenige von 1814 bilden. M. v. K.

Das alte Zürich. Historisch und antiquarisch dargestellt von **Salomon Vögelin.** Zweite durchaus umgearbeitete Auflage von **Arnold Nüscheler** und **Salomon Vögelin.** I. II. Zürich, Orell, Füßli u. Co. 1878. 1890.

Durch den zürcherischen Geschichtskundigen, Kirchenrath Vögelin, war 1828, in der anmuthigen Einkleidung einer Wanderung durch Zürich im Jahre 1504, nebst begleitenden kritischen und Beweise bringenden Anmerkungen, ein sehr aufschlußreiches und beliebtes Buch unter dem Titel „Das alte Zürich" veröffentlicht worden. Bis 1883 gab der Enkel des 1849 verstorbenen Vf., Professor der Kulturgeschichte an der Universität (vgl. oben S. 113), das Werk mit Beihülfe von Fachgenossen und Freunden neu heraus, unter Erhaltung des alten Textes, der nur um einige allzu gedehnte Partien, besonders einen langen verfassungsgeschichtlichen Exkurs, verkürzt wurde, dessen unge-

achtet hier immer noch 139 Seiten anfüllt. Dagegen machen die von Nüscheler und V. neu bearbeiteten „Nachweisungen und weitere Ausführungen bis auf die Gegenwart" 523 Seiten aus. Sie bilden vielfach ganze Exkurse, so gleich im Anfang S. 149 ff. V's. Artikel über das große Freischießen von 1504, mit welchem eben jene Erzählung der Wanderung durch Zürich in Verbindung gesetzt ist, dann S. 171 ff. des gleichen Vf. Geschichte der successiven Rathhausbauten, oder (S. 262—326) von V. mit Beiträgen Nüscheler's die höchst eingehende Geschichte und Beschreibung der Großmünsterkirche und alles dessen, was zu dieser und dem angeschlossenen Chorherrenstifte gehörte; von Nüscheler sind besonders zahlreiche Notizen über einzelne Häuser der Stadt, deren Besitzer und Schicksale beigesteuert. So läßt sich sagen, daß dieser Kommentar, dessen Einzelheiten überall die Fortschritte seit 1828 lehren, eine ganze lokalhistorische Bibliothek in sich schließt.

Bd. 2 dagegen ist das Werk einer „Vereinigung zürcherischer Geschichtsfreunde", welche unter der Leitung von Professor Georg v. Wyß, nach V's. Tode 1888, das Buch zu Ende führte. Jene gegenüber der früheren Auflage ausgelassenen Ausführungen zur inneren Geschichte Zürichs sind hier nachgeholt und in einem Umfange, der Bd. 1 hinter sich zurückläßt, ganz wesentlich erweitert. So sind durch den Professor der Geologie und den Privatdozenten der Prähistorie Albert Heim und Jakob Heierli einleitungsweise die geologische Geschichte des Bodens von Zürich und Zürich in vorgeschichtlicher Zeit, durch V. selbst Zürich in römischer Zeit nebst Exkursen über die Namen Turicum und Tigurum (die falsche humanistische Bezeichnung) als Abschnitte vorausgeschickt. Dann folgt die Verfassungsgeschichte der Stadt Zürich bis 1336, von dem Rechtshistoriker Dr. Friedrich v. Wyß, eine ganz erschöpfende Neubearbeitung der trefflichen vom gleichen Verfasser früher in der Zeitschrift für schweizerisches Recht, Bd. 17, 1870[1]), unter dem Titel: „Die Reichsvogtei Zürich" mitgetheilten Studien über den Ursprung und die Vereinigung der Bestandtheile, das Wachsthum der städtischen Gemeinde (S. 103 bis 230). Hieran schließen sich, theils mehr politisch, theils mehr kulturhistorisch gehalten, Abschnitte über Zürich im 13., 14., 15. Jahrhundert von Georg v. Wyß, G. Meyer v. Knonau, Zeller-Werdmüller.

[1]) Vgl. über jene frühere Arbeit Göttinger Gelehrte Anzeigen von 1870, Stück 26 S. 1010 ff.

Als Kap. 8 folgt — theils von V. nachgelassen, theils von Nüscheler bearbeitet — die bauliche Entwickelung der Stadt Zürich, nämlich als kunstgeschichtliche Betrachtung und als statistischer Überblick, welcher letztere zugleich als Repertorium zu Bd. 1 anzusehen ist. Endlich legt von S. 449 an Dr. Nüscheler als Frucht langjährigen Sammelfleißes einen Abschnitt über die Umgebung der Stadt vor: Ein historischer Gang durch die Nachbargemeinden der Stadt Zürich, welchen ein seither durch die Kunstanstalt von Hofer und Burger edirter historischer Plan illustrirt. Nach Vollendung dieses Bandes werden sich wenige Städte einer so eingehenden allseitigen Schilderung erfreuen können. M. v. K.

**Chronik der Kirchgemeinde Neumünster.** Herausgegeben von der Gemeinnützigen Gesellschaft von Neumünster. Zürich, Selbstverlag der Gesellschaft. 1889.

Unter den zahlreichen stets wieder erscheinenden Bearbeitungen der Geschichte schweizerischer Gemeinden, die ganz ungleichen Werthes sind — eine sehr selbständige Leistung war z. B. 1882 die Geschichte der Gemeinde Horgen, von dem H. Z. 65, 542. 544 genannten Dr. Strickler —, verdient das zur fünfzigjährigen Feier der Kirchweihe edirte Werk wegen seiner splendiden Ausstattung, auch mit historischen Quellenwerth in Anspruch nehmenden Illustrationen, mit Plänen u. dgl., aber ebenso wegen einzelner Abschnitte des Inhaltes besondere Beachtung, ganz abgesehen von der Wichtigkeit der Gemeinde, als der südöstlichen Vorstadt von Zürich. Durch Dr. Oechsli, Professor am Polytechnikum, ist in trefflicher Weise in der historischen Einleitung die Geschichte der besonders aus Grundeigenthum der Abtei Zürich — dem weit ausgedehnten, wahrscheinlich gleich 853 durch König Ludwig geschenkten Hofe Stadelhofen — und des Chorherrenstiftes am Großmünster heraus sich entwickelnden Gemeinden Hottingen, Hirslanden und Riesbach dargelegt. Diese drei Gemeinden tragen erst seit ihrer Konstitution als Kirchgemeinde den neu geschaffenen Namen Neumünster. Weitere Artikel stellen in sehr anschaulicher Weise das materielle Wachsthum der Gemeinden unter den neugestaltenden Einwirkungen der Gegenwart dar. Aber vorzüglich ist der biographische Abschnitt zu betonen, der kurze Lebensabrisse der in den neuesten Jahrzehnten im Umkreise von Neumünster wohnhaften Persönlichkeiten in sich enthält. Denn hier hat Gottfried Keller einen ganz originellen Abriß seines Lebens selbst gegeben (S. 430—433),

und Professor Hans Semper fand an dieser Stelle Gelegenheit, einen Bericht über das wirkliche Verhältnis seines Vaters zu den Wiener Bauten, gegenüber Verschlimmerungen der Wahrheit, niederzulegen (S. 481—483).

Leider entbehrt das sehr stattliche Buch einer Inhaltsübersicht, so daß dessen unleugbarer Reichthum an Mittheilungen nicht genügend zu Tage tritt. M. v. K.

**Sammlung bernischer Biographien.** Herausgegeben von dem historischen Verein des Kantons Bern. I. Bern, J. Dalp (K. Schmid). 1884.

Der historische Verein des Kantons Bern bestellte 1883 eine Biographienkommission, welche den Auftrag erhielt, eine Sammlung von Biographien aller hervorragenden Persönlichkeiten des Kantons vorzubereiten, und 1884 begann die lieferungsweise Veröffentlichung, so daß Bd. 1 fertig vorliegt, Bd. 2 im Erscheinen begriffen ist. Ein Verzeichnis aller aufzunehmenden Artikel ist dem Bande vorgedruckt, wonach allmählich wohl zwischen 900 und 1000 biographische Arbeiten erscheinen sollen. Fast genau 150 Artikel, wenn richtig gezählt wurde, stehen in diesem ersten Bande, über Persönlichkeiten vom Mittelalter bis in die neueste Zeit, auch mit einigen Porträts begleitet. Doch ist die Sammlung ganz unsystematisch, weder nach der Zeitfolge, noch alphabetisch angelegt, augenscheinlich, wie eben die Artikel eingehen, stets vorrückend. Allerdings bietet das alphabetische Inhaltsverzeichnis, welchem jedoch wieder die chronologischen Angaben fehlen, was sich so leicht hätte anbringen lassen, ein Mittel, sich zurecht zu finden. Einzelne Artikel sind, weil der Kanton seit 1815 auch einen französisch redenden Landestheil in sich schließt, in französischer Sprache abgefaßt.

An der Anlage des Werkes ist eine gewisse Ungleichheit auszusetzen. Persönlichkeiten, deren Namen der nicht dem Kanton Bern angehörende Leser zum allerersten Mal vernimmt, denen die Bezeichnung „hervorragend“, statt „nennenswerth“, kaum zukommt, sind ziemlich breit behandelt, andere, so z. B. der 1734 verstorbene Historiker Lauffer (S. 173 u. 174), nur ganz kurz besprochen. Bei anderen Artikeln liegt ein Auszug aus der Allgemeinen deutschen Biographie vor, so bei einer Anzahl von Persönlichkeiten des 15. Jahrhunderts, wo Arbeiten von Georg v. Wyß, von E. Blösch benutzt wurden. Die bemerkenswerthesten Artikel von Bd. 1 sind wohl: zum Mittelalter der von Dr. Th. v. Liebenau in Luzern geschilderte oberste

Meister des Deutschordens Burkard v. Schwanden und — aus dem 15. Jahrhundert — Peter Steiger und Schultheiß Rudolf Hofmeister (von C. v. Steiger und Dr. G. Tobler), zum 17. Jahrhundert der um den Aufschwung des Postwesens verdiente Beatus Fischer und Daniel Rhagor, welchen die Entwickelung der Landwirthschaft beschäftigte, von K. L. F. v. Fischer und J. Sterchi, ferner zum 17. und 18. Jahrhundert: von Professor R. Steck einzelne Persönlichkeiten seines Namens, sowie von C. v. Steiger der kaiserliche Ingenieuroberst Isaak Steiger, zum 18. und 19. Jahrhundert, von Dr. J. H. Graf, der Mathematiker Johann Georg Tralles (mit einer Übersicht der gesammten wissenschaftlichen Arbeiten desselben). Persönlichkeiten des 19. Jahrhunderts behandeln Pfarrer J. Ammann in dem sehr einläßlichen Artikel über Albert Bitzius (den Schriftsteller Jeremias Gotthelf), C. L. F. v. Fischer in demjenigen über den Kunstfreund Sigmund v. Wagner; von Pfarrer F. Romang sind vorgeführt der Theologe K. A. R. Baggesen, der Geschichtsfreund K. F. L. Lohner, verschiedene Glieder der Familie Wyß, der originelle Dorfschullehrer und Entdecker der Schönheit des Gießbachs Johannes Kehrli, der Geistliche und Volksdichter Gottlieb Jakob Kuhn, der Bauer Johannes Haslebacher, welcher schon durch seine Zugehörigkeit zu einer Bauernfamilie, die seit vier Jahrhunderten den Hof Haslebach in der Gemeinde Sumiswald inne hat, bemerkenswerth ist.

Das alphabetische Register vermittelt die Übersicht nicht allein der in eigenen Artikeln behandelten, sondern auch der nur kurz erwähnten Namen. M. v. K.

Der Zürcher Kanonikus und Kantor Magister Felix Hemmerli an der Universität Bologna 1408—1412 und 1423—1424. Von **Alb. Schneider.** Zürich, Fr. Schultheß. 1888.

Der Zürcher Professor Johann Heinrich Hottinger in Heidelberg 1655 bis 1661. Von **Heinr. Steiner.** Zürich, Fr. Schultheß. 1886.

Als Beglückwünschungsschriften für die Jubelfeiern der Hochschulen Heidelberg und Bologna wurden die oben genannten Arbeiten des 1889 allzu früh verstorbenen Orientalisten, Professor der Theologie Steiner, über einen hervorragenden zürcherischen Vertreter seines Faches im 17. Jahrhundert, und des Professors des römischen Rechtes, Schneider, über einen vielseitigen Zürcher Gelehrten vom Ausgange des Mittelalters, überreicht.

Hemmerli's kirchliche und politische Stellung innerhalb der Kämpfe des 15. Jahrhunderts, besonders auch als Propst des St. Ursen-

stiftes zu Solothurn gegenüber dem Basler Konzil ist schon 1846 und 1857 durch dessen Biographen Reber und Fiala gewürdigt worden; der Verfasser der Festschrift von Bologna wollte den Juristen Hemmerli als einen der von der Nordseite der Alpen gekommenen Jünger der hohen Schule von Bologna vorführen und zugleich dessen Doktordiplom von 1424 in photographischer Reproduktion mittheilen, zumal da, wie anzunehmen, dasselbe das älteste bekannte Diplom eines Kanonisten von Bologna ist (die Urkunde, durch Dr. Ferdinand Keller's findiges Auge auf einem Pergamenteinbande entdeckt, gehört jetzt der Sammlung der zürcherischen antiquarischen Gesellschaft an). Gegenüber den genannten früheren Arbeiten ist die Lebensgeschichte Hemmerli's in verschiedenen Punkten aus dem sorgfältig herangezogenen, besonders dem ungedruckten, auf der Zürcher Kantonalbibliothek liegenden Materiale von Schriften desselben mehrfach richtiger gestellt. Ein erstes Mal hat sich der junge Student 1408 von Erfurt hinweg nach Bologna gewandt, um dann 1413 wieder in Erfurt sich immatrikuliren zu lassen, obschon er inzwischen mit Anfang 1412 in Zürich Chorherr am Großmünster geworden war. 1423 traf Hemmerli ein zweites Mal zur Vollendung seiner Studien in Bologna ein. Unter 4. sind diese Studien speziell aus den Schriften Hemmerli's, welcher, wie zahlreiche Äußerungen zeigen, sein ganzes Leben hindurch Bologna ein treues und dankbares Andenken widmete, eingehend beleuchtet; es ist nicht unwahrscheinlich, daß der Doktor des kanonischen Rechtes einige Zeit hindurch auch lehrend wirkte. Der Schlußabschnitt 6. schildert kurz Hemmerli's späteres Gelehrtenleben, unter Ausschluß der politischen Parteistellung, welche dem eifrigen Anhänger Österreich's durch einen frechen Friedensbruch von eidgenössischer Seite Gefangenschaft mit dem Jahre 1454 eintrug, so daß nicht einmal das Todesjahr des Unglücklichen (zwischen 1458 und 1462) feststeht.

Die Schilderung der Thätigkeit des 1667, als von Zürich aus die Reise nach dem neuen Orte akademischer Wirksamkeit (Leyden) angetreten werden sollte, durch plötzlichen Tod des Ertrinkens abgerufenen berühmten Orientalisten Hottinger ist ein Beitrag zur Kulturgeschichte der Kurpfalz und speziell zu derjenigen der Universität Heidelberg. An eine einleitende Übersicht der Beziehungen der Kurpfalz zur evangelischen Schweiz seit dem Eintritt des Kurfürsten Friedrich III. in die Regierung 1559 schließt sich die durch den Kurfürsten Karl Ludwig herbeigeführte Berufung der Zürcher Gelehrten, allerdings nur „auf etwas Zeit", da der Zürcher Rath Hottinger's

Kraft nicht auf die Dauer preisgeben wollte, zur Beihülfe an der Wiederaufrichtung der Heidelberger theologischen Fakultät. Hottinger's sechsjähriges Wirken als Professor, Rektor, Kirchenrath, besonders auch als Ephorus der Studienanstalt, der hergestellten Sapienz, ebenso die Dienstleistungen bei verschiedenen, auch von der Schweiz her vorgelegten weltlichen Fragen finden sich eingehend gewürdigt. Von dem Kurfürsten, zu dem Hottinger in ein näheres Verhältnis getreten war, von den Kollegen und Freunden sehr ungern entlassen, wurde der 41jährige Professor von seiner heimischen Obrigkeit zurückgefordert. Die angehängten Noten liefern für das sehr weitschichtige Material, das der Verfasser zu bewältigen hatte, den Beweis. Voran steht der jetzt der Zürcher Stadtbibliothek angehörende (52 Folianten umfassende) Thesaurus Hottingerianus; zumeist dem Zürcher Staatsarchive sind die 27 Nummern der Beilagen entnommen, Briefe Karl Ludwig's, der Zürcher Obrigkeit und Hottinger's selbst, am Schlusse sechs Briefe der Schwester des Kurfürsten, Pfalzgräfin Elisabeth, Äbtissin zu Herford. M. v. K.

Johann v. Planta. Ein Beitrag zur politischen Geschichte Rhätiens im 16. Jahrhundert. Von **Michael Valär.** Zürich, Fr. Schultheß. 1888.

Die von einem geborenen Bündner der philosophischen Fakultät von Zürich vorgelegte Dissertation behandelt einen Abschnitt aus den Anfängen der großen bündnerischen Wirren, gemischt konfessionell-politischen Charakters, welche sich im weiteren Verlaufe im 17. Jahrhundert mit den Ereignissen des großen deutschen Krieges von 1620 an verflochten, und zwar aus der Absicht heraus, einem katholischen Staatsmanne von reformirter Seite her — der Verfasser ist, als Davoser, Angehöriger dieser Konfession — gerechter zu werden, als das insbesondere durch die letzte an sich ganz anerkennenswerthe Arbeit Rektor Bott's im Programme der Churer Kantonsschule von 1873 der Fall gewesen war.

Planta entstammte einem früheren Ministerialengeschlechte des Bischofs von Chur, das sich durch seinen Reichthum und Einfluß unter ihm zur Leitung der spanisch-österreichischen katholischen Partei — schon als Inhaber des Pfandlehens Räzüns, seit 1558, war Johann, abgesehen von seinem eifrig festgehaltenen Bekenntnis, auf diese Seite gewiesen — gegenüber der von den Salis geleiteten französischen Faktion erhob. Infolge seiner Stellung in Räzüns der einzige weltliche Landesherr im oberen Bunde und durch dieselbe, sowie

durch den Besitz der Herrschaft Hohentrins Gebieter über den wichtigen Bezirk an der Vereinigung der Rheinströme bei Schloß Reichenau, außerdem in seiner Heimat Unterengadin und als Landeshauptmann im Veltlin in hohen Ämtern stehend, war Planta allerdings ein für einen Freistaat mit ungewöhnlich hoher Machtvollkommenheit ausgestatteter Mann. Die Anfechtung dieses Übergewichtes begann ernsthaft, nachdem 1570 Papst Pius V., 1571 in verstärkter Form durch eine förmliche Bulle, an Planta die Vollmacht gegeben hatte, die in die Hände Unberechtigter übergegangenen Güter des eben erst wegen seiner widersetzlichen Haltung aufgehobenen Humiliatenordens im Veltlin zu Handen der katholischen Kirche zurückzufordern, worauf im Anschluß an die Bulle der Auftrag noch dahin erweitert wurde, überhaupt alle der Kirche entfremdeten Pfründen in den Bisthümern Chur und Como, sowohl in den rätischen Bünden, als in deren Unterthanengebieten, als Verwalter des päpstlichen Stuhles anzutreten; Planta gedachte durch die Benutzung der Bulle, welche insbesondere auch die von Chur her in Besitz genommenen Güter der ehemaligen Abtei St. Luzi bei Chur betraf, um so leichter einen Druck zur Erlangung des in den vorangegangenen zwei Breven eröffneten Vortheiles ausüben zu können. Aber gegen diese Bedrohung der Stellung des neuen Glaubens, voran im Veltlin, erhoben sich nunmehr die Prädikanten, voran der eine der Churer Stadtpfarrer, der Thurgauer Tobias Egli, neben welchem sich der Amtsgenosse, Campell, der Geschichtschreiber (H. Z. 60, 139), mehr zurückhielt, und reizten die Volksstimmung gegen Planta, in dessen Person die Tendenzen sowohl Roms — und des Kardinals Borromeo —, als des Bischofs von Chur getroffen werden sollten. Zuerst wich Planta dem Sturme; dann aber kehrte er nach Räzüns zurück, worauf von verschiedenen Thalschaften die Fähnlein sich erhoben und, vor Chur lagernd, ein Strafgericht gegen ihn erzwangen. Inmitten seiner eigenen Glaubensgenossen im oberen Bunde gefangen gesetzt, wurde Planta vor das Gericht gestellt, welches jetzt die päpstliche Bulle als Hauptpunkt der Klage hinstellte. Am 31. März 1572 wurde Planta hingerichtet.

Wie der Vf. in sehr besonnener Weise die Beleuchtung der Schuld des Verurtheilten, besonders der Sachlage hinsichtlich der Bulle und diejenige der Stellung der Parteien zum Prozesse durchführt, so sucht er in Kap. 8, S. 96 ff., aus der Betrachtung der Umstände nach dem Tode des des Hochverrathes Beschuldigten die Ursachen der Katastrophe des Einzelnen, mit welcher die Anfänge des Verderbens

des gesammten Staatswesens auf Jahrzehnte hinaus einsetzten, darzuthun. Abermals vielfach im Gegensatz zu Bott wird gezeigt, daß vom Verbrechen des Hochverrathes nicht gesprochen werden kann, ebenso, daß eine Hauptschuld an dem Ausgange bei der Haltung des oberen Bundes lag. Am allerwenigsten erweist sich der Autor als verblendet über die argen Mißstände der staatsrechtlichen Verhältnisse seines Vaterlandes im 16. und 17. Jahrhundert; als die provozirende Partei stellt er schlechtweg diejenige der reformirten Prädikanten hin.

Von den ungedruckten durch den Vf. herangezogenen Materialien, aus Zürich, Luzern, Chur, fallen besonders die zwischen dem Zürcher Antistes Bullinger und Pfarrer Egli gewechselten Briefe für die Beurtheilung der reformirten Gegner Planta's und der Kampfweise derselben in Betracht. M. v. K.

Der Kluser Handel und seine Folgen 1632—1633. Von **Franz Füh.** Zürich, S. Höhr. 1884.

Der kriegsgerichtliche Prozeß gegen Kilian Kesselring 1633—1635. Von **J. J. Keller.** Frauenfeld, J. Huber. 1884.

Die beiden der Zürcher philosophischen Fakultät vorgelegten Dissertationen, die erste von einem Walenstaader, die zweite von einem Thurgauer verfaßt, behandeln, unter Ausnutzung der Abschiedesammlung und ungedruckter Materialien, zwei Episoden schweizerischer Geschichte, für Solothurn und das gemeinschaftliche Unterthanenland Thurgau, in welchen nahezu zu gleicher Zeit für die Eidgenossenschaft die Gefahr vorlag, in die Wirren des Dreißigjährigen Krieges hineingerissen zu werden.

Das von dem ersten Vf. behandelte Thema ist ein Stück aus den Beziehungen der Kantone verschiedenartigen Bekenntnisses zu einander, angesichts der von außen her den eidgenössischen Grenzen näher gerückten Kriegsgefahr. Während infolge der Gegenreformation die katholischen Orte dem zugewandten Orte im Elsaß, der Reichsstadt Mühlhausen, das Bündnis aufgekündigt hatten, waren die evangelischen Städte mit der Stadt in Verbindung geblieben, so daß auch 1632 gegenüber dem isolirt mitten zwischen Schweden und Kaiserlichen stehenden Gemeinwesen die Hülfspflicht erwuchs. Der Lieutenant Hans v. Stein hatte den Auftrag, über Solothurner Gebiet eine aus Bern geschickte Truppenabtheilung durch die Jurapässe, zunächst durch die hart an der Berner Grenze sich öffnende Klus, nach Mühlhausen

hinaus zu führen. Allein am 20. September, neuen Stils, kam es zu einem mörderischen Überfall mitten im Frieden gegen diese auf sicheren Durchpaß durch das katholische Nachbarland rechnenden Leute von Seite bewaffneter katholischer Bauern, welche durch die beiden Solothurner Landvögte auf den den Paß durch die Klus beherrschenden Burgen, Brunner auf Falkenstein und Philipp v. Roll auf Bechburg, fanatisirt worden waren. Daraus erwuchs die Gefahr eines Krieges zwischen Bern und Solothurn, welcher sehr leicht zu einer allgemeinen Ergreifung der Waffen von reformirter und katholischer Seite hätte führen können, und die Hauptaufgabe des Verfassers lag nun darin, diese Seite der Angelegenheit zu beleuchten, die Anstrengungen der Unparteiischen zum Zweck der Herbeiführung einer Vermittlung, die in Solothurn selbst über die Frage erwachsenden Parteiungen zwischen einer politischer denkenden nachgiebigen und einer leidenschaftlicheren provozirenden Auffassung, ganz besonders auch die Bemühungen Frankreichs und in erster Linie des Herzogs Heinrich von Rohan als außerordentlichen Ambassadors, um Vermeidung weiter gehender Spaltung, zu würdigen. Bis zum März 1633 kam das von der Januar-Tagsatzung zu Baden vorgeschlagene „Projekt" zur Ausführung: Solothurn hatte gänzliche Genugthuung zu leisten, besonders die armen bethörten Bauern zur Richtstätte zu schicken — die vornehmen Anstifter wurden auch mit ihrem Vermögen zur Rechenschaft genommen, hatten sich aber flüchtig weiteren Schritten entziehen können —, eine ansehnliche Entschädigungssumme an Bern zu entrichten. Der Autor hat diese zum Theil sehr verwickelten Fragen klar und anschaulich erörtert und vorzüglich auch interessantes ungedrucktes Material aus Solothurn herangezogen. Ein „Handbuch" des Solothurner Säckelschreibers Mauriz Wagner, über die Jahre 1629—1648 bietet interessante Aufzeichnungen eines den Dingen ganz nahestehenden Zeitgenossen, deren Auszug S. 156—162 gegeben ist. Aber noch wichtiger ist der Bericht aus den Secreta domestica des einsichtigsten der damaligen Solothurner Staatsmänner, des vortrefflichen, auch sonst durch sein politisches Auftreten bemerkenswerthen und von Alfred Hartmann schon 1861 monographisch geschilderten Hans Jakob v. Staal, hier S. 164—176 abgedruckt, wozu noch weitere Beilagen kommen, so S. 180 ff. Punkte der Widerlegung einer aufhetzenden Predigt, welche im Sinne der Gegenpartei im Juni 1633 gegen Staal's beschwichtigende Politik gehalten worden war. Von S. 187 an folgen

noch neun Briefe Ludwig's XIII., der französischen diplomatischen Vertreter, besonders Rohan's aus den Archiven von Bern, Solothurn und Zürich.

Die zweite Schrift, deren Thema dem Vf. als einem Angehörigen des Kantons Thurgau schon an sich nahe lag, schließt sich chronologisch gleich an das Fäh'sche Buch an. Hier gruppiren sich die Ereignisse um den Einbruch der von Feldmarschall Horn geführten schwedischen, für die Belagerung von Constanz von der Landseite her bestimmten Armee auf schweizerischen Boden im September 1633; es gelang nämlich dem Heerführer, sich des Überganges über die Rheinbrücke bei dem damals zürcherischer Hoheit unterworfenen Städtchen Stein, am Ausflusse des Stromes aus dem Untersee, zu bemächtigen und auf diese Weise den Marsch auf dem südlichen, zur gemeinen Herrschaft Thurgau gehörenden Seeufer bis vor Constanz anzutreten. Erst durch neueste 1889 durch Staatsarchivar Dr. Schweizer in Zürich angestellte archivalische Forschungen, deren Ergebnisse der Drucklegung entgegensehen, ist dargelegt worden, daß eine in Zürich thätige, kriegerisch gesinnte Partei, welcher auch der Leiter der zürcherischen Kirche, Antistes Breitinger (H. Z. 36, 207 u. 208), nicht fern stand, an einen Anschluß an die schwedische Kriegsführung dachte, und daß die ungenügende Bewachung der Rheinbrücke wohl mit diesen Anzettelungen in Verbindung zu bringen ist. Der Vorwurf hinsichtlich der Durchbrechung der schweizerischen Grenze durch das fremde Kriegsvolk, zum Behufe der Bedrängung eines kaiserlichen festen Platzes, wurde nun aber von Seite der katholischen Majorität der über die Landvogtei Thurgau regierenden eidgenössischen Orte auf den General-Wachtmeister Kilian Kesselring abgewälzt, welcher, als Abkömmling einer angesehenen reformirten thurgauischen Familie, mit der Schuld dafür belastet wurde, daß die thurgauische Wachtordnung, für die er verantwortlich gemacht wurde, sich nicht bewährt hatte. Gleich im Oktober des Jahres 1633 zu Wil auf dem Boden des Fürstabtes von St. Gallen gefangen genommen und nach Schwyz abgeführt, wurde Kesselring einer peinlichen Prozedur unterworfen und Anfang 1635 zu harter Ehren- und Geldstrafe verurtheilt, nachdem sogar sein Leben in Gefahr gewesen war. Erst im Februar 1635 kam er nach Zürich, wo er Zuflucht und beste Aufnahme fand, bis er 1643 in die Heimat zurückkehren konnte; er starb 1650. Das Hauptgewicht der Arbeit des Verfassers fällt auf die Verhandlungen des Standgerichtes in Schwyz und auf die Anstrengungen der unparteiischen Orte, den aber-

mals drohenden Kriegsausbruch, von Seite Zürichs und Berns, welche sich durch die Abweisung ihrer Verwendungen schwer beleidigt fühlten, abzuwenden; denn auch hier kam es wieder zu den mannigfachsten, oftmals sehr gereizten Verhandlungen zwischen beiden Parteien. Von S. 103 an folgen 79 Aktenstücke in den Beilagen, aus den Archiven von Zürich, Luzern und Schwyz; dagegen ist der Bericht über die Verrichtungen und über die peinlichen, in Schwyz gemachten Aussagen Kesselring's schon früher, in Heft 13 der Thurgauer Beiträge zur vaterländischen Geschichte, gedruckt worden. M. v. K.

Der arme Mann im Toggenburg. Statthalter Bernold von Walenstadt, der Barde von Riva. Von **Ernst Götzinger.** Herausgegeben vom historischen Verein in St. Gallen. St. Gallen, Huber u. Komp. (E. Fehr). 1889. 1890

Der historische Verein läßt seit 1862 Neujahrsblätter erscheinen, von denen schon mehrere biographische Schilderungen enthielten, so diejenigen von 1871 die Lebensschicksale des helvetischen Finanzministers Jakob Laurenz Custer, 1873 und 1874 die Würdigung der Geschichtschreiber Joachim v. Watt und Ildefons v. Arx, aus dem 16. und 19. Jahrhundert, 1880 und 1882 diejenigen des Pädagogen und gemeinnützigen Literaten Professor Peter Scheitlin und der Predigerfamilie Scherrer. Für 1889 und 1890 stellte der Germanist und Literarhistoriker Götzinger in St. Gallen, der Herausgeber der St. Galler Reformationschronik Keßler's (H. Z. 24, 43—93) und der deutschen Schriften Vadian's (H. Z. 44, 349—353), zwei schriftstellerische Persönlichkeiten dar, welche, der eine trotz seiner geringeren gesellschaftlichen Stellung allerdings viel weiter bekannt, in eigenthümlicher Weise die Zeit der Aufklärung und der Revolution in sich darstellen.

Der auch durch G. Freytag, in den „Bildern aus der deutschen Vergangenheit", als „preußischer Deserteur" (aus der Schlacht bei Lowositz) vorgeführte Toggenburger Ulrich Bräcker — oder Brägger —, der 1735 geborene „arme Mann im Toggenburg" ist zwar schon im 18. Jahrhundert (indem der Zürcher Historiker und Publizist Johann Heinrich Füßli, Johannes Müller's „ältester Freund in der Schweiz", dessen Schriftstellerei an das Tageslicht zog) bekannt geworden; aber Bräcker verdiente es wohl, in einer so abgerundeten Schilderung, unter Einflechtung sprechender Selbstzeugnisse, wie das hier G. thut, wieder behandelt zu werden. Ein eifriger Beobachter der Natur, in

die er als Sohn eines Gebirgsvolkes mitten hineingestellt war, von sehr regem, sittlich religiösem Gefühle, höchst naiv und dabei hingebend lernlustig, freilich auch in späteren Jahren durch den gewaltigen Lesetrieb seinem ursprünglichen Wesen mehr entfremdet, so ist der „arme Mann" durch seine Aufzeichnungen, die der Vf. besonders mit Rousseau's Confessions vergleicht, ein bemerkenswerther Spiegel seiner Zeit.

Bernold dagegen, 1765 als der Sohn eines wohlhabenden Hauses, des Landeshauptmannes in Walenstadt — die sprachlich richtigere Form ist freilich Walenstaad (Riva) — geboren, war schon gewissermaßen erblich zu einer angeseheneren Stellung innerhalb der Unterthanenschaft der damaligen gemeineidgenössischen Vogtei Sargans, zu der das Geburtsstädtchen zählte, empfohlen. Der Aufenthalt des Knaben auf der Klosterschule zu Salmansweiler eröffnet einen Einblick in das Leben dieses reichsunmittelbaren schwäbischen Zisterzienserklosters. Bis zur Revolution von 1798 wirkte Bernold als Landeshauptmann und Walenstadter Stadtschultheiß, nicht ohne einmal, 1794 und 1795, ohne eigene ernsthaftere Verschuldung, mit der landvögtlichen Regierung in Reibung zu gerathen; das weit größere Gewicht legte der in der Literatur sehr wohl bewanderte Mann auf seine freilich nicht originalen Dichtungen, sowie auf verschiedenartige Korrespondenzen und Freundschaften (hier ist, S. 10, Chorherr Rahn, ein zu seiner Zeit sehr geschätzter Arzt, der in seiner Eigenschaft als Hofpfalzgraf Fichte den Doktortitel ertheilte — vergl. das Diplom im Zürcher Taschenbuch von 1890, S. 257—261 — irrthümlich mit einem Verwandten, dem Wagmeister Rahn, Klopstock's Schwager und Fichte's Schwiegervater, identifizirt). Wie der Entwurf einer Flugschrift, vom Januar 1798, beweist („Gesunder Menschenverstand an alle und jede Einwohner der Schweiz gerichtet"), nahm Bernold an der staatlichen Umgestaltung innerlich Antheil. Er verfaßte das die Lossprechung aus der Unterthänigkeit begehrende Memorial der Sarganserländer an die regierenden acht alten Orte und eröffnete nach der Freierklärung die erste Landsgemeinde in Mels, auf welche allerdings rasch die Einverleibung in den helvetischen Kanton Linth folgte, dem Bernold jetzt als Unterstatthalter in seinem Distrikte diente. Die verschiedenartigen hier mitgetheilten Redestücke sind sprechende Beweise für die ideale Hoffnungsfreudigkeit des jungen Mannes; ebenso ist aus Bernold's Aufzeichnungen auf das anschaulichste das Brandunglück geschildert, welches, während er, im Geruche

fränkischer Gesinnung stehend, aus Walenstadt 1799 durch die Kaiserlichen ausgewiesen war, das Städtchen und auch das Haus Bernold's traf. Erst nach der Einrichtung des Kantons St. Gallen kam dann Bernold, als administrativer Lenker seines Bezirkes, durch 31 Jahre hin bis 1834 wieder zu voller Geltung; jüngerer Gesinnungsgenosse und Gehülfe des St. Galler Landammanns Müller-Friedberg, erwarb er sich zahlreiche und verschiedenartige Verdienste um diese Landesabtheilung, so auch bei der Linthkorrektion, welche Walenstadt davor rettete, im Sumpfe zu ersticken. 1841 starb der wackere „Barde von Riva", dessen Lebensbild hier zum ersten Male, und zwar aus originalem Materiale, eigenen Aufzeichnungen, von 1803 an aus zahlreichen Stücken der Korrespondenz, vorgeführt erscheint.

Porträts der geschilderten Männer, Bilder der wichtigsten Örtlichkeiten, welche mit denselben in Verbindung stehen, besonders für 1889 einige hübsche Ansichten aus dem Toggenburg, begleiten beide Hefte.

Sehr dankenswerth sind die seit 1879 den Neujahrsblättern alljährlich beigegebenen Anhänge: St. Galler Chronik und St. Gallische Literatur je des abgelaufenen Jahres. M. v. K.

Denkwürdigkeiten meines Lebens (1765—1834). Von **Gottlieb v. Jenner.** Herausgegeben und mit Anmerkungen versehen von **Eugen v. Jenner-Pigott.** Bern, K. J. Wyß. 1887.

Die 1826 geschriebenen Memoiren eines Staatsmannes des alten Bern, welcher, allerdings nicht in leitender Stellung, doch in wichtigen administrativen Funktionen, schon 1798 in den Tagen des sog. „Überganges", der Kapitulation der Stadt gegenüber dem General des fränkischen Direktoriums Schauenburg, sich bethätigte, verdienten, wie der Herausgeber in seinem „Vorworte" sehr richtig betont, durchaus eine Veröffentlichung, zumal da, wie Jenner selbst in seinen einleitenden Worten sagte, er, „durch ganz besondere Umstände mitten in den Strudel der damaligen Staatsereignisse hineingerissen, öfters mißkannt, öfter falsch beurtheilt worden" sei.

Als Oberkriegskommissär hatte Jenner in den verhängnisvollen Märztagen 1798 zuerst die Rettung der „zu Besoldung der Truppen wirklich bezogenen und noch zu beziehenden Summen Gelds" vor den heranrückenden Franzosen zu besorgen, hernach am 5. des Monates den über die Aarebrücke einziehenden Sieger Schauenburg persönlich zu empfangen, weil bei der Auflösung aller bürgerlichen Verhältnisse

kein Beamter mehr zur Stelle war. Durch eine unerschrockene A
wort auf die groben Drohungen Schauenburg's — Forderung ein
Mittagessens im Gasthofe: ou je vous jette par la fenêtre —
warb sich Jenner Achtung, so daß er fortan mit dem General g
auskam; ebenso konnte er auf Schauenburg's Nachfolger Brune ein
vielfach nützlichen, beschwichtigenden Einfluß ausüben. Vorzügl
aber vermochte er, als an Brune die Existenz jener nach dem Obe
lande geretteten Staatsgelder durch einen Waadtländer Junot ve
rathen worden war, durch die Zuweisung einer Erkenntlichkeit v
200000 Franken es von dem General zu erreichen, daß jenes Ge
unter dem Vorwande, Ankäufe von Getreide für die Armee zu mache
nach Deutschland geführt werden sollte; weil aber die Abführung
Thun Schwierigkeiten begegnete, und die Sache ruchbar geworde
war, mußte das Geld nach Bern zurückgebracht werden, wobei Jenn
immerhin Gelegenheit fand, 500000 Livres — darunter eben 200 0
für Brune — zur Seite zu schaffen, was sich wenigstens theilweis
doch durch einen Fehlgriff für Säcke mit Silber statt mit Gol
wiederholte, als der Kommissär Rouhière nachher auf die im Sal
gewölbe deponirten Gelder griff. Bei der Eröffnung des Schat
gewölbes vollends „bemächtigte sich beim Anblick des Goldes de
neuen Freiheits- und Gleichheitskrieger die ausgelassenste Freude", da
sie ganz „freigebig und guter Laune" wurden. So gingen die Ding
welche Jenner in der anschaulichsten und einfachsten Weise erzähl
bis zum 24. März, von wo an er an diesen Angelegenheiten sic
nicht mehr betheiligen konnte. Über die Höhe der durch die Franzose
entfremdeten Summen hatte auch Jenner keineswegs überall ein
feste Vorstellung; dagegen berechnet er die Summe der zunächst vo
ihm selbst geretteten Gelder auf 280000 Franken, aus denen er theil
außerordentliche Ausgaben des schwer bedrängten Staates bestritt
theils an verschiedenen sicheren Stellen Depositа gestaltete.

Ganz besonders bemerkenswerth ist ferner — S. 25 ff. — di
Jenner bei Brune's Abreise auferlegte Entfernung nach Paris, wo
er nun, ohne diplomatischen Auftrag, als Privatmann, durch seine
Geschicklichkeit für die Deputirten der Berner provisorischen Regierung,
deren einer Stapfer war (vgl. H. Z. 60, 172—175, über Luginbühl's
Buch, das freilich, S. 47 ff., Stapfer's Initiative bei der Sache über-
schätzt), unter Rückkauf der Berner Staatsschuldschriften den sehr
vortheilhaften Traktat vom 8. Floreal VI (27. April 1798) mit
Talleyrand zum allergrößten Ärger des Kommissärs Rapinat zu

Stande brachte. Weitere hervorzuhebende Abschnitte sind: S. 41 ff. die Schilderung der unendlich schwierigen Thätigkeit Jenner's als Geschäftsträger der helvetischen Republik, neben dem bevollmächtigten Minister Zeltner, vom Juni 1798, in Paris, besonders sein Antheil an der Abschließung des von der helvetischen Republik anzunehmenden Allianztraktates vom 19. August; S. 56 ff. die Verhandlungen mit der helvetischen Regierung in Luzern wegen des Begehrens der Auslieferung der geretteten Gelder; S. 68 ff. Jenner's abermalige diplomatische Funktion in Paris nach dem Brümaire-Staatsstreiche; S. 86 ff. das vermittelnde Dazwischentreten Jenner's, der als Staatssekretär der helvetischen Republik, freilich schweren Herzens, mit der vor der föderalistischen Insurrektion entfliehenden Regierung nach Lausanne gegangen war, bei Anlaß der durch den ersten Konsul befohlenen Intervention General Rapp's, Herbst 1802; S. 96 ff. die abermalige Mission nach Paris 1803, zum Behuf der Erhaltung der geretteten Gelder und die geschickte Bewerkstelligung des Auftrages durch Überweisung einer Herde Schweizerkühe an Josephine als Geschenk der Stadt Bern. Von S. 101 an folgt die Übersicht der 1804 endlich an den Staat zurückerstatteten etwas über 460000 Franken.

Ohne Frage war Jenner eine Persönlichkeit von höchster diplomatischer Begabung, wobei ihm sein unscheinbares Auftreten sehr nützlich war. Talleyrand, von dem bezeichnende Anekdoten mehrfach der Erzählung eingefügt sind, soll zu ihm gesagt haben: Citoyen Jenner, je donnerais un million pour avoir l'air aussi niais que vous.

Den ganzen zweiten Theil des Buches (S. 117 ff.) machen Aktenstücke, besonders aus den Jahren 1798—1800, sowie 1802—1804 aus, auf welche im Texte fortwährend verwiesen wird. Beispielsweise seien erwähnt: Nr. 70, der äußerst eingehende Generalrapport Jenner's an die helvetische Regierung über die abgeschlossene Mission in Paris von 1800; Nr. 89, die Rechnung über die Staatsschuldschriften des alten Bern (diese ausländischen Kapitalien stiegen über 12 Millionen, wovon ein Drittel in England, über 2½ Millionen der deutsche Kaiser, nicht viel weniger der König von Dänemark, gegen 1½ Millionen der Herzog von Zweibrücken, andere deutsche Reichsfürsten geringere Summen); Nr. 91, eine Unterhaltung bei Talleyrand 1804 wegen der Frage von Handelsbegünstigungen für die Schweiz; Nr. 94, ein von Jenner vor dem Berner Rathe 1821 gehaltener Vortrag über seine Schlußabrechnung. M. v. K.

J. Gaudenz v. Salis-Seewis. Von **Adolf Frey.** Frauenfeld, J. Huber. 1889.

Der Vf., als Literarhistoriker und auch als Dichter erfolgreich bethätigt, hatte schon seit mehreren Jahren, durch die Herausgabe der Schriften von Salis-Seewis in Kürschner's Deutscher Nationalliteratur, durch die Schrift „Die Helvetische Armee und ihr Generalstabschef J. G. v. Salis-Seewis im Jahre 1799 (Zürich 1888)", mit dem graubündnerischen Dichter sich beschäftigt, der in der deutschen Literaturgeschichte der zweiten Hälfte des 18. Jahrhunderts einen geachteten Platz dauernd einnimmt. Seither gelang es dem Vf., den früher nie verwertheten handschriftlichen Nachlaß, des Dichters Tagebuch und die Reste des Briefwechsels, wo allerdings empfindliche Lücken klaffen, durch Gefälligkeit der Familie v. Salis heranzuziehen und so ein abgerundetes Bild des Lebens eines liebenswerthen und tüchtigen Repräsentanten aus der Zeit des Erwachens und der darauf folgenden Umwälzung zu gestalten.

Das Leben des Geschilderten verfloß in bestimmt abgegrenzten Abschnitten. Geboren 1762 im Familienschloß Bothmar bei Malans, seit 1779 Offizier der Schweizergarde in Frankreich, nach kurzem Dienst auch in der Armee der fränkischen Republik 1792 verabschiedet, dann in die der Revolution von 1798 vorangehenden Parteikämpfe verwickelt, 1799 in hoher militärischer Stellung bei der neu gestalteten helvetischen Republik, nach 1803 auch der politischen Bethätigung im helvetischen Staatsdienste ledig, lebte Salis bis zu seinem Tode 1834 als Privatmann, wenn auch in seiner engeren Heimat vielfach noch in Anspruch genommen. Die dichterische Fruchtbarkeit, in deren Hervorbringungen sich der gefühlvolle Schilderer der Natur enge mit seinem Freunde Matthisson berührt, ohne aber seine Freiheit dabei einzubüßen, im Gegentheil frischer und ursprünglicher, fällt ganz wesentlich bei Salis in die jugendlichen Mannesjahre; er leistete selbst später Verzicht, mit dem Selbstbekenntnisse: „Am Sommertag des Lebens verstummt das Saitenspiel" —, und ganz entspricht dem die unbefangene Wahrheitsliebe des Biographen, der es eingesteht, daß den Dichter „an stärkerer Produktion die Schranken seines Talentes hinderten".

Das sehr geschickt geschriebene, in formaler Hinsicht durchaus ansprechende Buch, bei dessen Durchlesung nur hier und da der Mangel weiteren Materiales zur genaueren Beleuchtung einzelner Vorgänge zu bedauern ist, bietet zur Geschichte der zu Ende gehenden

altschweizerischen Epoche, vorzüglich derjenigen des Fremdendienstes, ganz wesentliche kulturgeschichtliche Beiträge. Mit Verwunderung ersieht man, wie lange sich ein Offizier der französischen Garde durch Urlaubsbenutzung seinem Dienste entziehen und in der geliebten Heimat verweilen konnte: so war Salis z. B. nach nur einjähriger Präsenz in Paris vom 15. Oktober 1780 bis 22. März 1781 ferne, und das wiederholte sich nach Ablauf der allerdings größere Anstrengungen fordernden Königsmusterung vom 7. Mai des Jahres bis Ende März 1782; interessant ist ferner eine Übersicht der Kosten bei der Rekrutirung und der Überführung von solchen Nachschüben aus der Heimat zum Regimente (S. 38 u. 39). Aber auch für die Geschichte der Revolution in Frankreich ergeben sich bemerkenswerthe Züge, ganz abgesehen von dem sehr aufschlußreichen, anschaulichen Berichte des Tagebuches in der ersten Beilage, über Erlebnisse auf der Rückkehr aus dem Urlaube nach Paris und während der Monate Juni bis August 1789, bis zum 7. des letzteren Monates in Paris, hernach in Rouen (S. 241—262). Während des Aufenthaltes zu Arras, als Offizier des Regimentes Salis-Samaden, hatte Salis 1787 bei einer Schulübung im Kollegium ein Stück Robespierre's mit angehört, in welchem besonders auch eben diesem seinem Regimente Weihrauch gestreut wurde; aber auch noch während der Revolution, im August 1791, entließ Rouen dieses gleiche Regiment, bei seiner Versetzung, welche Deputirte nach Paris hätten rückgängig machen sollen, unter sentimentalen Kundgebungen, mit Ueberreichung einer Nationalfahne von Seite der Stadt. Salis selbst wurde übrigens von dem Geist, der in Frankreich wehte, erfaßt und besann sich (1792) nicht, einen Konflikt mit einem Vorgesetzten nach Paris vor die Nationalversammlung zu ziehen, um sein Recht zu erhalten. Freilich wurde er durch die nachfolgenden Ereignisse enttäuscht, und schon am 25. Januar 1793 schrieb er: „Auch Frankenfreiheit war nur ein Schatten, den blutgierige Hunde besudelten . . . Frankenfreiheit ward Cromwellisch". Aber auch nach der Rückkehr nach Graubünden blieb Salis, wie er sagt, zwar „ein neutraler Prättigauer", „der aber doch die Franken als Geißel jeder Aristokratie liebt und ehrt". Er zählte zu den idealistischen schweizerischen Patrioten, welche, in Erkenntnis der Unmöglichkeit, das Bestehende zu erhalten, und in Abwendung von demselben, ohne klare Erkenntnis der Folgen auf der eingeschlagenen Bahn, die Einmischung der Fremden in die heimischen Angelegenheiten herbeiführten, dabei ohne alle Scheu vor Berührung mit un-

würdigen Persönlichkeiten, als Gehülfen, so z. B. in diesem Falle von dem Schlag eines gewissen Bansi, eines früheren bündnerischen Pfarrers, dessen zweifelhaften sittlichen Werth zwar Salis selbst kennen gelernt hatte. Allerdings hatte dann der Dichter als hoher, helvetischer Offizier die Früchte der fränkischen Anordnungen in der umgestürzten Schweiz selbst am nachhaltigsten zu kosten, und, wie schon in der früheren Schrift, ergeben sich hier in Kap. 16 abermals tiefe Einblicke in die trostlose Verwirrung und Unsicherheit der gesammten Verhältnisse in der vom fränkischen Direktorialstaate aufgerichteten dienstbaren Vassallenrepublik.

Als kleine Versehen seien angemerkt: S. 7 wird die weibliche Erziehungsanstalt Montmirail, bei Neuchâtel, irrig in die Nähe von Lausanne gesetzt und statt der Linth die Limmat genannt; S. 186 muß nicht der Zürcher Staatsmann Reinhard, sondern ohne Zweifel der im Dienste Frankreichs stehende Würtemberger Karl Friedrich Reinhard, Gesandter bei der helvetischen Republik, unter dem „Minister Reinhard" verstanden werden.

Das vorangestellte Porträt, nach einer etwa 1790 durch Quenedey in Paris angefertigten Kupferplatte, macht es erklärlich, daß das allerdings ganz unverbürgte Gerücht sich verbreiten konnte, Königin Marie Antoinette habe dem schönen jungen Schweizer Offizier ihre Aufmerksamkeit zugewendet. Ein anmuthiges zweites Bild stellt den reizend am grünen Bergabhange liegenden Landsitz Bothmar dar. M. v. K.

Joh. Kasp. Schweizer. Ein Charakterbild aus dem Zeitalter der französischen Revolution von **David Heß.** Eingeleitet und herausgegeben von **Jak. Bächtold.** Berlin, W. Hertz (Besser). 1884.

Einer der feinsten Köpfe, welche Zürich je besaß, war der in seiner Jugend in holländischem Kriegsdienste bethätigte, später seit seiner Rückkehr 1796 bis zu seinem Tode 1843 nur noch im Privatleben seinen künstlerischen und literarischen Neigungen sich hingebende David Heß, der Verfasser des klassischen Buches: Die Badenfahrt (1818), über die „Thermopolis" an der Limmat, ein Meister in der Biographie, hochverdient als Herausgeber der Werke Martin Usteri's. Ein lange ungedruckt gebliebener biographischer Versuch über „einen der hochherzigsten und unglücklichsten philanthropischen Schwärmer", den merkwürdigen Zeitgenossen der französischen Revolution, Joh. Kaspar Schweizer von Zürich, der durch seine Gattin Magdalena Heß mit David Heß verwandt war, kam durch O. Pestalozzi zuerst

1880 im Zürcher Taschenbuch, auszugsweise bearbeitet, zum Drucke; Bächtold kommt das Verdienst zu, dieses biographische Meisterstück, das er durch eine ausgezeichnet gelungene Skizze über Heß selbst einleitete, vollständig mitgetheilt zu haben.

Unbefriedigt von den engen Verhältnissen Zürichs, wo der Idealist mit seinen pädagogischen oder auf Beglückung der Menschheit im allgemeinen abgestellten Träumereien überall anstößt oder mit seinen chimärischen kommerziellen Plänen mit Kopfschütteln betrachtet, ja bei der ängstlichen Überwachung aller Dinge von der Obrigkeit als ein gefährlicher Agitator angesehen wird, kommt Schweizer 1786 auf die Dauer nach Paris und wird infolge seiner ansehnlichen Geldmittel alsbald von einer gierigen Bande von Spekulanten umworben, daneben aber auch von geistig höher stehenden Persönlichkeiten, voran von Mirabeau, welchem der überall arglose Mann gleichfalls bald seine Kasse öffnet, beachtet und aufgesucht. Eine ganze Fülle von Männern, welche hernach in der Revolution auftauchen und vielfach von ihr verschlungen werden, gehen im gastlichen Hause des liebenswürdigen zürcherischen Ehepaares ein und aus. In den ersten Jubelzeiten der Bewegung flohlockt Schweizer mit; er ist Jakobiner und geht ganz im politischen Treiben auf. Aber mit Abscheu wendet er sich nachher von dem blutbesudelten Terrorismus ab, mit seiner jetzt unter den furchtbaren Schrecken in ihrem sittlichen Muthe wunderbar erstarkten Frau, weil das überzeugungstreue Paar seine umgewandelte Ansicht offen bekannte und gegenüber den Verfolgten Thaten der Barmherzigkeit durchzuführen wagte, mehrmals selbst nahezu der Vernichtung ausgesetzt; dann aber läßt sich der wankelmüthige Mann doch wieder Ende 1793 vom Wohlfahrtsausschusse zum Zwecke der revolutionären Propaganda nach der Schweiz senden, wo er selbstverständlich wie ein Verrückter angesehen und empfangen wurde. Inzwischen ist Schweizer längst in seinen Vermögensverhältnissen gänzlich zerrüttet; doch nun wirft er sich in neue ungeheuerliche Spekulationen hinein. Er läßt sich 1794 nach dem Sturze des Schreckenssystems zum Mitgliede einer Agentschaft ernennen, welche beauftragt ist, für die französische Regierung in Nordamerika große Geschäfte zu betreiben; dabei aber wird er von Anfang an durch einen Verbrecher unter den Genossen der Sendung, Namens Swan, betrogen und verrathen. In Nordamerika glaubt Schweizer, auf dem Boden einer befreiten neuen Welt seine Hirngespinnste endlich verwirklichen zu können, und so verscherzt er die sich ihm wirklich bietende Gelegen-

heit, seinen Wohlstand zurückzugewinnen. Ein Bettler, kehrt er zu der in Paris gebliebenen Magdalena zurück und wird hier vollends das Opfer des teuflischen Swan und der gehäuften Quälereien, die sich von allen Seiten über ihn ergießen. Allein er brütet unausgesetzt über dem großen Werke, das er als Kritik der Zivilisation herausgeben will, ohne zu einer klaren Erkenntnis seines Elends zu gelangen. Nach dem Tode des Gatten (1811) kehrt Magdalena nach Zürich zurück, doch in ihrer Kraft gebrochen. Mit dem Tode der liebenswürdigen Frau (1814) findet diese Geschichte, von der mit Recht gleich in jener Zeit schon geurtheilt wurde, daß in ihr ein großer Roman und ein halbes Dutzend der besten Novellenstoffe stecken, ihren mild versöhnenden Abschluß.

Heß hat die Erlebnisse 1822 „in 50 freien Umrissen" niedergeschrieben, auch als versöhnendes Ende einer unsäglich peinlichen Arbeit, nämlich derjenigen, „den ökonomischen Augiasstall des Anverwandten zu kehren"; denn Schweizer hatte diesen Vetter seiner Frau zum Vollzieher seines Testamentes ernannt, das von ihm selbst noch kurz vor seinem Tode in dem Wahne verfaßt worden war, er sei ein reicher Mann. Zehn Jahre hatte der Beauftragte mit diesen kläglichen Dingen sich zu befassen, und so glaubte er den Verstorbenen aus seinen hinterlassenen Schriften so genau kennen gelernt zu haben, „als hätt' ich — so sagt er — ihn selbst durch das Labyrinth seines unruhigen und verworrenen Lebens- und Ideenganges begleitet". Von Heß angehängte erläuternde, oft sehr eingehende Anmerkungen folgen hier noch S. 243—276 im Abdrucke.

Durch Bächtold ist nun aber auch in einer längeren Einleitung, S. X—CVI, Heß selbst geschildert worden. Hessens Autobiographie, welche der schon genannte O. Pestalozzi im Zürcher Taschenbuch von 1882 zum Abdrucke brachte, erzählte nach merkwürdigen Erlebnissen der Großeltern und Eltern nur noch die eigene Kinderzeit, gleichfalls nicht vollständig. Dagegen schöpfte jetzt Bächtold als Biograph aus dem reichhaltigen, in Zürich und Basel bei den Erben liegenden schriftlichen Nachlasse. Besonders das Militärleben in Holland, an dessen Schluß Heß der siegreichen Revolution in der Hollandia regenerata durch zwanzig meisterhafte Karrikaturen ein Denkmal gesetzt hatte, die verschiedenen mit Literaten und Künstlern jetzt und später angeknüpften Verbindungen, die scharfe Beobachtung und ätzende Beurtheilung, welche der konservativ denkende Privatmann nachher in der Schweiz den öffentlichen Dingen zu Theil werden ließ — man lese z. B. S. LXV ff.

den gereimten „Vorschlag, wie eine der unverdorbenen Menschennatur angemessene Konstitution könne entworfen werden", von 1800 —, die eigene vielseitige literarische Thätigkeit finden sich hier in eingehendster Weise beleuchtet. Von dem ausgezeichneten Erzählertalent, das Heß besaß, zeugt aber insbesondere noch unmittelbar die Aufzeichnung: „Die Tage des Schreckens", nämlich die Darstellung der Ereignisse der zweiten Schlacht bei Zürich, 25. und 26. September 1799, auf deren Schauplatz, soweit er vor die Thore Zürichs fiel, sich Heß in seinem Landhause zum Beckenhof in der Vorstadt Unterstraß unmittelbar befand. Bächtold nennt mit Recht dieses S. XLIV bis LXIII abgedruckte Stück ein „bedeutendes historisches Dokument".

M. v. K.

Leben der beiden zürcherischen Bürgermeister David v. Wyß Vater und Sohn. Aus deren schriftlichen Nachlaß als Beitrag zur neueren Geschichte der Schweiz geschildert von **Friedrich v. Wyß**. I. II. Zürich, S. Höhr. 1884. 1886.

In dem vom Enkel und Sohne vorgeführten Lebensbild der zwei gleichnamigen zürcherischen Bürgermeister, welche beide auch unter verschiedenen Verfassungsformen zeitweilig an der Spitze der Eidgenossenschaft standen, ist ein neuer Beitrag zu der Geschichte der inhaltreichsten und bewegtesten Zeitabschnitte der neueren schweizerischen Geschichte geboten. Denn der ältere der Bürgermeister, im 48. Lebensjahre 1795 zur Führung des Staates erhoben, erlebte als solcher 1798 die Umwälzung Zürichs in der helvetischen Revolution, darauf 1799 Deportation[1]) und Exil; nach der Rückkehr nach Zürich zog er sich zurück und starb im Privatleben 1815. Zu dieser Zeit aber war der 1763 geborene Sohn schon seit dem 16. Dezember 1814 Bürgermeister, als welcher er 1815 als erster seinen Namen unter den Bundesvertrag setzte, mit welchem der bis 1830 reichende Zeitabschnitt eröffnet wurde; aber auch in die 1831 mit der neuen Kantonalverfassung eröffnete Phase trat er als Staatshaupt abermals ein und legte erst Angesichts der Verschärfung des radikalen Parteiregiments am 9. März 1832 sein Amt nieder; 1839 ging dieses

[1]) Hierüber kommen ferner in Zürcher Taschenbüchern neuerdings in Betracht, von 1880: A. v. Orelli, Die Deportation zürcherischer Regierungsglieder nach Basel (S. 247—312), und in dem Bande von 1890 S. 41 ff. in dem Aufsatze von S. Vögelin: Rittmeister Anton Ott, zum Schwert.

Leben zu Ende. Demnach ist ziemlich genau ein halbes Jahrhundert der Geschichte der Schweiz vor und nach der Revolution hier in vielfachster Weise aus unmittelbaren Quellen an das Licht gerückt, und die Lebenserfahrungen von Vater und Sohn gehen durch Jahrzehnte parallel nebeneinander hin.

Das Werk hebt schon im Titel sehr nachdrücklich den schriftlichen Nachlaß der beiden Staatsmänner als die Grundlage der Lebensschilderung hervor, und der Vf. sagt selbst in dem Vorwort, daß „die Briefe und die Akten in direkter Aufnahme des Wesentlichen, soviel als es möglich ist, reden sollen". Darin ist ein Vorzug, aber auch ein gewisser Nachtheil des Buches gleich ausgesprochen. Denn so sehr der Vf. es nirgends außer Acht ließ, den allgemeinen Zusammenhang der Dinge festzuhalten, und so wohl abgerundet solche Kapitel, wo nicht größere Mittheilungen von Quellenstoff nothwendig wurden, sich darstellen — beispielsweise sei auf den Anfang von Bd. 1, über die Jahre 1737—1780, Jugendzeit des Vaters und erste zwanzig Jahre des Staatsdienstes desselben, dann Jugendzeit des Sohnes, verwiesen —, andere Abtheilungen entsprechen infolge der Fülle eingerückter Materialien, besonders wo das in französischer Sprache geschieht (so 2, 285 ff., über die Mission des Genfers Pictet de Rochemont nach Paris und dessen dortige Thätigkeit bei dem Abschluß des zweiten Pariser Friedens 1815), mehr einem Urkundenbuche mit verknüpfendem Texte. Freilich ist auf diese Weise das ohnehin überall hervortretende Streben des Vf., durchaus objektiv die Dinge selbst sich vorführen zu lassen — „Das eigene Urtheil könnte hier, bei dem Pietätsverhältnis, in dem der Vf. als Enkel und Sohn zu den beiden Männern steht, so leicht als befangen gelten" —, noch mehr unterstützt. Andrerseits aber bietet das sorgsam ausgearbeitete Werk so viele reiche Aufschlüsse, daß der Forscher dieselben dankbar entgegennimmt, auch wo deren Gewinnung zuweilen auf den ersten Blick weniger leicht sich darzubieten scheint. Von solchen besonders bemerkenswerthen Abschnitten mögen in Bd. 1 genannt sein: die Mission des älteren Wyß als eines der zürcherischen Repräsentanten nach Genf 1781—1782 zur Vermittlung in den dortigen bürgerlichen Wirren, wobei der Sohn als Begleiter mitging (S. 13—47); die im sog. Stäfener Handel 1794 und 1795 im Kanton Zürich zuerst sich einstellenden Anzeichen der sich von Westen heranwälzenden staatlichen Umgestaltung, in deren Verlauf die Bürgermeisterwahl des älteren Wyß fiel (S. 125—153); die letzte von Wyß präsidirte alteidgenössische

Tagsatzung zu Aarau seit 26. Dezember 1797 (S. 194—210) und die letzten Maßregeln der Zürcher Regierung Angesichts der bevorstehenden Invasion der Franzosen (S. 226 ff.); die zwar schon im Zürcher Taschenbuch von 1881 (S. 76—127) durch den Vf. dargestellte Theilnahme des jüngeren Wyß an der Leitung der helvetischen Republik in einer konservativ gefärbten Phase als Mitglied des Reding'schen Senats vom November 1801 an (S. 324 die Vorereignisse und S. 335—409 die halbjährige Wirksamkeit in Bern selbst); der Aufstand gegen die helvetische Regierung im Jahre 1802 (S. 515 ff.). In Bd. 2 ist erstlich die Aufmerksamkeit auf die beiden ersten Kapitel (5 u. 6), welche die große diplomatische und politisch organisirende Arbeit Reinhard's und des durch die Bürgermeisterwahl demselben zur Seite gestellten jüngeren Wyß, in den Jahren 1814 und 1815, schildern, im allgemeinen zu richten: die Vertretung am Wiener Kongresse, der Wiederaufbau der Schweiz in der föderativen Form nach dem Umsturze der Mediationsverfassung, die konstituirende und gesetzgeberische Arbeit im Kanton Zürich selbst finden sich auf 356 Seiten in der ersten Hälfte des Bandes in lehrreichster Weise aus einer Fülle besonders von brieflichen Mittheilungen erhellt. Von 1815 an ist die amtliche Thätigkeit des Zürcher Bürgermeisters durch die Verbindung seiner Funktion mit der Leitung der Eidgenossenschaft für diejenigen Jahre, in denen Zürich, abwechselnd mit Bern und Luzern, Vorort und Sitz der Tagsatzung ist, von allgemeiner Bedeutung; aber auch in den Zwischenjahren stand Wyß als Schwiegersohn des einen der leitenden Berner Staatsmänner, des Schultheißen v. Mülinen, seit 1817, in einem steten Verkehr mit Bern, dessen briefliche Zeugnisse wichtige Aufschlüsse bringen. Doch auch außerdem enthält dieser Abschnitt viel Bemerkenswerthes; nur beispielsweise seien die Mittheilungen über die mit den Namen des Restaurators Haller und des diplomatischen Vertreters der baierischen Regierung, v. Olry, sich verbindenden reaktionären Umtriebe in Bern erwähnt (S. 445 bis 456).

Die Bilder der beiden Staatsmänner sind den beiden Bänden vorangestellt. Dagegen vermißt der Benutzer des Werkes ein Verzeichnis der Personen. M. v. K.

Professor Dr. theol. Alexander Schweizer. Biographische Aufzeichnungen, von ihm selbst entworfen, herausgegeben von **Paul Schweizer**. Zürich, Schultheß. 1888.

Als mitten aus voller Kraft, zwar schon in hohen Jahren, der hochangesehene, kürzlich aus seinem Lehramte zurückgetretene Professor der Theologie an der Universität Zürich, Alexander Schweizer, 1888 nach kurzer Krankheit durch den Tod abgerufen wurde, fand sich in seinem Nachlasse eine Autobiographie, die, 1875 abgefaßt, durch seinen jüngsten Sohn, Staatsarchivar Dr. Schweizer, herausgegeben wurde, begleitet von dem ausgezeichnet wahren Porträt des Verstorbenen in Lichtdruck. Der Herausgeber bewies seine Pietät durch die Beifügung von Tagebuchnotizen, Briefen und weiteren Beweisstellen, theils in den Anmerkungen, theils als Beilagen, wobei sich mehrfach lehrreiche Beobachtungen durch die Vergleichung mit dem Texte ergeben; auch einige chronologische Versehen konnten so berichtigt werden.

Als der Sohn eines zürcherischen Theologen, welcher aber außerhalb der Vaterstadt an verschiedenen Stellen nach einander im Amte stand, 1808 geboren, kam Schweizer erst 1822 nach Zürich zur Schule. Nach der Ordination setzte das Wohlwollen des damaligen Hauptes der theologischen Gelehrsamkeit in Zürich, Dr. Joh. Schultheß, Schweizer in den Stand, in Berlin Schleiermacher zu hören und ihm nahe zu kommen, so daß er nachher der Fortsetzer der Theologie des Lehrers wurde. Von Leipzig, wo Schweizer als Hülfsprediger an der reformirten Kirche gewirkt hatte, geschah 1834 die Rückkehr nach Zürich. An der inzwischen neu begründeten Hochschule trat Schweizer als Docent ein, in Vertretung von Schultheß und eines zweiten außerordentlichen Professors, bis 1836 dieser Rang ihm selbst ertheilt wurde, außerdem aber an der Großmünsterkirche, zuerst als Vikar, auf die Kanzel. Damit begann eine umfassende akademische und literarische Thätigkeit, wozu seit 1844 die vollen Pflichten des Pfarramtes, bis zu dessen Niederlegung 1871, sich fügten. Von dem Inhalte der Schrift ist, bei allem Interesse auch der übrigen Theile, so der sehr anmuthigen, auch kulturgeschichtlich vielfach aufschlußreichen Jugend- und Bildungsgeschichte, in Hinsicht der historischen Mittheilungen Kap. 6 „Die Zeit der Strauß'schen Wirren" (S. 52—72) zumeist hervorzuheben. Schweizer hatte schon 1838, ehe von der Berufung des Verfassers des Lebens Jesu nach Zürich die Rede war, in den theologischen Studien und Kritiken seinen Standpunkt zur

Frage dargelegt, und danach faßte er das Gutachten der theologischen Fakultät 1839 in abrathendem Sinne ab. Der politischen Bewegung, die sich an die Angelegenheit knüpfte, blieb Schweizer ganz fremd; nur einer von radikaler Seite als Parteimanöver, um Strauß halten zu können, vorgebrachten Motion auf Aufhebung der Hochschule stellte er sich im Großen Rath ein einem schneidend satirischen Votum entgegen. Von den Briefen des Anhangs, von 1839, ist der eine der Brouillon eines Schreibens an Strauß, worin demselben der Entschluß der Ablehnung nahe gelegt werden soll, ein anderer die Äußerung des Centralpräsidenten des Glaubenskomitee, welcher zeigte, wie großer Werth in diesem Kreise auf Schweizer's und seiner vermittelnden Auffassung Verbleiben im Kirchenrathe nach dem am 6. September gewonnenen Siege der Konservativen gelegt wurde.

M. v. K.

Souvenirs politiques 1838 à 1883. Par **J. C. Kern.** Rédigés avec la collaboration de Charles Dubois. Berne, Jent et Reinert; Paris, A. Lemoigne. 1887.

Der am 14. April 1888 in Zürich nach dem völligen Rücktritt aus seiner öffentlichen Stellung verstorbene, aus dem Kanton Thurgau gebürtige Minister der Eidgenossenschaft in Paris gab im Jahre vor seinem Tode nicht so sehr eine Autobiographie, als Erinnerungen an einzelne besonders bemerkenswerthe Abschnitte seiner politischen Wirksamkeit heraus, welche er mit Beweisstücken begleitete.

Der Hervorhebnng werth ist gleich Kap. 2 über den wesentlichen Antheil, welchen Kern 1838 als Vertreter seines Heimatkantons auf der Tagsatzung an der Angelegenheit des Prinzen Louis Napoleon nahm, als die Schweiz wegen der Rückkehr des nach dem Straßburger Abenteuer gemaßregelten Prätendenten auf Schloß Arenaberg von der französischen Regierung belangt wurde. 1847 hatte ferner K., wie erst aus seinen Mittheilungen bestimmt hervorgeht (S. 53—74), das Verdienst, durch sein Dazwischentreten für die Führung der Kriegsrüstung der Tagsatzung im Sonderbundskriege den am 21. Oktober erwählten General Dufour in dieser Funktion festzuhalten; denn durch eine mit Dufour's Überzeugung nicht übereinstimmende Instruktion hätte der General entweder in seinen Verfügungen gefesselt oder aber zum Rücktritte bewogen werden sollen, wodurch für den im Tagsatzungspräsidenten Ochsenbein vertretenen brüsken Radikalismus der Platz frei geworden, aber zugleich eine den politischen und militäri-

schen Erfolg miteinander in sich enthaltende Kombination preisgegeben worden wäre. In Kap. 6 ist K.'s Antheil an der Ausarbeitung der neuen Bundesverfassung von 1848 beleuchtet, in Kap. 9 die Stellung, welche derselbe 1856 Angesichts des Neuenburger Konfliktes einnahm, auseinandergesetzt. Die Erfolge, die von K. in der außerordentlichen Sendung nach Paris in den ersten Tagen des Jahres 1857 bei Napoleon III. hinsichtlich der obschwebenden Fragen in Sache der gefangenen Royalisten und der Verzichtleistung Friedrich Wilhelm's IV. auf Neuenburg, hernach im März und April auf der einschlägigen Konferenz der Großmächte erzielt wurden, führten zur dauernden Abordnung des geschickten Diplomaten als Gesandter bei dem Tuilerienhofe. Als solcher war K. bei drohenden Konflikten zwischen dem von ihm vertretenen Staate und Frankreich, besonders 1860 beim Anschlusse Savoyens an das Kaiserreich, ohne Berücksichtigung der 1815 festgestellten Neutralisation einzelner Theile des Landes (S. 171 ff.), schwierigen Verhältnissen gegenübergestellt. 1870 und 1871 vollends hatte Kern — vgl. Kap. 13—17 — einerseits als Bevollmächtigter der Schweiz, dann als von Baiern und Baden zum Schutze der in Frankreich wohnenden Staatsangehörigen erbetener Vertreter, endlich während der Belagerung von Paris als Alterspräsident der in der eingeschlossenen Stadt noch gebliebenen Repräsentanten fremder Staaten eine gewaltige Arbeitslast auf sich, deren Würdigung jene Abschnitte eingeräumt sind.

Nach K.'s Tode erschien von dessen Verwandten, dem Professor der Theologie in Zürich, H. Kesselring, eine mit dem Bildnis des Verstorbenen ausgestattete kurze Lebensskizze (Frauenfeld, Huber. 1888).

M. v. K.

Notices sur d'anciens membres de la société d'histoire et d'archéologie de Genève. Par **Charles Le Fort.** Réimprimé à l'occasion du cinquantenaire de la société. 1888.

Mémorial des cinquante premières années de la société d'histoire et d'archéologie de Genève, 1838—1888. Par **Edouard Favre.** Genève, Libr. Jullien; Paris, Libr. Fischbacher. 1889.

Die 1838 begründete Genfer historisch-antiquarische Gesellschaft zählt unter den schweizerischen Vereinen für Pflege der Geschichtforschung zu den wichtigsten und verdientesten Körperschaften, und eine Reihe sehr namhafter wissenschaftlicher Arbeiter gehört theils zu ihren Gründern, theils zu ihren nachherigen Mitarbeitern. Die in

seltenem Grade reiche und mannigfaltige Geschichte der Stadt, welche zeitweise einen führenden Rang in der allgemeinen historischen Entwicklung inne gehabt hat, aber auch in anderen Abtheilungen ihres Wachsthums die Aufmerksamkeit, besonders auch in rechtsgeschichtlicher Hinsicht, wohl verdient, bot und bietet noch einen überreichen Arbeitsstoff, der theils in den regelmäßigen Publikationen — den seit 1841 erscheinenden Mémoires et documents (vgl. H. Z. 34, 178—180, über Bd. 18) —, theils in den Sonderveröffentlichungen, ganz besonders dem 1866 edirten, bis 1312 reichenden Régeste genevois durch die Gesellschaft bearbeitet wurde; ebenso sind einzelne separat erschienene Hefte antiquarischen Forschungen gewidmet.

Zur Feier des fünfzigjährigen Bestandes der Gesellschaft gab nun der noch im gleichen Jahre der Wissenschaft zu frühe entrissene Rechtshistoriker, Professor Le Fort, selbst seit 1843 Gesellschaftsmitglied, seit 1861 regelmäßig einer der Präsidenten der Gesellschaft, zugleich ein sehr verdientes Mitglied der Vorsteherschaft der allgemeinen geschichtforschenden Gesellschaft der Schweiz, sechs mit ebenso viel Pietät als wahrhafter Anschaulichkeit entworfene Lebensabrisse hervorragender Angehöriger der einer solchen langjährigen ersprießlichen Thätigkeit sich erfreuenden Vereinigung. Voran stehen drei der Stifter der Gesellschaft, Eduard und Georg Mallet, sowie P. Odier, von denen der erstgenannte, Jurist und Kenner der Rechtsgeschichte, besonders auch reichen Stoff zur mittelalterlichen Geschichte Genf's sammelte, den später Le Fort zugleich mit C. Lullin zur Fortsetzung des Régeste über das 14. Jahrhundert ausnützte. Dann folgen der Ordner des Genfer Archivs L. Sordet, ferner der Verfasser des Grund legenden, durch seine strenge Objektivität ausgezeichneten Werkes: Histoire du peuple de Genève depuis la Réforme jusqu'à l'Escalade, A. Roget, den der Tod mitten aus freudiger Arbeit hinwegnahm — sein Werk hat noch das Jahr 1568 erreicht —, endlich der Rechtshistoriker von Glarus, Blumer, den die Thätigkeit als Präsident des in Lausanne angesiedelten Bundesgerichtes Genf nahe gebracht hatte.

Noch monumentaler aber ist der starke Band, welchen der Vizepräsident der Gesellschaft, Eduard Favre, der Verfasser der trefflichen Arbeit zur Verfassungsgeschichte der Eidgenossenschaft im 14. Jahrhundert (H. Z. 60, 151—152), besorgte, in welchem die gesammte Arbeit der Gesellschaft in den Traktanden ihrer Sitzungen, dem Inhalte ihrer Publikationen, weiter der Personalstand und die Vorsteherschaft des Vereins durch die fünfzig Jahre hin eingehend

vorgeführt sind, Alles beleuchtet durch ausgezeichnet vollständige Übersichtstafeln, methodischer und alphabetischer Anordnung. Aus dem Procès-verbal der Jubiläumssitzung vom 2. März 1888 ist besonders der eingehende Bericht Le Fort's über die gesammte Thätigkeit der Gesellschaft, S. 292—323, hervorzuheben. Neun vorzügliche Porträts von Gesellschaftsmitgliedern, durch das Entgegenkommen der betreffenden Familien zur Verfügung gestellt, schmücken den Band. Es sind Bilder zum Theil der schon genannten Männer, ferner von Albert Rilliet, dem 1883 verstorbenen Verfasser des vorzüglichen Buches Les Origines de la Confédération suisse (H. Z. 24, 222), sowie von Le Fort selbst. M. v. K.

Mélanges d'histoire nationale. Par **Pierre Vaucher.** Lausanne, Henri Mignot. 1889.

Einer früheren Sammlung kleinerer Aufsätze (Esquisses d'histoire suisse, 1882) läßt der Professor der Geschichte an der Universität Genf einen ähnlich zusammengestellten Band folgen, welcher eine Auslese kürzerer Artikel und Beiträge zur schweizerischen Geschichte, die an verschiedenen Orten (z. B. der Revue historique, dem Anzeiger für schweizerische Geschichte) zerstreut waren, in erwünschter Weise zusammenfaßt. Im Ganzen 23 Nummern, sind es zum Theil ganz kurze Notizen, auch nekrologischen Inhaltes, so über die 1888 verstorbenen Historiker Bischof Dr. Fiala und A. Ph. v. Segesser, theils längere Ausführungen. Wohl das längste Stück ist gleich das erste, eine zusammenhängende Berichterstattung über die Ergebnisse der historischen Studien in der Schweiz in den Jahren 1835 bis 1877, also seit Kopp's Urkunden zur Geschichte der eidgenössischen Bünde; andere gehen von der Besprechung einzelner Werke aus, wie von derjenigen des Bd. 2 der Fontes rerum Bernensium, des Bd. 3 des Urkundenbuches der Abtei St. Gallen, von Wartmann, der H. Z. 60, 151 u. 152, besprochenen Schrift E. Favre's, des 1876 erschienenen Urkundenbuchs der Belagerung und Schlacht von Murten, von Pfarrer Ochsenbein, endlich Dierauer's Geschichte der schweizerischen Eidgenossenschaft (H. Z. 65, 547 u. 548). Zwei Ausführungen sind dem neuesten Stande der Kritik der That Winkelried's bei Sempach und des Antheils des Eremiten Niklaus v. Flüe am Friedenswerke von 1481 gewidmet. Weiter seien hervorgehoben die Beiträge zur Genfer Geschichte, eine Studie über die Entwicklung der Verfassung Genfs bis auf das 16. Jahrhundert und eine gedrängte

Würdigung der Genfer Reformation: Calvin et les Genevois, ferner eine Beleuchtung der Beziehungen Mirabeau's zu den Genfer Freunden und Gehülfen: Les souvenirs d'Etienne Dumont. Die lügenhaften Darstellungen der staatsrechtlichen Verhältnisse des Waadtlandes, welche 1797 das französische Direktorium von einer Anzahl „gutgesinnter Schweizer" entgegennahm, um gestützt auf diesen Vorwand die Invasion in den Machtbereich Berns und in die Verhältder Schweiz überhaupt zu beginnen, finden ihre scharfe Zurecht=nisse stellung unter dem Titel: Sur quelques affirmations de Frédéric César de La Harpe. Sehr ansprechende Worte pietätvoller Erinnerung enthalten die 1888 bei Anlaß der Enthüllung der Büste des Genfer Dichters und Literaturhistorikers Marc Monnier und besonders die auf den Historiker Charles Le Fort (vgl. hier S. 182) gesprochenen Gedächnisreden. M. v. K.

Geschichte des Gymnasiums zu Basel. Zur dritten Säkularfeier im Auftrag der Schulbehörde verfaßt von **Th. Burckhardt-Biedermann.** Basel, Birkhäuser. 1889.

Wenn Basel für die Schulgeschichte auch nicht die Bedeutung wie Straßburg durch sein Gymnasium Sturmianum hat, so darf es sich doch auch bedeutender Schulen rühmen. Unter den Basler Lehrern des 16. Jahrhunderts genießt Thomas Platter, welcher die Münsterschule von 1544 bis 1578 leitete, durch seine anmuthige Autobiographie ein weitverbreitetes Ansehen. Aber auch andere Zeiten der Basler Schulgeschichte erheben sich über das bloß lokale Interesse. Der Vf., dessen Werk auf gründlichen archivalischen und sonstigen Studien beruht, behandelt seinen Gegenstand in Abschnitten, deren Überschriften schon den Einfluß des Paulsen'schen Werkes über die Geschichte des gelehrten Unterrichtes zeigen. Die Darstellung beweist, welch' hohen Werth das evangelisch gewordene republikanische Gemeinwesen auf tüchtige Schulen legte und daß man immer neue Versuche machte, auch wenn das Ziel nicht gleich erreicht wurde. Die Darstellung des Vf. wird dadurch lehrreich, daß er überall den historischen Hintergrund des allgemeinen Kulturzustandes wie der politischen Geschichte Basels zeichnet [1]). Karl Hartfelder.

---

[1]) Einige Einzelheiten bedürfen vielleicht der Verbesserung. So ist es z. B. nicht richtig, wenn S. 3 der berühmte Reuchlin als „der erste deutsche Gelehrte, der des Griechischen kundig war", bezeichnet wird. Es ist in Deutsch=

Chronicle of King Henry VIII. of England being a Contemporary Record of some of the Principal Events of the Reigns of Henry VIII. and Edward VI. Written in Spanish by an unknown hand. Translated with Notes and Introduction by **Martin A. Sharp Hume.** London, George Bell and Sons. 1889.

Für das Zeitalter Heinrich's VIII. beſaßen wir mehrere brauchbare Darſtellungen von zeitgenöſſiſchen Geſchichtſchreibern, welche unſere aus dem reichen Aktenmaterial geſchöpfte Kenntnis illuſtriren durch das Bild von den Zeitereigniſſen, wie es ſich im Urtheil der ferner ſtehenden Mitlebenden wiederſpiegelte, wir erfahren außer den in der Öffentlichkeit ſich abſpielenden Vorgängen je nach Stellung und Verbindungen des Schreibers manche wichtige Einzelheit. Hier iſt an erſter Stelle das nur wenige Jahre umfaſſende muſterhafte Memoirenwerk von Wolſey's Vertrautem Georg Cavendiſh zu nennen, das „Leben des Kardinal Wolſey", ſodann die umfaſſendere Chronik des Eduard Hall, die in dem Abſchnitt über Heinrich VIII. unentbehrlich bleibt. Werthloſer ſind die pamphletartigen Darlegungen eines Tyndale, Harpsfield, Foxe; auch die „Historia Anglica" von Polydor Vergil, ſo brauchbar ſie für die Zeit Heinrich's VII. iſt, kann für das behandelte Stück aus der Regierung des Sohnes nur als eine Parteiſchrift gelten. In der vorliegenden neuen Veröffentlichung

---

land eine ganze Anzahl von Kennern des Griechiſchen vor Reuchlin nachweisbar. Man denke an Rudolf Agricola, Johannes v. Dalberg (genannt Camerarius), Konrad Celtis und weitere Freunde dieſes älteren deutſchen Humaniſtenkreiſes. — Sodann enthält der Satz: „Erhielt doch zu Deventer und Münſter einſt Erasmus ſeinen erſten Unterricht" (S. 5) inſofern eine Unrichtigkeit, als Erasmus zwar in Deventer, aber nicht in Münſter die Schule beſucht hat. — Ferner iſt es unrichtig, daß erſt ſeit 1528 die Gründung evangeliſcher Schulen begann (S. 7). Die Magdeburger Schule wurde ſchon 1524 und die berühmte „obere Schule" Nürnbergs 1526 eingerichtet. Ferner ſcheint die Beurtheilung der Thätigkeit des Prallus S. 50 ff. zu ungünſtig zu ſein. Man ſpricht freilich nicht viel von ihr; aber es dürfte ſich eine Schule dabei beſſer befinden und mehr leiſten, als wenn ſie beſtändig den Gegenſtand öffentlicher Diskuſſion bildet. — Bezüglich der Bemerkungen über Simon Sulzer (S. 237) ſei beigefügt, daß nicht bloß Thommen, ſondern auch Sulzer's Biograph Linder (S. Sulzer und ſein Antheil an der Reformation im Lande Baden; Heidelberg 1890) die dort von Burckhardt-Biedermann gewünſchte Auskunft nicht gibt. — Auf S. 63 iſt das Fragezeichen hinter Suidnicensis zu tilgen: Suidnicensis Silesius heißt Paul Werner deshalb, weil er aus Schweidnitz in Schleſien ſtammte.

lernen wir die Erinnerungen eines Spaniers kennen, von dessen Persönlichkeit nur zu ermitteln ist, daß er längere Jahre in London ansässig war, mit einigen leitenden Persönlichkeiten, vor allem seinen in englischen Diensten stehenden Landsleuten in Berührung kam und Zeuge wichtiger öffentlicher Vorgänge gewesen ist. Sein Parteistandpunkt tritt offen hervor, er ist abgesagter Gegner des Protestantismus und seiner Vertreter, hat aber auffallenderweise lebendige Sympathie nicht nur für die Königin Katharina, sondern auch für Heinrich VIII., selbst für den Protektor Herzog von Somerset, und von Eduard VI. erhofft er wenigstens nach dessen erlangter Volljährigkeit gute Entwickelung in seinem Sinne. Für die unliebsamen Maßregeln unter Heinrich VIII. macht er die anderen Mithandelnden verantwortlich, gegen Wolsey, Anna Boleyn, Thomas Cromwell, Cranmer zeigt er die stärkste Abneigung. Unverkennbar und selbstverständlich ist seine Vorliebe für seine Landsleute, deren Leistungen, besonders im Kriegsdienst Heinrich's VIII., er möglichst herausstreicht. In das Treiben dieser in englischem Solde stehenden Ausländer gewährt er uns gute Einblicke. Hier hatte er auch die meiste persönliche Fühlung, und, von der Parteilichkeit abgesehen, sind seine diesen Kreis berührenden Nachrichten zuverlässig und brauchbar. Zu diesen Männern gehörten die spanischen Diener der Königin Katharina Montoya und Francesco Felipe, die Herzoge von Nagera und Albuquerque (Kap. 53 f.), auch Engländer wie Wyatt, Lord Montague, Paget. Ferner können wir ihm folgen bei der Darstellung von Vorgängen, denen er wohl selbst als Augenzeuge beigewohnt hat, oder die ihm von Augenzengen und Theilnehmern berichtet sind; dazu gehören der Einzug Anna Boleyn's in London (Kap. 6), ihre Hinrichtung (Kap. 32), der Empfang der Anna von Cleve (Kap. 42), der Mordprozeß gegen Guevara (Kap. 89). Aber vor Ungenauigkeiten und selbst gröbsten Irrthümern ist man nirgends sicher. Geschrieben ist die Chronik, in ihrem Haupttheil wohl ziemlich zusammenhängend, etwa um 1550, die Ereignisse bis 1552 sind dann in den späteren Kapiteln nachgetragen. Der Vf. hat augenscheinlich meist nach dem Gedächtnis gearbeitet, daher erklären sich die vielen Fehler. Besonders groß ist die chronologische Verwirrung. Nur einmal, am Anfang, ist ein Jahresdatum gegeben und das ist falsch: 1530 für den Beginn der Ehescheidung. Ferner wird die Ehe Heinrich's mit Katharina Howard vor diejenige mit Anna von Cleve und vor den Sturz Cromwell's gesetzt, die Pilgerfahrt der Gnade zwei Jahre zu früh u. a. m. Die Ereignisse sind

ohne viele Ordnung lose aneinander gereiht; wo die Zerreißung zu stark ist, macht der Autor wohl auch selbst entschuldigend darauf aufmerksam (vgl. S. 131, 193). Aus seinen Beurtheilungen und Darstellungen können wir nur ersehen, wie eben längere Jahre nach den Ereignissen in der Öffentlichkeit über dieselben gesprochen wurde. Dahin sind zu rechnen die Mittheilungen über den angeblichen Ehebruch Anna Boleyn's (Kap. 26), über ein früheres Verhältnis der Anna von Cleve (Kap. 43), die schiefe Darstellung des ersten Scheidungshandels in den Anfangskapiteln und später von Suffolk's Ehe mit Heinrich's VIII. Schwester Maria (Kap. 61). Trotz der vielen Ausstellungen haben wir es im ganzen mit einer interessanten und entschieden dankenswerthen Veröffentlichung zu thun, es kann dieser zwar der Werth einer wichtigen geschichtlichen Quelle nicht zugesprochen werden, jedoch schmückt sie das historische Bild mit einigen Arabesken aus und liefert in einzelnen Fällen eine willkommene Ergänzung unserer bisherigen Kenntnis. Nicht zu vergessen ist auch die Aufmerksamkeit, welche der Vf. volkswirthschaftlichen Dingen schenkt, und die Art seiner Beurtheilung, wenn wir auch freilich wesentlich Neues dabei nicht erfahren (vgl. Kap. 12, 75, 79, 80). Die Übersetzung sucht den Ton des Originals getreulich nachzuahmen, dennoch wäre die Beigabe des Urtextes dringend zu wünschen gewesen. Die Einleitung macht Angaben über die handschriftlichen Kopien des Werkes, erörtert die Frage nach dem Vf., gibt überhaupt die nöthige Orientirung. Wilhelm Busch.

Die Universitäten Englands im 16. Jahrhundert. Von **Athanasius Zimmermann.** Freiburg i. B., Herder. 1889.

Das vorliegende Buch ist streng nach dem sattsam bekannten Schema der ultromotanen Geschichtschreibung für das Reformationsjahrhundert verfaßt: auf das rege und blühende Geistesleben am Ausgange des Mittelalters folgt der erste Rückschritt durch das Vordringen des verderblichen Humanismus gegenüber der segensreich wirkenden Scholastik, und sodann mit der eigentlichen Reformation rettungsloser Niedergang, allgemeine geistige Verfinsterung. Kaum wagt der Vf. den Versuch eigenen Urtheils, stets ist dasselbe von der einseitigsten Tendenz vorher diktirt: ebenso geistlos, unwissend und charakterlos, wie fast alle Humanisten und Reformer erscheinen, ebenso durchgehend als deren vortreffliches Gegentheil die Männer des alten Glaubens. Die Bedeutung eines Mannes wie Thomas

Cromwell muß dem Vf. verschlossen bleiben (S. 53); Wilhelm Cecil, der obendrein zum katholischen Konvertiten gemacht wird (S. 88), ist ein Mann von „kleinlichem Geist und Beschränktheit" (S. 96), „der es recht wohl verstand, Pläne zu machen und zu intriguiren, der aber im kritischen Moment gewöhnlich den Kopf verlor und selten zu einem Entschluß kommen konnte." Nur „die Gegenwart eines zahlreichen Söldnerheeres und die drückende Noth" haben nach dem Vf. das englische Volk zurückgehalten, das Tyrannenjoch Heinrich's VIII. abzuwerfen (S. 70). Trifft die geschichtliche Wahrheit mit der Tendenz des Vf. zufällig zusammen, so trifft auch er das Richtige; nur einmal, in der Hervorhebung der Wichtigkeit von Kardinal Wolsey's Kolleggründungen versucht er, sich landläufigen Meinungen selbständig gegenüber zu stellen. Aber auch hier ist er wie sonst, ungenau und oberflächlich, einige beliebige Quellenstellen werden ausgeschrieben, der Zusammenhang aber nicht beachtet, das Wichtigere übersehen. In ähnlicher Weise unvollständig und ungenau ist die puritanische Bewegung geschildert. Selbst die oberflächlichsten Widersprüche sind nicht vermieden: während Vf. S. 50 von einer „gänzlichen" Unterdrückung von Wolsey's Kardinals-College spricht, dessen geringer Rest, das sog. King's-College, 1545 aufgehoben sei, so erwähnt er S. 60 dessen Fortdauer im Christ Church-College; während einmal die kümmerliche Lage der Universitäten unter Heinrich VIII. und Elisabeth beklagt wird, folgt später (S. 134) die Schilderung ihrer Pracht und ihres Reichthums. Wenn dann die Folge derselben die Besserung der Lehrergehälter war (S. 135), so sollen nachher wieder die Professoren nicht einmal die Mittel zur sorgenfreien Existenz gehabt haben (S. 138). Es wird eben alles gesagt, was und wie es dem augenblicklichen Zweck entspricht. Dafür sind ein Pamphletist wie Sanderus oder ein Parteihistoriker wie Collier vollwichtige Gewährsmänner (S. 48 u. 79). Das Schlußurtheil lautet: „Was die Reformation für die ganze Nation bedeutete, das war sie auch für die Universitäten: Beraubung der Armen, Bereicherung der Großen, fast vollständige Ausschließung des Talentes und Fleißes von Würden und Ehrenstellen" (S. 138). Der einzige Lichtblick in der Finsternis der Tudorepoche ist hiernach — die Regierung der blutigen Maria. „Hätten die Neuerer sich ruhig gehalten, hätten sie die katholische Partei und Maria selbst nicht persönlich durch aufrührerische Predigten und Schmähungen gereizt, dann wären England wahrscheinlich die blutigen Hinrichtungen, die Aufstände und Unruhen erspart worden, welche die

Regierung Maria's im ganzen zu einer wenig glücklichen machen" (S. 84). „Wiederholte Aufstände der protestantischen Partei, der Krieg mit Frankreich, Mißwachs und Hungersnot, vor allem die Dreistigkeit, mit welcher protestantische Fanatiker in Wort und Schrift die katholische Religion und die Königin selbst angriffen, lassen uns diese Periode als eine sehr unglückliche erscheinen" (S. 89). Der Vf. wird nicht erwarten, daß man derartige Verzerrungen des thatsächlichen Verhältnisses einer ernsten Prüfung unterzieht — man muß solche Erscheinungen wissenschaftlicher Pamphlet-Literatur als ein Übel hinnehmen, welches leider wohl nie verschwinden wird.

Wilhelm Busch.

Briefwechsel von **John Lothrop Motley.** Aus dem Englischen übersetzt von A. Elze. I. II. Berlin, O. Janke. 1890.

Diese Briefe sind von Motley meistens an seine Angehörigen, Eltern, Gattin und Töchter, geschrieben und von letzteren gesammelt worden. Sie geben zuvörderst ein sehr gewinnendes Bild von ihrem Verfasser, den sie wenigstens einigermaßen bei der Ausarbeitung seiner historischen Werke zu begleiten gestatten, enthalten aber außerdem noch manches Schätzenswerthe. Auf die Briefe aus der Göttinger Studentenzeit folgen nach zehnjähriger Pause, von 1841 an, die aus Petersburg, wo Motley als Legationssekretär seine diplomatische Laufbahn begann. Die folgenden sind aus den Niederlanden, der Stätte seiner Studien, aus Dresden, wo er seine Geschichte des Abfalls der Niederlande ausarbeitete, und aus London geschrieben. Hier erscheint er bereits als der gefeierte Schriftsteller, den bei sich zu sehen die englische Aristokratie sich zur Ehre rechnet, während von seinen Landsleuten Männer wie Prescott, Bancroft, W. Irwing ihm ihre freudige Anerkennung zollen. In Holland sieht er sich vom königlichen Hofe mit Auszeichnung behandelt. Beim Ausbruch des Sezessionskrieges in sein Vaterland zurückgekehrt, richtet er sein Hauptaugenmerk darauf, einerseits die englische Auffassung von dem großen Bürgerkriege zu berichtigen, andrerseits die in den Nordstaaten gegen England bestehende Gereiztheit zu mildern, eine Bemühung, die er auch nach seiner Ernennung zum Gesandten in Wien fortsetzt. Für die englische Auffassung ist besonders ein Brief von Stuart Mill und ein zweiter von John Bright von Interesse. Das aus Motley's Werken bekannte Talent farbenreicher Schilderung bewährt sich auch hier in den Bildern, die er, zum Theil mit humoristischem Anstrich, von dem Leben des

Hofes und der Aristokratie, sowie von einzelnen Persönlichkeiten in Petersburg, London, Dresden und Wien entwirft, sein durch die Übung historischer Betrachtungsweise geschultes politisches Urtheil an den Beobachtungen, die er als Zuschauer der europäischen Zeitereignisse anstellt. Wie treffend ist sein Ausspruch bei Gelegenheit des Krieges von 1866: „Preußens militärische Despotie von Gottes Gnaden bahnt vielleicht der Freiheit in Europa schneller die Wege als alles, was durch Kossuth, Garibaldi und Mazzini seit den letzten fünfzig Jahren geschehen ist. Wenn Deutschland einig wird, und das geschieht vielleicht rascher, als sich irgend einer denkt, so wird es schließlich auch frei, ob es sich nun Reich nenne oder Republik. Auf Worte kommt es weniger an." Damit vergleiche man den folgenden: „In England herrscht die plutokratische Oligarchie vor, nicht die Aristokratie der Geburt. In Österreich gilt Geburt Alles; Geist, Weisheit, innerer Werth, Wissenschaft und Kunst vergleichsweise nichts. Stelle Dir vor, Du suchtest in einem Wiener Salon nach den Lyells, Murchisons, Gladstones, Disraelis, Tennysons, Landseers, Macaulays von Österreich, wenn es da viel solcher Leute gibt. Und dann frage Dich, ob es ein Haus in London gibt, wo sie nicht stets willkommene Gäste wären. Daran hängt die Geschichte: Schön tanzen, gut reiten, reizende Manieren und zweiunddreißig Ahnen haben, genügt doch nicht, um in unseren entarteten Tagen die Welt zu regieren; und so erklärt sich Königgrätz und der Prager Friede." Ein ganz spezielles Interesse erregt, was sich in diesem Briefwechsel auf Bismarck bezieht. Die zwischen beiden Männern auf der Universität Göttingen geschlossene Jugendfreundschaft erneuert sich 1855 bei einem Besuche Motley's bei dem Bundestagsgesandten, worüber er den Seinigen mit sichtlicher Herzenswärme Bericht erstattet. Von da setzt sich der schriftliche Verkehr zwischen ihnen, wenn auch mit langen Pausen, fort. Es finden sich also auch einige Briefe Bismarck's hier; ein besonders charakteristischer vom 17. April 1863. „Ich habe niemals geglaubt," heißt es darin, „daß ich in meinen reifen Jahren genöthigt werden würde, ein so unwürdiges Gewerbe wie das eines parlamentarischen Ministers zu betreiben. Als Gesandter hatte ich, obschon Beamter, doch das Gefühl, ein Gentleman zu sein. Als Minister ist man Helot. Ich bin heruntergekommen und weiß doch selber nicht wie."

Th. Flathe.

# Bericht über die Arbeiten des römischen Instituts der Görres-Gesellschaft in dem Arbeitsjahr 1889/90.

(Auszug.)

Erstattet im September 1890.

An den Arbeiten des Historischen Instituts der Görres-Gesellschaft in Rom betheiligten sich in dem Jahre 1889/90 vier Herren: Msgr. Kirsch aus Luxemburg, Kaplan Schlecht aus Eichstätt, P. Hartmann Ammann, regul. Chorherr, k. k. Gymnasialprofessor aus Brixen und Dr. Kasimir Hayn aus Köln. Gemäß Beschluß des mit der Leitung des Instituts beauftragten Komitees bewegten sich die Studien der Herren auf zwei getrennten großen Arbeitsgebieten: einmal in den Akten des Kameralwesens der avignonesischen Päpste saec. XIV., sodann in den Nuntiaturberichten und anderen politischen Korrespondenzen des 16. Jahrhunderts, vornehmlich aus der Zeit Sixtus' V. (1585—1590). Was die Arbeiten über das avignonesische Kameralwesen anbelangt, so wurden nebenbei die im Jahre 1888/89 angelegten Inventare über den Inhalt der Collectoriae- und Introitus et exitus-Bände vervollständigt und Materialen zu einer allgemeinen Geschichte des päpstlichen Finanzsystems in der Zeit der Päpste Johannes XXII. bis Gregor XI. gesammelt. Eine Hauptaufgabe, deren Erledigung Msgr. Kirsch übernahm, betraf die Zusammenstellung der während der avignonesischen Periode bis 1378 aus Deutschland nach Avignon in die päpstliche Kammer geflossenen Gelder. — Für die neuere Zeit wurden die Nuntiaturberichte aus dem Pontifikate Sixtus' V. (1585—1590) mit Rücksicht auf die für Deutschland wichtigen Aktenstücke nach einem von Prof. Pastor entworfenen Plane durchgemustert und theilweise ausgebeutet. Es stellte sich alsbald heraus, daß in den für Deutschland zunächst in Betracht kommenden Nuntiaturberichten aus den Nuntiaturen von Prag, Graz und Köln empfindliche Lücken vorhanden sind. Die Pontifikatsjahre 1585 und 1586 fehlen so gut wie ganz, während in den folgenden bedeutende Lücken sich zeigten. Es wurden um deswillen systematische Nachforschungen nach den fehlenden Stücken in anderen Beständen angestellt, so in den Varia politicorum, der Bibliotheca Pia, den Nuntiaturberichten aus der Schweiz, Frankreich, Spanien und Polen. Für das Jahr 1586 wurden fünf Stücke in der französischen und spanischen Nuntiatur, in der Bibliotheca Chigi aber zwei Briefbände des Erzbischofs Sega entdeckt, der im Jahre 1586 die Prager Nuntiatur versah. In dem 30. Bande der Nunziatura di Pologna fanden sich Kölner und Luzerner Deciffrata und in vier Bänden der Lettere di principi der Auslauf des Staatssekretariats aus den Jahren 1588 bis August 1590 und sämmtliche Minute der Briefe an die Nuntien aus genannter Zeit. Es ist damit eine sehr werthvolle Ergänzung der deutschen Berichte gewonnen. Außer den angedeuteten Arbeiten wurden durch Vermittlung unserer Institutsmitglieder für Herrn Prof. Dr. Dittrich in Braunsberg eine Reihe von Morone-Depeschen gewonnen, welche mit anderen von Prof. Dr. Dittrich früher in Rom erhobenen Morone-Aktenstücken zu einer selbständigen in die Reihe unserer Veröffentlichungen aufzunehmenden Publikation vereinigt werden sollen.

# Gouverneur Morris, amerikanischer Gesandter in Paris während der Schreckenszeit.

Von

**H. v. Wilke.**

Als Ludwig's XVI. Haupt auf dem Schaffot gefallen war, verließ das diplomatische Corps Paris, nur der Gesandte der Vereinigten Staaten von Amerika, Gouverneur Morris, blieb zurück.

Seine Berichte an den Präsidenten Washington, seine anderweitigen brieflichen Mittheilungen und vor allem seine sorgfältigen und umständlichen Tagebuchvermerke bilden ein wahres Chronikenwerk für die Zeit von 1771 bis 1816, insbesondere für die Geschichte der ersten französischen Revolution. In letzterer Hinsicht ist er Mallet du Pan vollgültig zur Seite zu stellen. Beide ergänzen sich gegenseitig und widersprechen sich unsers Wissens auch nicht einmal in untergeordneten Punkten.

Nachdem Jared Sparks, der Biograph Washington's und Franklin's, im Jahre 1832 in Boston auch eine Lebensbeschreibung G. Morris' herausgegeben hatte, wendete sich auch in Europa die Aufmerksamkeit diesem Staatsmanne zu, und es erschien neun Jahre später in Paris eine Übersetzung des Sparksschen Werkes, veranlaßt durch Augustin Gandais[1]). Sparks hatte

[1]) Dieselbe hat den Titel: Mémorial de Gouverneur Morris traduit de l'Anglais, de Jared Sparks, avec annotations, par Augustin Gandois. Paris et Leipzig, Jules Renouard et Cie. 1841.

den ihm von der Wittwe Morris' zur Verfügung gestellten literarischen Nachlaß mit großer Diskretion behandelt, und sein Übersetzer hielt es für angezeigt, noch manche, das französische Nationalgefühl verletzende oder der damals herrschenden politischen Strömung nicht entsprechende, ihm unerheblich dünkende Stellen fortzulassen.

Es wurde daher von allen Geschichtsfreunden als ein freudiges Ereignis begrüßt, daß die Enkelin von Gouverneur Morris sich vor zwei Jahren entschloß, dem Publikum den ganzen Nachlaß zugänglich zu machen. Jetzt zeigte sich, welcher Schatz von Erlebnissen, Beobachtungen und Betrachtungen darin verborgen war.

Da sowohl das Sparks'sche Werk als die reduzirte französische Übersetzung seit längerer Zeit im Buchhandel vergriffen und selbst in größeren Bibliotheken nicht zugänglich sind, erscheint es zweckmäßig, einige Notizen hier voranzuschicken, welche uns den Lebensgang und Charakter des Mannes bis zu derjenigen Periode schildern, in welcher der für uns interessante Theil seiner Denkwürdigkeiten beginnt.

Morris, nach englischer Sitte mit dem Vornamen Gouverneur, dem Vatersnamen seines mütterlichen Großvaters, getauft, wurde auf einem Landsitze seiner Familie in Morrisania im Staate New-York am 31. Januar 1752 — zwei Jahre später als Mallet du Pan — geboren. Er muß schon als Kind besondere Begabung gezeigt haben, denn sein Vater, Lewis Morris, verordnete in seinem 1760 gemachten Testamente, daß es sein Wunsch sei, dieser Sohn solle die beste Erziehung erhalten, welche in England oder in Amerika zu erlangen sei. Als diese Bestimmung beim Tode seines Vaters bekannt wurde, war Gouverneur zwölf Jahre alt, und das Bestreben seiner Mutter ging von nun an dahin, den Wunsch des Vaters in vollem Maße zu erfüllen. Sie gab ihrem Sohne in der Person des ausgezeichneten französischen Pädagogen Tetar zu New-Rochelle einen vortrefflichen Lehrer, und in dem Familien-Umgange erlangte der Knabe eine gründliche Kenntnis der französischen Sprache, die ihm in seiner späteren Laufbahn außerordentlich zu gute kommen

sollte. Nachdem Morris mit 16 Jahren das Gymnasium absolvirt hatte, begann er sofort das juristische Studium, vornehmlich unter Leitung des Rechtslehrers William Smith, des späteren Oberrichters des Staates New-York.

Von hoher Gestalt, von sehr einnehmendem Wesen, mit hervorragendem Talente zur freien Rede, wobei ihn eine klangvolle Stimme unterstützte, war er zum Advokaten wie geschaffen und trat als solcher bereits 1771 auf, ehe er 20 Jahre alt geworden war.

Nachdem er drei Jahre auf's eifrigste seinem Berufe obgelegen hatte, begannen die Zwistigkeiten zwischen dem Mutterlande und den Kolonien in offene Feindseligkeit auszuarten, der Hafen von Boston wurde gesperrt, und es trat auch an Morris die verhängnisvolle Frage heran, ob er dem angestammten Könige, dem er mit allen Familientraditionen bisher eng verbunden gewesen, treu bleiben oder ob er in das Lager der Aufständischen übergehen sollte. Sein ältester Bruder war in England in einer hervorragenden militärischen Stellung, durch Heirat mit den ersten englischen Adelsgeschlechtern in nahe Beziehung getreten; er selbst war als Aristokrat erzogen, sein Wunsch war schon lange dahin gegangen, jenseit des Ozeans für seine Thätigkeit ein glänzenderes Feld zu suchen, als dies die kleinbürgerlichen, puritanischen Verhältnisse New-Yorks damals bieten konnten.

Daher war es wohl erklärlich, daß er so lange wie möglich seinen Entschluß aufzuschieben suchte, ja daß er, zum Mitglied eines Ausschusses im Provinzial-Kongresse des Staates New-York gewählt, auf freundliche Beilegung des Streites hinzuwirken strebte und sogar eine Schrift entwarf, worin er die Möglichkeit einer Ausgleichung nachwies und an deren Schluß er, bezeichnend für spätere Erlebnisse, auf die Gefahren hinwies, welche die Herrschaft eines aufrührerischen Pöbels jedem Gemeinwesen bereiten muß.

Als aber das Jahr 1776 herankam und das englische Ministerium zu offenbarer Verletzung der den Kolonien verbrieften Privilegien schritt, sah Morris zu seinem Schmerze sich gezwungen, im Provinzial-Kongresse aus der sog. Torypartei auszuscheiden

und für die Nothwendigkeit der Errichtung einer selbständigen Regierung sich zu erklären. Noch länger nachzugeben, nannte er ein Verbrechen gegen die Gerechtigkeit und eine Verspottung menschlicher Freiheit, „welche uns alle unzweifelhaft dem Untergange weihen würde".

Bei dem nun nothwendig gewordenen Entwurfe einer Verfassung für den Staat New-York arbeitete Morris mit aller Kraft, wenn auch vergeblich darauf hin, daß die Abschaffung der Sklaverei unter die Grundprincipien derselben aufgenommen werden sollte.

In einem an seine, ängstlich um ihn besorgte Mutter gerichteten Briefe sind Worte enthalten, welche von dem Kampfe in seinem Herzen Zeugnis geben. „Niemand kann voraussagen, welchen Ausgang dieser Krieg mit England nehmen wird. Große Umwälzungen eines Reiches sind selten ohne viel menschliches Elend vollendet, aber das Schlimmste, was sich ereignen kann, ist, daß wir zurück müssen bis in unsere letzten unwirthlichen Berge. Wer dort fällt in der Vertheidigung zu Boden getretener Menschenrechte, ist glücklicher als der Sieger; er wird von den Menschen mehr geliebt, von seinem eigenen Herzen mehr gepriesen werden."

Es würde uns zu weit führen, Morris' Thätigkeit als Redner und Referent in den parlamentarischen Versammlungen seines Heimatsstaates und der vereinigten Kolonien, in welchen er eine hervorragende Rolle spielte, zu schildern. Erwähnen wollen wir indessen, daß er als Mitglied des bekannten Fünfer Ausschusses des Kontinental-Kongresses Washington geschickt wurde, als dieser in Valley Forge sein Winterlager abhielt und an einer Rekonstruirung seiner erschöpften Armee fast verzweifelte. Aus jenem langen Beisammensein in öden Winterabenden entsprang die Freundschaft, welche beide Männer bis zu Washington's Tode eng vereinte.

Im Oktober 1778 fiel ihm die Aufgabe zu, die ersten Instruktionen zu entwerfen, welche den Gesandten der Vereinigten Staaten ertheilt worden sind. Es handelte sich dabei namentlich um Franklin's Thätigkeit an dem befreundeten Versailler Kabi-

nette. Vor allem werthvoll waren aber seine Arbeiten im Finanzdepartement, bei denen er eine ungewöhnliche Begabung und Voraussicht bethätigte.

In Philadelphia entging er im Mai 1780 mit Noth einer drohenden Lebensgefahr. Damit beschäftigt, ein paar Pferde einzufahren, wurde er vom Bocke herabgeworfen, verrenkte sich den Knöchel eines Beines und brach das andere, so daß es ihm sofort unter dem Knie amputirt werden mußte — wie später herbeigerufene Ärzte meinten, unnöthigerweise und auf eine sehr ungeschickte Art. So wurde es ihm von der Vorsehung aufgegeben, seine große europäische Reise mit einem Stelzfuße am linken Beine zu machen.

Als er dieselbe 1789 antrat, galt als ostensibler Reisezweck der Abschluß von Verträgen mit den französischen Generalpächtern behufs Lieferung virginischen Tabaks. Nebenbei hatte ihm Washington geheime politische Aufträge gegeben, welche eine Besserung der noch immer trotz des Friedens gespannten Beziehungen zu England und eine Konversion der französischen Kriegsschuld betrafen.

Morris ahnte, als er im Januar 1789, nach einer vierzigtägigen stürmischen Überfahrt in Havre landete, nicht im entferntesten, daß er ausersehen war, in dem von ihm bisher immer als Herd europäischer Gesittung und Vorkämpfer für die höchsten menschlichen Güter bewunderten Frankreich die gewaltigste Umwälzung der neueren Geschichte zu erleben, ja in mancherlei Beziehungen thätig darin einzugreifen und endlich nach Ablauf eines Jahrhunderts werthvolle Annalen darüber zu liefern.

Diese liegen uns jetzt in zwei sehr umfangreichen, mehr als 1200 enggedruckte Seiten enthaltenden Bänden vor, welche seine Enkelin unter dem Titel: The diary and letters of Gouverneur Morris, Minister of the United States to France etc., edited by Anne Cary Morris (New-York, Charles Scribner's Sons 1888) veröffentlicht hat.

Morris führte während seiner Reise ein fast täglich mit ausführlichen Aufzeichnungen alles Erlebten, selbst des wörtlichen

Inhaltes wichtiger Unterhaltung bedachtes Journal und behielt außerdem von jedem interessanten Briefe eine Abschrift zurück.

Diese Dokumente sind chronologisch geordnet, mit kurzen verbindenden, geschichtlichen Erläuterungen aneinander gereiht und gewähren in dieser Weise ein bis zum Tode des Verfassers reichendes Lebensbild. Die in Notenform am Rande der Seiten beigefügten Bemerkungen sollen endlich noch kurze Notizen über vorkommende Persönlichkeiten liefern, welche dem Leser augenblicklich nicht bekannt sein könnten. Sie sind aber sehr dürftig und durchaus nicht zuverlässig; einige Bemerkungen sind sogar völlig unrichtig. Störend ist es ferner, daß die Eigennamen zum großen Theile so abgedruckt sind, wie sie englisch ausgesprochen werden, so daß es mitunter schwierig ist, das Richtige herauszufinden. Mit General Schlefer z. B. ist Graf Schliefen gemeint u. dgl. Alle diese Mängel sind indessen für den Werth der Morris'schen Aufzeichnungen selbst ohne Einfluß, da diese durchaus korrekt und in keinem Punkte durch irgend ein Sonderinteresse berührt sind.

Morris kam nach Frankreich mit den einflußreichsten Empfehlungen von Seiten Washington's und Franklin's[1]); er war ferner durch die Ereignisse des amerikanischen Krieges nicht nur dem großen französischen Publikum vortheilhaft bekannt geworden, sondern er hatte auch persönlich freundschaftliche Beziehungen zu den Diplomaten und Heerführern angeknüpft, welche Frankreich in jener Zeit nach Amerika gesandt hatte. So war es natürlich, daß sich ihm, als er Paris betrat, alle Salons öffneten, ja daß er sogar nach einiger Zeit der Löwe des Tages wurde, wie ihm Frau v. Staël sagte.

Lafayette, der den Amerikanern im Kriege auf uneigennützige Weise die größten Dienste geleistet, den Washington wie einen Sohn liebte, war der erste, welchen Morris in Paris aufsuchte. Mit großer Befriedigung meldete er es Washington, daß sein Schützling der Liebling auch des französischen Volkes geworden

---

[1]) Ein solcher Brief ist in Morellet's Memoiren 1, 319 wörtlich abgedruckt und kann als Muster der übrigen dienen.

sei und daß er bei der Wahl zu den Reichsständen sich als ebenso tüchtiger Redner, wie bisher als General gezeigt habe, so daß er trotz dem Widerstande des Hofes zum Abgeordneten der Provinz Auvergne gewählt worden sei.

Im fast täglichem Verkehre gewann Morris indessen tiefe Einblicke in das Herz seines jungen Freundes, und diese führten ihn zu dem Urtheile, daß Lafayette's vielgepriesene Liebe zur Freiheit der Völker nur auf großem Ehrgeize beruhe, welcher aus übermäßiger Eitelkeit entspränge. So rühmte er sich nach der Erstürmung der Bastille und der feierlichen Prozession des gedemüthigten Königs durch die Straßen von Paris, daß er als Kommandant der Nationalgarde das Schicksal Louis' XVI. in Händen habe; er habe seinem Souverain, wo er gewollt, an den Straßenecken zujubeln lassen, ebenso gut hätte er auch, wenn es ihm zweckmäßig erschienen, ihn schließlich in's Gefängnis führen lassen können.

Auf die in ihrem ersten Ursprunge noch nicht völlig aufgeklärte Favras'sche Verschwörung wirft Morris' Tagebuch einige interessante Streiflichter. Der Marquis v. Favras, Offizier in der Garde des Grafen v. Provence, wurde bekanntlich mit seiner Frau, einer geborenen Prinzessin von Anhalt-Bernburg-Schaumburg, im Dezember 1789 verhaftet und angeklagt, Theilnehmer einer Verschwörung zu sein, welche den Zweck hatte, Lafayette, Bailly, den damaligen Maire von Paris, und Necker, den Premierminister, zu ermorden und alsdann den König aus Paris gewaltsam zu entführen, um ihm seine Freiheit wiederzugeben.

Die Thatsache seiner Verhaftung wurde ferner den nichts ahnenden Parisern durch ein bereits am folgenden Morgen an den Straßenecken angeschlagenes, mit unbekanntem Namen unterzeichnetes Plakat bekannt gemacht, welches den perfiden Schlußsatz enthielt, daß der Graf v. Provence das Haupt der Verschwörung sei, deren die Favras'schen Eheleute beschuldigt würden.

Jedem Unbefangenen muß der Verdacht aufsteigen, daß die unter Lafayette's Befehl handelnde Polizei, welche — ohne irgend eines Anderen Mitwissen — die Aufhebung des Marquis am

Abend anordnete, an der bereits wenige Stunden darauf erfolgten Anheftung der Plakate, deren Druck doch auch einige Zeit erforderte, nicht ganz unbetheiligt gewesen sein könnte.

Der Graf v. Provence war zu jener Zeit sehr populär, und es mochte der Revolutionspartei, zu der Lafayette damals in entschiedener Weise sich rechnete, sehr viel daran liegen, diese Popularität, welche dem Königthum zu gute kam, zu zerstören.

Die augenblickliche Wirkung des Coups ging indessen dadurch verloren, daß der Graf v. Provence, empört über die ihm zugefügte Insulte, sich am folgenden Tage in feierlicher Weise nach dem Rathhause begab und vor dem versammelten Stadtrathe sich in so glänzender Weise vertheidigte, daß Bailly — dessen beabsichtigte Ermordung ihm auch zur Last gelegt war — ihn mit Lobeserhebungen überschüttete und als „Ersten Gründer der politischen Gleichheit" feierte. Schon dieses Benehmen Bailly's dürfte jeden Zweifel daran ausschließen, daß er wenigstens den Grafen v. Provence nicht für schuldig hielt.

Lafayette's Verfahren, wie es Morris in seinen gleichzeitigen Tagebuchbemerkungen schildert, ist ebenfalls dazu angethan, an seiner Wahrhaftigkeit ernste Zweifel zu erwecken. Wir entnehmen diesen Notizen Folgendes. Lafayette entbot am 27. Dezember 1789 — am Tage, nachdem die Erklärung des Grafen v. Provence erfolgt war — Morris, von dem er wußte, daß er in allen Pariser Salons als angenehmer Causeur beliebt war, und den damaligen amerikanischen Geschäftsträger Mr. Short, der seine Unterhaltung nach Amerika berichten mußte, zu sich in sein Kabinet und eröffnete ihnen: es wäre bei Favras' Verhaftung ein Brief des Grafen v. Provence gefunden worden, welcher zu zeigen scheine (seemed to show), daß dieser an der Verschwörung nur zu tief betheiligt sei. Er, Lafayette, habe sich unverzüglich mit dem Briefe zu dem Grafen begeben und ihm denselben mit der Bemerkung ausgehändigt, daß außer Bailly und ihm niemand von dem Briefe Kenntnis habe, daß Monsieur also nicht kompromittirt wäre. Es liegt wohl auf der Hand, daß diese Unterredung, an deren Wahrheit Morris, noch im Banne von Lafayette's Hochherzigkeit, nicht zweifelte, als er sie

niederschrieb, vor allem den Zweck hatte, den Eindruck abzuschwächen, welchen des Grafen loyales Auftreten im Stadthause hervorgerufen hatte. Wenn, wie Lafayette selbst in seiner Mittheilung zu Morris angibt, außer ihm und Bailly niemand von jenem mysteriösen Briefe Kenntnis gehabt hat, so liegt doch die Annahme nahe, daß einer von diesen beiden das perfide Plakat veranlaßt haben muß, und nach unserm Dafürhalten kann dies nur Lafayette selbst gewesen sein.

Dieser Verdacht wird durch eine in Morris' Tagebuche sieben Jahre später gemachte Notiz zur Evidenz.

Im Jahre 1797 befand sich Morris, immer noch auf seiner europäischen Reise begriffen, in Regensburg, um den deutschen Reichstag zu sehen, ehe dieser seinen letzten Seufzer von sich gegeben, und hatte dort öfters Besuche von einem emigrirten französischen Finanzbeamten Aujard (er schrieb sich eigentlich Augeard), der einen hervorragenden Ruf gehabt haben muß, da er sich in der Lage befunden, den ihm einst vom Grafen Maurepas angebotenen Posten eines Finanzdirektors Frankreichs abzulehnen. Dieser Herr erzählte ihm, laut Vermerk vom 26. Dezember 1797, er habe sich mit dem Favras'schen Ehepaare gleichzeitig im Gefängnisse befunden — eine Thatsche, deren einzige Bestätigung wir in Rivarol's Memoiren [1]) auffinden konnten —, und es sei ihm gelungen, sich durch die Schlüssellöcher ihrer Zimmer mit ihnen in Verbindung zu setzen, so daß er selbst ihren Freunden außerhalb des Gefängnisses habe Nachricht zukommen lassen können. Auf diese Weise hätte er es veranlaßt, daß Frau v. Favras die sie kompromittirenden Papiere habe durch ihre Schwester in ihrer Wohnung versteckt auffinden lassen und verbrennen können. Ferner hätten beide, der Marquis sowohl als seine Frau, jeder besonders — sie müssen also in abgesonderten Räumen eingesperrt gewesen sein — ihm die Versicherung gegeben, man hätte ihnen 48000 Franken geboten, damit sie den Bruder Louis' XVI. anklagten.

---

[1]) Mémoires de Rivarol etc. par M. Berville [Paris, Baudouin frères. 1824] p. 159. 160.

Der Marquis wurde im Februar 1790 hingerichtet, und, wie erzählt wird, soll er wenige Tage vor dem Tode ein, ebenfalls verschwundenes Schriftstück dem Präsidenten des Gerichtshofes, Talon, übergeben haben, auf Grund dessen er vermuthlich eine Aufschiebung der Vollstreckung des Todesurtheils erwartet hatte, und welches, da es dem Wortlaute nach nicht vorliegt, zu einer Beurtheilung des Inhalts keinen Anlaß gibt.

Wenn wir auf diese Verschwörungsgeschichte hier näher eingegangen sind, so ist dies auch aus dem Grunde geschehen, die Absurdität der vielen Darstellungen nachzuweisen, welche der Phantasie französischer Geschichtschreiber und Romanverfasser ihren Ursprung verdanken. Das Neueste und Erheiterndste leistet in dieser Hinsicht der wohl kaum ernst zu nehmende Graf d'Hérisson, der in seinem Buche Autour d'une révolution[1]) sogar das angebliche, Lafayette in die Hände gefallene Schreiben abdruckt, welches der leichtsinnige Graf v. Provence vergessen haben muß, zu vernichten.

Zum Schlusse wollen wir noch anführen, daß von den zuverlässigsten Zeugen jener Zeit, welche dem Grafen nahe standen, niemand auch nur einen Augenblick an seiner Unschuld zweifelte[2]).

Louis XVI. war bei jener Prozession in den Straßen von Paris sich wohl bewußt geworden, daß er — wie Lafayette sich cynisch zu Morris dessen rühmte — dem Pöbel zur Belustigung vorgeführt worden war, und der Eindruck dieser Erniedrigung auf das Gemüth des sonst lebhaften Empfindungen schwer zugänglichen Monarchen war ein so tiefer gewesen, daß er ihn zur ernsthaften Erwägung veranlaßt hatte, wie er der unhaltbaren Lage, in welche er gerathen, sich entziehen könnte. Dies ergibt sich aus einem bisher wenig bekannt gewesenen vertraulichen Schreiben, welches Morris im Juli 1789, also wenige Tage nach jener Katastrophe an Washington richtete und worin er ihm als völlig zuverlässig meldet, daß der König „thatsächlich (actually) den Plan gefaßt hat, nach Spanien davonzugehen (going off

[1]) Autour d'une révolution (1788—1799). Par le Comte d'Hérisson [Paris, Paul Ollendorff. 1888] p. 22. 23.

[2]) Vgl. z. B. Rivarol a. a. O. S. 310.

to Spain), weil er weiß, daß er auf kein Regiment seiner Armee sich mehr verlassen kann".

Daß dieser Entschluß nicht zur That wurde, ist ohne Zweifel dem Einflusse der Königin zuzuschreiben, welche allen Aufforderungen zur Flucht den gewiß richtigen Einwand entgegensetzte, daß der König sich dadurch wohl selbst retten, aber das Königthum sicherlich zu Falle bringen würde.

Obgleich Morris, je weiter die Gewaltthätigkeiten der jakobinischen Leiter der Nationalversammlung um sich griffen, desto mehr die Unfähigkeit Lafayette's, als Befehlshaber der Nationalgarde, für Aufrechthaltung der Ruhe und Ordnung und Beobachtung der Gesetze zu sorgen, sowie seine Unwillfährigkeit, den König und die königliche Familie vor persönlichen Angriffen zu schützen, erkannte und infolge dessen seine frühere vortheilhafte Meinung von Lafayette's Charakter — wie er auch Washington nicht verschwieg — aufgeben mußte, so hörte er doch, im Andenken an die früheren Bande der Freundschaft und aus tiefem Mitgefühle mit Lafayette's edler Frau, nicht auf, beiden Eheleuten, so lange er lebte, in jeder Weise hülfreich zu sein. Als der General in Gefangenschaft gerathen war, verwendete er sich mit aller Macht für seine Freilassung, entwarf meisterhafte Bittschriften für Frau v. Lafayette, ja, wie sich aus den Notizen über eine Unterhaltung mit dem Minister Thugut in Wien am 18. Dezember 1796 ergibt, redete er diesem in energischer Weise in's Herz, so daß die endliche Freilassung des Generals, welche bald darauf erfolgte, seinem Drängen mit zuzuschreiben ist. Als der österreichische Gesandte Graf Buol-Schauern am 4. Oktober 1797 Lafayette dem Konsul der vereinigten Staaten John Parish in Hamburg übergab, geschah dies in Gegenwart von Morris. Letzterer bemerkt in seinem Tagebuche, daß seine Bemühungen in Wien zwar dem Gefangenen seine Freiheit verschafft hätten, daß aber Lafayette selbst vorgezogen hätte (chose), dieses Resultat nur Napoleon zuzuschreiben. Freilich war ihm das Gefühl von Dankbarkeit überhaupt abhanden gekommen. Dies sollte sich auch in einer andern Weise zeigen. Der Minister Thugut hatte in dem an den österreichischen Gesandten in Hamburg gerichteten

Erlasse ausdrücklich gesagt: „Herr v. Lafayette ist nicht auf Andringen Frankreichs, sondern einzig und allein aus dem Grunde erfolgt, daß der Kaiser den Vereinigten Staaten einen Beweis seiner Achtung geben will", und es war eine zwischen allen Betheiligten, vor allem Lafayette selbst, ausgemachte Sache, daß letzterer, um sich nicht ferner in die europäischen Wirren hineinzumischen, sich von Hamburg gleich nach Amerika begeben sollte. Aber sobald er in Freiheit war, vergaß Lafayette alle Verpflichtungen, welche er übernommen. Obgleich ohne Geldmittel, begann er in Hamburg ein so verschwenderisches Leben, daß er, wie Morris vermerkt, in zwei Tagen mit seiner Begleitung für 50 Guineen Schulden machte.

Morris nahm sich in edelmüthiger Weise seiner an und streckte ihm so erhebliche Geldsummen vor, daß er, wie sich aus einem Briefwechsel im Jahre 1803 ergibt, damals 100 000 Livres, ohne Zinsen, an baar dargeliehenem Gelde zu fordern hatte. Als es sich jedoch um Rückzahlung dieser Summe handelte, erhob Lafayette so viele, durchaus nichtige Einwände, daß Morris schließlich nicht einmal so viel zurückerhielt, als die Zinsen betrugen. Morris' letzter Brief, welchen er in dieser Angelegenheit an den Konsul Parish richtete, schließt mit der Bemerkung: „Gott möge ihm vergeben und ihn, wenn dies möglich ist, mit sich selbst versöhnen. Er muß einen sonderbaren Charakter haben, wenn er bei der ihm innewohnenden Kenntnis des Sachverhaltes im Stande ist, sein Benehmen mit seinem Gewissen in Einklang zu bringen."

Was sollen wir Angesichts dieser Beweisstücke von der Zuverlässigkeit der französischen Geschichtsschreiber halten, welche Lafayette noch jetzt als einen nur für ideale Zwecke lebenden Menschen preisen, dem selbst der erbittertste Feind zugeben müßte, daß er stets ehrenhaft gehandelt, daß er besonders nie das Geld geliebt hätte; über den die Kritiker gern den Ausspruch der Frau Dupaty, Tochter des Philosophen Cabanis, anführen: „Lafayette war ein so ehrlicher Charakter, daß er stets die Schlüssel in seinen Schränken, selbst in dem seiner Politik, stecken ließ".

Mirabeau, der titanenhafte Redner, auf dessen Schultern gewissermaßen die Nationalversammlung bei ihrem ersten Andrängen gegen den Thron ruhte, ist in neuerer Zeit wiederholt Gegenstand biographischer Thätigkeit gewesen. Wie ein Maler den Köpfen, welche er auf die Leinwand bringt, stets einen idealen Ausdruck zu geben sucht, so kann auch ein Biograph sich selten von einer allmählich immer zunehmenden Vorliebe für seinen Helden fernhalten. Fast alle Biographien pflegen in der Gegenwart in „Rettungen" auszulaufen [1]).

Aus diesem Grunde wird es auch von Interesse sein, Morris, der Gelegenheit hatte, Mirabeau persönlich kennen zu lernen, der ihn oft in der Versammlung reden hörte, der von seinem geheimnisvollen Verkehre mit dem Hofe, den die Pariser Polizei selbst nicht ahnte, wußte, und der die Urtheile der verschiedenen Parteien über ihn hörte, — über Mirabeau auszuforschen. Dies Verhör fällt nun sehr zum Nachtheile des letzteren aus, und hierbei ist vorauszuschicken, daß sein lasterhaftes Vorleben Morris bei seinem Urtheile nicht allein gegen Mirabeau eingenommen hatte. Denn Morris, obwohl er in Amerika ein sittlich reines Leben geführt haben mag, hatte in Paris bald mit den Wölfen zu heulen angefangen und war in mehrfache Liebschaften verwickelt worden, so daß er den Ruf eines ladies killer, eines vollendeten Don Juans, erworben hatte. Nein, was er Mirabeau abspricht, ist die Anerkennung irgend eines rechtlichen Grundsatzes, und hierin stimmt er mit Mallet du Pan's Ansicht völlig überein. Morris vergleicht ihn mit John Wilkes, dem berüchtigten englischen Demagogen, mit dem er in der That im Charakter und in den Schicksalen manche Ähnlichkeit aufweist. Mirabeau ist, nach Morris' Ansicht, gewaltig in der Opposition, hat aber keine Befähigung zum Regieren. „Seine Fassungskraft leidet unter seiner Verruchtheit. Es ist eine Thatsache, welche wenigen Menschen klar geworden ist, daß ein gesunder Verstand nur vorhanden ist, wo gesunde sittliche Grundsätze herrschen. Wer böse Absichten hat, sieht alle Dinge schief."

[1]) Von der jüngsten Biographie Mirabeau's, der von A. Stern, kann man dies nicht sagen. A. d. R.

Auf einer kurzen Erholungsreise, welche Morris im Herbste 1790 den Rhein entlang machte, sprach er in Mannheim den Baron Dalberg: ohne Zweifel den älteren Bruder des späteren Kurfürsten von Mainz, den pfälzischen Gesandten in Paris und demnächstigen Herzog von Napoleon's Gnaden. Dieser erzählte ihm, Mirabeau sei in Frankfurt gewesen, habe dort den Kaiser Leopold, der eben zur Regierung gekommen, gesprochen und ihn gedrängt, eine Gegenrevolution in Frankreich zu unternehmen, der Kaiser habe ihm aber lächelnd geantwortet, dies sei unpraktisch. Dalberg vertraute ihm bei dieser Gelegenheit, der Kaiser habe eine Originalkorrespondenz in Händen, woraus sich die Absicht Preußens ergäbe, für den Fall daß die zwischen Österreich und Preußen bestehende höchst erbitterte Stimmung zu einem Kriege führen sollte, in den österreichischen Staaten einen allgemeinen Aufstand herbeizuführen.

Nach Mirabeau's Tode vermerkt Morris in seinem Tagebuche: „Das Leichenbegängnis war ein imponirendes Schauspiel; hervorragendem Talente wurde dadurch in hohem Grade gehuldigt, aber es lag darin kein Anreiz zu einem tugendhaften Leben. Erniedrigende, abscheuliche Laster haben diesem außerordentlichen Menschen ihre Stempel aufgedrückt. Völlig sittenlos, opferte er alles seiner augenblicklichen Laune. Cupidus alieni, prodigus sui; käuflich, schamlos, und doch in hohem Grade tugendhaft (greatly virtuous), wenn ihn ein überwältigender Anreiz fortriß, aber niemals im wahren Sinne des Wortes tugendhaft, weil nie unter stetiger Aufsicht seiner Vernunft oder fester Herrschaft eines Grundsatzes; so habe ich erlebt, daß er im Zeitraume von zwei Jahren ausgezischt, geehrt, gehaßt und tief betrauert wurde. Die Begeisterung läßt ihn jetzt riesenhaft erscheinen, Zeit und Nachdenken wird seine Gestalt zusammenschrumpfen lassen. Die geschäftige Sorglosigkeit der Stunde muß immer etwas haben, um es mit Füßen zu treten oder in den Himmel zu erheben. So ist der Mensch beschaffen und insbesondere der Franzose."

Ähnlich drückt sich Morris in einem an Washington gerichteten Schreiben aus, worin er über die Veränderung, welche durch Mirabeaus' Tod in der Stellung der politischen Parteien

entstanden sei, berichtet. Er nennt ihn darin den grundsatzlosesten Hallunken (most unprincipled scoundrel), der je gelebt, und erwähnt, daß er zur Zeit seines Todes vom Hofe erkauft gewesen wäre, um die absolute Herrschaft wieder herzustellen.

Auch Talleyrand spielt in den Aufzeichnungen Morris' eine viel Raum einnehmende Rolle. Beide bewarben sich in heftiger Nebenbuhlerschaft um die Gunst einer der reizendsten und geistreichsten Frauen, welche Paris damals besaß, der Frau v. Flahaut.

Adele du Tilleul hatte mit dem viel älteren, entnervten Grafen v. Flahaut im ganz jugendlichen Alter ein unglückliches Ehebündnis geschlossen, welches Talleyrand, damals Abt Perigord, einsegnete, sich hierdurch als Hausfreund einführte und bald die Stelle des Hausherrn einnahm.

Als Morris kaum im Flahaut'schen Salon, dem Sammelplatze der literarischen und politischen Berühmtheiten des Tages, vorgestellt worden war, erhielt er — um gleich gründlich in die damaligen Sitten der Residenz eingeweiht zu werden — ein Billet, worin die Dame ihn einlud, ihr einen Morgenbesuch zu machen. Es war dies eine besondere Gunstbezeugung, aus der er mit Recht schloß, daß seine Bewunderung der schönen Frau Entgegenkommen fand. Denn bei einem der nächsten Besuche empfängt ihn Frau v. Flahaut in der Badewanne, wo das Wasser indessen durch Milch undurchsichtig gemacht worden ist. Auf seine Verwunderung hierüber belehrt sie ihn, daß dies in Paris Mode sei[1]). Sie gibt ihm gleichzeitig zu verstehen, daß sie durch ein Herzensbündnis (mariage de coeur) bereits gebunden sei — mit Talleyrand, welcher allgemein als Vater ihres Kindes galt.

Von dem Vorleben der Frau v. Flahaut war bisher wenig bekannt. Im Andenken der Nachwelt lebt sie, die später den portugiesischen Gesandten Marquis v. Souza-Botelho in Paris heiratete, als Verfasserin der viel gelesenen Romane Adèle de

---

[1]) Kolisch macht in seinem 1880 bei Rosner in Wien erschienenen Buche über Marie Antoinette der Königin bittere Vorwürfe darüber, daß sie dieser Mode auch gehuldigt habe.

Sénanges, Eugène de Rathelin und anderer Schriften fort, welche sich durch edle Sprache und geistreiche Conception auszeichnen und als Muster ehrbarer, anständiger Lektüre gelten. Aus Morris' Aufzeichnungen ließe sich eine Biographie herstellen, welche indessen nicht Jedermann zum Lesen in die Hände gegeben werden dürfte.

Mit Talleyrand gestaltete sich Morris' Verhältnis trotz des gemeinschaftlichen Anziehungspunktes, des Flahaut'schen Salons, wo oft einer ungeduldig den Andern durch Ausharren zum früheren Fortgehen zu nöthigen sucht, äußerlich ganz freundschaftlich. Ein jeder behielt wohl sein Urtheil über den Charakter des Andern für sich. Morris vertraute indessen schon bald nach eingeleiteter Bekanntschaft seinem Tagebuche das Seinige über Talleyrand an, indem er schreibt, er scheine ihm schlau, gerieben (cunning), ehrgeizig und boshaft zu sein. Diese Auffassung erschien Morris noch mehr gerechtfertigt, als er den lebhaften Verkehr bemerkte, welcher zwischen Talleyrand und Mirabeau sich entwickelte, den er, Morris, für Frankreichs bösen Geist hielt.

Zu Ende des Jahres 1789 hatte ein Ministerium unter Lafayette's Leitung mit Mirabeau und Talleyrand Aussicht, die Majorität der Nationalversammlung zu gewinnen, und Morris diente dabei als Mittelsperson. Talleyrand sollte die Finanzen übernehmen und hoffte, durch Konfiskation des Vermögens der Geistlichkeit das Gleichgewicht des Budgets herzustellen. Bei den vielfachen Besprechungen, welche hiebei vorkamen, fand Morris Gelegenheit, die Begabung der in Rede stehenden Persönlichkeiten für die ihnen bestimmten Funktionen zu beurtheilen. Von Talleyrand bemerkt er, er habe wohl einige richtige Ideen über Finanzsachen, leide aber an einem Fehler: er wolle und könne nicht arbeiten. Am Schlusse einer eingehenden Berathung schreibt Morris wieder: „O! Es ist entsetzlich langweilig, die ersten Anfangsgründe Leuten beizubringen, die kaum die Hälfte von dem, was man ihnen erklärt, verstehen und schon dadurch aus dem Text gebracht werden."

Dieses Projekt eines Lafayette'schen Ministeriums mußte übrigens an dem Mißtrauen scheitern, welches der Leiter desselben

dem Hofe einflößte. Talleyrand, einer der vier Bischöfe, welche den Eid auf die neue Konstitution geleistet hatten, der ferner der Weihe der sog. konstitutionellen Bischöfe beigewohnt hatte und, infolge dessen vom Papst exkommunizirt, sich gezwungen gesehen hatte, aus dem geistlichen Stande auszuscheiden, gerieth, wohl auch von Spielschulden gedrückt, in eine solche Niedergeschlagenheit, daß er — wie Morris am 24. Februar 1791 vermerkt — mit Selbstmordsgedanken umging, wie dies auch Frau v. Flahaut's Gedanke war, welcher er sein Testament übergeben hatte. Morris ist hingegen der Ansicht, daß Talleyrand fürchtete, von seinen früheren Standesgenossen wegen seines Verrathes heimlich beiseite geschafft zu werden. Aus dieser unhaltbaren Lage wurde er erst Anfang 1792 dadurch befreit, daß er als außerordentlicher Gesandter nach London geschickt wurde, um in dem bevorstehenden Kriege mit den Kontinentalmächten wenigstens Englands Neutralität zu sichern.

Morris gibt in einem an Washington gerichteten Briefe vom 17. März 1792 die Gründe an, aus welchen Talleyrand's Mission scheiterte. „Zunächst konnte er bei Hofe schon keine freundliche Aufnahme finden, weil er als ein Haupturheber der Greuel der Revolution galt, weil sein Privatcharakter ihn ferner in London bei allen anständigen Leuten von vornherein diskreditirte und weil er gleich bei seiner Ankunft thörichterweise verlauten ließ, daß er die leitenden Persönlichkeiten durch Intriguen beeinflussen wollte, und sich zu diesem Zwecke mit der Opposition in offenen Verkehr setzte. Aber alles dies hätte seiner Mission nicht unbedingt geschadet, wären seine Aufträge für England in irgend einer Weise vortheilhaft gewesen. Für Beobachtung einer strikten Neutralität seitens Englands bot er freilich die Zession von Tabago, die Demolition der Cherbourgschen Festungswerke und eine Ausdehnung des Handelsvertrages an. Aber gegenwärtig ist ja niemand in Frankreich vorhanden, mit dem eine fremde Regierung vernünftigerweise einen Vertrag schließen kann." In diesem Berichte findet sich ferner die Bemerkung, es sei notorisch, daß vom ersten Dämmern der Revolution an Agenten verwendet worden seien, um in anderen

Staaten, insbesondere in Preußen, den Geist des Aufstandes zu schüren.

Die letzte Erwähnung Talleyrand's findet sich in einem Briefe, welchen Morris am 18. Februar 1806 an seinen Freund Parish schrieb und worin er sein Endurtheil dahin abgab, daß Talleyrand nicht gerade eine Verbrechernatur gehabt, obwohl er zwischen Tugend und Laster wenig Unterschied gemacht habe.

Durch seine kommerziellen Aufträge, welche außer der Lieferung von Tabak auch die Versorgung Frankreichs mit Getreide zum Gegenstande hatten, wurde Morris in vielfache Berührung mit Necker und der Frau v. Staël gebracht.

Als er letztere zum ersten Male sah, machte sie ihm einen unvortheilhaften Eindruck. Er schreibt über sie: „Sie hat etwas Männliches in ihrem Wesen und sieht aus wie ein Stubenmädchen". Später zog ihn aber ihre geistreiche Unterhaltung an, und er verkehrte gern und viel in ihrem Hause. Auch nach seiner Rückkehr nach Amerika blieb er mit ihr in Verbindung und bot ihr sogar, als durch Napoleon's Verfolgung die bedrängte Frau von einem Lande zum andern getrieben wurde, eine gastfreie Zuflucht in seinem eigenen Hause an.

Auch Narbonne, Frau v. Staël's anerkannter Geliebter, findet sich häufig erwähnt, und etwaige Biographen würden gut thun, die ausführlichen Schilderungen seines Charakters zu berücksichtigen. Hier darauf einzugehen, fehlt uns der Raum.

Als Morris 1792 zum Gesandten der Vereinigten Staaten in Paris ernannt wurde, brachte ihm die damals herrschende Regierungspartei, Dumouriez an der Spitze, eine ausgesprochene Antipathie entgegen. Daß es ein dornenvolles Amt sein würde, sah er voraus. Er schrieb darüber Anfang Februar nach Amerika: „Die Mission in Frankreich muß stürmisch sein. Jeder Charakter, im Lande oder auswärts, wird von der französischen Presse roh in die Hand genommen. Dieses Königreich ist in Parteien zerfallen, deren eingewurzelter Haß gegen einander kaum begreiflich ist, und die Royalisten sowie die Republikaner sehen Amerika als die Ursache ihres Unglücks an. Die Royalisten nennen uns undankbar, da doch ihr König uns zur Hülfe gekommen sei. Die

Republikaner andrerseits sehen jedes Abweichen von der reinsten Demokratie als Aufgabe jedes politischen Princips in Amerika an. Es ist unmöglich, mit allen Parteien hier gut zu stehen." Nach den Scenen vom 10. August und der Suspension der königlichen Gewalt sahen die übrigen diplomatischen Vertreter, da sie bei der Person des Königs beglaubigt waren, ihre Mission als beendet an und verließen Frankreich. Morris dagegen verblieb, abwartend, ob sich eine feste, zum Bündnis geeignete, republikanische Regierung entwickeln würde, muthig, mit Gefahr seines Lebens auf seinem Posten, erlebte alle Greuel der Schreckensherrschaft und führte während dieser Zeit eine einsame, trostlose Existenz. Ausführlich erzählt er einen Betrugsversuch, welchen das offizielle Ministerium, Clarière und Brissot voran, an ihm zu verüben suchte, und dessen Entdeckung und Abwehr den Haß dieser gewissenlosen Machthaber in solchem Grade entflammte, daß sie ihn auf jede Weise bei seiner eigenen Regierung zu verdächtigen suchten.

Herzlich froh war er daher, als er im August 1794 sein Abberufungsschreiben erhielt, und er beeilte sich, dem blutigen Schauplatz seiner diplomatischen Thätigkeit den Rücken zu kehren.

# Adel und Bürgerthum im alten Hellas.

Von

**H. Dondorff.**

Der Kampf der Stände im alten Rom ist für uns, Dank der unermüdlichen Sorgfalt deutscher Wissenschaft, so weit aufgehellt, daß wir seine leitenden Motive, die Phasen seiner Entwickelung und seine endlichen Ergebnisse genügend verstehen, so daß wir ihn als eine Offenbarung der politischen Befähigung des römischen Volkes und als eine Schule seines Charakters zu würdigen vermögen. Derselbe Kampf hat sich auch in der Welt der griechischen Kleinstaaten abgespielt. Wenn hier die Bewegung sich auf zahllose Punkte vertheilte und auf engem Raum vielfältig zersplitterte, so daß sie oftmals einem Sturm im Glase Wasser ähneln mochte, so dürfen wir darin doch nur die Bethätigung einer auch die kleinsten Kreise erfüllenden und energisch durchwirkenden Lebenskraft erkennen, deren Bewegungen und Evolutionen zu beachten, ebenso interessant als lehrreich sein würde, wenn nicht die so überaus lückenhafte Beschaffenheit unserer Überlieferung solche Einsicht so sehr erschwerte und theilweise unmöglich machte. Im folgenden soll der Versuch gemacht werden durch eine anders gewählte Gruppirung der Thatsachen, als welche gewöhnlich beliebt wird, von dem Verlauf des griechischen Ständekampfes wenigstens ein Gesammtbild zu geben, dessen einzelne Theile sich als Glieder eines geschichtlichen Prozesses

darstellen, welcher seine Anknüpfungspunkte in dem Wesen und den Lebensbedingungen der Stände selbst hat, und dem entsprechend seine naturgemäßen Konsequenzen in dem politischen Leben der Hellenen und ihrer gesammten Kulturentwickelung gezogen hat.

Es ist nicht meine Absicht, den Gegensatz von Adel und Bürgerthum und ihre Kämpfe durch die verschiedenen Perioden der hellenischen Geschichte zu verfolgen. Ich habe nur jene Epoche im Auge, wo die Geburtsaristokratie, welche das Königthum ablöste, zu voller Geltung und Herrschaft in den hellenischen Staaten gelangte, bis sie endlich den Anschauungen einer neuen Zeit und den Anforderungen einer minder berechtigten Klasse, dem Demos erlag; ich meine die Zeit von 800 bis 500 vor Chr. Über das Verfassungsleben und die inneren Zustände dieser Epoche zu sprechen, hat seine besondere Schwierigkeit, da wir über keinen Abschnitt der griechischen Geschichte so mangelhaft unterrichtet sind, in keinem die Quellen der Erkenntnis so dürftig fließen. Zwischen dem heroischen Königthum, auf welchem der Sonnenglanz der homerischen Dichtung ruht, und der Demokratie Athens, die vom hellen Tageslicht der Geschichte beleuchtet wird und den Ruhm des perikleischen Zeitalters für sich in Anspruch nimmt, liegt die Zeit der Adelsherrschaft wie eine tiefe Kluft, die von einem matten, fast undurchdringlichen Dämmerlicht erfüllt ist, das nur vereinzelte Gegenstände in ihrer wahren Gestalt zu erkennen gestattet. In das innere Getriebe dieser Epoche einzudringen, wird uns bei dem fragmentarischen Charakter unserer Überlieferung wohl für immer versagt bleiben; und nur durch geschichtliche Analogien mag es vielleicht gelingen, das Dunkel mit einzelnen Streiflichtern hier und da zu erhellen. Im ganzen und großen möchte diese Periode als ein Mittelalter in Hellas bezeichnet werden dürfen. Die Herrschaft eines streng-organisirten und korporativ-gegliederten Ritteradels, der Gegensatz und der Kampf rechtlich gesonderter Gesellschaftsgruppen, das Vorwiegen reiner Naturalwirthschaft und von dieser unzertrennbar die harte Leibeigenschaft der ackerbauenden Bevölkerung, die feste Gebundenheit der Sitte, die altväterische

Frömmigkeit, der Einfluß des delphischen Orakels und die mystische Färbung, welche das religiöse Bewußtsein in dieser Zeit annahm, ferner der Mangel aller Kritik über die Erscheinungen und Vorgänge der äußeren Welt, wobei oft die geschichtliche Überlieferung sich in Legenden, Novellen und Anekdoten auflöst, daneben aber auch die tiefere Erregung des Gemütslebens, die in dem Aufschwung der lyrischen Poesie und der sie begleitenden musikalischen Kunst sich bekundet und endlich zu einem freieren Durchbruch der Subjektivität hinführt: das sind Kennzeichen einer Lebensökonomie, die uns aus der mittelalterlichen Epoche unseres Volkes hinreichend bekannt ist, deren Signatur wir aber auch nach einer inneren psychologischen Nothwendigkeit in der Zeit jugendlichen Heranwachsens bei anderen Völkern, wenn auch unter verschiedenen Namen und Formen wiederzufinden erwarten dürfen. Ich bezeichne hiermit eine Aufgabe der komparativen Geschichtsschreibung, die ihren Meister noch nicht gefunden hat und über das Spiel mit vereinzelten Analogien selten hinausgekommen ist, welches ebenso oft täuscht, als es zutrifft. Hier soll nur von der politischen Seite jener Zeit, von dem Charakter der herrschenden Verfassungsform und von den Wandlungen, welche ihre Principien erlitten, die Rede sein. Das Interesse der neueren Forscher pflegt sich mit Vorliebe der Demokratie zuzuwenden, schon weil diese uns auf den eigentlich klassischen Boden der griechischen Geschichte, nach Attika, führt. Die denkenden Beurtheiler im Alterthum von Heraklit, dem dunklen, bis Aristoteles haben ohne Ausnahme sie nur für eine Ausartung, für eine Depravation des echten und vollkommenen Freistaats erklärt. Dagegen haben die Alten groß gedacht von ihrer Aristokratie; „*δεινὸς χαρακτὴρ κ' ἐπίσημος ἐν βροτοῖς — ἐσθλῶν γενέσθαι*“, von Edlen stammen gilt den Sterblichen als großes und erhabenes Loos: ist das Wort eines Dichters, der in einem demokratischen Zeitalter zu einem demokratischen Publikum sprach. Was ich hier über diesen Gegenstand zu sagen habe, soll nicht den Werth der Neuheit beanspruchen, da ich nicht die Resultate eindringender Spezialforschung vorzutragen gedenke; dieser Versuch mag sich vielleicht nur rechtfertigen durch eine selbstgesuchte Anordnung des Stoffes, die geeignet

sein mag, denselben in möglichst scharfen Umrissen vor Augen zu führen und wie in einem Durchschnitt die Schichten der Gesellschaft nach dem inneren Gegensatz ihrer Principien darzulegen.

Einen Adel finden wir in Hellas schon zur Zeit des heroischen Königthums als Führer der Massen im Kampf, als Beirat des Herrschers im Frieden, und selbst in dem Fabelreich des Alkinoos fehlt nicht, wenn auch nur als eine dekorative Beigabe, der Kreis ehrwürdiger Greise, deren Weisheit berufen ist, das Regiment des Fürsten zu unterstützen. Doch erst mit der großen Wanderung tritt, wie in der germanischen, so in der hellenischen Welt, die Wirksamkeit des Adels bestimmter hervor und gewinnt einen tiefer eingreifenden Einfluß auf das Leben der Staaten. Es konnte nicht fehlen, daß bei der Wanderung und in dauernden Kriegszügen einzelnen Männern sich vielfach Gelegenheit zu persönlicher Auszeichnung und besonderen Verdiensten um die Gesammtheit darbot, die eine höhere Stelle und hervorragendere Stellung im Staate zur Folge hatten. Bei der Occupation von neu eroberten Gebieten erhielten sodann die Angeseheneren größeren Grundbesitz, während andrerseits großer Besitz erhöhtes Ansehen schuf und eine aristokratische Stellung begründete. Dazu kamen flüchtige Adelsgeschlechter aus anderen Staaten, welche Aufnahme fanden und das einheimische Volksthum durch neue Kräfte wie durch neue Kulte und Sagen bereicherten und erfrischten. So kamen die Neleiden aus Pylos und andere nach Attika, und der Bestand der einheimischen Adelsgeschlechter erhielt eine Erweiterung durch solche Zuwanderer, die oft eine Neuordnung der alten Verbände nöthig machten. Es erfolgte endlich ein Abschluß und eine innere Ordnung der Aristokratie in einem streng durchgeführten Schematismus der Geschlechter nach Phylen und Phratrien, welche das adeliche Standesprincip überall in anschaulicher Gliederung der Sippen zur Durchführung brachte. So ordnete sich der dorische Adel stets in drei Phylen, der ionische in vier, wozu in den occupirten Gebieten in der Regel noch eine oder ein paar Phylen von einheimischem Adel hinzukamen. Das Königthum behauptete sich noch eine Zeit lang neben der so konstituirten Aristokratie, doch

bald hörte diese auf, die Rathgeberin des Königs zu sein und stieg selber zur Beherrscherin des Gemeinwesens auf. Die Vornehmsten im Lande standen dem Könige in edler Abkunft, Grundbesitz, Erziehung und Bildung so nahe, daß dieser sein Übergewicht nicht auf die Dauer behaupten konnte und der Herrschaft des Adels erliegen mußte, die das Königthum bald in gewaltsamen Revolutionen, bald in mehr friedlicher Weise ablöste. Wir betrachten zunächst im einzelnen die Grundlagen der Adelsherrschaft.

Klar und scharf hat sie am Ausgang der griechischen Geschichte Aristoteles in den Grundzügen seiner Politik entwickelt. Sie treten von Anfang an in den eben angegebenen historischen Momenten der Standesbildung deutlich zu Tage. Es sind vornehmlich vier; zuerst die edle Abkunft. Es war der Glaube der Hellenen, daß nur vom Edlen Edles erzeugt werde; „Adel", sagt Aristoteles, „ist die sich fortpflanzende Tüchtigkeit eines Geschlechtes." An die Reinheit des Blutes schienen besondere körperliche und geistige Vorzüge geknüpft zu sein. Die Festigkeit, welche in älteren Zeiten Familienüberlieferungen zu haben pflegen, die Einfachheit der Lebensweise und die bessere Erziehung, welche die Söhne des Adels genossen, mochten dem Glauben an die Vorzüge der Abstammung eine gewisse Berechtigung geben, und fast zu keiner Zeit hat derselbe seine Wirksamkeit ganz verloren. „Angeborener Adel", sagt Pindar, „gewinnt leicht der Tugend Vollendung, die mühsam nicht lernt ein niederer Mann." Der genossenschaftliche Zusammenhang der Adelsfamilien und Geschlechter trug wesentlich dazu bei, das Standesbewußtsein zu entwickeln und eine Standessitte in fester Überlieferung auszubilden. Gemeinschaftliche Opfer, Erbrecht und Erbbegräbnisse begründeten eine eng geschlossene und geheiligte Lebensgemeinschaft, worin der Charakter des Einzelnen seinen Halt und seine Stütze fand; denn die individuelle Bildung war damals, wie überhaupt in den mittelalterlichen Perioden, noch nicht zu völliger Durchbildung gelangt: der Einzelne geht noch in seinem Stande auf, mit dessen Interessen, Ehre und sittlicher Substanz das eigene Wesen sich auf's engste verknüpft fühlt. Während die

Persönlichkeit in der Erweckung von Ehrgefühl und Stolz sich fester und sicherer zusammenschloß, und die angeborene Kraft und Tüchtigkeit nach Bethätigung rang, fand sie ihr Maß an dem korporativen Geist, der in der Aristokratie waltete und den Trotz des Einzelnen unter der Herrschaft fest begründeter Normen beugte. Eine andere Grundlage der Adelsherrschaft ist der Reichthum. Dieser bestand in älterer Zeit fast ausschließlich in Grundbesitz, und bei der gebirgigen Natur des hellenischen Bodens, wo die Ackerfluren nur sparsam ausgestreut liegen und meist nicht allzu ergiebig sind, hatte derselbe eine erhöhte Bedeutung. Der Grundbesitz mußte eine große Überlegenheit über die kleinen Leute, Tagelöhner und Hintersassen gewähren, die sich den Adelsgeschlechtern in einer Art Klientel anschlossen. Der Adel war eifrig bemüht, den Vorzug, welchen der Grundbesitz gewährte, für sein Geschlecht zu erhalten; dem Eingehen der Adelsgüter und ihrer Zersplitterung sollte durch eine agrarische Gesetzgebung gesteuert werden. So bestimmte in Elis ein altes Gesetz, angeblich des König Oxylos, daß jedenfalls ein Theil des Stammgutes nicht mit Schulden belastet werden dürfe. Durch die Gesetzgebung des Philolaos in Korinth und Theben scheint bestimmt zu sein, daß die Adelsgüter in derselben Anzahl erhalten blieben, also wohl durch Einrichtung von Majoraten, ähnlich wie in Sparta die Zahl der dorischen nicht vermindert werden durfte. Bei den Lokrern untersagte ein Gesetz den Verkauf von Grundeigenthum, wenn jemand nicht nachwies, daß ihn ein offenbarer Unglücksfall betroffen habe, und eine andere Bestimmung ging dahin, daß die alten Ackerlose fort und fort erhalten bleiben sollten.

Die dritte der Grundlagen ist die edle ritterliche Erziehung in den Übungen der Kriegskunst, der Gymnastik und der Musik. Die Überlegenheit mit den Waffen hatte einst dem Adel den Grundbesitz verschafft, und wiederum nur der ausreichende Besitz gewährte dem Adel die Gelegenheit und die Muße zu leiblicher Ausbildung und edlerem Lebensgenuß. Kriegerische Tüchtigkeit war und blieb der Hauptvorzug des adeligen Mannes, so daß mit der Übung des Waffenhandwerkes die Ausbildung des männ-

lichen Charakters und sein sittlicher Werth verknüpft erschien. Der Sinn für persönliche Ehre erstarkte in dieser Schule, und wie sie dem Einzelnen ein Antrieb wurde zu jeglicher Tugend im privaten und öffentlichen Leben, so kam sie dem ganzen Stande zu gute. Die ritterliche Waffenübung sowie gymnastische und musische Fertigkeiten, wie sie nur in der Muße eines reicher ausgestatteten Lebens erworben werden konnten, gewährten dem Adel einen natürlichen Vorzug, den sich der Arbeiter und Gewerbsmann nicht verschaffen konnte. Edle Haltung, körperliche Vorzüge und Tapferkeit begründeten stets einen von allen anerkannten Vorrang, zumal in älteren Zeiten, wo Muskelkraft und körperliche Übung mehr geschätzt wurden als Kenntnisse und geistige Bildung. Man hat treffend bemerkt, daß die griechische Anschauung Körper und Seele durchaus nicht zu trennen vermochten, daß die edle Seele nicht ohne den edlen Leib denkbar war, daß das Ideal ihrer Ethik der schöne und gute Mann war. Darum nennen sich die Aristokraten in Hellas eben „die besten", und die Benennung καλὸς κἀγαθός, der weidliche und brave Mann, hat die griechische Sprache in ihrem Wortschatz für die bereit, welche mit stattlicher Erscheinung adeliche Gesinnung verbinden: die „Biderben" könnten wir es vielleicht mit altdeutschem Wort übersetzen, wie sich an manchen Orten die Patriziergeschlechter nannten, insofern in dieser Bezeichnung die Begriffe von leiblicher Rüstigkeit und Trefflichkeit der Gesinnung untrennbar zusammengefaßt erscheinen. Die Aristokratie ist weniger als alle anderen Verfassungsformen eine bloß staatsrechtliche Kategorie, die ein festes System von Rechtsnormen und Gesetzen zum Inhalt hat und auf einem ausgebreiteten Mechanismus der Verwaltung ruht. Sie gründet sich zuletzt auf gewisse sittliche Begriffe und der Empfänglichkeit des Gemütes für solche. Nach Aristoteles ist das charakteristische Princip der Aristokratie sittliche Tüchtigkeit, die angesammelt wie ein Kapital auf die Nachkommen übergeht, das der Oligarchie Reichthum, und das der Demokratie freie Geburt. Daher ist die Aristokratie mehr als jede andere Staatsform auf ein sittliches Ideal gerichtet, das sie vielleicht nie und nirgends ganz erreicht

hat, das sie aber auch nie ganz verleugnen kann, ohne sich selbst aufzugeben.

Zu diesen drei Grundlagen kommt endlich noch als vierte hinzu die ausschließliche Kenntnis und Handhabung des bürgerlichen und sakralen Rechtes. Die Priesterthümer waren in älterer Zeit überall an gewisse Adelsfamilien geknüpft; das ungeschriebene Gewohnheitsrecht war als eine geheiligte Überlieferung nur dem Adel bekannt; er hatte somit als sein Privilegium dasjenige Wissen, das in älteren Zeiten den höchsten Werth hat. „Er sprach", schreibt Duncker, „über die Hintersassen Recht und verhängte Bußen und Strafen, er entwickelte die Observanzen des bürgerlichen und heiligen Rechts und wußte zu deuten, was dem Willen der Götter genehm war; er vereinigte so in sich alle Autorität und Macht, die ein Ritterstand, der zugleich priesterliche Funktionen ausübt, überhaupt auszuüben vermag." Dies also waren die Grundlagen, aus denen der hellenische Adel das Recht zur politischen Herrschaft über die Staaten ableitete, in deren Besitz er sich Jahrhunderte lang erhielt. Nirgends waren sie fester gelegt, nirgends so unverbrüchlich erhalten, wie in Sparta. Hier war die Abstammung vom dorischen Vollblut unerläßliche Bedingung des Bürgerrechts der Spartiaten. Der Grundbesitz war in festen Händen der Geschlechter, unveräußerlich und untheilbar, und wurde, wie schon erwähnt, in Form von Majoraten vererbt. Die gymnastisch-kriegerische und bald auch musische Bildung war das köstlichste Privileg der herrschenden Klasse, von dem die leibeigenen Unterthanen gänzlich ausgeschlossen blieben, und das den herrschenden Eroberern das sicherste Mittel, ihre Überlegenheit zu behaupten, gewährte. Die Kenntnis des ungeschriebenen Rechts, dessen Kernsprüche schon die Jugend auswendig lernte, entwickelte den Rechtssinn in allen und gab die Gewähr für eine unantastbare, unter der Kontrolle der Öffentlichkeit stehenden Rechtsordnung. „Speer, Muse und Gerechtigkeit", sagt Pindar, „herrschen in Sparta." So kam es, daß dieser merkwürdige Kriegerstaat, der die Traditionen des alten Königthums fester hielt als irgendwo anders geschah, der zugleich

das demokratische Ideal eines Gemeinlebens in Freiheit, Gleichheit und Brüderlichkeit verwirklichte, daneben auch, und dauernd, das Musterbild aristokratischer Lebensordnung aufstellte und sich als schützender Hort aller Adelsherrschaften in Hellas thatkräftig bewährte. Der natürliche Stammescharakter der Dorer, die Macht der Erziehung und Gewöhnung, der Zwang der äußeren Verhältnisse, wie sie durch die Eroberung herbeigeführt waren, wirkten zusammen, um das Gefüge des Staates in der einmal begründeten Ordnung gefestigt zu halten, so daß Sparta unter den wandelbaren Staatsbildungen der Hellenen als die Verkörperung des konservativen Princips erschien, als der ruhende Pol in der Erscheinungen Flucht. Schon deswegen mußte ihm eine Führerschaft unter den übrigen Staaten zufallen, doch nur so lange als die Aristokratie in gesicherter Stellung blieb. Spartas Stern erblaßte, seine Hegemonie trat zurück, als die Adelsherrschaft draußen überall von den Mächten einer neuen Zeit überholt ward.

Hier mag beiläufig noch darauf hingewiesen werden, daß jene vier Momente nicht bloß eine vereinzelte Bedeutung für die griechische Aristokratie haben, sondern, wie sie Aristoteles als die Grundlagen jeglicher Adelsherrschaft bezeichnet, so kommen sie auch für den ritterlichen Adel im Mittelalter in Betracht. Denn die edle Geburt als Standesprincip stellte sich durch die Ritterbürtigkeit fest, die an den Nachweis von mehreren freien Ahnen geknüpft war. Grundbesitz, sei es Allodial- oder Lehnsbesitz, war auch hier die natürliche Basis des Adels, so lange dieser in den Feudalitätsverhältnissen seine militärische und politische Geltung behauptete. Kriegerische Ausbildung des Mannes im Reiterkampfe gehörte zu den eigentlichen Aufgaben des Standes, aber auch musische Bildung war dem echten Ritter ein Erfordernis zu höfischem Anstand und feiner Sitte; wenn dazu auch nicht immer Lesen und Schreiben gehörte, so doch Singen und Sagen. Die Blüte der weltlichen Bildung war eine Zeit lang ein Eigenthum des ritterlichen Standes, und auch das Tugendideal der Zeit sollte in ihm sich offenbaren, wenn anders der Ritter seine Aufgabe erfüllte, der Tugend Schild, der Ehren Eckstein zu sein,

wie ein mittelalterlicher Dichter ihn nennt. Endlich übte der Adel auch auf seinen Gütern die patrimoniale Gerichtsbarkeit und richtete über seine Hintersassen nach Hofrecht. Die Priesterthümer waren zwar in der katholischen Kirche nicht an gewisse Adelsgeschlechter gebunden, und der Zutritt zu ihnen allen Freien von ehelicher Geburt eröffnet; allein thatsächlich gestaltete es sich doch so, daß die höheren Prälaturen, die Stellen der Bischöfe, Äbte und Domherren in der Regel im Besitz fürstlicher und adelicher Familien waren, und das Kirchengut somit zur Unterbringung und Versorgung jüngerer Söhne des Adels diente.

Daß ein solcher Stand, der mit solchen Vorzügen ausgestattet war und die höchsten Lebensgüter, welche die damalige Zeit kannte, in sich vereinigte, gerechten Anspruch auf Herrschaft im Staate hatte, war in der That wohl begründet. Die Behauptung, die Besten zu sein, wie sie sich überall nannten, war keineswegs eine eingebildete: sie waren die Ersten und Besten, nicht die ersten Besten, und traten mit Fug und Recht als Inhaber der höchsten Gewalt auf. Gesetzt, so fragt Aristoteles, es wären im Staate Leute vorhanden, welche alle jene Elemente in sich vereinigen, ich meine Leute von sittlicher Trefflichkeit und Güte, und Reiche und Edelgeborene und daneben noch die Masse der übrigen Bürger, wird da noch ein Streit darüber sein, wer herrschen soll? Der Bestand des Adels blieb nicht immer derselbe, von Anfang an wurden, wie schon bemerkt, zu den ältesten erbangesessenen Geschlechtern allmählich neu aufgekommene und von außen zugewanderte hinzugezogen, so daß eine successive Erweiterung des herrschenden Standes durch neuen Zuwachs stattfand, wie auch in Rom die alten Tribus durch gentes minores ergänzt wurden. Im unteritalischen Locroi gab es Anfangs 100 bevorzugte Adelsgeschlechter, zu denen seit Zaleukos 1000 der Wohlhabendsten gewählt wurden, die im Besitz des Rathes sein sollten. Zuletzt ward das Adelsprivileg auf alle Grundbesitzer von freier Geburt ausgedehnt, welche sich die kriegerische und musische Bildung des Adels angeeignet hatten. Von hier war nur noch ein Schritt zu der Anschauung, daß nicht die Geburt, sondern der Besitz allein die bürgerliche Stellung bestimme, womit das

eigentliche Adelsprincip zu gunsten einer neuen gesellschaftlichen Ordnung aufgegeben wurde. Charakter und Form des Adelsregimentes konnte demnach sehr verschieden sein, je nachdem eine kleinere oder größere Zahl von Geschlechtern die Herrschaft übte oder auch den anderen Volksklassen einen gewissen Antheil daran gewährte, und je nachdem die eine oder die andere seiner Grundlagen, edle Geburt, Reichthum oder sittlicher Werth, vorwiegend betont wurde und bei der Besetzung der höchsten Stellen den Ausschlag gab. In Korinth herrschten die Bakchiaden, eine beschränkte Anzahl von Geschlechtern, die von einem gemeinsamen Stammvater Bakchis sich ableiteten und sich nur untereinander verheirateten und aus ihrer Mitte den jährlichen Prytanen wählten. Sie mochten der alte Erbadel auf den in Korinth nicht zahlreichen Grundstücken sein und hielten der Geldaristokratie gegenüber ihr altes Vorrecht als abgeschlossener Stand aufrecht. In Chalcis herrschte der ritterliche Adel der Hippobotai; die Zahl der Geschlechter muß beträchtlich gewesen sein, da später auf ihren Gütern 4000 attische Kolonisten angesiedelt wurden. Die Aristokratie vertrug sich zuweilen auch mit einem Beisatz von bürgerlichen und demokratischen Elementen, wenn nur dabei Reichthum und adeliche Tüchtigkeit das Übergewicht behielten. Es gab Mittel, die Mitwirkung des Volkes bei Versammlungen und Gerichten illusorisch zu machen und den Hauptantheil dem Adel zu sichern. In der Verfassung des Charondas war bestimmt, die Reichen sollten Strafe zahlen, wenn sie die Volksversammlungen nicht besuchten, die Staatsämter ablehnten, dem Richteramt sich entzögen, keine Waffen besäßen und die Leibesübungen vernachlässigten; die Armen dagegen sollte in solchen Fällen keine oder nur geringe Strafe treffen, um sie von allen diesen Dingen abzuziehen. Der Charakter des Adelsregimentes war somit ein sehr variabler und mochte in keinem griechischen Gemeinwesen, wo es bestand, völlig dem in einem andern Staate gleichkommen. Die Aufgaben aber waren dem Adel überall klar und deutlich gestellt, wenn er seinen Beruf erfüllen und durch sein Verhalten die Berechtigung seiner Herrschaft erweisen sollte. So lange der Adel sein Regiment nicht bloß als ein Recht, sondern auch als

eine Pflicht ansah, nicht bloß als ein Privilegium zum Genuß, sondern als einen Ansporn zu mühevoller Arbeit im Dienste des Gemeinwesens, war dasselbe ebenso naturgemäß als wohlthätig. Noblesse oblige. Daß es adelich sei, für das Gemeinwohl den größeren Theil der Last auf sich zu nehmen und in allen Verlegenheiten des Staates das Beispiel der Opferwilligkeit in großem Maßstabe zu geben, hat die griechische Aristokratie reichlich bewährt. Die gesammte Zeit und Kraft des Adels soll dem Gemeinwesen dienstbar sein; er nimmt, sagt Duncker, die Mühen der Regierung, der Ämter, des Gerichts ohne Vergeltung auf sich, aus der Gesammtheit des Geschlechts werden die Mitglieder des höchsten Raths, die Prytanen und Archonten gewählt, er ist es, der vorzugsweise den Staat mit den Waffen zu schützen hat und stets in erster Reihe ficht. Er leistet den kostspieligen Kriegsdienst in schwerer Rüstung zu Roß und führt sein Gesinde beritten in's Feld. Er trägt vornehmlich die Steuern und bringt zum gemeinen Besten kostspielige Ehrenleistungen dar, und das Volk rechnet auf seine Liberalität. Kurz, wie die Vorrechte des Adels auf seiner durch gymnastische Übung erreichten Kriegstüchtigkeit und Tugend begründet sind, so werden sie andrerseits aufgewogen durch die entsprechenden Pflichten, die Übernahme des Schutzes wie aller Lasten und Mühen des Gemeinwesens.

Werfen wir noch, um dies Bild abzurunden, einen Blick auf das private und häusliche Leben des Adels, so zeigt dasselbe, wenn auch nach Stämmen und Landschaften verschieden, dennoch im ganzen die gleichen Züge und ist kaum ein anderes gewesen, als es den höfischen und ritterlichen Kreisen im Mittelalter eigen war. Ein gastliches Haus, das Freunden, Standesgenossen und Sängern stets offen stand, eine wohlgefüllte Rüstkammer mit chalkidischen Klingen und nickenden Helmbüschen, wie Alkäus die seine beschreibt, allerlei Vorrath an Gastgeschenken, Prunkgewändern, und was sonst zum Vorrath des Lebens dient, gehörte zur äußeren Ausstattung wenigstens der wohlhabenden Adelsfamilien. Rossezucht war überall das gern zur Schau gestellte Kennzeichen einer aristokratischen Lebensstellung, daher der Adel in manchen Gegenden schlechtweg als Reiter und Rosse-

züchter bezeichnet wurde. Der Kampf wurde in der älteren Zeit ausschließlich mit Reitermassen geführt, wie auch im früheren Mittelalter geschah. Bei den chalkidischen Ritten war der Gebrauch des Bogens verpönt, nur der Nahkampf, Mann gegen Mann mit dem Schwert schien dem adelichen Kriegsmann zu ziemen. Das Pferde- und Wagenrennen zu Olympia wurde das Stelldichein der ritterlichen Welt, wie die Turnierplätze im Mittelalter, und trug wesentlich dazu bei, die ritterliche Prunksucht mit den aristokratischen Standesanschauungen zu verbinden. Glänzende Aufzüge mit Wagen, Rossen und Reisigen verherrlichten die gemeinschaftlichen Feste und Spiele. Die Ritter auf Euböa hielten es werth, im Tempel der amarynthischen Artemis Inschriften zu setzen, die ihren bei einer solchen Gelegenheit entfalteten Aufwand dem Gedächtnis der späteren Geschlechter übermitteln sollten. Theilnahme an Jagden, Gelagen und Schmäusen, wie an politischen Versammlungen, nachbarliche Fehden und Kämpfe, abenteuernde Züge in die Ferne und gelegentlicher Solddienst bei fremden Fürsten, selbst im Nil- und Euphratlande brachten willkommene Abwechslung in das einförmige Leben der Edelleute. Die gymnastischen und ritterlichen Übungen, die Beaufsichtigung des Landbaues und des arbeitenden Gesindes, die Pflege der patrimonialen Gerichtsbarkeit und die Obhut der seinem Schutz unterstellten Hintersassen füllten daheim die reichliche Muße des Landedelmannes, während in der Stadt die Geschäfte des Großhandels eine mit der Zeit immer steigende Berücksichtigung verlangten. Über die Stellung der Frauen in diesen Kreisen sind wir wenig unterrichtet, doch war dieselbe nach dem ethischen Princip der Aristokratie streng bemessen. Bemerkenswerth in dieser Hinsicht ist eine Notiz des Aristoteles, daß Aufseher über die Zucht der Knaben und Weiber in dieser Verfassungsform sehr üblich waren, während die Frauen in der Oligarchie üppig, in der Demokratie zügellos zu sein pflegten. Dies kann nicht befremden. Frauen, hat man gesagt, sind geborne Aristokratinnen, nicht bloß weil sie an den Standesvorzügen und Vorurtheilen zäher festhalten als die Männer, sondern edle, feine Sitte, dies soziale Lebenselement des Adels, ist auch der natürliche Vorzug

der edel gearteten Frau, welcher ihr die bewußte Sittlichkeit des Mannes in vielen Stücken als richtiger Takt ersetzen muß. Trotz der strengeren Zucht, die hier im häuslichen Leben waltete, finden wir gerade in diesem Zeitraum Andeutungen eines innigeren Verhältnisses und eines leidenschaftlicheren Gefühls der Geschlechter für einander, als in früherer und späterer Zeit: wovon die Gedichte des Alcäus, der Sappho und wohl der meisten Lyriker Beispiele geben. Auch den Beschäftigungen der Männer traten die Frauen näher, was als ein Zeichen der höheren sozialen Geltung der Frauen angesehen werden darf. So trieben die Frauen in Lesbos Musik und Dichtkunst, in Sparta Gymnastik, hier waltete die Hausehre als Herrin und Gebieterin, das Weib von Sparta ward auch vom delphischen Gott als das trefflichste von allen anderen gepriesen, und ihre Gewalt, die sie über das stärkere Geschlecht ausübte, ward anderswo als eine Gynäkokratie verschrieen. Eine Reihe von Dichterinnen ist uns aus dieser Zeit bekannt, die einigermaßen an den Einfluß erinnern mag, den die Frauen im Mittelalter auf den Charakter der höfischen Dichtung ausübten. Außer Sappho und Korinna, den beiden bekanntesten, macht Plutarch noch namhaft die Damophila aus Phamphylien, Erinna von Tenos,. Kleitagora, die Lakonierin, die schöne Myia, Myrtis aus Böotien, Telesilla von Argos, Praxilla von Sikyon, die Lokrerin Nossis und Theano die Pythagoräerin: eine stattliche Zahl, welcher die spätere Zeit und das dichterreiche Athen nur eine Anzahl berühmter Hetären an die Seite zu stellen hat.

Endlich erübrigt noch, von dem Verfall der Aristokratie und dessen Ursachen zu reden. Aristoteles macht hierüber die Bemerkung, daß Adelsherrschaften am meisten der unmerklichen Umwandlung durch allmähliche Auflösung unterworfen seien. Weil bei dieser Verfassungsform das ethische Element so sehr in's Gewicht fällt, so kann schon eine geringe Abschwächung oder Vernachlässigung desselben eine Veränderung des Regiments und einen Verfall des ganzen Standes zur Folge haben. Eine Umwandlung erfolgt schon, wenn von den oben bezeichneten Grundlagen nicht so sehr edle Geburt und Tugend als Reichthum den

Ausschlag gibt, und eine Herrschaft der Reichen nennt der griechische Philosoph nicht Aristokratie, sondern Oligarchie, die ihm eine Ausartung der echten Adelsherrschaft bedeutet. Hierbei kommt es ihm nicht sowohl auf die geringe Anzahl an, denn auch die Edelgebornen werden, wie die Reichen, immer nur die Minderheit bilden. Es wäre denkbar, daß eine Aristokratie sich an Zahl nicht verminderte und dennoch in eine Oligarchie sich verwandelte. Die Hauptsache ist eben, daß, wenn Reichthum in erster Linie Ehre und Ansehen bestimmt, der Charakter der Aristokratie eine Umwandlung erfährt. Es stellt sich niedere Selbstsucht und Gewinnsucht ein, welche das richtige Verhältnis von Pflicht und Recht verrückt und dazu verleitet, die Macht nur noch im Privatinteresse auszuüben und dieses über das Gemeinwohl zu stellen. Der Edelmann wird nebenbei Spekulant und vergißt leicht, was Standesehre und persönliche Würde zu thun verbietet. Dagegen findet man auch bei Aristokratieen jene Klugheit, die, wenn auch die sittliche Tüchtigkeit schon im Sinken ist, doch der Regierung Dauer zu verleihen weiß, indem die Inhaber der Staatsgewalt sowohl die von den Staatsrechten ausgeschlossene als auch die Klasse der Vollbürger gut behandeln: jene, indem sie dieselben nicht kränken, und diejenigen, welche Talent zur Regierung verrathen, in die Bürgerschaft aufnehmen, den Ehrgeizigen nicht in ihrer Ehre, der Menge nicht in ihren materiellen Interessen zu nahe treten, unter sich selbst aber und mit der regierenden Klasse auf dem Fuße demokratischer Gleichheit verkehren.

Aus diesen Bemerkungen des Aristoteles sieht man zugleich, welche Anlasse es sind, die den Verfall und Sturz der Demokratie zur Folge haben, Mißverhältnisse unter den Standesgenossen selbst und unkluge Behandlung der niederen Volksmassen. So lange eine Aristokratie oder Oligarchie in sich eins ist, geht sie von selbst nicht so leicht zu Grunde; Uneinigkeit unter den Standesgenossen wird leicht hervorgerufen durch das Bestreben, den Kreis der Bevorrechteten noch zu verengen, woraus kränkende Zurücksetzungen hervorgehen. In Knidos z. B. wurde die Oligarchie gestürzt, weil die Vornehmen sich gegen einander selbst

erhoben, da nur wenige an der Macht Antheil hatten, und nicht der Sohn mit dem Vater zugleich, und von mehreren Brüdern nur der älteste mitregieren durfte. Zahlreich auch waren die Zerwürfnisse durch Ehrenkränkungen, Versagung von Heiraten, wie solches auch in den Städtegeschichten des Mittelalters häufig vorkommt. Heruntergekommene Adeliche wurden politische Wühler oder Räuber am öffentlichen Gut, und es erhob sich der Aufruhr in ihren eigenen Reihen oder von Seite des Volkes. Wie der Adel sich früher gegen das Königthum aufgelehnt hatte, so begann er zuletzt, da das selbstsüchtige Interesse bei ihm die Oberhand gewann, das niedere Volk in gewaltthätiger Weise zu unterdrücken. Dies tritt besonders anschaulich in den attischen Verhältnissen hervor. Als hier seit 682 statt des einen Archon neun einjährige Archonten gewählt wurden, konnte die Aristokratie der Eupatriden für abgeschlossen gelten. Zugleich aber lag die Gefahr nahe, daß beim häufigen Wechsel in zahlreichen Ämtern das Streben des Adels nach diesen ungebührlich vermehrt werde, daß die Ämter nur dazu seien, um die Eitelkeit und den Ehrgeiz der herrschenden Klasse zu befriedigen, und nicht so sehr zum Nutzen des Gemeinwesens, als zur Ausbeutung desselben für die Adelskaste vorhanden seien. Die Rechtspflege konnte sehr leicht im Partei-Interesse und zu persönlichem Vortheil gefälscht werden. Sie wurde zuletzt zu einem Regierungsmittel des Adels, um alle mißliebigen Elemente im Volke niederzuhalten und mit erschwerten Bußen und Strafen zu verfolgen. Als das Volk sein Verlangen nach einer Codifikation des Gewohnheitsrechtes durch die drakonische Aufzeichnung erfüllt sah, zeigte es sich erst, wie hart die Gesetze in der letzten Zeit durch die richterliche Praxis geworden waren; das ungeschriebene Recht war in ein geschriebenes Unrecht verwandelt. Der Griffel des Gesetzgebers schien in Blut getaucht zu sein. Dazu kamen allerlei Chikanen, die der Adel durch sein militärisches Kommando, durch seine polizeiliche und disziplinarische Befugnis bei der Bevölkerung, wie durch die Führung und Kontrolle der Bürgerlisten gegen Widerstrebende ausüben konnte. Vor allem war es die Gewinnsucht, die den Adel seines wahren Berufes vergessen machte. Seine Hinter-

sassen erwarteten von ihm Aushilfe in der Noth, und die kleineren Besitzer kamen leicht in ein Schuldverhältnis zu den größeren. Die Kapitalien waren noch selten, der Zinsfuß hoch, das Schuldrecht streng. Der Verschuldete mußte oft den Ertrag seiner Güter bis auf einen geringen Antheil abliefern, bei völliger Insolvenz trat Schuldknechtschaft ein, und viele wurden in's Ausland verkauft.

Der Adel fand hierin bald ein bequemes Mittel, die kleinen Güter an sich zu bringen und zu Latifundien zusammenzuschlagen ohne Rücksicht auf den unausbleiblich hieraus folgenden Ruin des Landes. Dennoch wurde der ökonomische Verfall der adelichen Häuser durch zunehmende Prunksucht und Vermehrung der Lebensbedürfnisse überall beschleunigt. Der Grundbesitz vermochte die Kosten hier nicht zu decken; die Konkurrenz mit dem Kaufmann konnte der Landedelmann nicht aufnehmen. „Geld macht den Mann" wurde ein Grundsatz in dieser Zeit, der nur zu leicht die adeliche Ehre befleckte. Mancher opferte die Reinheit seines Stammbaumes, um durch eine reiche Heirat seiner Lage aufzuhelfen. Die aristokratischen Anschauungen wurden gelockert, der ganze Stand verlor seinen festen Zusammenschluß und seinen moralischen Halt. So sehen wir alle Grundlagen der Adelsherrschaft erschüttert, die Kenntnis des Rechts ist im Dienst der Ungerechtigkeit gemißbraucht, der Besitz ist unsicher geworden oder auf unrechtmäßige Weise gewonnen, adeliche Gesinnung und Ehre sind im Schwinden und der moralische Kredit verloren. Was früher eine Stütze für die Autorität des Adels war, ist ein Grund zur Anklage wider den Mißbrauch der Gewalt geworden. Von allen Grundlagen der Herrschaft war nur die vornehme Abkunft geblieben, welche ohne Verbindung mit den übrigen nur als ein leerer Titel mit seinem gehässigen Anspruch erschien.

In demselben Maße, wie der Verfall des Adels zunahm, tritt die Bedeutung des aufstrebenden Bürgerthums klarer hervor und gewinnt in der konsequenten Entfaltung seiner Principien eine erhöhte Lebenskraft, welche zuletzt die des Adels überflügelt und ein Vorrecht desselben nach dem andern zerstört. Wie in

den Städten des Mittelalters neben dem Patriziat der Geschlechter ein zweiter Stand sich entwickelte, der aus der Unfreiheit zur Selbständigkeit, aus dieser zur Theilnahme am Stadtregimente emporstieg, um schließlich eine unumschränkte Herrschaft zu gewinnen, ähnlich ist auch der Verlauf in den althelleniſchen Staaten gewesen. Für das Wort „Demos“ wüßte ich in dieser Epoche keine passendere Bezeichnung als „das Bürgerthum“ in dem Sinne, daß es alle nicht dem Adel angehörenden Elemente, sei es des Mittelstandes, sei es der niederen Volksmassen, begreift. Die städtische Entwickelung war in Hellas von früh an überwiegend. Das Meer, welches fast alle Landschaften berührt, bot überall Gelegenheit zu noch anderem Erwerb als der Landbau. Sobald geprägtes Geld in größeren Massen in Umlauf war, entwickelte sich schnell der Gegensatz vom Grundbesitz und Kapital, von Naturalwirthschaft und Gewerbthätigkeit. Mit dem Beginn des Aktivhandels mehrte sich das bewegliche Vermögen und die Wohlhabenheit der unteren Klassen. Wohl trieben auch einzelne Adeliche kaufmännische Geschäfte, wie Solon, der dem höchsten Adel in Athen angehörte; doch stiegen solche eben dadurch in die Kreise des Mittelstandes hinab, wozu auch Aristoteles den Solon ausdrücklich rechnet. Dieser Stand gewann immer mehr Kraft und Bedeutung im Staate, da er aus der unteren Volksklasse die tüchtigeren und aufstrebenderen Elemente in sich aufnahm, wie andererseits die rührigeren und vorurtheilsfreien Männer aus den Reihen des Adels. So bildete sich eine städtische Aristokratie der Kapitalisten und Kaufleute, die über Arbeiter, Matrosen, Rheder zu verfügen hatte, wie der Adel über die ländlichen Hintersassen. Größere Bedeutung gewann die untere Volksklasse dadurch, daß man sie zum Kriegsdienste heranzog. Neben den adelichen Reiterscharen traten die Bürger als Fußvolk in die städtische Miliz ein, ganz wie im Mittelalter die adelichen Geschlechter zu Roß dienten, denen sich die Zünfte als Fußvolk in eigener militärischer Organisation mit ihren Bannern anreihten. Das Waffenrecht aber war stets ein wichtiger Hebel, um das Selbstbewußtsein des unteren Standes zu steigern, und schärfte den Antrieb zu höherer Geltung im Staate. Die Bevölkerung,

bemerkt Aristoteles, war Anfangs gering, ein zahlreicher Mittelstand noch nicht vorhanden, und so ließ sie sich unbedeutend als Volksmasse und wenig geschätzt in ihrer militärischen Brauchbarkeit die Beherrschung von ihren Oberen ruhig gefallen. Als aber mit dem Wachsthum der Staaten das schwerbewaffnete Fußvolk mehr Bedeutung gewann, da stieg auch die Zahl der Bürger, und es kam der Name Freistaat oder Demokratie auf. Die Siege, welche am Ende dieser Periode das attische Fußvolk über die Ritter von Theben und Chalkis davontrug, die ersten ruhmreichen Kämpfe in der Geschichte Athens, sie scheinen eine ähnliche Bedeutung für die Umwandlung des Kriegswesens und der Politik, wie am Ende des Mittelalters die Siege des schweizerischen Fußvolkes über die österreichischen und burgundischen Ritterheere gehabt zu haben.

Sodann: die Betriebsamkeit des Bürgerstandes und die kaufmännische Spekulation, die der Adel als gemein und banausisch verachtete, bildete den Verstand und die Geisteskräfte in höherer und mannigfaltigerer Weise aus, als das einförmige Landleben, wie es der Edelmann führte. Jener wurde durch seinen Erwerb in der älteren Zeit zu beständigen Reisen genöthigt, während der Edelmann auf seinem Gute sitzen blieb und in Gefahr stand, zu verbauern. Der Kaufmann lernte nicht bloß Geschäftskenntnis und Gewandtheit im Verkehr, sondern er beobachtete auch die Menschen, ihre Sitten und Verfassungen, und mit der Erweiterung seines Gesichtskreises wurde das Nachdenken über alle Lebensverhältnisse geweckt. Dies ergab eine Bildung von reicherem Inhalt, in der sich der Kaufmann dem Edelmann überlegen fühlen durfte, wie er auch auf das selbsterworbene Vermögen mit gerechterem Stolze blicken konnte als der Adeliche auf sein ererbtes Familiengut. Was that dieser am Ende Wichtigeres als Rosse tummeln und Zechgelage halten, wobei alte Lieder gesungen wurden, die schon der Großvater sang. Dem Geschäftsmann mußte seine individuelle Bildung, die das Ergebnis seiner Erfahrungen und seiner angestrengten Thätigkeit war, werthvoller erscheinen als die angeborne und traditionelle Tugend des Adels,

die weniger der Bemühung des Einzelnen als der sozial-politischen Stellung des ganzen Standes anzurechnen war. Hieraus erklärt sich weiter, daß der Bürgerstand dem überlieferten Herkommen mehr zugethan war als der Adel und vielmehr eine rationelle, den jeweiligen Bedürfnissen sich anschließende Durchbildung aller Lebensverhältnisse verlangte. Das Herkommen als solches ward weniger respektirt als vernunftgemäße Zweckmäßigkeit. Das Gewohnheitsrecht soll durch ein geschriebenes, das Standesrecht durch ein allgemein bürgerliches ersetzt werden; hieraus reift der Begriff des Naturrechtes, das gegen das bestehende historische Recht angerufen wird und zu bürgerlicher Gleichheit drängt. Die klare, bündige Fixirung und Formulirung aller Rechtsverhältnisse wird als die wesentlichste Garantie für das wirthschaftliche und politische Wohl aller Klassen erstrebt.

Seit Zaleukos im unteritalischen Lokroi (650) zuerst eine geschriebene Gesetzgebung erließ, wurde diese Forderung überall, auch im Mutterlande erhoben. Doch in Sparta wußte man, was man that, wenn man durch eine besondere Rhetra die Aufzeichnung des Gewohnheitsrechtes verbot, wozu offenbar erst dann ein Anlaß gegeben war, als diese Aufzeichnung in anderen Gemeinwesen geschah. Das ungeschriebene Recht, dessen Ursprung in ehrwürdiges Dunkel gehüllt ist, pflanzt sich durch Tradition fort als ein altgeheiligter Brauch der Väter, es lebt wie ein unsterblicher Gott in der Gemeinde, während die Geschlechter der Menschen dahinfahren wie die Blätter des Waldes. Doch das geschriebene Gesetz, wiewohl in Erz und Stein gegraben, ist hinfällig und wandelbar wie die Zeit, der es entstammt. Von bekannten Persönlichkeiten verfaßt, erscheint es als ein profanes Machwerk, das jederzeit umzugestalten erlaubt ist, und weil es eingehender alle Lebensverhältnisse mit seinen Bestimmungen berührt, muß es, sobald diese sich ändern, seine praktische Bedeutung verlieren. Es war charakteristisch, daß der Spartaner Cheilon dem Solon die Gastfreundschaft aufkündigte, als er erfuhr, daß dieser in seinem Verfassungswerke die Abänderung der Gesetze für zulässig erklärte.

Endlich findet die neue sittliche Weltanschauung des Bürgerthums Ausdruck in neuen Gattungen der Dichtkunst wie in dem erwachenden Trieb philosophischer Spekulation, welche der kaufmännischen Spekulation auf dem Fuße nachfolgte. Dem schwungvollen Vortrag homerischer Gedichte, den Hymnen und Kriegsliedern, wie sie der Adel liebte, begegnete der nüchterne lehrhafte Ton der gnomischen Dichtung im Munde der Weisen und Philosophen. Hierzu gesellte sich die äsopische Fabel, die unter leichter dichterischer Hülle eine volksthümlich faßliche Moral und Klugheitslehre bot. Der Überdruß am epischen Heldengesange, der sich in bürgerlichen Kreisen verbreitete, sprach sich in Parodieen der homerischen Gedichte aus wie im Froschmäusekrieg, und die komische Figur des Margithes, die mit ihren Schwänken und Albernheiten nur aus der unteren Volksklasse hervorgehen konnte, bildet in ihrer dichterischen Verherrlichung einen Gegensatz zu dem Pathos des heroischen Heldengesanges.

Bald kam auch in den Städten die Prosa in Gebrauch, zum Zeichen, daß der Verstand sich von der Übermacht der Phantasie zu emancipieren, und der Erkenntnistrieb sich einer objektiven Erfassung der Dinge und ihrer ursächlichen Verkettung untereinander zuzuwenden begann.

Als vollgültige Vertreter des bürgerlichen Mittelstandes können die sogen. Weisen gelten, die als Musterbilder aller theoretischen und praktischen Lebensweisheit, wie als Meister der Spruchdichtung in geschlossener Siebenzahl ein fast mythisches Ansehen erhielten. Sie waren Männer, welche durch die Reinheit ihres Charakters und ihrer sittlichen Anschauungen, durch die Fülle ihrer Kenntnisse von göttlichen und menschlichen Dingen sich das öffentliche Vertrauen erworben hatten. Die meisten von ihnen verbanden gelehrte Studien mit einer großartigen politischen Wirksamkeit, zu der sie nicht selten als Ordner der Staaten und Versöhner der Parteien berufen wurden. Sie schlichteten die öffentlichen Wirren nach dem Begriff von Maß und richtiger Mitte, während sie das Volk durch ihre Gedichte aufklärten und die Summe ihrer Lebenserfahrungen in Sprüchen ausprägten, die wie kleine Münze für den Bedarf des täglichen Verkehrs

bestimmt waren. Man dichtete auf ihren Namen ganze Spruchsammlungen, die zusammen einen kostbaren Schatz volksthümlicher Lebensweisheit bildeten.

Wie im geistigen Leben und seiner sprachlichen Einkleidung ein Gegensatz zwischen den Ständen hervortrat, so auch in der Sitte, Tracht und den äußeren Gewohnheiten des bürgerlichen Lebens.

In der Folge, schreibt Plutarch, ging in der Lebensart der Menschen durch allerhand Zufälle und nach dem natürlichen Lauf der Dinge eine große Veränderung vor. Die Mode verdrängte nun allen überflüssigen Prunk, man fing an, goldenen Kopfschmuck abzulegen, auch wohl selbst das allzu üppige Haar wegzuschneiden und die hohen Schuhe von den Füßen abzuthun, und die Menschen gewöhnten sich weidlich, statt mit Luxus, mit Mäßigkeit zu prangen und mehr auf eine einfache, sparsame Lebensart als auf Üppigkeit und Pracht stolz zu sein. Hierdurch bekam auch die Sprache eine ganz andere Gestalt. Die Geschichte stieg nun von der Dichtkunst wie von einem Wagen herab, und durch den schlichten Vortrag wurde die Wahrheit immer mehr von dem Fabelhaften abgesondert. Auch die Philosophie zog das Deutliche und Belehrende dem Überraschenden vor und wählte zu ihren Untersuchungen einen ganz simplen Ausdruck. Dieser Übergang, können wir sagen, erfolgte, als das Bürgerthum zu Kraft und Geltung gelangt war. Durch die Gesetzgebung Solon's, mit welcher der bürgerliche Geist im athenischen Leben sich Bahn brach, wurde der Luxus der früheren Zeit bei Leichenbegängnissen und im Privatleben eingeschränkt, und erst seit dieser Zeit war dem attischen Volke der Charakter der Einfachheit und Mäßigkeit aufgedrückt, der es so vortheilhaft auszeichnete. Auch in den Städten des Mittelalters kamen mit dem Bürgerthum die Luxusgesetze auf. Dagegen wollten einmal die Berner Patrizier sich die großen Schnabelschuhe nicht nehmen lassen und wanderten lieber aus, um draußen in selbstgewählter Verbannung nach eigenem Geschmack auf großem Fuße weiter zu leben.

Überblicken wir nun die Grundlagen, auf denen das Dasein des Adels und des Bürgerthums beruhte, so bemerken wir einen

scharf ausgebildeten und allseitig entwickelten Gegensatz: dort der Grundbesitz, hier das bewegliche Vermögen, dort die seßhafte gleichbleibende Lebensweise des Landedelmannes, hier die Unruhe und Veränderlichkeit im Leben des reisenden Geschäftsmannes, dort der Stolz auf die Überlieferungen der Ahnen und die erbliche Tugend des Geschlechts, hier die Freude am selbsterworbenen Gut wie an der selbsterrungenen Bildung, dort das Beharren in der alten Sitte und im überlieferten historischen Recht, hier das Drängen nach neuen Formen, worin das Recht für alle gleich gewogen ist, dort der Kriegsdienst zu Roß, hier in den Haufen des Fußvolks, dort die Freude am Heldenthum und Heldengesang wie am Schwung und Pathos der lyrischen Poesie, hier die Prosa und der nüchterne Vortrag der didaktischen Gattung, dort Liebe zu Glanz und Pracht, hier Neigung zu Einfachheit und mäßigem Lebensgenuß. Bei so verschieden gearteten Grundlagen ihres Daseins mußten beide Stände, je mehr das Bewußtsein des Gegensatzes sich herausbildete, unausbleiblich in einen Konflikt gerathen. So lange der Adel die höchsten Lebensgüter der Zeit in sich vereinigte, war seine Herrschaft durchaus berechtigt, ähnlich wie die des Ritterstandes im Mittelalter. Doch als andere Kräfte außerhalb seiner Sphäre entstanden, die er sich nicht dienstbar machen konnte, denen er nichts Neues entgegenzustellen vermochte, da verlor er das Anrecht auf den alleinigen Besitz der Herrschaft; der Kampf wurde mit allen Mitteln, wie sie Gewalt und List an die Hand gaben, in stürmischen Revolutionen und rachsüchtigen Reaktionen geführt. Hinrichtung, Verbannung, Konfiskation der Güter waren an der Tagesordnung. Wie tief die Leidenschaften erregt waren, bezeugen einzelne Fälle von besonderer Grausamkeit und Rachsucht. In Milet, wo sich ionische Beweglichkeit und asiatische Wildheit mischten, sind einmal die Kinder der vertriebenen Aristokraten auf der Tenne durch Ochsen zertreten worden; dafür übte der Adel nach seiner Rückkehr Vergeltung, indem die Kinder der Demokraten mit Pech bestrichen dem Feuertode preisgegeben wurden. In Megara, der Heimat der Komödie, äußerte sich der Übermuth des Volkes auch in humoristischen Zügen. Die

Armen drangen in die Häuser der Reichen ein, verlangten Gastereien, und wenn man ihnen nicht zu Willen war, brauchten sie mit der größten Frechheit Gewalt, wie denn kommunistische Begehrlichkeit vielfach in den politischen Kämpfen sich geltend machte. Endlich faßten sie einen Volksbeschluß, wonach die Gläubiger die erhaltenen Zinsen wieder zurückzahlen sollten, und das nannte man mit einem nicht üblen Wortwitz Palintokia.

Überhaupt bildete die soziale Noth wie auch im römischen Ständekampf einen Stachel der politischen Leidenschaft. Eine Menge bedeutender Figuren, Gesetzgeber, Staatsmänner, Tyrannen und Demagogen treten in diesem Kampfe auf, daneben erheben auch die Sänger und Dichter ihre Stimme und schleudern ihre geflügelten Verse in die leidenschaftlich bewegten Massen. In Wort- und Waffenkampf maßen sich die Gegner, mit Leier und Schwert wurde gekämpft. Die Gesänge und die Geschicke eines Alceus von Lesbos, eines Theognis von Megara sind Beweise, mit welcher Erbitterung dieser Kampf geführt wurde, von wie traurigen Schicksalswechseln im Leben der Einzelnen, wie der Staaten er begleitet war. Einen Ritterspiegel adelicher Sitte hat man die Dichtungen des Theognis genannt, und wohl mag man sie mit ähnlichen Sittengedichten aus den höfischen Kreisen des Mittelalters vergleichen, worin im Gegensatz zu der schon brüchig werdenden Sitte einer sinkenden Zeit die echte adeliche Sinnesart noch einmal das Wort ergreift und ihr eigenes Bild als ein Vermächtnis den nachgeborenen Geschlechtern und zugleich als ein Epitaph der guten alten Zeit in eindrucksvollen Zügen entwirft.

Während er das bittere Brod der Verbannung in drückender Armuth kostet, weiß sich Theognis zu trösten mit dem stolzen Bewußtsein, welches echte, mannhafte Tugend dem edlen Manne verleiht; doch auch sehnsüchtige Klage entringt sich der gestählten Brust, so oft ihn im Frühjahr der Lerchengesang an das väterliche Gut in der Heimat erinnert, dessen sich nun ein niedriger Mann, ein elender Feind aus der verhaßten Rotte des Pöbels erfreut. Zuletzt noch hat der sittliche Idealismus, welcher die

alte Aristokratie erfüllte, in dem Augenblicke, wo er aus der Welt der Wirklichkeit schied, einen verklärenden Abglanz gefunden im Spiegel Pindarischer Dichtung. Was die Brust eines echten Edelmanns aus alter Zeit bewegte, was ihm die moralische Welt bedeutete, die zuletzt doch auf dem Gefühl des eigenen Wertes ruhte, das klingt in dem überströmenden Sentenzenschatz wieder, welcher die Leier des Thebanischen Sängers mit unvergänglichem Goldglanz umkleidet.

Die Einzelheiten jener Kämpfe sind für uns verloren bis auf wenige zerstreute Notizen und anekdotenartige Züge, die nur einen ungenügenden Einblick gewähren. Könnten wir aber auch alles Detail übersehen, so würden wir damit doch nur endlose Variationen über ein und dasselbe Thema besitzen. Nicht um den Kampf selbst ist es uns zu thun, sondern um gewisse Durchgangs- und Wendepunkte, in denen der geschichtliche Hergang sich verläuft. Indem man eine Vermittelung der Parteien anstrebte und ein Expediens in der unerträglich gewordenen Lage suchte, kam man zu Mitteln und Resultaten, die nicht bloß für das Verhältnis der Stände zu einander, sondern auch für die Gesammtheit der griechischen Kulturentwickelung von hoher Bedeutung waren. Als solche Durchgangspunkte bezeichne ich die Kolonisation, die Tyrannis und ihr Gegenbild, die Äsymnetie, die Timokratie und die Thätigkeit des Pythagoreischen Bundes. Jede dieser Erscheinungen bildet ein eigenes, inhaltreiches Kapitel der griechischen Geschichte. Hier handelt es sich nur darum, ihre Bedeutung als Momente im Ständekampf zu erklären und an ihnen die Folgerichtigkeit, welche die geschichtliche Entwickelung aufweist, darzuthun.

1) Die Kolonisation, welche die Kraft der griechischen Städte ein paar Jahrhunderte in Anspruch nahm, ging ebensowohl aus wirthschaftlichen wie aus politischen Motiven hervor. Bei überwiegender Naturalproduktion konnte auf den geringfügigen Agrikulturebenen von Hellas die wachsende Bevölkerung sich nicht mehr ernähren. Die Arbeitskraft fand in industriellen Unternehmungen noch keine genügende Beschäftigung. So blieb nichts übrig als eine Emission dieser überschüssigen Kraft, wodurch in

der Ferne neue Agrikulturstaaten gegründet wurden. Dies bot für die herrschende Klasse zugleich das erwünschte Mittel, die unzufriedenen und unruhigen Elemente auszuscheiden und der revolutionären Bewegung eine Ableitung nach außen zu geben. Wenn der Adel hiebei den Zweck verfolgte, durch Beseitigung der Gegner sein Regiment dauernd zu befestigen, so wurde diese Absicht Anfangs in der Regel erreicht. Doch zuletzt schlug dies Mittel in das Gegentheil der beabsichtigten Wirkung um. Gerade das Bürgerthum war es, das aus der Verbindung mit den Kolonien neue Kraft schöpfte. Der vermehrte Handel führte zu größerer Wohlhabenheit der unteren Klassen auch im Mutterlande, die wiederum höhere Ansprüche weckte. Von den Kolonien ging ein Geist politischer Gleichheit aus, da hier alle Individuen freier zu einander standen, alte Gewohnheiten, Rechtsanschauungen und Standesvorurtheile keine Geltung mehr hatten und ein ganz neues Leben ohne alle geschichtliche Voraussetzungen begonnen werden mußte. So kam es hier erst zur Abfassung geschriebener Gesetze, die dem bürgerlichen Leben einen festen Rechtsboden schufen und dem Einzelnen einen gesicherten Rechtsschutz gewährten. Daran schlossen sich timokratische und demokratische Einrichtungen, und das Eine wie das Andere gewann sich bald in den Städten des Mutterlandes Nachahmung und praktische Geltung. Bei manchen Städten, wie Korinth und Chalkis, scheint eine zweimalige Kolonisation eingetreten zu sein, die durch eine Ruhepause getrennt war. Zuerst war es überwiegend der Erbadel, der seine jüngeren unversorgten Söhne und verarmten Stammesgenossen in die Ferne entsendete, um ihnen dort eine herrschende Stellung zu verschaffen. Bei der späteren Aussendung waren wohl vorzugsweise die mittleren und unteren Klassen betheiligt, da die Geldaristokratie nunmehr auf Anlegung von Handelsplätzen ausging. Ganz ähnlich verhielt es sich im Mittelalter. Eine erste Epoche der Kolonisation bildeten die Kreuzzüge, welche große Massen ritterlichen Adels nach dem Orient, Griechenland und dem baltischen Norden entsendeten. Damit war dem wirthschaftlichen Bedürfnis fürs erste genügt, und es trat eine Pause ein, in der die Ritterschaft durch große einheimische

Kriege beschäftigt wurde. Am Ende des 15. Jahrhunderts waren dieselben beendet, und nun warf sich ein Strom überschüssigen Lebens in den neu entdeckten Kontinent. Die Kolonien in Amerika verdankten ihre Anlage meist dem Mittelstand, der aus England hinüberwanderte, die in Südamerika spanischen Hidalgos, Abenteurern und niederem Volk.

2) Die Tyrannis, welche in den meisten Städten Griechenlands, besonders in den Seestädten, im 7. und 6. Jahrhundert zur Erscheinung kam, bewirkte eine momentane Ausgleichung durch Herstellung der Monarchie auf demokratischer Grundlage. In der griechischen Urverfassung war ein monarchischer Faktor gewesen, der aber früh verkümmerte, während der Schwerpunkt des politischen Lebens zunächst in dem aristokratischen, dann in dem demokratischen Faktor lag. Als der Adel nun seine Macht zu verlieren begann, der Demos aber noch nicht zur Herrschaft erstarkt war, mußte der monarchische Faktor wieder zur Geltung kommen und aushülfsweise die höchste Regierungsgewalt an sich nehmen; doch geschah dies in der illegitimen Form der Tyrannis. Der Tyrann stand immer an der Spitze des Volkes, durchbrach gewaltsam die obere herrschende Gesellschaftsschicht und führte ein Regiment im Interesse der Unteren. Gewaltthätiger geschah dies in den Staaten, wo der Standesunterschied noch durch den der Stämme verschärft war, wie in den dorisierten Staaten im Peloponnes; wo Stammesgleichheit war, wie in Athen, konnte die Tyrannis gelinder, selbst in verfassungsmäßigen Formen auftreten, doch wurden auch hier die vornehmsten Geschlechter, wie die Alkmäoniden und Philaiden, in die Verbannung geschickt. Mit machiavellistischer Staatskunst, wenn dieser Ausdruck hier erlaubt ist, suchten die Tyrannen ihr Regiment zu befestigen, gleich den italienischen am Ende des Mittelalters. Die vornehmsten Adelsfamilien wurden gebeugt. Das materielle Wohl der unteren Klassen wurde gehoben und der Unterschied der Stände dadurch mehr ausgeglichen. Die Tyrannis bildet somit einen Durchgangspunkt im Verfassungsleben der Staaten, indem durch sie die Aristokratie geschwächt, die unteren Klassen gestärkt und eine freiere Form des öffentlichen Lebens vorbereitet

wurde. Übrigens haben die Tyrannen zum ersten Mal alle Seiten des bürgerlichen Lebens im Zusammenhange aufgefaßt, den Handel, den Ackerbau und das Kolonialwesen, Finanz- und Kriegswesen, selbst die Kunst und den Kultus in den Dienst der höchsten Regierungsgewalt gezogen, deren zeitweilige Inhaber eben sie waren. Hierdurch erhielt der Staatsgedanke, der unter der Herrschaft der Adelskorporationen noch keine genügende Entwickelung erhalten hatte, eine einheitliche und bewußte Ausprägung, und diese Auffassung des Staatsganzen, die zunächst nur aus dem einheitlichen Regiment des Tyrannen ihre Darstellung fand, blieb auch, sobald sie vom Schauplatz abgetreten waren, als der innere Schwerpunkt zurück, durch den das öffentliche Leben in der Mannigfaltigkeit seiner verschiedenen Richtungen und Thätigkeiten geleitet wurde. Das erinnert eben auch an die italienischen Dynasten, durch deren centralisirende Verwaltung der Begriff und das Wort „Staat" (lo stato) in allgemeinen Gebrauch und Umlauf kam.

3) Den Tyrannen ähnlich und doch im Gegensatz zu ihnen erscheinen die Äsymneten. Der Name kam zuerst in den kleinasiatischen Städten und Inseln auf. Man bezeichnete damit Männer, die sich das allgemeine Vertrauen in so hohem Grade erworben hatten, daß sie nicht bloß durch eine Partei, wie die Tyrannen, sondern durch Übereinkunft aller Klassen als Gesetzgeber und Ordner auf bestimmte oder unbestimmte Frist, ja selbst auf Lebenszeit an die Spitze des Staates gestellt wurden. Das bekannteste Beispiel hievon gibt Pittakos, des Hyrrhadios Sohn, in Mytilene, der 590—580 seine Vaterstadt regierte und, nachdem er sie von dem dreifachen Übel, der Tyrannis, dem inneren und äußeren Kriege, befreit hatte, freiwillig sein Amt niederlegte und bei seinem Tode als Wohlthäter des Staates betrauert ward. Er gab nicht eine neue Verfassung, sondern einzelne Gesetze, von denen wenig bekannt ist. Die Herrschaft des bunten Holzes, d. h. der geschriebenen Gesetze, erklärte Pittakos für die beste, und eben in der Aufzeichnung der Gesetze scheinen diese Äsymneten ein Mittel zur Wiederherstellung der Ordnung im Staate und zur Versöhnung der Parteien auf einem gemeinsamen

Rechtsboden gesucht zu haben. Eine ähnliche äsymnetische Thätigkeit übten Männer wie Kleobulos von Lindos und Solon von Athen, alle aus dem Kreise der sieben Weisen, deren Charakter sie vorzugsweise zu einem solchen Beruf und Auftrag geeignet erscheinen ließ. Solon und derartige Gesetzgeber, sagt Aristoteles, gehörten dem Mittelstande an, womit ihre soziale Stellung deutlich gekennzeichnet ist, wie die Anschauung, die sie im Staat zur Geltung brachten. Darauf deuten auch die Sprüche, die Plutarch im Gastmahl der sieben Weisen ihnen in den Mund legt, und die, wenn auch vielleicht nur erfunden, doch wohl dem Charakter und der Wirksamkeit der einzelnen entsprechend gewählt sind. Dort heißt es von der besten Verfassung: Solon erklärte den Staat für den glücklichsten und beständigsten, in welchem der Nichtbeleidigte ebenso wie der Beleidigte den Übelthäter verfolgen und zur Strafe ziehen könne. Bias sagte, die beste Demokratie sei die, wo alle Bürger sich vor dem Gesetz wie vor einem Tyrannen fürchten. Nach ihm Thales: die, welche weder zu reiche noch zu arme Bürger hat. Anacharsis: die, in welcher bei einer völligen Gleichheit alles Übrigen nur die Tugend für besser, das Laster für geringer gehalten wird. Der Fünfte, Kleobulos, sagte, derjenige Staat sei am besten eingerichtet, wo die Bürger sich mehr vor dem Tadel als vor dem Gesetz fürchten; Pittakos: wo alle Ämter den Bösen versagt und den Guten vorbehalten sind. Cheilon erklärte die Staatsverfassung für die beste, wo die Gesetze am meisten, die Redner am wenigsten Gehör finden. Periander endlich lobte vor allem die Demokratie, welche der Aristokratie am ähnlichsten sei. Hält man diese kurzen, epigrammatischen Aussprüche zusammen, so wird man darin das Staatsideal erkennen dürfen, wie es sich im Kreise jener Weisen bildete und für die politischen Anschauungen des Jahrhunderts 600—500 maßgebend erscheint. Der Staat ist hiernach eine Rechtsordnung, wo der Wille aller sich den Gesetzen unterwirft, die Gesetze aber auf die ethischen Elemente im Volksleben gegründet sind. Jene Gesetzgeber entwickelten die Gesetze nicht ohne die Gesinnung, die Sitte nicht ohne den inneren ethischen Zweck. Das eben ist der aristokratische Zug, der durch die Gesetz-

gebungen dieser Epoche hindurchgeht. In die politische Berechnung war überall ein ethisches Element aufgenommen, und erst dem folgenden Zeitalter der Demokratie war es vorbehalten, das politische und ethische Gebiet ganz von einander zu scheiden und die Verfassung nur als einen Mechanismus äußerlich zusammenwirkender Gewalten zu bestimmen.

Dieses merkwürdige 6. Jahrhundert, so reich an Genie und Begabung, daß man es das Renaissance-Zeitalter der Hellenen nennen könnte, das so viele Staatsmänner, Gesetzgeber, Entdecker, Koloniegründer, Weise und Philosophen, Dichter und Sänger hervorgebracht hat, das den Griechen das homerische Epos wieder schenkte, das zugleich die Blüthe der lyrischen Dichtung wie die Anfänger der dramatischen wieder sah, das den Gesichtskreis der hellenischen Welt, den physischen wie den geistigen, so unermeßlich erweiterte und das Nachdenken zur philosophischen Spekulation reifen ließ, das den Begriff des Maßes entdeckte und damit der Ethik wie der bildenden Kunst der Hellenen erst zum Verständnis ihrer Aufgabe verhalf: dies Jahrhundert hat auch die Principien des politischen Lebens in den Fluß einer reformatorischen Bewegung gebracht und die ersten Musterbilder einer reicher gegliederten Staatsordnung aufgestellt, wogegen dem folgenden Jahrhundert nur die schöpferischen Gedanken seines Vorgängers bis in ihre letzten Konsequenzen zu entwickeln beschieden war.

4) Zu den Gebilden der praktischen Staatskunst dieser Epoche gehört eben auch die Timokratie. Sie ging hervor aus einem Kompromiß des Adels mit dem Volke, insofern das Geburtsrecht des Adels dem Besitzrecht aller Wohlhabenden nachstehen mußte. Nach dem Maßstabe des Grundbesitzes wurden nunmehr Rechte und Pflichten der Bürger ohne Rücksicht auf ihre Herkunft abgewogen. Die alten Geschlechter, als die größten Grundbesitzer, blieben dadurch faktisch noch an der Spitze des Staates, doch theilten sie dies Recht mit den Reichsten aus dem Bürgerstande. Das eigentliche Princip der Adelsherrschaft, das Vorrecht der edlen Geburt, war aufgehoben, und die natürliche soziale Gliederung, wie sie sich durch Erwerb und die allgemeine Güterbewegung

bildete, verdrängte die alten Standesunterschiede. Mehr oder weniger kunstvoll wurde dies System der Timokratie ausgebildet, sie konnte sich bald dem Charakter der Aristokratie, bald mehr dem der Demokratie nähern. An einigen Orten wählte man die tausend Reichsten in den regierenden Rath, der zuweilen auch die Legislative an sich nahm. Das vollendetste Muster der Timokratie bot die solonische Verfassung mit ihren vier Vermögensklassen. Allen Bürgern waren hier gewisse Grundrechte zugesichert, wie die Theilnahme an Volksversammlung, Volksgericht und edler Erziehung, welche früher nur ein Vorrecht des Adels gewesen war; aber nicht war allen dasselbe gegeben, sondern den grundbesitzenden Klassen wurden stufenweise die höheren Ämter im Rath, Archontat und Areopag vorbehalten. Gemäß seinem Grundsatz „Von keinem zu viel" suchte Solon auch im Staat überall eine wirksame Mitte, welche die auseinanderstrebenden Extreme zu überholen vermochte, und so fanden alle Theile eine gerechte und ihren Leistungen entsprechende Berücksichtigung. Adel und Volk, Grundbesitz und bewegliches Vermögen, Rechte und Lasten, Gesetz und Sitte, Ökonomik und Ethik fanden ein jedes seine Stelle im Gemeinwesen, wo sie zur allgemeinen Wohlfahrt wirksam sein konnten. Darum konnte sich Solon mit Recht in einem seiner Gedichte rühmen: Dem Demos habe ich die Geltung gegeben, die ihm gebührt, sein Gewicht weder geschmälert, noch erhöht; die Männer, welche Macht und Besitz auszeichnet, habe ich bewahrt vor unwürdigem Los; zwischen beide bin ich getreten mit starkem Schild, keinem habe ich unbilligen Sieg verstattet.

5) Endlich kommt hier die Wirksamkeit des Pythagoreischen Bundes in Betracht. Durch ihn wurde der Versuch gemacht, die Aristokratie auf einer rein geistigen Grundlage neu zu begründen, sie mit dem Geist der philosophischen bürgerlichen Bildung zu versöhnen und ihr an dieser einen neuen Inhalt zu geben. Die Gestalt des Pythagoras erschien schon im Alterthum mehr in einem mythischen als historischen Licht. Den fernsten Orient und Occident verband er durch seine Reisen und Lebensschicksale. Mit Zoroaster brachten ihn einige in Verbindung, zu einem Sohn

des Apollo haben ihn seine Anhänger erhoben. Große Anregungen auf dem Gebiet der Mathematik, Musik, Staatskunst, Ethik und des Religionswesens sind von ihm ausgegangen, die Strahlen des gesammten Wissens seiner Zeit scheinen in ihm wie in einem Brennpunkt gesammelt, doch eben dieser Punkt leuchtet für uns nicht mehr. Seine Gestalt schwebt fast nur wie ein erhabener dunkler Schatten durch die Geschichte der alten Welt, gleich einem reichbeladenen Fahrzeug, das, die nächtliche Flut zertheilend, nur einen unbestimmt phosphorescirenden Glanz zurückläßt.

Von dem Grundgedanken des apollinischen Kultus ausgehend, dessen innerstes Wesen Maß und Harmonie war, entwarf Pythagoras zum ersten Male das Bild eines Weltganzen, worin Naturbetrachtung, ethisches und politisches Leben von einem Gesichtspunkte aus erfaßt und in einen idealen Zusammenhang gebracht war. Nicht der Stoff, sondern die Form macht das Wesen der Dinge aus, und diese beruht auf Maß- und Zahlenverhältnissen. Die Zahl ist das Wesen der Dinge, die Welt ist eine auf Zahlenverhältnissen beruhende harmonische Ordnung, nach mathematischer Gesetzmäßigkeit eingerichtet. Die Pythagoräer brachten hiefür zuerst das Wort „Kosmos“ auf. Das Studium der Mathematik ist der Schlüssel zu ihrer Erkenntnis und befähigt zugleich den Geist, den Sinn für Maß und Gesetzmäßigkeit in sich zu entwickeln. Demgemäß wird in der Ethik der Grundsatz aufgestellt, daß der einzelne in der Harmonie und dem richtigen Verhältnis der Kräfte eine innere, ihn selbst befriedigende Ordnung gewinnen, sich zu einem Mikrokosmos gestalten soll. Dies geschieht, indem die niederen Affekte den höheren Kräften des Geistes und Gemütes untergeordnet werden. Die Musik, eine angewandte Mathematik, wird das Mittel, das Gemüt in die richtige Verfassung zu setzen und die Trübungen des gestörten Seelenlebens zu beseitigen. Denn die Musik selbst beruht auf Maß- und Zahlenverhältnissen, die in der schwingenden und tönenden Saite zur Erscheinung kommen. Heilkunde und Gymnastik wurden neben der Musik eifrig getrieben, um in der Gesundheit des Leibes die unerläßliche Bedingung für die Gesundheit der Seele zu schaffen.

Daneben erstrebten die Pythagoräer in Enthaltsamkeit von vielen Dingen, z. B. vom Fleischgenuß, in asketischen Übungen, Reinigungen und Sühnungen, Morgen- und Abendandachten mit Hymnen und eifriger Verehrung des Apollo, Reinheit und Heiligung des Lebens, welche durch das Dogma der Unsterblichkeit und die Seelenwanderungslehre noch einen besonderen Antrieb erhielt. Das Jenseits bekam einen höheren Werth als das Diesseits, „der Leib ist das Grab der Seele" lautet ein Pythagoräischer Spruch. Gottseligkeit und Rechtschaffenheit sind die wesentlichen Bedingungen für ein seliges Leben nach dem Tode; nur die Frommen und Tugendhaften werden im Hades mit den Göttern zusammenwohnen, während die Unreinen und Bösen in dem Schlammpfuhl versinken. Dieser Glaube wurde durch besondere gottesdienstliche Feierlichkeiten eindrucksvoll gemacht, welche schon Herodot mit den orphischen und bachischen Geheimdiensten zusammenstellt. Als Früchte dieses Glaubens sollten Mäßigkeit und Selbstbeherrschung, Treue und Gewissenhaftigkeit, Dankbarkeit und Freundesliebe an den Pythagoräern gesehen werden; und dies sind die Tugenden, welche am meisten an ihnen gerühmt, die in ihrem goldenen Gedicht und in ihren sonstigen Sittensprüchen am stärksten betont wurden. Will man auch hier eine Vergleichung mit Erscheinungen aus der Welt des Mittelalters vornehmen, so liegt es nahe, an die geistlichen Ritterorden zu denken, in denen das Tugendideal des Ritterthums durch Anlehnung an die Ideen der Kirche seine letzte Zuspitzung erhielt. Und so fand durch den Pythagoräerorden der Begriff von sittlicher Tüchtigkeit, der auch der griechischen Aristokratie zu Grunde lag, in Anlehnung an den apollinischen Kultus und die Mysterien jener Zeit seine bewußte Ausbildung und idealste Darstellung im praktischen Leben.

Das Ziel der Erziehung ist nicht von dem einzelnen, sondern nur in enggeschlossener Gemeinschaft zu erreichen, wie sie eben die Schule des Pythagoras bildete; und wiederum nicht ein beschauliches Dasein in mönchischer Zurückgezogenheit sollte sie pflegen; nicht wie ein weiser Sarastro in der Mitte seiner frommen Priesterschar gedachte Pythagoras zu walten, um ein abstraktes Ideal von Tugend und Menschenwürde zu erstreben,

sondern von seinem Ideenkreis aus wollte er auf die Welt wirken, den Staat und die Politik ergreifen und sie mit seinen Gedanken durchdringen. Die praktische Lebensweisheit der einzelnen kann zuletzt nur im Staat zur vollen Geltung gelangen. Es sollten eben alle Seiten des Daseins, die sinnliche und die sittliche Welt, das Einzelleben wie der Staat von der Spekulation umspannt und von einheitlichen Principien aus erfaßt und gestaltet werden. Wie für die Betrachtung der äußeren Welt und der sittlichen Natur, so mußte auch im Staatsleben strengste Ordnung und Gesetzmäßigkeit der leitende Gesichtspunkt sein. Auch im Staate sollen, wie in der Seele, die besseren Elemente das Übergewicht über die niederen erlangen, um ihn zu einer kosmischen Ordnung zu gestalten. Die Befähigung hierzu wird eben durch die Disziplin des pythagoräischen Ordens gewonnen. Wo immer der Bund in den Städten Groß-Griechenlands sich bildete, trat er als eine politische Hetärie mit aristokratischen Tendenzen auf: die durch Tugend und Weisheit Besten, also die wahrhaft Besten, das sind eben die Pythagoräer, sollten regieren. Daß es nicht besser werde in der Welt, wenn nicht die Philosophen zu Herrschern würden, oder die Herrscher anfingen zu philosophieren, ist ein Satz, den später Plato den Pythagoräern entlehnte. Die Aristokratie der Geburt und des Besitzes soll der Aristokratie des Geistes Platz machen. Es galt den Versuch, die Tugend zur Herrscherin im Staate zu erheben und Glauben und Wissen, Religion und Philosophie mit einander zu versöhnen, dem Adel der Menschenwürde in der Gesellschaft und im Staate zu der ihm gebührenden Stellung zu verhelfen. Doch nur auf eine kurze Zeit gelang der Versuch. Die Herrschaft der Pythagoräer in den unteritalischen Städten soll für diese eine überaus glückliche Zeit gewesen sein. Allein das Ideal berührt wohl einmal mit flüchtiger Sohle die Erde, um schnell sich ihr wieder zu entheben. Pythagoras hatte zu wenig mit der gemeinen Wirklichkeit der Dinge gerechnet. Der Neid der niederen Klasse erträgt eher das Übergewicht von Geburt und Besitz, als die prätendirte Überlegenheit von Weisheit und Tugend. So kam es überall in Unteritalien zu einer jähen Katastrophe, wobei die Schulen

der Pythagoräer geschlossen wurden und ihrer Herrschaft ein jähes Ende bereitet ward. Vereinzelt erhielten sich die Pythagoräer noch an vielen Orten. So oft noch in späteren Zeiten der Glaube an das sittliche Ideal und seine Einwirkung auf das Leben zur Geltung kam, da leuchtete auch der Name des Pythagoras wieder aus dem Dunkel auf. So erlangten seine Grundsätze in der thebanischen Erhebung durch Epaminondas, dem Schüler des Pythagoräers Lysis und in der heiligen Schar wieder eine praktische Anwendung, wie später noch eine Auffrischung bei den Neupythagoräern im römischen Reich.

Fassen wir noch einmal die fünf angeführten Momente des Ständekampfes in ihrem Zusammenhang auf, so läßt sich der geschichtliche Prozeß, der darin seinen Verlauf nimmt, etwa folgendermaßen begründen. In der Kolonisation versuchte der Adel, zunächst das unruhige Volk aus der Stadt zu entfernen, um seine Herrschaft zu behaupten. Den natürlichen Rückschlag bildete die Tyrannis, mittels welcher der Adel durch Konfiskation seiner Güter geschwächt und theilweise auch in die Verbannung geschickt wurde. Mit der Äsymnetie ward zuerst der Versuch einer Ausgleichung beider Stände in einer neuen Rechtsordnung gemacht. Durch geschriebene Gesetze besonders suchte man einen gemeinsamen Rechtsboden für beide Parteien zu schaffen. Hiemit aber war dem Adel die vierte der oben bezeichneten Grundlagen seiner Herrschaft, die ausschließliche Kenntnis des Rechts entzogen. So führte auch der Ständekampf in Rom, nachdem bald die Plebs, bald einzelne Familien des Adelsstandes ausgewandert waren, zu einer ersten Ausgleichung durch Kodifikation des Gewohnheitsrechtes in den XII Tafeln. Doch die bloße Aufzeichnung der Gesetze erwies sich hier, wie es in Athen durch Drakon geschah, als unzureichend. Man mußte noch einen Schritt weiter gehen in der Beseitigung der Adelsprivilegien und ein neues Prinzip für die Begründung der bürgerlichen Ordnung zu finden suchen. Wie nun in Rom auf das Decemvirat die lex Canuleia folgte, welche durch Gewährung der Ehegemeinschaft den natürlichen Unterschied der Stände aufhob, so schritt man auch in Griechenland weiter vor, indem man der edlen Geburt, dieser wichtigsten und

vornehmsten Grundlage der Aristokratie, ihre Geltung und ihr Vorrecht im Staate benahm. So blieben nur noch der Grundbesitz und die edle Erziehung als Grundlage einer höheren Berechtigung übrig. Solon und Pythagoras kamen darin überein, daß sie der edlen Abkunft keine staatsrechtliche Anerkennung und Bedeutung für das öffentliche Leben gewährten, ohne jedoch den Unterschied einer bevorrechteten Bürgerklasse und einer niederen Volksmenge ganz aufgeben zu wollen. Die solonische Timokratie ließ nun den privilegierten Grundbesitz als Bedingung einer bürgerlichen Bevorrechtung bestehen und versöhnte dadurch den alten Adel, welcher faktisch im Besitze der Güter war, mit dem aufstrebenden und wohlhabenden Bürgerthum, welches das Recht, Rittergüter zu erwerben, erhalten hatte. Die edle Erziehung machte dagegen Solon allen Klassen, auch der nicht grundbesitzenden, zugänglich. Pythagoras gab auch das Recht des Grundbesitzes auf und ging sogar konsequenterweise bis zu kommunistischer Gütergemeinschaft seiner Anhänger fort. Er hielt jedoch die edle Erziehung mit besonderer Betonung von Intelligenz und Seelenadel fest, aber nicht als Gemeingut des ganzen Volkes, sondern gerade als Bedingung einer oligarchischen Abgeschlossenheit. Auf ein rein ideelles Princip gestützt, erwies sie sich als zu einseitig und zu unpraktisch, und die Herrschaft der Pythagoräer mußte durch eine gewaltsame Katastrophe enden, da ein Monopol der Bildung ohne reale Grundlage auf die Dauer unhaltbar ist. Die Timokratie dagegen erwies sich als vielseitig und praktisch, da sie den realen Interessen des wirthschaftlichen Lebens wie den idealen Faktoren im Volksleben gleichmäßige Berücksichtigung zu Theil werden ließ. Jenen gewährte sie freie Bewegung, Rechtsschutz und diejenige Abstufung in Stände und Klassen, die der Besitz als natürliche Gesellschaftsgruppen zu bilden trachtet, diesen gönnte sie die weite Verbreitung, welche die Intelligenz und Bildung ihrer Natur nach erstrebt. Sobald diese nun eine verhältnismäßig weite Verbreitung und zugleich höhere Steigerung gewonnen hat und in der Werthschätzung der Güter obenan steht, durchbricht sie als Gemeingut aller die bestehenden Klassen und Standesunterschiede. „Bildung macht

frei" wird die Losung des Fortschritts, der zur Demokratie hintreibt, deren innerstes Lebensprincip daher die gleichmäßige Ausbreitung der Bildung sein muß, insofern durch sie die Ungleichheit der Menschen am wirksamsten aufgehoben wird. Nachdem so, wie wir gezeigt, eine allmähliche Abnutzung und Erschöpfung aller Grundlagen des Adels erfolgt war, alle Vermittelungsversuche zwischen den Ständen praktisch erprobt waren, blieb nichts weiter übrig als der Übergang zur demokratischen Verfassungsform. Timokratie aber und Pythagoreismus dürften als die beiden Höhepunkte in der Verfassungsgeschichte der hellenischen Staaten aufgefaßt werden, über welche hinaus weder die praktische Staatskunst der Griechen noch die intensivste Gedankenarbeit ihrer größten Philosophen gekommen ist. An diesen schließt sich die platonische Auffassung vom Staat als seine letzte, zum Ideal gesteigerte Konsequenz an. Die Timokratie kommt am nächsten jener aristotelischen Musterverfassung, in welcher durch Vermischung von aristokratischen und demokratischen Principien ein inneres Gleichgewicht der Kräfte erstrebt wird, wie denn auch Aristoteles einmal in der Ethik seine beste Verfassung geradezu mit dem Namen Timokratie bezeichnet. Sie entspricht am meisten jener Definition der besten und dauerhaftesten Verfassung, welche Gleichheit der Rechte nach Verhältnis der Würdigkeit gewährt, und in welcher jeder hat, was ihm gebührt.

Man wird nicht erwarten, daß die angeführten Momente im Ständekampf in allen hellenischen Staaten gleichmäßig zur Erscheinung gekommen und für uns nahbar seien. Es hing von dem Charakter der Bevölkerung und der inneren Zustände, wie von mancherlei zufälligen Nebenumständen ab, die von jenen Durchgangspunkten zu klarer, prägnanter Ausbildung gelangten, welche unterdrückt oder unentwickelt blieben. In Athen z. B. fehlt in jener älteren Zeit die Kolonisation, sie wird nur durch die Auswanderung und den Verkauf zahlreicher Schuldknechte ersetzt. Doch die Tyrannis, die Äsymnetie und die Timokratie sind durch Pisistratos und Solon in klassischen Typen entwickelt, und die ethischen Elemente in der Verfassung des letzteren, wie die Sittenzensur des Areopag, die Ausschließung Unwürdiger von

der Volksversammlung, die Verallgemeinerung der edlen Erziehung, sie sind Ausflüsse jenes Geistes, der etwas später im Pythagoreismus seine höchste Steigerung fand.

Sparta repräsentirte unter allen hellenischen Staaten am vollkommensten die Welt des Mittelalters mit all den Kennzeichen, wie wir sie im Anfang geschildert haben, und es schützte sie vor der Ansteckung durch die moderne Bildung mittels einer systematischen Abschließung, um wenigstens als ein eigener Weltkörper für sich zu existiren, wenn er die übrige Welt nicht mehr zu beherrschen vermochte. An diesem Fels schien die brandende Strömung der neuen Zeit machtlos abprallen zu müssen. Demnach haben sich auch im Schoß des spartanischen Staates, wiewohl möglichst verhüllt, Bewegungen und Kämpfe abgespielt, die ein Ringen der herrschenden Adelsklasse um den dauernden Besitz ihrer Herrschaft erkennen lassen. Die kastenartig abgeschlossenen Stände hatten kein anerkanntes Konnubium, doch blieben Mischehen nicht aus, und so entstanden Mischklassen, die in den Rahmen der Verfassung nicht paßten und für diese eine Gefahr waren. Die Aussendung der Parthenier nach Tarent gibt ein Beispiel, wie man sich in dieser Lage zu helfen suchte, und sie bezeugt zugleich den Antheil, den Sparta an der Kolonisation in dieser Epoche nahm. Sie war recht eigentlich eine secessio plebis, wodurch man den Ansatz zu einer Plebs oder einem Bürgerthum zu verhüten suchte. Was aus Rom geworden wäre, wenn es keine Plebs gehabt oder ihre Secession nicht verhindert hätte, das zeigt eben das Beispiel von Sparta, wo der alte Geschlechterstaat in sich zusammenstarb und in der überlieferten Form, die er eigensinnig festhielt, zuletzt völlig erstarrte.

Die Tyrannis kam in Sparta nicht zur Erscheinung, doch war sie eine stets drohende Gefahr. Es bedurfte nur, daß einer der Könige, angelockt durch das Beispiel auswärtiger Tyrannen, mittels der unterdrückten Klassen einen Staatsstreich vollzog, wie später Pausanias wirklich versuchte. Dem begegnete man durch die dauernde Antityrannis der Ephoren, die zu einem organischen Bestandtheile der Verfassung ward und die Macht der Könige zuletzt völlig absorbirte. An Äsymneten hat es in Sparta nicht

gefehlt; man holte sie seltsamerweise alle aus der Fremde. Terpander, Tyrtaeos, Thaletas, Alkman und zuletzt noch Epimenides waren doch nicht bloß harmlose Musiker, sie haben mit den musikalischen Weisen auch die Sitten und die sozialen Zustände im Volke geändert. Das timokratische Übergewicht des großen Grundbesitzes der Spartiaten über den kleinen der Periöken und die besitzlosen Heloten, in kastenartiger Abgeschlossenheit gefestigt und durch keine Kapitaleinwirkung gemildert, bildete von Anfang an die unverrückbare Grundlage der Verfassung. Sie erhielt in der Zeit der messenischen Kriege durch neue Landauslegungen noch eine Verstärkung, und die Thätigkeit der Äsymneten bezog sich wohl nicht zum wenigsten auf die Regelung der verschobenen agrarischen Verhältnisse. Endlich waren auch hier die ethischen Bestandtheile der Verfassung von allergrößter Wichtigkeit. Die strenge Lykurgische Erziehung, eine Bedingung des Bürgerrechtes, wurde durch Cheilon, den Zeitgenossen Solons, auf's neue verschärft und zu einer unverbrüchlichen Lebensordnung gemacht. Schon Otfried Müller hat mit richtigem Verständnis die innere Verwandtschaft zwischen dem Pythagoreismus und dem echten Dorismus hervorgehoben. Die angestammte Art des dorischen Charakters, entwickelt und veredelt durch strenge Disziplin, geübt und bewährt im kameradschaftlichen Verkehr der Genossen, das war der Kern des spartanischen Wesens und Lebens, darin lag seine sittliche Substanz, wodurch Menschenwürde und Männertugend in einem Verein von Kriegern erzielt werden sollte, wie sie Pythagoras mit den Mitteln einer erhöhten Intelligenz in einem Kreise von Weisen erstrebte.

Werfen wir noch einen Blick über die griechische Welt hinaus auf Rom. Denn es liegt die Frage nahe, ob auch im römischen Ständekampf die von uns beobachteten Durchgangspunkte zur Erscheinung gekommen sind und thatsächliche Geltung erlangt haben.

Da fällt denn zunächst die großartige Kolonisation in die Augen, die in dem Jahrhundert 366—266 vor Chr. in Italien ausgeführt wurde zu dem Zwecke, die soziale Not der Armen zu lindern, aber auch den Reichen das Regiment zu erleichtern. Die

Tyrannis hat sich in Rom nicht ausgebildet, Dank der Wachsamkeit der Tribunen, die gegen Ausschreitungen einzelner Magistrate einen gesetzlichen Widerstand leisten konnten. Dazu kam, daß das Stimmrecht zunächst nur der grundbesitzenden Klasse zustand; und die kleinen Bauern, dieser integer populus, cultor ac fautor bonorum, wie Livius sie nennt, machten von ihrem Stimmrecht in den Tribus einen ungehinderten und wirksamen Gebrauch. Es fehlte somit für die Tyrannis die demokratische Grundlage, und erst dann wurde sie zu einer drohenden Gefahr, als der Zensor Appius Claudius 312 auch den nicht grundbesitzenden Klassen das Stimmrecht in allen Tribus eröffnete. Doch der äsymnetischen Thätigkeit einzelner Staatsmänner, die als Konsuln, Diktatoren oder Zensoren wirkten, wie die Valerier und Fabius Maximus u. a., gelang es stets, einen Kompromiß herzustellen und dadurch den Verfassungsbruch zu verhüten. Die Timokratie war seit Servius Tullius das anerkannte maßgebende Verfassungsprincip in Rom geworden; zunächst nur ein System abgestufter Belastung, wurde sie im Ständekampf auch zu einer den Pflichten entsprechenden Berechtigung aller Grundbesitzenden entwickelt. Endlich erscheint die bezeichnete Epoche als die glänzendste Zeit der Republik, durch Heroismus und Bürgerthum vor allen ausgezeichnet. Es war die Zeit, wo das zensorische Amt die Würde des Senates, den Wandel der Bürger und die Erziehung der Jugend überwachte. Der an sich vage Begriff des mos maiorum erhielt durch die zensorische Rüge einen bestimmten Inhalt, der zur Richtschnur für das Verhalten der Bürger dienen konnte, und was nach volksthümlicher Auffassung für ehrbar und ziemlich im öffentlichen und im Privatleben galt, das wurde zu einer klar bewußten gemeingültigen Sittlichkeit gestaltet, die den höchsten Zwecken des Staates angepaßt war. Es ist daher kein bloßer Zufall, wenn nun im Jahre 315, zu einer Zeit, wo man sich in Rom wenig um griechische Philosophie kümmerte, dem Pythagoras als dem weisesten der Hellenen, eine Statue auf dem Forum gesetzt ward. Die Huldigung, die hiermit den Principien der pythagoräischen Lebensweisheit gebracht wurde, hatte doch nur den Sinn, daß man in

jener fremden Doktrin etwas dem eigenen Wesen Verwandtes zu entdecken vermeinte. Damals mag es auch geschehen sein, daß die Volkslegende sich der Person des Pythagoras bemächtigte und diesen Weisen des 6. Jahrhunderts in naiver Unbekümmertheit um die Chronologie an die Wiege der römischen Geschichte versetzte, ihn zum Lehrmeister des Numa machte.

Ich stehe am Schluß meiner Betrachtung. Nur noch eine Frage sei gestattet, in Anregung zu bringen. Wenn mehrmals Analogien aus der Geschichte des Mittelalters herangezogen wurden, trifft es sich, daß von dem Verlauf des griechischen Ständekampfes sich auch bei den modernen Völkern ein entsprechendes Beispiel vorfindet? Es wäre eine interessante Aufgabe, die Geschichte der modernen Völker darauf anzusehen, ob ähnliche Vorgänge, wenn auch unter anderen Namen und Formen, eingetreten sind. Ich finde jene fünf Momente am vollständigsten beisammen, wo man sie vielleicht am wenigsten suchen wird, ich meine in England zur Zeit seines Übergangs aus dem Mittelalter in die moderne Epoche. Dieser fällt in das 17. Jahrhundert, die eigentliche Reformationszeit Englands. Damals in der großen Revolution handelte es sich nicht bloß um kirchliche und politische Principien, nicht bloß um Königthum und Republik, sondern auch der Gegensatz der Stände kam sehr wesentlich in Betracht. Der Adel oder die Kavaliere standen fast ausnahmslos auf der Seite des Königs, auf der Seite des Parlaments die Bürger und Bauern, und noch lebte, wie Ranke in der englischen Geschichte bemerkt, in diesen das Bewußtsein, daß sie von angelsächsischer Herkunft seien, während ihre Gegner von der romanischen Invasion ihre Rechte herleiteten. Hiebei traten nun folgende Erscheinungen hervor. Die Kolonisation in Nord-Amerika war unter den Stuarts in vollem Gange und hatte die Gründung der dortigen Freistaaten zur Folge. Die militärische Diktatur Cromwell's ist in der neueren Geschichte das frappanteste Beispiel einer Tyrannis auf demokratischer Grundlage. Als später der Oranier Wilhelm durch Berufung des Parlaments unter gewissen Garantien zum Thron gelangte, so darf dies wohl als eine Einsetzung eines Äsymneten auf Lebenszeit bezeichnet werden. Die

Besitzverhältnisse schwankten in der Revolution hin und her zwischen Feudalität und Kommunismus, sie führten endlich zu jener Timokratie nach Grundbesitz und Census, wodurch der besitzende Mittelstand im Staate das Übergewicht erhielt. Der Pythagoreismus, der vorhin mit den geistlichen Ritterorden im Mittelalter verglichen wurde, findet nicht bloß in der romanischen und katholischen, sondern auch in der germanischen und protestantischen Welt sein Abbild in der Puritanern Cromwells, die allen Ernstes den Versuch machten, mit der Herrschaft der Heiligen ein Reich der Gerechtigkeit nach göttlicher Ordnung aufzurichten. Man darf sie wohl als die Pythagoräer des Nordens bezeichnen. Denn die Unterordnung aller äußeren Lebenszwecke, auch der politischen, unter das sittliche Ideal ist eben die beiden gemeinsame Tendenz, wobei es keinen wesentlichen Unterschied bildet, daß bei den einen die philosophische Spekulation, bei den anderen der religiöse Gedanke das treibende Motiv war, das ihnen Wirksamkeit abgab.

Es war der Segen der monarchischen Staatsordnung, wie sie sich auf dem Kontinent in festen Formen begründete, daß der Gegensatz der Stände sich nicht in revolutionären Kämpfen entlud, sondern auf friedliche Weise durch mancherlei Reformen in allmählichen Übergängen ausglich. Wurde jedoch das Königthum erschüttert oder gar entwurzelt, wie dies vorübergehend in England geschah, so erfolgte auch der Zusammenstoß der Stände mit der gleichen Naturgewalt, wie in den Republiken des Alterthums, und wies dieselben Durchgangspunkte auf, wie sie in der griechischen Welt zu beobachten sind.

# Werbung, Wehrpflicht und Beurlaubung im Heere Friedrich Wilhelm's I.

Von

**Max Lehmann.**

Die aktenmäßige Überlieferung über die Geschichte des brandenburgisch-preußischen Heeres ist von einem eigenthümlichen Mißgeschicke betroffen worden. Sie ist vollständig erhalten nur insoweit die Geschäfte des Heeres besorgt wurden von der alten Centralbehörde des Staates, dem 1605 gestifteten Geheimen Etats-Rath; denn dieser hatte Archivare, die für Bewahrung auch derjenigen Akten Sorge trugen, welche im laufenden Geschäftsbetriebe entbehrlich waren. Aber schon der Große Kurfürst richtete eine besondere, für die militärischen Angelegenheiten bestimmte Behörde ein, die Kriegskanzlei, und diese hat niemals das Glück gehabt, einen Archivar zu besitzen. In gleicher Lage befand sich die eine der neuen, von Friedrich Wilhelm I. geschaffenen Centralbehörden, das Kabinet: die Folge war hier wie dort, daß ein ansehnlicher Theil der Akten der Zerstörung anheimfiel. Besser stand es mit dem General-Direktorium, welches die Erbschaft des General-Kommissariats, der mit der Verwaltung der Kriegseinkünfte betrauten Behörde, antrat; seine Akten wurden zunächst in guter Ordnung gehalten. Aber der dem 18. Jahrhundert eigenthümliche unhistorische Sinn forderte alsbald seine Opfer auch hier[1]), und dabei erging es den militärischen Akten besonders schlimm. Das im Jahre 1746 gestiftete „Militär-Departement"

[1]) Als im Jahre 1764 das Generaldirektorium um größeren Raum für sein Archiv bat, verfügte der König Aktenkassirung (Kabinetsbefehl, Potsdam

des General-Direktoriums wurde von dem Ober-Kriegs-Kollegium, der Schöpfung Friedrich Wilhelm's II., beerbt, und dieses hinwiederum gab, als 1809 der preußische Beamtenstaat neu organisirt wurde, Geschäfte und Akten an das Kriegsministerium ab. Letzteres wendet erst neuerdings dem Archivwesen das von den Forschern längst herbeigewünschte Interesse zu [1]). In Summa: das Quellenmaterial für die brandenburgisch-preußische Heeresgeschichte seit dem letzten Drittel des 17. Jahrhunderts [2]) ist in hohem Maße lückenhaft.

Unter diesen Umständen gewinnt eine Quellenreihe erhöhte Bedeutung, die zwar gedruckt vorliegt, aber so selten geworden ist, daß sie fast ungedruckten Archivalien gleichgeachtet werden muß: das sind die Reglements. Ihr bloßes Dasein bezeichnet eine Entwickelungsstufe in der Geschichte des Heeres. Ursprünglich hielt es mit den taktischen Evolutionen, dem Dienste im Felde und in der Garnison, der Justiz und der Ökonomie jeder Oberst, der ein „Regiment" aufrichtete und verdang, so, wie es ihm beliebte. Man kennt die bewegliche Klage, welche Maria Theresia nach den bitteren Erfahrungen ihres Erbfolgekrieges erhob [3]): „Wer würde glauben, daß nicht das Mindeste eingeführt war in Regel bei meinen Truppen? Ein jeder machte ein andres Manöver im Marsch, im Exercitio und in Allem. Einer schoß geschwind, der andere langsam. Die nämlichen Wort und Befehle wurden bei einem also, bei dem anderen wiederum anders

---

20. Sept. 1764). Vgl. die geringschätzigen Äußerungen über das klevische Archiv in dem Kabinetsbefehl an General-Lieutenant de la Motte, Dresden 6. Februar 1757 (Politische Korrespondenz Friedrich's d. Gr. 14, 250).

[1]) Kaiser Wilhelm I. hat 1884 dem Kriegsministerium den Befehl zur Abfassung einer Geschichte der brandenburgisch-preußischen Armee ertheilt. Von dieser ist 1889 erschienen: „Geschichte der K. Preußischen Fahnen und Standarten seit 1807" (Berlin, E. S. Mittler). Außerdem hat das Militär-Wochenblatt von 1891 mit höchst willkommenen „Mittheilungen aus dem Archive des Kriegsministeriums" begonnen.

[2]) Das Stiftungsjahr der Geheimen Kriegskanzlei ist bisher nicht ermittelt worden. Sie wird zuerst 1656 erwähnt; die erste bekannte Bestallung für einen ihrer Beamten (den Hausdiener Schmid) datirt v. 10. August 1672.

[3]) Archiv für österreichische Geschichte 47, 324.

ausgebeutet, und ist wahrhaftig kein Wunder, wenn 10 Jahr vor meiner Regierung der Kaiser allezeit geschlagen wurde." Daß es in Preußen anders stand, hat nicht zum geringsten Theile die Siege des Fridericianischen Heeres bewirkt. Während in Österreich der Dienst noch so viel Verschiedenheiten aufwies, als es „Regimenter" gab, war er in Preußen einheitlich organisirt auf Grund von Reglements, welche für alle Truppentheile einer Waffengattung galten.

Diese Einheitsbewegung beginnt schon unter dem Großen Kurfürsten, der im Jahre 1681 erklärte, bei seiner ganzen Armee „einerlei Exercitia und Commando" einführen zu wollen. Doch erfolgte die hierauf gerichtete Unterweisung mündlich, durch einen Vertrauensmann des Kurfürsten, Hans Adam v. Schöning; zu ihm wurden die Majors von der Infanterie entboten, um „Handgriffe, Exercitia und Kommando" zu lernen[1]). Andere Theile des Militärwesens blieben der Fürsorge des Regiments-Chefs vorbehalten, wie denn noch aus der Regierungszeit Friedrich's III. ein Reglement vorhanden ist, durch welches Oberst Natzmer, der Chef der Grands Mousquetaires, Bekleidung, Bedienung und Remonte seines Corps regelt[2]). Das erste für die ganze preußische Armee ergangene Reglement trägt das Datum des 18. Dezember 1702; es beschränkt sich auf die Handgriffe mit der Flinte[3]). Unvergleichlich reichhaltiger sind die Reglements Friedrich Wilhelm's I., die eigenste Schöpfung des Monarchen[4]).

---

[1]) Orlich, Geschichte des preußischen Staates im 17. Jahrhundert 3, 321.

[2]) Schöning, Natzmer S. 184. Sehr anschaulich wird die Mannigfaltigkeit innerhalb der Armee des ersten Königs durch das im Militär-Wochenblatt von 1891 S. 1211 veröffentlichte Reskript vom 5. April 1707. Vgl. Kopka v. Lossow, Gesch. d. Grenadier-Regiments Nr. 5 1, 40*.

[3]) Jähns, Geschichte der Kriegswissenschaften 2, 1650. Vgl. Oelsnitz, Gesch. d. 1. Infanterie-Regiments S. 289.

[4]) Friedrich Wilhelm I. an Leopold von Anhalt-Dessau, Potsdam 6. März 1714: „Mit das Reglement von der Infanterie bin fertig und wierdt gedruck." Wie Friedrich Wilhelm I. schon als Kronprinz bemüht war, das Heer zu egalisiren, ergibt sich aus dem soeben angeführten Reskript vom 5. April 1707. Vgl. Eickstedt, Reglements und Instruktionen für die churfürstlich brandenburgischen Truppen (Berlin 1837) S. 57.

Sie betreffen, wie auf dem Titel angekündigt wird, nicht nur „die Evolutions, das Manual und die Chargirung", sondern schreiben auch vor, „wie der Dienst im Felde und in der Garnison geschehen soll, auch wornach die sämmtlichen Offiziers [1]) sich sonst zu verhalten haben"; folgerecht enthalten sie Bestimmungen über die Aufbringung des Heeres, die Beförderung der Offiziere, die Justiz, die Ökonomie. Der König spricht selber die Hoffnung aus [2]), daß bei einem Regiment nicht so leicht etwas vorfallen werde, worüber er nicht seine Willensmeinung im Reglement bekannt gemacht habe. Sohn, Enkel und Großenkel Friedrich Wilhelm's I. haben diese Art der Kodifikation beibehalten; erst seit der Reform des Jahres 1808 beschränken sich die Reglements wieder auf einzelne Gegenstände des Dienstes.

Es ist kein Zufall, daß die älteren Reglements nur in wenig Exemplaren vorhanden sind. Sie wurden von vornherein nur als Manuskript gedruckt und mit dem größten Geheimnis umgeben [3]). Der Offizier, der sein Reglement einem fremden Offizier oder sonst jemandem mittheilte, wurde kassirt und lebenslang auf die Festung gesetzt. Schied der Besitzer eines Reglements aus dem Dienste, so wurde es zurückgegeben; wenn der König das alte Reglement durch ein neues ersetzte, so forderte er die Exemplare des alten zurück; sie sind dann größtentheils vernichtet worden. So ist denn auch die reichste, heute der öffentlichen Benutzung zugängliche Sammlung dieser Reglements, die der Königlichen Bibliothek in Berlin (dorthin gelangt aus dem Nachlasse König Friedrich Wilhelm's III.) unvollständig. Sie beginnt mit dem Jahre 1726; es gibt aber drei ältere Reglements: für die Infanterie vom 28. Februar 1714 und 20. Februar 1718, für die Kavallerie vom 5. Februar 1720 [4]).

[1]) Die Unteroffiziere erhielten besondere Reglements, deren Werth, wie sich versteht, geringer ist.

[2]) S. z. B. das Infanterie-Reglement von 1726 S. 640.

[3]) Ebendort S. 638 f. Vgl. Faßmann, Leben und Thaten Friederici Wilhelmi 1, 739.

[4]) Seit 1714 sind Reglements ergangen für
die Infanterie: 1714, 1718, 1726, 1743, 1750 (dazu ein Anhang von 1756), 1757, 1773;

Die dankbare Aufgabe, Ursprung und Zweck der Reglements Friedrich Wilhelm's I. durch Anwendung der vergleichenden Methode zu ergründen, will ich hier nicht lösen, vielmehr nur darauf hinweisen, welche Förderung die wichtigsten Fragen auf dem Gebiete der preußischen Heeresgeschichte durch Benutzung dieser Reglements erfahren.

Im Kampfe um die allgemeine Wehrpflicht haben die Reformatoren des preußischen Heeres einmal — es war im Jahre 1810 — die Behauptung aufgestellt: König Friedrich Wilhelm I. habe, der erste in ganz Europa, die allgemeine „Konskription" (worunter sie eben die Wehrpflicht verstanden) eingeführt [1]). Das ist eine Übertreibung, die man nicht wiederholen darf. Denjenigen, von denen sie ausging, kam es in dem Augenblicke darauf an, den zaudernden Friedrich Wilhelm III. auf ihre Seite zu ziehen, und zu diesem Zwecke bedienten sie sich, um mit einem von ihnen, Clausewitz, zu reden, des „historischen Beweises"; d. h. sie suchten den Ängstlichen damit zu beruhigen, daß es im Grunde nur das Alte sei, was sie vorhätten, etwas modifizirt und wohl verstanden. Friedrich Wilhelm I. hat Exemtionen zugelassen und die ausländische Werbung fortgesetzt, so daß von einer allgemeinen Wehrpflicht der Nation unter seiner Regierung nicht die Rede sein kann. Aber dabei bleibt es in der That, daß damals ein neues Princip in die preußische Wehrverfassung Eingang fand: ganze Klassen der Unterthanen wurden dem stehenden Heere pflichtig.

Wann und unter welchen Umständen ist das geschehen?

---

die leichte Infanterie: 1787, 1788;
die „Cavallerie" (d. h. Küraſſiere): 1720 (hier sind auch die Dragoner berücksichtigt), 1727, 1743, 1764, 1790;
die Dragoner: 1727, 1743 (dazu Anhang von 1744 und Änderungen von 1748), 1764;
die Husaren: 1743 (Anhang von 1744), 1752, 1764, 1796 (dieses auch für die Bosniaken);
die Küraſſiere und Dragoner gemeinsam: 1796;
das Mineur-Corps: 1789;
das Ingenieur-Corps: 1790.

[1]) S. meinen Scharnhorst 2, 339

Die alte Überlieferung ist, es sei angeordnet worden im Jahre 1733 durch das damals erlassene „Canton-Reglement". So steht es zu lesen in jener Denkschrift von 1810, so nahm man schon im vorigen Jahrhundert an[1]). Als die Regierung Friedrich Wilhelm's II. sich bemühte, die Härten des bestehenden militärischen Systems zu mildern, forschte sie selbstverständlich nach dessen gesetzlicher Grundlage[2]); in dem Glauben, es sei das Canton-Reglement von 1733, forderte sie die Behörden auf, es einzureichen. Vergebens: es war nicht aufzutreiben. Schon damals äußerte eine Behörde Zweifel an seinem Dasein[3]); dennoch figurirt es in den Darstellungen der preußischen Geschichte bis auf den heutigen Tag. Was man dafür ausgibt, sind drei

---

[1]) Z. B. der Herzog August Wilhelm von Braunschweig-Bevern in seinem „Versuch und Auszug einer Geschichte der churfürstlich brandenburgischen und königlich preußischen Armee" (Märk. Forsch. 19, 38). Besonders scheint zur Verbreitung des herrschenden Irrthums beigetragen zu haben Landrath Arnim in seiner 1788 erschienenen Schrift „Über die Kanton-Verfassung in den preußischen Staaten", wo auf S. 6 behauptet wird, unter dem 15. September 1733 sei das erste Kanton-Reglement erschienen. Immerhin unterließ er nicht zu bemerken, dies Reglement sei nie gedruckt worden. Der Ordensrath König, der in seinem „Versuch einer historischen Schilderung der Residenzstadt Berlin" (Berlin 1796) 4, 1, 243 f. sonst Arnim ausschrieb, erlaubte sich die Aenderung: das Kanton-Reglement sei gedruckt worden. A. F. Hase, dem Verfasser des „Handbuchs zur Kenntniß des preußischen Polizei- und Kameralwesens" (Magdeburg 1794), hat (wie z. B. aus Band 1, 78 hervorgeht) eine Ausfertigung oder Abschrift der Resolution vom 15. September 1733 vorgelegen; auch er bezeichnete sie irrthümlich als „Kanton-Reglement", doch fiel ihm auf (s. 1, 87), wie unvollständig es sei. — In König Friedrich's II. Darstellung (Œuvres 1, 193) tritt bezeichnenderweise der Gedanke der Dienstpflicht völlig zurück; das Ganze erscheint bei ihm als eine Episode in der Geschichte der Werbungen.

[2]) S. Militär-Wochenblatt 1891 S. 1343 ff.

[3]) Bericht der pommerschen Kammer, Stettin 25. November 1788: „Wahrscheinlich wird es dahero, daß gedachtes Canton-Reglement, daferne sonst eines zu denen Zeiten entworfen sein sollte, gar nicht anhero gekommen ist." Am besten unterrichtet war der Potsdamer Steuerrath Johann Daniel Richter, der 1781 in seinen „Beiträgen zur Finanz-Litteratur in den preußischen Staaten" (1, 220) bemerkte: „Man hat noch kein vollständiges autorisirtes Kanton-Reglement."

Kabinets-Ordres vom 1. Mai, 18. Mai und 15. September 1733[1]). Die erste gibt selber als Absicht des Königs an, „wegen der Enrollirten der Regimenter eine neue Disposition zu machen und einem jeden Regiment seinen eigenen Distrikt oder Kanton zu enrolliren anzuweisen"; das Recht der Regimenter, zu enrolliren, bestand also schon, neu war nur die Vertheilung der Ortschaften, in denen enrollirt wurde. Die zweite Ordre enthält eine Ausführungsbestimmung zur ersten. Endlich kann auch die dritte nicht auf den Namen eines grundlegenden Reformgesetzes Anspruch machen; sie schlichtet Streitigkeiten, welche infolge der beiden ersten Ordres entstanden waren, und bezeichnet sich selbst als eine „Declaration". Kein Zweifel: die Einführung des neuen Princips fällt vor das Jahr 1733.

Wenden wir uns an dasjenige Reglement, welches dem Jahre 1733 zunächst steht, an das vom 1. März 1726, so treffen wir in dem Abschnitt, der von der „Werbung" handelt[2]), auf folgende Bestimmung: „Weilen die Regimenter die junge tüchtige Mannschaft enrolliren, derhalben unter keinerlei Prätext die gewaltsame Werbung statuiret wird."

„Enrolliren" heißt in Rollen, d. h. Verzeichnisse eintragen. Verzeichnisse über den gerade vorhandenen Bestand an Mannschaften sind, wie sich versteht, stets bei den Regimentern geführt worden[3]). Nun aber hat „enrolliren" noch eine andere Bedeutung. Es bezeichnet auch die Eintragung derjenigen jungen Männer, welche erst in Zukunft dienen sollen, welche, wie der technische Ausdruck lautet, einem Regimente obligat sind[4]). „Enrollirt"

---

[1]) Gansauge, das brandenburgisch-preußische Kriegswesen um die Jahre 1440, 1640 und 1740 (Berlin 1839) S. 232 ff. Dem vortrefflichen Buche, das sich von manchen Irrthümern der Jüngeren frei gehalten hat, ist nicht die gebührende Beachtung zu Theil geworden. — Eine archivalische Ergänzung bei L'Homme de Courbière, Geschichte der brandenburgisch-preußischen Heeresverfassung S. 89: ein Werk, dem wir gleichfalls zu Dank verpflichtet sind.

[2]) Titel V Artikel 1 (S. 550).

[3]) In diesem Sinne wird enrolliren in einem Patent von 1706 (bei Mylius 3, 2, 160) gebraucht.

[4]) Treffend Ranke S. W. 38, 281: „Die noch nicht Eingetretenen".

wird gleichwerthig mit „wehrpflichtig" gebraucht. Daß an der mitgetheilten Stelle des Reglements von 1726 das Wort die zweite Bedeutung hat, bedarf kaum des Beweises. Zwischen der Führung von Listen über die gerade dienende Mannschaft und dem Verbote gewaltsamer Werbung läßt sich kein ursächlicher Zusammenhang ausfindig machen, und, was noch schwerer wiegt, an der entsprechenden Stelle des Reglements von 1718[1]) fehlt jede Erwähnung von „Enrollirten". Mit anderen Worten: entweder durch das Reglement von 1726 oder durch eine andere zwischen dem 20. Februar 1718 und dem 1. März 1726 ergangene Verordnung ist ein Theil der Unterthanen des preußischen Königs der Pflicht, im stehenden Heere zu dienen, unterworfen worden. Unsere Untersuchung muß sich den Anfängen Friedrich Wilhelm's I. zuwenden.

Unter der Regierung Friedrich's I. war der Rekrutenbedarf des stehenden Heeres zunächst durch das General-Kommissariat des Landesherrn unter die verschiedenen Provinzen oder deren Kreise vertheilt, sodann auf zwei Arten beschafft worden: entweder warben die Offiziere, wie das seit Jahrhunderten geschehen war, oder die Rekruten wurden von den Ständen, Kreisen, Gemeinden und Korporationen der Provinz geliefert, denen es überlassen blieb, wie sie sich das erforderliche Menschenmaterial beschafften[2]). Friedrich Wilhelm I. ließ es zunächst dabei bewenden. Indem er sich freilich wegen der Tüchtigkeit der Rekruten nur an die Offiziere halten zu wollen erklärte, stellte er den Regimentern die Wahl zwischen den beiden Wegen in hergebrachter

---

[1]) Das Reglement von 1720, für die Kavallerie ergangen, enthält nichts über die Ergänzung des Heeres.

[2]) S. namentlich das „Interims-Reglement und Verfassung, wie es mit Rekrutirung derer Regimenter sowohl zu Pferde als Fuß gehalten werden soll", Cölln 24. November 1693; bei Mylius 3, 1, 195. Hier wird die Wahl zwischen beiden Aufbringungsarten ausdrücklich frei gelassen (§ 4). Bei der Rekrutirung des Jahres 1705 wurde die „Offiziers-Werbung" ausgeschlossen (Mylius 3, 1, 254 § 11), umgekehrt bei der Rekrutirung von 1708 die Lieferung durch das Land nur als Strafe beibehalten (Mylius 3, 1, 259 §§ 1. 2).

Weise frei[1]). Nun war einmal die Verstärkung des stehenden Heeres, die er vornahm, gewaltig; er brachte die Armee von 38 Bataillonen und 53 Schwadronen auf 66 Bataillone und 114 Schwadronen[2]). Ferner genügte ihm das in den Cadres vorgefundene Material so wenig, daß er bereits 1714 den allgemeinen Befehl ergehen ließ, aus jeder Kompagnie jährlich 25 Mann „von denen alten und schlechtesten Leuten", d. h. 20 Prozent des Bestandes, auszumustern[3]). Endlich litt sein Heer, je rascher es wuchs, desto mehr unter dem Fluche aller Werbeheere, der Desertion[4]). Genug, die Lieferanten waren in unaufhörlicher Arbeit: niemand, der lang und kräftig gewachsen, war vor den Werbern sicher. Wir sind heute aus ganz unanfechtbaren Quellen unterrichtet über die empörenden Roheiten und Brutalitäten, welche die preußischen Werber im Auslande verübten[5]); sie haben es daheim nicht anders gemacht: es wirft ein grelles Schlaglicht auf die Lage der Dinge, wenn der General-Auditeur Katsch einmal den Wunsch ausspricht, daß bei den Werbungen wenigstens das viele Blutvergießen verhindert werden möge[6]). So sah sich der König alsbald von seinen Unterthanen bestürmt, dem gräßlichen Menschenraube ein Ende zu machen. In den Territorien des Westens, wo die Grenze

---

[1]) Patent wegen der Werbung, Berlin 22. Juni 1713; bei Mylius 3, 1, 331. — Am 29. März 1713 willigte der König in den Vorschlag der Städte des Fürstenthums Halberstadt, welche sich erboten, eine ihnen auferlegte Rekrutenlieferung mit 10 Rthlr. auf den Mann abzukaufen; s. Minerva 1810 2, 389. Die näheren Umstände dieses Vorgangs haben sich nicht ermitteln lassen.

[2]) Miscellaneen zur Geschichte Friedrich's des Großen S. 382. 479. Vgl. Märkische Forschungen 19, 29 ff.

[3]) S. Beilage 1.

[4]) Von 1713 bis 1740 sind 30216 Mann desertirt: eine Zahl, welche nahezu gleichkommt der Etatsstärke des Jahres 1712 (35584 Mann, darunter 30050 Gemeine); s. Militär-Wochenblatt 1891 S. 1034.

[5]) W. v. Schultz, die preußischen Werbungen unter Friedrich Wilhelm I. und Friedrich dem Großen. Schwerin 1887. Vgl. Weber, aus vier Jahrhunderten N. F. 2, 190 ff.

[6]) Gutachten vom 12. November 1717.

leicht zu erreichen war, fand eine förmliche Auswanderung der jungen Mannschaft statt; weder Bauern noch Bürger hatten Knechte. Auch wo es nicht so weit kam, in den zusammenhängenden Provinzen des Ostens, fehlte es doch an ausreichenden Arbeitskräften, um die Ernte einzubringen, die Saat zu bestellen; schon fürchtete man, daß die Äcker unbebaut bleiben würden. Kein Wunder, daß Edelleute und Bauern gemeinsame Sache machten gegen die Werber und sich ihrer mit gewappneter Hand erwehrten. Stände und königliche Behörden äußerten die Besorgnis, daß die Grundsteuer nicht mehr pünktlich eingehen, das Commercium nicht mehr floriren, also auch die Accise abnehmen würde[1]).

Ging dies in Erfüllung, so hob freilich das System sich selber auf. Denn wovon das Heer besolden und unterhalten, wenn die Steuern versagten? Der König hielt inne. Er verbot „in seinem Königreich und Landen" alle gewaltsame Werbung; keiner, wer es auch sei, solle, falls er nicht selber dazu Lust bezeige, zu Kriegsdiensten engagirt werden. Aber schon wenn man das für die Öffentlichkeit bestimmte Edikt vom 9. Mai 1714[2]) liest, gewahrt man, wie widerstrebend er es that: „Wann er nicht selbst dazu Lust bezeiget": das war keineswegs die einzige Ausnahme, welche gestattet wurde; der König, der gar wohl wußte, in welchem Maße die „freiwillige" Werbung verdrängt worden war durch die „gewaltsame" Werbung[3]), fügte hinzu: „oder es sonst mit guter Manier und ohne alle Gewaltthätigkeit geschehen kann". Das hieß an die Stelle der Gewalt die List setzen; der König hat seinen Regimentern „möglichste Listigkeit" bei der Werbung

[1]) Immediat-Eingaben der „Landstände aus den klevischen Hauptstädten", Wesel 9. März 1717; des Direktors und der Landräthe der Uckermark, Prenzlau 17. September 1718; des Direktors und der Landräthe der Altmark, Wetzstorff 24. Juli 1717. Immediat-Berichte: des Generalmajors v. Lilien, Geldern 11. Januar 1718; des Grafen v. Finckenstein, Königsberg 29. Juni und 2. Juli 1717; von d'Eimbeck, Anklam 28. Mai 1717, Demmin 18. Oktober 1717; des Obersten J. H. v. Bredow, Stettin 10. Mai 1717.

[2]) Mylius 3, 1, 359.

[3]) Anschauliche Schilderung beider Arten der Werbung von Flemming, bei Berenhorst, Betrachtungen über die Kriegskunst 2, 36.

geradezu empfohlen[1]). Und welche weite Ausdehnung wurde dem Begriffe der gutwilligen Werbung gegeben durch die Erklärung, daß die Aufhebung und Wegnahme ungehorsamer Bürger und Bauern, sowie solcher Dienstboten, „welche nicht gut thun", für keine gewaltsame Werbung geachtet werden solle. Nicht zu gedenken, daß die getreuen Ritterschaften, Unterthanen und Obrigkeit ermahnt wurden, falls sie jemand wüßten, „der füglich und zur Konservation der Armee, sonder Schaden des gemeinen Besten, der Nahrung und Handlung zu Kriegsdiensten nützlicher zu gebrauchen und dazu vor andern geschickt", solchen von selbst anzuzeigen und behülflich zu sein, daß er „auf eine gute Art und sonder Eclat" an das Heer abgeliefert werde. Noch deutlicher redet der geheime Herzenswunsch des Königs aus dem Reglement, das er wenige Monate früher (am 28. Februar 1714) für seine Infanterie ergehen ließ. Zwar die Wegnahme angesessener Leute (erläuternd fügt der Monarch hinzu: Bürger, welche Häuser haben, Bauern und Kossäten) wird verboten. Aber die Mahnung zu gutwilliger Werbung erhält die klassische Auslegung: „daß nämlich keine Excesse uud große Gewaltthätigkeiten dabei vorgehen und desfalls keine Klagen einkommen mögen". Mit anderen Worten: kleine Gewaltthätigkeiten sind erlaubt, und vor allem hütet euch, gefaßt zu werden und Ärgerniß zu erregen. Kaum war da die Schlußwendung erforderlich: „Und absonderlich wird sich derjenige Capitän, welcher eine gute Compagnie an Mannschaft[2]) Sr. Königlichen Majestät wird vorführen können, dadurch recommandiren."

Das waren wahrlich brüchige Schranken gegen die Übergriffe des miles perpetuus, und der König that sehr bald das Seinige, sie weiter zu durchlöchern. Berechtigt wie er sich hielt, von den selber gegebenen Gesetzen, so oft es ihm beliebte, zu dispensiren, ertheilte er den Regimentern „Pässe" zu gewaltsamer

[1]) Ordre an das Regiment Jung-Dönhoff vom 23. Dezember 1715 bei Jähns, Geschichte der Kriegswissenschaften 2, 1555.

[2]) d. h. eine Kompagnie mit gutgewachsener Mannschaft.

Werbung[1]); gleichzeitig bediente er sich nach wie vor der anderen Rekrutirungsart, d. h. er legte den Ständen, Kreisen und Ortschaften ziffermäßig begrenzte Lieferungen an junger Mannschaft auf.

So blieb denn im Grunde Alles beim Alten. Nichts bezeichnender, als daß drei Jahre nach dem Verbot der gewaltsamen Werbung die Wollarbeiter das Vorrecht der Werbungsfreiheit erhielten[2]). Die gewaltsamen Werbungen nahmen eben ihren Fortgang, und mit ihnen die Klagen und Sorgen der Unterthanen. Um sie zu beschwichtigen, erließ der König am 26. Februar 1721 ein neues Edikt[3]), auf den ersten Blick, wenn der Anachronismus gestattet ist, noch „liberaler" als das nächst vorangehende: es verbot scheinbar die inländische Werbung ganz und gar, die gutwillige wie die gewaltsame. Scheinbar: denn in demselben Athemzuge gestattete es, Leute, die sich noch „zum Anbau des Landes, zu Beförderung des Commercii und in den Städten gesetzt" hätten, „freiwillig und ohne List zu engagiren", und sprach weiter die bestimmte Erwartung aus, daß die getreuen Unterthanen und Vasallen nun desto mehr Eifer zeigen würden, die noch etwa im Militär fehlenden Leute herbeizuschaffen. Noch einmal war der Versuch gemacht, mit dem alten System auszukommen, aber es war der letzte.

Das preußische Heer hat wenig so überzeugte Berufsoffiziere gehabt wie Friedrich Wilhelm I.; wie er schließlich nicht anders als in Uniform ging, so sah er mit souveräner

---

[1]) Reglement von 1718: „Wenn ein Capitaine einen recht hübschen großen Flügelmann weiß, welchen er nicht mit guter Manier bekommen kann, so soll er es dem Commandeur vom Regiment melden, welcher es nachgehends Sr. K. M. schreiben und Ordre erwarten muß, ob der Capitaine solchen Kerl wegnehmen lassen soll oder nicht. Weshalb ohne vorhergegangene schriftliche Permission von Sr. K. M. kein Kerl mit Gewalt zum Soldaten weggenommen werden muß." Die erhaltenen Aktenreste zeigen, wie oft diese Permission nachgesucht worden ist.

[2]) Edikt vom 27. September 1717 und Ordre vom 15. Oktober 1717, bei Mylius 3, 1, 377.

[3]) Mylius 3, 1, 415.

Verachtung auf die Miliz herab, die sein Vater aufgerichtet hatte. Eine seiner ersten Handlungen war, daß er sie beseitigte[1]); sogar den Namen belud er mit seinem Hasse: bisher hatte man das stehende Heer, die Schöpfung des Fürsten, „regulirte Miliz" genannt, während das populäre Aufgebot als Angelegenheit des Landes und der Stände „Land-Miliz" hieß; jetzt verbot er nicht nur das Wort „Miliz", sondern auch das ähnlich anklingende „Militair" in der Anwendung auf seine Regimenter[2]). Dennoch war es ein Miliz-Gedanke, der, unbewußt nachwirkend, dem Könige zu der größten Reform seines miles perpetuus verhalf. „Landmiliz" und Pflichtigkeit der Unterthanen waren von jeher Korrelate gewesen. In einem Edikte des Großen Kurfürsten über das Aufgebot[3]) heißt es: jeder Eingesessene sei dazu dem Fürsten und dem ganzen Vaterlande verbunden. Von demselben Gedanken ausgehend, hatte Friedrich I. die junge waffenfähige Mannschaft „enrolliren" lassen zum Gebrauche in der „National-Miliz"[4]); durch ihn erhielt das Wort „Enrollirt" den Sinn, den wir oben kennen lernten[5]). Friedrich Wilhelm I. hat den unendlich folgenreichen Schritt gethan, daß er dies Miliz-Attribut auf das stehende Heer übertrug. Gleich im ersten Jahre seiner Regierung ließ er verkündigen, daß diejenigen, welche aus Furcht vor der Werbung sein Land verließen, als Deserteure des stehenden Heeres angesehen werden sollten[6]);

---

[1]) Befehl an das General-Finanz-Direktorium vom 7. März 1713, bei Gansauge a. a. O. S. 94.

[2]) Verordnung vom 14. Februar 1718, Notifikation vom 8. April 1718, bei Mylius 3, 1, 383. 387.

[3]) Cölln 4. Dezember 1656; bei Mylius (3, 1, 45) fälschlich als „Werbungspatent" bezeichnet.

[4]) Mylius 3, 2, 124. 148. 158. Gansauge S. 204 ff. Militär-Wochenblatt 1835 S. 5364.

[5]) S. z. B. das Edikt vom 16. Januar 1704, bei Mylius 3, 1, 241: „daß diejenigen Personen, welche sowohl in denen Städten als auch bei denen Ämtern sich haben enrolliren lassen, von der regulirten Miliz nicht geworben ... werden sollen".

[6]) Edikt vom 17. Oktober 1713, bei Mylius 3, 1, 351. Nicht unerwähnt bleiben darf, daß sich bereits in den „Instructions-Puncta" vom 10. September

etwas später erklärte er: die junge Mannschaft sowohl in den Städten wie auf dem platten Lande sei ihm „nach ihrer natürlichen Geburt und des höchsten Gottes eigener Ordnung und Befehl mit Gut und Blut zu dienen schuldig und verpflichtet“ [1]). Ein Satz, der in der Anwendung auf das stehende Heer, wie er hier erscheint, den Zeitgenossen geradezu ungeheuerlich erscheinen mußte: denn wozu Werbung, wenn Pflichtigkeit galt? Nur in der Beschränkung auf die Miliz war er bisher dem Rechtsbewußtsein geläufig gewesen. Friedrich Wilhelm ließ es bei der Theorie nicht bewenden, er setzte sie in handgreifliche Praxis um: er machte die Enrollirung zum Ergänzungsprincip seines Heeres.

Doch hat er ersichtlich den Weg, der an dies Ziel führte, nicht allein gefunden. In dem politischen Testamente von 1722, wo er seine geheimsten Gedanken niederlegt, redet er von der hochbedeutsamen Reform mit keiner Silbe. Keine Ordre läßt sich nachweisen, welche einem Regimente die Enrollirung vorschreibt. Da, wo das neue System zuerst in einem Gesetze begegnet, in dem Edikte vom 20. Dezember 1722 [2]), ist die Rede von solchen, die „sich haben enrolliren lassen“. Im Reglement von 1726 heißt es: „Seine Königliche Majestät erlauben, alle junge Leute, welche unter denen Feld-Regimentern und Garnison-Bataillons bereits zu dienen oder künftig zu dienen capables sind, zu enrolliren“ [3]). Kein Zweifel: der König ordnete die Reform nicht an, er sanktionirte nur und ließ zu, was seine Kompagnie-Chefs begonnen hatten.

Daß diese gerne enrollirten, ist nun begreiflich genug. Noch fehlte in Preußen viel daran, daß die Militär-Ökonomie in allen

1708 der Satz findet: „Dahingegen sollen diejenigen Eingebornen, so aus Furcht der Werbung aus dem Lande treten, ihres Patrimonii und aller sonst habenden Beneficien und Rechten verlustig gehen“ (Mylius 3, 1, 262 § 7).

[1]) Edikt vom 9. Mai 1714, bei Mylius 3, 1, 360.

[2]) Mylius 3, 1, 451.

[3]) Es ist methodisch interessant, wie dieser Satz im Munde des diensteifrigen Generals v. Linger sich wandelt: „E. K. M. haben in Dero allergnädigst verliehenen Reglement befohlen, alle junge Leute bei Dero Armee zu enrolliren und mit Pässen zu versehen“. König a. a. O. 4, 1, 109.

ihren Theilen auf die königlichen Kassen übernommen gewesen wäre; ansehnliche Reste des alten Zustandes waren übrig geblieben[1]), wo der Kompagnie-Chef ein in der Regel glücklicher, zuweilen aber auch unglücklicher Unternehmer an der Spitze einer Waffengenossenschaft gewesen war. Er mußte seinem Vorgänger die Gewehre, Bajonette, Säbel, Degen und Trommeln abkaufen[2]), das an ihnen schadhaft und unbrauchbar Gewordene ersetzen. Er mußte, wie es im Reglement heißt[3]), „alle Unkosten, welche bei der Kompagnie vorfallen, bezahlen". Vor allem war es seine Sache, die Kompagnie vollzählig zu erhalten[4]). Er hatte die Kosten der Werbung zu tragen, und diese waren, da nach alter Landsknechtsitte erst das Handgeld den Vertrag perfekt machte und die Erneuerung derjenigen Kapitulationen, welche nur auf Zeit abgeschlossen waren, oft die Zahlung eines neuen Handgeldes bedingte, sehr ansehnlich[5]); gar mancher trug an ihnen um so schwerer, da er die Kompagnie schon mit Schulden

---

[1]) „Capitulation für den Obersten v. Natzmer auf eine Esquadron Gendarmes", Cölln 10./20. Dezember 1691 (bei Schöning, Natzmer S. 132): „Dieselbige voll zu kleiden, zu mondiren und beritten zu machen, ohne daß es Uns das Geringste kosten soll."

[2]) Hierfür setzte das Reglement von 1714 (s. Beilage 1) eine Taxe von 600 Reichsthalern fest; das Reglement von 1726 (S. 608) erhöhte sie auf 800 Reichsthaler für die ersten 10 Jahre nach der Anschaffung von neuem Gewehr und ermäßigte sie auf 500 für die spätere Zeit.

[3]) Reglement von 1726 S. 588.

[4]) „Kapitulation auf ein Bataillon pro den Obristen Grafen v. Dona", Cölln 1./11. März 1689, bei Kopka v. Lossow a. a. O. 1, 26*: „Zu welchem Ende er Sorge zu tragen, daß selbiges jedes Mal komplett in einem guten Stande erhalten werde." Vgl. ebenda 1, 43*.

[5]) Aus den Gesprächen Friedrich's II. mit Luccheſini (herausg. v. Bischoff S. 224) wissen wir, daß Friedrich Wilhelm I. Rekruten von über 8 Zoll mit 3000, 4000, ja 6000 Rthlr. bezahlte. In dem Werbe-Reglement von 1732 (Militär-Wochenblatt 1841 S. 86) heißt es: „da ein Kerl 600, 700 und mehr Rthlr. kostet". Mochten dies Ausnahmen sein, so ersieht man doch aus § 9 desselben Reglements, daß die Kosten der Werbung für eine Kompagnie jährlich mindestens 900 Rthlr. betrugen. Aus dem Edikte bei Mylius 3, 1, 196 ergibt sich, daß die Offiziere auch den vom Lande gelieferten Rekruten ein, wenngleich mäßiges, Handgeld zahlen mußten. Vgl. Schöning, Natzmer S. 187; Kriege Friedrich's d. Großen 1, 35 f.

übernommen hatte[1]). Wie willkommen mußte es da sein, Rekruten zu finden, an welche kein Handgeld zu zahlen war, welche seltener desertirten als die auf bisherige Art geworbenen, welche leicht zu ersetzen waren, indem man andere ihresgleichen nahm. Alle diese Bedingungen erfüllte die Enrollirung.

Dieser Ursprung des Systems macht zweierlei verständlich. Erstens die Schwierigkeit der zeitlichen Fixirung: wer will sagen, ob nicht schon geraume Zeit vor jenem Edikt von 1722[2]) kluge Kompagnie-Chefs zu enrolliren begonnen haben? Zweitens begreift man, daß der König sofort Anwalt der Exemtionen wurde; die Kompagnie-Chefs hätten am liebsten alles enrollirt. Freilich, daß der Adel eximirt blieb, war selbstverständlich: er unterlag schon einem andern Zwange, dem zum Offizierstande[3]); doch hat der König es später noch ausdrücklich geboten[4]). Außerdem findet sich bereits in dem Reglement von 1726[5]) die Verfügung, daß kein Offizier Bürgerkinder, deren Eltern 10000 Thaler im Vermögen hätten, enrolliren dürfe. Schon daraus ergab sich

---

[1]) So klagt z. B. Oberst v. Milendonck (Ragnit 30. März 1718): er habe von seiner vorigen Kompagnie an 7000 Rthlr. zu fordern und bei seiner jetzigen bereits 2500 Rthlr. wieder eingeschossen. — Oberst George Levin v. Winterfeldt nahm 1718 unter Verpfändung seiner Güter zum Zwecke der Remontirung seines Regiments ein Kapital von 6000 Rthlr. auf; der König versprach ihm (Potsdam 12. Nov.), „daß solches Kapital vor allen andern Schulden auf bestimmte Zeit vom Regiment bezahlet werden soll". — L. A. Wurmb bittet, Wolgast 26. November 1715, um Urlaub, „damit ich das Wenige, was mir noch von dem Meinigen übrig, zu Gelde machen und damit meine Compagnie-Schuld, soweit selbiges zulänglich sein wird, bezahlen könne." — Wohlhabende, die im Stande sind, „eine Compagnie-Schuld sofort baar auszuzahlen", bewerben sich beim Könige um eine Kompagnie und werden angenommen; s. z. B. den Immediat-Bericht des de Vigny, Lyck 28. September 1718. Vgl. Kopka v. Lossow 1, 43*.

[2]) Doch dürfen wir festhalten, daß es nicht vor 1701, dem Geburtsjahre der Landmiliz Friedrich's I., geschah. Denn offenbar sind die Enrollirungen von dieser entlehnt.

[3]) S. das Politische Testament von 1722, bei Ranke S. W. 27 u. 28, 159. Vgl. Scharnhorst 2, 57.

[4]) Resolution vom 15. September 1733, bei Gansauge S. 239.

[5]) Titel V, Art. 2 (S. 550).

eine Sonderstellung der größeren Städte, der Sammelbecken des Kapitals. Der König verbot, aus seiner Hauptstadt Berlin einen „Enrollirungs-Canton" zu machen[1]). Die Regimenter sollten dort nur „hie und da ledig lose Leute von geringer Extraction, z. B. Schuster, Schneider und dergleichen gemeiner Leute Kinder enrolliren". „Aber", fuhr der König fort, „Meiner wirklichen Bedienten, auch anderer Bemittelter und dem Publico dienstlicher Leute Kinder und so von ihren Mitteln leben, wie auch Kaufleute, Manufacturiers und Fabrikanten und welche zum Lagerhaus gebraucht werden, sollen frei vom Enrolliren sein". Ob ähnliche Begünstigungen den anderen größeren Städten zu Theil geworden sind, steht dahin[2]). Sicher hat der König noch in allen seinen Provinzen eximirt: die „Woll-Arbeiter und andern Manufacturiers" nebst den Lehrburschen[3]); die „mit Haus und Hof Angesessenen"[4]); die einzigen Söhne solcher „Wirthe", freilich nur, wenn sie weniger als 5 Fuß 11 Zoll maßen; die fremden Dienstboten, die sich im Lande vermiethet hatten[5]); die Wirthschaftsbeamten der „Herrschaften auf dem Lande"[6]); die Söhne der Prediger, welche Theologie studirten[7]). Endlich wirkte in dem gleichen Sinne seine Abneigung gegen kleingewachsene Soldaten: „Was nicht Wachsthum hat[8]), soll gar nicht enrollirt

---

[1]) Kabinetsbefehl an den Generallieutenant Glasenapp, Potsdam 21. Mai 1733.

[2]) Von Wesel ist es nach Gansauge S. 234 wahrscheinlich.

[3]) Ordre an die Regimenter, Berlin 17. April 1724, bei Mylius 3, 1, 459.

[4]) Zirkular-Ordre vom 1. Mai 1733, bei L'Homme de Courbière S. 90.

[5]) Die Befreiung dieser beiden Kategorien ergibt sich aus der „Königlichen Versicherung wegen des dem Regiment v. Gesler gegebenen Enrollirungs-Cantons in dem Elbingschen Territorio", Potsdam 12. September 1739.

[6]) Königliche Verfügung, ergangen auf eine Beschwerde der hinterpommerschen Stände; ohne Datum angeführt bei L' Homme de Courbiere S. 90.

[7]) Notifikation an das Konsistorium, Berlin 14. Oktober 1737, bei Mylius, Contin. I, 87.

[8]) Wieviel das war, ersieht man aus dem Werbe-Reglement von 1732 § 5. Die „Schlechtesten" einer „schlechten Kompagnie" mußten noch 5 Zoll über 5 Fuß haben, und bei der Kavallerie waren die Anforderungen noch etwas höher.

werden", heißt es in der Zirkular-Ordre vom 1. Mai 1733[1]). Alle übrigen männlichen Kinder wurden in früher Jugend enrollirt[2]) und erhielten als „enrollirter Zuwachs" einen Urlaubspaß[3]); doch durften sie, wie der kirchlich gesinnte König bestimmte[4]), den Fahneneid[5]) nicht eher leisten, als sie zum Abendmahl gewesen waren: „damit der Eid nicht profanirt werde". Wenn dann der Kapitän, der sie hatte schwören lassen, Rekruten nöthig hatte, zog er ihrer so viele ein, als er brauchte.

Der Fortschritt gegen den früheren Zustand war augenscheinlich. Der König wurde die seinem monarchischen und militärischen Gefühle so widerwärtige Mitwirkung der Stände und Korporationen bei der Rekrutirung los. Die Armee erhielt bessere Rekruten[6]): die „Ausländer" waren nur allzu oft mit List und Betrug geworben, und die vom Lande „Gelieferten" waren, um mit dem Marschall von Sachsen zu reden, meistentheils der Abschaum des menschlichen Geschlechts, die liederlichsten, nichtswürdigsten und verächtlichsten Menschen[7]). Vor allen gewannen die Unterthanen des Soldatenkönigs. Gewiß, hart blieb es, dem Kalbfell folgen zu müssen: endlos waren die Plackereien innerhalb und außerhalb des Dienstes, namentlich wenn es galt, den für die Heirat oder die Übernahme eines Gutes erforderlichen

---

[1]) S. auch die Zirkular-Ordre an die Regimenter vom 20. Januar 1730, bei Mylius 6, 2, 413 und bei G. F. Müller, Preußisches Kriegesrecht (Berlin 1760) S. 95.

[2]) Auf die S. 270 Anm. 6 angeführte Beschwerde der hinterpommerschen Stände bestimmte der König, daß kein Kind unter 10 Jahren enrollirt werden durfte.

[3]) Formular des von Friedrich Wilhelm I. verordneten Urlaubspasses bei Mylius 3, 1, 346; diesem nachgebildet das Formular für die Enrollirten in der von Hosäus herausgegebenen Festschrift „Zur Biographie des Fürsten Leopold von Anhalt-Dessau" (Dessau 1876) S. 85.

[4]) Reglement von 1726 a. a. O.

[5]) Die Fassung, in der die Enrollirten ihn schworen, bei Müller, preußisches Kriegsrecht S. 150.

[6]) Die im Militär-Wochenblatt 1891 S. 1035 veröffentlichten Listen zeigen eine fast ununterbrochene Abnahme der Desertionen.

[7]) Kriegskunst des Grafen von Sachsen, herausg. v. Struensee (Leipzig u. Liegnitz 1767) S. 73.

Abschied vom Kompagnie-Chef zu erlangen; keine Zivilbehörde stand dem Enrollirten helfend zur Seite: Aushebung und Verabschiedung waren zunächst ausschließlich Sache der militärischen Behörden[1]). Aber der Rekrut gewöhnte sich von Kindesbeinen an das Los, das seiner wartete; es brach nicht mehr mit der Plötzlichkeit und Schrecklichkeit eines dunklen Verhängnisses über ihn herein. Es war in der Wirkung fast der Unterschied zwischen Raub und Recht, zwischen Sklaverei und Pflicht. Vergessen wir endlich nicht, daß die Enrollirung den Gedanken des Staates in jene Regionen unterhalb des Landrathes trug, wo bisher nur der Gutsherr gewaltet hatte. Die Enrollirten sahen mit Stolz auf den Büschel an ihrem Hute, den ihnen der Landesherr verliehen hatte[2]); ihr Selbstgefühl, über welches schon 1722 die Gutsherrschaften zu klagen begannen[3]), war nur eine der ersten Regungen des Staatsgefühls.

Die Enrollirung aber, wie sie sich nun zum Heile des Heeres und des Volkes durchgesetzt hatte, war doch der Verbesserung fähig und bedürftig. Von je her hatten die Regimenter sich gegenseitig die Rekruten abgefangen[4]); sie setzten das fort nach Einführung der Enrollirung. Auch in diesem Daseinskampfe unterdrückte der Starke den Schwachen: einige Regimenter hatten an Enrollirten Überfluß, andere Mangel[5]). Hier bot das alte System selber ein Heilmittel dar. Die Regimenter bekamen bereits, soweit es sich um das Inland handelte, bestimmte

---

[1]) Bericht der pommerschen Kammer vom 25. November 1788: „Einige in actis befindliche Resolutionen bestimmen, daß die damalige Kammer (unter Friedrich Wilhelm I.) in Werbungs-Sachen sich gar nicht meliren dürfen." Vgl. unten S. 280. Anm. 1.

[2]) Zirkular-Ordre an die Regimenter, Potsdam 1. Mai 1733, bei L'Homme de Courbiere S. 89.

[3]) Mylius 3, 1, 451. S. auch Schmoller i. d. Deutschen Rundschau 12, 268.

[4]) Es ist vorgekommen, daß ein Regiment Deserteure eines anderen angeworben hat. Die „Pässe", welche die Enrollirten erhielten (s. oben S. 271), sollten wohl in erster Linie den Anspruch des Regimentes, das die Enrollirung bewirkt hatte, verbriefen.

[5]) Eingang der Zirkular-Ordre vom 1. Mai 1733, bei L'Homme de Courbière S. 89.

Werbeplätze angewiesen[1]), wenngleich ein Wechsel nicht völlig ausgeschlossen war: es geschah wohl, daß ein Regiment den König bat, ihm lieber das Fürstenthum Minden und die Grafschaft Ravensburg zu „Rekrutenplätzen" zu geben, da das Herzogthum Cleve, wo es bisher geworben, erschöpft sei[2]). König Friedrich Wilhelm I. hatte nur nöthig, die Musterplätze mit festen Rayons zu umgeben und an die Regimenter zu bleibendem Besitze zu vertheilen. Den Entschluß dazu faßte er 1732[3]). Das Jahr darauf führte er ihn, zunächst für seine östlichen Provinzen, aus[4]). Zwei Jahre später (1735) unterwarf er auch die

---

[1]) Für die Zeit des Großen Kurfürsten vgl. die Kapitulation mie Oberstlieutenant Schwerin v. 20. Dezember 1655 (Gesch. d. preuß. Fahnen 2, 384) und Hirsch in der H. Z. 43, 246. 248. 256; für die Zeit Friedrich's III. das oben angeführte Interims-Reglement von 1693, das Patent vom 20. Januar 1691 (Mylius 3, 1, 184) und die „Instructions-Puncta" vom 10. September 1708 (Mylius 3, 1, 261 § 4). Aus der Regierung Friedrich Wilhelm's I. Patent vom 22. Juni 1713 (bei Mylius 3, 1, 331): „daß ein jedwedes Regiment die Werbung nicht weiter als seine Standquartiere sich erstrecken und ihnen von S. K. M. angewiesen sind, extendiren solle". Als der König im April 1713 dem Generalmajor v. Stillen befahl, noch ein Bataillon zu errichten, wies er letzterem die Altmark als „Sammelplatz an" und verbot den anderen Regimentern, dort zu werben (Minerva 1810 2, 386). — S. auch den Immediat-Bericht des General-Lieutenant A. B. v. Borcke, Stettin 8. März 1717.

[2]) Immediat-Bericht des Obersten v. Lepel, Bünde 30. Januar 1718.

[3]) Bericht der magdeburgischen Kammer vom 9. Januar 1789: „Nach den hiesigen Kammer-Acten forderten S. K. M. im Jahre 1732 eine specifique Nachweisung aller auf dem platten Lande dieser Provinz belegenen Feuerstellen." Das war der einzige Antheil, den der König den Zivilbehörden an der Kanton-Einrichtung gewährte, die Vertheilung der Feuerstellen an die einzelnen Regimenter ließ er aus dem Kabinet dem General-Direktorium fertig und ohne weitere Verfügung zugehen. S. den Bericht der pommerschen Kammer vom 25. November 1788 und des General-Direktoriums „Promemoria über die Kantons-Nachrichten" (Anfang Oktober 1786).

[4]) Die Kanton-Eintheilung ist bis jetzt nicht vollständig bekannt geworden. Einige auf Pommern bezügliche Mittheilungen finden sich bei Brüggemann, Beschreibung des gegenwärtigen Zustandes von Pommern (Stettin 1779) 1, CXCII ff., aus welchem Leopold Krug (Jahrbücher der preußischen Monarchie 1799 1, 168 ff.) geschöpft zu haben scheint.

westlichen Provinzen der Canton-Eintheilung[1]): Werbeplatz und Rayon zusammen nannte er nämlich nach einigem Schwanken[2]) schließlich „Canton".

Noch eine Ermäßigung konnte das militärische System Friedrich Wilhelm's I., ohne sich selber aufzugeben, gewähren: die Beurlaubung.

Die allgemeine Wehrpflicht, von der wir ausgingen, steht im engsten Zusammenhang mit der Begrenzung der Dienstzeit. Die Krieger eines Söldnerheeres dienen, so lange sie können und dürfen: denn das Soldatenthum ist ihnen Beruf; die Krieger eines Volksheeres dienen nur so lange, als zu ihrer kriegerischen Ausbildung erforderlich ist: denn ihr Soldatenthum ist ein Amt. Nun kann die Dienstzeit auf zwei Arten absolvirt werden: in einem Zuge oder in kurzen, aber öfter wiederholten Fristen, zwischen denen lange Pausen der „Beurlaubung" liegen. In der letzten Art und Weise sind von je her Milizen ausgebildet worden. Derjenige also, welcher den Gedanken der Beurlaubung auf die stehenden Heere anwandte, verwandelte sie in eine Art Miliz.

In dem preußischen Heere der Zeit vor 1806 hatte die Beurlaubung einen weiten, für seine Tüchtigkeit gefährlichen Umfang gewonnen. Die Landeskinder, welche es in seiner Mitte besaß, wurden jährlich nur auf einige Wochen zum Exerziren einberufen, auch von den „Ausländern" lag eine ansehnliche Zahl (die „Freiwächter") bürgerlichen Beschäftigungen ob. Die Tadler dieses Heeres, die Reformatoren von 1808, durften sagen, es habe in mancher Hinsicht die Nachtheile des stehenden Heeres und der Milizen vereinigt[3]). Indem sie die Schuld für seine Verweichlichung der Institution der Beurlaubung aufluden[4]), sahen

---

[1]) Gansauge S. 234.

[2]) „District oder Canton"; Zirkular-Ordre vom 1. Mai 1733 a. a. O.

[3]) Scharnhorst in seiner Denkschrift vom 2. Juli 1809, bei Pertz, Gneisenau 1, 527.

[4]) Übrigens auch schon Berenhorst in seinen Betrachtungen (1798) 2, 210: „Der Beurlaubte wird ein unglücklich Mittelding zwischen Bauer und Soldat."

sie in dem Siege, den diese errungen, den Abfall von besseren Ideen. Es war namentlich Boyen, der spätere Kriegsminister, welcher die Ansicht vortrug [1]), ursprünglich habe Friedrich Wilhelm I. seine Kriegsmacht beständig unter der Fahne gehalten, erst später habe er sich zu der Annahme des unseligen Beurlaubungssystems entschlossen. Boyen ist hier in denselben Irrthum verfallen, wie so mancher andere Reformator, der das Urbild, das ihm vorschwebte, als Wirklichkeit in die Vorvergangenheit verlegte. Beurlaubte in ansehnlicher Zahl gab es im preußischen Heere schon 1714; diese wichtige Kenntnis verdanken wir dem wiederaufgefundenen Reglement dieses Jahres.

Doch hat Boyen insofern Recht, als die Beurlaubung während der Regierung Friedrich Wilhelm's I. zugenommen hat, und zwar in dem doppelten Sinne, daß sowohl die Zahl der Beurlaubten als die Zeit der Beurlaubung wuchs. Das Reglement von 1714 gestattete, daß auf die Kompagnie (sie zählte 11 Unteroffiziere, 3 Tamboure, 12 Grenadiere, 1 Zimmermann und 107 Musketiere) 3 Unteroffiziere und 30 Gemeine, also 25 Prozent, beurlaubt wurden. In den drei Monaten Juli, August und September (es war die Zeit der Ernte, die in diesem Ackerbaustaate alle Hände beschäftigte) wurde eine größere Zahl von Urlaubern (50 Mann, also über 40 Prozent) bewilligt. Jedoch war dies an die Bedingung geknüpft, daß die Zahl der zu besetzenden Wachen gering genug war, um jedem Musketier nach jeder Wache zwei Nächte wachfrei zu lassen; eine weitere Einschränkung lag darin, daß kein Soldat länger als zwei Monate beurlaubt sein sollte. Das Reglement von 1726 dehnte diese Frist auf drei Monate aus und stellte hinsichtlich der Zahl der Urlauber alle Monate den Erntemonaten gleich. Noch weiter ging das sogenannte Werbe-Reglement von 1732 [2]).

---

[1]) Erinnerungen aus dem Leben v. Boyen's 1, 198 f. Noch schroffer die „Darstellung der preußischen Kriegsverfassung" aus dem Jahre 1817, s. H. Z. 67, 59.

[2]) „Disposition und Ordres, wornach die Königl. Preuß. Infanterie-Regimenter wegen der Werbung sich zu verhalten haben sollen", Wusterhausen 13. September 1732; Militär-Wochenblatt 1841 S. 82 ff. Das ent-

Während das Reglement von 1726 bestimmt hatte, daß alle Tage 3 Grenadiere und 20 Musketiere auf Wache ziehen sollten, beschränkte das Reglement von 1732, indem es die beiden wachfreien Nächte bestehen ließ, die Wachmannschaft auf 2 Grenadiere[1]) und 16 Musketiere, d. h. die Zahl der Urlauber wurde auf 44 Prozent erhöht. Bei der Kavallerie war, entsprechend den höheren Anforderungen, die hier an die Mannschaften gestellt werden müssen, die Zahl der Beurlaubten geringer; sie erreichte bei den Dragonern nicht 17, bei den Kürassieren nicht 22 Prozent[2]).

Boyen hat weiter aber auch ganz richtig einen Zusammenhang zwischen Beurlaubung und Werbung angenommen. Es ist an dem, daß der König, um Geld für die Werbung langer Leute flüssig zu machen, die Beurlaubung vermehrte. An der Stelle des Reglements von 1732, wo er erklärt, die Zahl der Wachmannschaft verringern zu wollen, fügt er hinzu: das geschehe, damit „die Kapitains so viel mehr verurlauben können und also so viel mehr Geld auf die Werbung angewandt werden kann". Denn der Haushalt der Kompagnie war eben Sache des Kapitäns. Von dem Pauschquantum an Unteroffiziers- und Gemeinen-Sold, das ihm die königliche Kriegskasse auf die volle Etatsstärke zahlte, mußte er zwar die Werbung bestreiten, aber er behielt auch den Sold der Urlauber ein: anfangs zur Hälfte, später ganz[3]). Wir sahen, wie ansehnlich die Kosten der Wer-

---

sprechende Reglement für die Dragoner bei Tyszka, Geschichte des 1. Dragoner-Regiments S. 436.

[1]) 1735 erhielt jedes Bataillon eine Grenadierkompagnie in Stärke von 7 Unteroffizieren und 81 Mann; davon durften 1 Unteroffizier und 21 Mann beurlaubt werden. Ordre an das Bardeleben'sche Regiment, Potsdam 1. Mai 1735.

[2]) Zahlenmäßige Ermächtigungen zur Beurlaubung bei der Kavallerie enthalten nur die Reglements von 1727: bei den Dragonern 1 Unteroffizier und 20 Mann auf die Eskadron (9 Unteroffiziere, 2 Tambours, 1 Fahnenschmied, 120 Dragoner), bei den „Reutern" 1 Unteroffizier und 15 Mann auf die Kompagnie (6 Unteroffiziere, 1 Trompeter, 1 Fahnenschmied, 65 Reuter).

[3]) So das Reglement von 1714. In dem von 1718 heißt es: „Wenn die Compagnie schuldig ist, soll das halbe Tractament von allen Verurlaubten

bung waren; sie blieben es auch nachdem die Enrollirung legalisirt war: denn diese sollte die Betheiligung des Auslandes an der Aufbringung der Armee nicht beseitigen. So lange der König sich nicht entschloß, Werbegelder auf den Etat der Kompagnie zu bringen, war die Beurlaubung das einzige Mittel, die Kompagniechefs vor dem sonst unfehlbaren Bankerott zu bewahren [1]).

Der König machte der einmal ergriffenen Idee sogar noch ein erhebliches Zugeständnis. Für die Beurlaubung empfahlen sich in erster Linie [2]) die „Enrollirten", d. h. die Landeskinder; sie waren zuverlässiger, desertirten seltener. Noch aber war ihre Zahl nicht zu der der Geworbenen, d. h. der Ausländer, in ein festes Verhältnis gebracht, das ist erst unter Friedrich II. geschehen; es gab Kompagnien, welche viele Ausländer hatten, also, wie es im Reglement von 1732 heißt, nicht eine genugsame Zahl auf das Land verurlauben konnten. Die Kapitäne, die sich in so ungünstiger Lage befanden, wies nun der König an [3]),

---

durch das ganze Jahr summarisch extrahiret auf die ganze Compagnie egale repartiret, auch einem jeden Kerl in der Rechnung eingeschrieben werden und die andere Hälfte vor den Capitän bleiben. Wann die Compagnie nichts schuldig ist, soll der Capitän das ganze Tractament von allen Verurlaubungen, sonder Rechnung davon zu geben, vor sich behalten." Das Reglement von 1726 enthält keine Bestimmung über die Verwendung des Beurlaubten-Soldes. Das Werbe-Reglement von 1732 sieht es (§ 11) als selbstverständlich an, daß er den Compagnie-Chefs zufällt. — Eine Sonderstellung nahmen die sog. drei „kleinen" Bataillone in Wesel ein. Sie beurlaubten 100 Mann von der Kompagnie. Deren Sold im Betrage von 200 Rthlr. gab der König nur zum kleineren Theile (40 Rthlr.) an die Kapitäne; den Rest verwandte er zur Stiftung einer besonderen Kasse (Aufzeichnung des Kriegsraths Boden vom 10. Juni 1727).

[1]) Man vergleiche die oben S. 268 Anm. 5 angegebenen Kosten der Werbung mit dem Gehalte des Kapitäns: es betrug nach den Abzügen, auf welche der wirthschaftliche König auch hier nicht verzichtete, monatlich 46 Reichsthaler 23 Groschen 8 Pfennige. Reglement von 1726 S. 588.

[2]) S. Beilage 3.

[3]) Daß Ausländer beurlaubt wurden (Schultz a. a. O. S. 92. 96), kam gewiß nur in Territorien vor, die so gänzlich im preußischen Machtbereiche lagen wie Mecklenburg.

die Ausländer, soweit sie eine Profession gelernt hatten, bei Handwerkern unterzubringen; die anderen sollten bei den Tuchmachern als Wollspinner oder sonst als Handlanger beschäftigt werden: es sind die „Freiwächter“ [1]), gegen die sich der Groll der Epoche nach Jena und Tilsit vornehmlich richtete. Das that der König, obwohl ihn längst die Furcht beschlich, sein Heer könne durch die Beurlaubung verbauern [2]). Wer war froher als die Kompagniechefs? Sie machten von der Vollmacht des Monarchen einen so ausgiebigen Gebrauch, daß dieser gegen das Ende seiner Regierung den Soldaten der Berliner Garnison verbieten mußte, zu handeln und zu hausiren, Hökerei und Handwerk zu treiben [3]).

Überschaut man dies alles, erwägt man namentlich den Wortlaut der Reglements, der die Beurlaubung nicht gebietet, sondern gestattet [4]), und die Offiziere, welche über die gesetzliche

---

[1]) Reglement von 1732.

[2]) Reglement von 1718 (wesentlich übereinstimmend das von 1726): „damit sie das Handwerk nicht verlernen, Soldaten bleiben und nicht zu Bauern oder Bürgern wieder werden“. Einen Blick in die Stimmung des Königs eröffnen auch die harten Strafen, welche er den Beurlaubten androhte, die nicht ihre Montirung, sondern Bauernhüte und Bauernröcke tragen würden; s. den Kabinetsbefehl an Generallieutenant Stillen, Berlin 27. Mai 1725 (Minerva 1810 2, 406 f.).

[3]) Kabinetsbefehl an den Geheimen Finanzrath Reinhardt, Wusterhausen 27. September 1737.

[4]) Die Regimenter machten von der Vollmacht zur Beurlaubung nicht den gleichen Gebrauch. Im Oktober 1739 hatte z. B. des Königs Regiment gar keine Beurlaubten. Was die übrigen Infanterie-Regimenter betrifft, so lasse ich die sechs ersten der vorliegenden Liste folgen:

| | Effektive (d. h. bei der Fahne) | Beurlaubte |
|---|---|---|
| Anhalt . . . . . | 976 | 750 |
| Borck . . . . . | 707 | 429 |
| Röder . . . . . | 585 | 483 |
| Schwerin . . . . . | 683 | 446 |
| Glasenapp . . . . . | 635 | 486 |
| Holstein . . . . . | 720 | 397 |

Vgl. Beilage 2.

Frist beurlauben, mit strengen Strafen bedroht, so ist es mehr als wahrscheinlich, daß die Institution denselben Ursprung hat wie die Enrollirung. Die Kompagniechefs haben zu beurlauben begonnen, wie sie den Anfang mit der Enrollirung machten: in beiden Fällen war es ein wirthschaftliches Sonderinteresse, was ihr Handeln bestimmte. Erst allmählich wurde ihre Selbstsucht in den Dienst des Gemeinwohls gestellt; auch auf diese Institutionen findet das Wort des großen hellenischen Denkers Anwendung: *γινομένη μὲν τοῦ ζῆν ἕνεκεν, οὖσα δε τοῦ εὖ ζῆν.* Ohne es zu wissen und zu wollen, hatten jene Offiziere eine der wichtigsten Reformen aller Zeiten eingeleitet. Die Mitwirkung des Königs, wie wichtig und nothwendig auch immer, beschränkte sich bei der Enrollirung auf die örtliche Abgrenzung und die Anordnungen von Exemtionen, bei der Beurlaubung auf die Feststellung eines Maximums und die Einrichtung einer regelmäßig wiederkehrenden Übungsperiode, der sog. Exercirzeit [1]). Vergebens dürfte man nach dem Namen eines einzelnen suchen, der als Reformator zu bezeichnen wäre [2]).

Merkwürdig, wie militärisch-kriegerisch diese Regierung begann und wie bürgerlich-friedlich sie endete. Erst ermunterte der König seine Offiziere, Bürger und Bauern zu Soldaten zu pressen; zuletzt unterwies er sie in der Kunst, aus Soldaten Bürger und Bauern zu machen. Erst drang er mit seiner Armee zerstörend oder doch hemmend in das bürgerliche Leben ein, zuletzt fand er einen billigen Ausgleich zwischen der bürgerlichen und der militärischen Gerichtsbarkeit, zwischen der Landes-

---

[1]) Als eine offene Frage muß angesehen werden, ob auch die Exerzirzeit, die Zeit, wo „alles bei den Fahnen sein mußte", verkürzt worden ist. Das Reglement von 1714 bestimmte dazu die Monate April, Mai und Juni, die beiden von 1718 und 1720 die Monate April, Mai und September, das von 1726 nur die Zeit vom 20. März bis zum 1. Juni, das Reglement von 1732 setzte fest, daß die Beurlaubten „erst den 1. April" eingezogen werden sollen, bekundet also die Absicht einer Verkürzung; unmittelbar darauf erstreckt es aber die Exerzirzeit bis Ende Juni. Ein Vergleich mit den Kavallerie-Reglements von 1727 macht es wahrscheinlich, daß in dem Reglement von 1726 für Juni zu lesen ist: Juli.

[2]) Vgl. Beilage 3.

kultur und den Bedürfnissen des Heeres. Er verbot, Equipageknechte (d. h. Trainsoldaten) über das Bedürfnis zu enrolliren und erleichterte die Verabschiedung, indem er sie der niederen Instanz des Kapitäns und Stabsoffiziers entzog und der höheren des Regimentschefs bezw. Commandeurs übertrug; dabei bahnte er eine Mitwirkung der bürgerlichen Behörden, der Kammer und des Landraths, an: „alles damit die Höfe zu Sr. Königlichen Majestät Schaden nicht unbesetzt bleiben“ [1]). Er hat, wer sollte es glauben, schließlich die Rathschläge ausgeführt, die ihm von seinem Vater überkommen waren [2]), gegen dessen Regierungsgrundsätze er anfangs nicht heftig genug opponiren konnte. Andrerseits brauchte Friedrich II. nur in seine Fußstapfen zu

---

[1]) Kabinets-Ordre (bei Mylius Cont. I, 219 fälschlich als Reskript bezeichnet) an die Chefs sämmtlicher Regimenter, Berlin, 9. Oktober 1738. „Königliche Versicherung“ (s. oben S. 270) vom 12. September 1739: „Die Enrollirten, so lange sie nicht ins Regiment wirklich eingestellet werden können, bleiben lediglich in der Gewalt der Eltern und unter der Jurisdiction der ordentlichen Obrigkeit. Wenn sie aber bereits einrangiret worden, so gehören sie vor ihrer Person zwar vor das Regiment; ratione ihrer Gründzinsen und Scharwerke müssen sie die Jurisdiction ihrer ordentlichen Obrigkeit erkennen, auch sich vor den königlichen Intendanten, so ofte er es nöthig findet, gestellen.“ Einen Einblick in die Übergriffe oder, wie man damals sagte, „Plackereien“ des Militärs eröffnet § 9 derselben „Versicherung“: „Kein Offizier, auch Unteroffizier soll sich unterstehen, das Allergeringste von denen Enrollirten oder ihren Eltern zu nehmen und vor die Trauscheine oder unter irgend einem andern Prätext etwas zu erpressen.“ Die bekannte Ordre Friedrich's II. vom 4. Juni 1740 (vgl. Müller, Kriegsrecht S. 97 und Ranke S. W. 27 u. 28, 281) war also keine Neuerung. Bennekendorf (Charakterzüge aus dem Leben Friedrich Wilhelm's I. 3. Sammlung) behauptet, daß die Kompagniechefs ganze Kolonien ausgehoben hätten, um damit ihre eigenen entvölkerten Güter zu besiedeln.

[2]) „Er [der Nachfolger] muß in Friedenszeit nicht mehr halten, als es das Land ertragen kann, und in Friedenszeit das Land suchen in Aufnehmen zu bringen, die Soldaten aber im Lande unterzubringen verordnen, doch auch allezeit darhin sehen, daß gute Disziplin unter ihnen gehalten, und sie dann und wann zusammen zu ziehen oder campieren zu lassen, damit sie in Exercition bleiben und durch das Müßiggehen nicht zu allem Bösen angeführet werden, und sie nachher desto besser in Zeiten der Noth zu gebrauchen. Es können dieselbe bisweilen zur Arbeit oder sonsten irgendszu gebraucht werden.“

treten, wenn er ein Gleichgewicht zwischen Soldat und Bürger herzustellen sich bemühte [1]). Friedrich Wilhelm I. war gar nicht so despotisch, wie er oft geschildert ist; man muß fast zweifeln, ob er mehr leitete oder geleitet wurde: jedenfalls verstand er sehr gut, die Interessen anderer mit seinen eigenen zu vereinigen.

Von einem stehenden Heere in Brandenburg-Preußen kann man eigentlich erst reden seit Friedrich Wilhelm I. Gewiß, auch der Große Kurfürst unterhielt in Friedenszeiten einige Truppen, aber sie waren gering im Vergleich zu dem, was er im Kriege aufbot; er hat in hergebrachter Weise für den Zweck des Krieges augmentirt, nach dem Friedensschluß eben so stark reduzirt [2]). Nicht anders machte es sein Sohn: als der Ryswicker Friede geschlossen war, entließ er zwei Drittel seines Heeres. Der erste preußische Herrscher, der im Frieden die während des Krieges unterhaltenen Truppen nicht nur beibehielt, sondern vermehrte, dessen Beispiel dann von allen folgenden, mit Ausnahme Friedrich Wilhelm's IV. nachgeahmt worden ist, war Friedrich Wilhelm I.

Aber die Stabilisirung erstreckte sich allein auf die Cadres. Nach wie vor wurde im Kriege das Heer vermehrt, im Frieden vermindert: nur daß an die Stelle der Augmentirung die Ein-

---

[1]) Testament politique von 1752 (bei Ranke S. W. 29, 266): Il faut que le souverain tienne une espèce d'équilibre entre le soldat et les gens des villes et campagnes, pour que les uns et les autres ne s'émancipent point de sortir de leurs bornes.

[2]) Sehr bezeichnend ist seine Äußerung nach dem Frieden von St. Germain (an den älteren Schwerin, Potsdam 18. Oktober 1679, bei Orlich 3, 306): „So ist Euch wissend, wie es Unserm Estat ganz nicht zuträglich, daß Wir Unsre Milice gänzlich cassiren." Vgl. ebenda 3, 318. Ebenso muß nachdrücklich betont werden, daß er in seinem Politischen Testamente von 1667 die Nothwendigkeit eines miles perpetuus nur mit Bezug auf die Festungsbesatzungen behauptet, und zwar in der Stärke von etwa 7000 Mann (in der Aufzählung bei Ranke S. W. 25 und 26, 515 f. ist durch ein Versehen Magdeburg ausgefallen). Offenbar war er sich bewußt, daß die Reichsgesetze seine Unterthanen nur zur Besetzung und Erhaltung der „Festungen, Plätze und Garnisonen" verpflichteten; s. den Reichsabschied von 1654 (§ 180), auf den sich der Kurfürst (a. a. O. S. 514) ausdrücklich beruft.

berufung der Beurlaubten, an die Stelle der Reduzirung die Entlassung der Beurlaubten trat. Ein stehendes Heer in dem Sinne, daß alle für einen etwaigen Krieg erforderlichen Mannschaften beständig bei der Fahne geblieben wären, hat es auch in Preußen nie gegeben.

---

## Beilage 1.

Aus dem preußischen Infanterie-Reglement von 1714.

„Hierbei ist zu notiren, daß ... niemalen ein anderer als ein Edelmann zum Gefreit Korporal gemachet werden soll.

„Alle Frühjahre im April, Majo und Junio müssen alle Officiers und Soldaten ohne Excüse bei den Compagnien sein, in den andern Monaten kann der Obriste den dritten Theil der Officiers, daferne er sie in zehen Tagen wieder bei den Regiment haben kann, sonder Ihro Königliche Majestät Permission beurlauben. Diejenigen Officiers aber, so außer Landes zu Hause gehören und in zehen Tagen nicht wieder bei das Regiment kommen können, soll der Obrister sonder Seiner Königlichen Majestät Permission nicht beurlauben, sondern zuförderst deshalb an Seiner Königlichen Majestät schreiben.

„An Gemeinen können per Compagnie dreißig Mann zum höchsten beurlaubet werden, jedoch daß sie in 14 Tagen wieder bei dem Regiment sein können; wollen aber welche Urlaub haben, so sich in solcher Zeit bei dem Regiment nicht wieder gestellen können, muß der Obrister vorhero Ihro Königl. Majestät umb Permission fragen.

„Ausgenommen[1]) in denen drei Sommer-Monaten (als: im Julio, Augusto und September) können par compagnie 50 Mann verurlaubet werden, und zwar wann sie in Guarnison liegen, da sie die Wacht dergestalt bestellen können, daß ein jeder Musquetier dennoch zwei Nacht frei von der Wacht haben kann. Widrigen Falls aber, wann nämlich die Wacht nicht begehrter maßen kann gegeben werden, sollen auch in den drei Sommer-Monaten nicht mehr als 30 Mann par compagnie verurlaubet werden.

---

[1]) Dem modernen Sprachgebrauche würde entsprechen, wenn für „ausgenommen" gesetzt würde: „nur".

„Hierbei zu notiren, daß kein Soldat länger als aufs höchste zwei Monat verurlaubet, auch daß einen jeden Kerl das halbe Tractament in der Rechnung gut gethan werden soll.

„Imgleichen können par compagnie 3 Unterofficiers verurlaubet werden, und wird selbigen das halbe Tractament gleichfalls in der Rechnung gut gethan, und die andere Hälfte bleibet vor den Capitain.

„Wann die Compagnien auf den Marsch sind, bekommen die Soldaten täglich 12 Pfennig[1]), das übrige behält der Capitain vor sich.

„Es soll kein Capitain einem Soldaten den Abschied geben, sonder daß ihn der Obriste unterschrieben hat, auch keinen tüchtigen Kerl bei Cassation los lassen, es wäre dann, daß einer einen anderen bessern Kerl in seine Stelle lieferte; alsdann solches der commandirende Officier vom Regiment zugeben kann.

„Die Obristen und Capitains, auch die Officiers, so zur Werbung gebrauchet werden, sollen weder einen Recruten noch Soldaten vor Geld den Abschied geben, auch in denen Rollen keine Leute führen, welche nicht in rerum natura sind, und solches bei Cassation.

„Es soll kein Obrister nicht einen einzigen Monat, viel weniger 3 Monat, Tractament denen neuen Officiers einbehalten. Als zum Exempel: es fehlete bei einem Regiment ein Fähndrich, und der Platz würde nicht eher als nach Verfließung von vier Monat vergeben, so soll der Officier das Tractament von den vier Monaten, welches 48 Rthlr. austräget, baar auf ein Mal bezahlt bekommen, uud solches bei Cassation des Obristen, woferne es nicht geschiehet.

„Alles, was mit Spießruthen kann bestrafet werden, soll der Obriste vom Regiment abthun. Was aber Officiers-Krieges-Recht und der Soldaten Leben und Tod anlanget, solches soll dem General-Auditeur eingesandt werden.

„Die Obristen sollen darauf halten, daß die Compagnien fleißig exerciren und daß die neuen Leute fleißig im Schießen exerciret werden, worzu S. Königl. Majest. jeder Compagnie jährlich einen Centner Pulver aus dem Magazin geben lassen wollen. Welches Pulver die Obristen alle Jahre aus denen nächsten Festungen sollen abholen lassen und die Artillerie darüber quittiren.

„Hierbei zu notiren: daß ein jeder Soldate alle Zeit 24 scharfe Patronen haben muß. In Guarnison verwahret solche Munition der

---

[1]) Der monatliche Sold war 2½ Rthlr.

Capitain von der Compagnie. Wann aber die Compagnie marschiren soll, giebet er an jeden Soldaten die 24 scharfe Patronen aus. Im Felde hingegen muß ein jeder Soldat seine 24 scharfe Patronen selbst verwahren und dergestalt in Acht nehmen, daß das Pulver nicht naß wird, auch die Patronen nicht entzwei reißen.

„Ferner ist hierbei zu notiren, daß auch ein jeder alle Zeit zwei gute Steine in Vorrath, auch einen Krätzer[1]) haben muß. Imgleichen daß das Gewehr alle Zeit in solchem Stand sei, daß es recht kann gebrauchet werden.

„Die Obristen sollen die Compagnien fleißig bereisen und dahin sehen, daß alle Jahr 25 Mann par bataillon von denen alten und schlechtesten Leuten unter dem Regiment ausgemustert werden und in deren Stelle bessere und jüngere Kerls angeworben werden. Zu dem Ende die Compagnien auch Ausländer, woferne es hübsche, ansehnliche Leute sind, annehmen können. Hingegen aber sollen, und zwar bei Cassation des Capitains, keine angesessene Leute (als: Bürger, welche Häuser haben, Bauren und Koßäten) zu Soldaten weggenommen werden. Auch soll die Werbung mit guter Manier geschehen, daß nämlich keine Excesse und große Gewaltthätigkeiten dabei vorgehen, und desfalls keine Klagten einkommen mögen. Hierinnen werden sich sowohl die Obristen als Capitains bei Sr. Königl. Maj. recommandiren. Und absonderlich wird sich derjenige Capitain, welcher eine gute Compagnie an Mannschaft Sr. Königl. Maj. wird vorführen können, dadurch gleichfalls recommandiren.

„Es soll kein Changement in der Mundirung, sonder anzufragen, gemacht werden. Desfalls, wann das Regiment neue mundiren will, muß sich der Obrister bei Sr. Königl. Maj. melden. Woferne nicht alle wollene Waaren in Sr. Königl. Majest. Landen genommen werden, worunter Ober- und Unter-Officiers mit begriffen, soll der Obrister cassiret werden.

„Der Obrister soll die letztere Ordonnanz von 1713[2]) wegen des Marschs und der Quartiers stricte beobachten, auch alle Desordres verhüten und abthun.

„Die Officiers, welche außer Urlaub einen Monat lang ausbleiben, sollen cassiret werden, und solches soll der Obrister sogleich an S. Königl. Maj. melden.

---

[1]) Werkzeug zum Reinigen des Gewehrrohres.

[2]) Mylius 3, 1, 299. 321.

„Die Obristen oder Commandeurs von denen Regimentern und Bataillons sollen alle Jahr den ersten Januar eine Rolle von die Officiers vom Regiment einschicken und darinnen eines jeden Officiers Conduite, sie mag gut oder schlimm sein, wie die Wahrheit ist, sonder Passion genau beschreiben und solche bei Ehr und Gewissen überschicken.

„Wann aber ein Officier eine Lacheté begehet oder auf sich was sitzen hat und nicht ein braver Kerl ist, so soll der Obriste solches sogleich an S. Königl. Maj. melden. Alsdann derselbe Officier sogleich cassiret werden soll.

„Thut er aber nicht brave vor seinen Feinde, so soll der Oberste ihn sogleich in Arrest nehmen lassen und es berichten. Alsdann selbiger Officier als ein Schelm weggejaget und der Degen ihm entzwei gebrochen werden soll. Ist es ein Capitain, der eine Compagnie hat und nicht vor seinem Feinde brave thut, soll überdem noch das Geld vor der Compagnie verlieren, und S. Königl. Maj. wollen einem anderen, der es besser meritiret, die Compagnie umbsonst wiedergeben."

„Ein jeder Capitain, welcher eine Compagnie antritt, soll allezeit vor das Gewehr, Bajonetts, Säbels oder Degens von der Compagnie, es mag alt oder neu sein, ingleichen vor die Unteroffiziers-Kurzgewehr, wie auch Unteroffiziers-, Tambours- und Pfeifer-Säbels oder -Degens, nebst messingen Trommeln 600 Rthlr. bezahlen.

„Nachdem auch nicht alle Leute bei denen Compagnien Urlaub nehmen, indem sie theils außerhalb dem Lande zu Hause gehören, theils auch keine Angehörigen mehr im Leben haben und dahero immer bei der Compagnie bleiben und vor die anderen die Dienste mit versehen müssen, als soll das halb Tractament, welches denjenigen Soldaten oder Unteroffizier, so verurlaubet worden, bishero in der Rechnung alleine gut gethan worden, ihne hinkünftig nicht mehr vor seine Person alleine berechnet werden, sondern das halbe Tractament von allen Beurlaubten durch's ganze Jahr soll summarisch extrahiret und nachhero auf die ganze Compagnie egal repartiret und jeden besonders in der Rechnung eingeschrieben werden."

## Beilage 2.

Aus der monatlichen General-Liste der preußischen Armee für Oktober 1739.

Etatsstärke [1]).

| | Ober-offiziere | Unter-offiziere | Tambours und Trompeter | Fahnen-schmiede | Grena-diere | Mus-ketiere bzw. Gemeine |
|---|---|---|---|---|---|---|
| Infanterie u. Artillerie (66 Bataillone) . . | 1636 | 3844 | 1224 | — | 6495 | 38596 |
| Kavallerie (111 Eska-drons) . . . . . | 725 | 1336 | 280 | 171 | — | 15341 |
| Garnisons-Bataillons u. -Kompagnien (42 Kompagnien, dar-unter 6 Artillerie) | 161 | 382 | 118 | — | 704 | 4052 |
| | 2522 | 7562 | 1622 | 171 | 7199 | 57989 |

Die Gesammtsumme betrug also 77065 Mann. Der Bericht Massow's v. 10. Januar 1748 (s. Militär-Wochenblatt 1840 S. 36 ff.), der sowohl von Friedrich II. wie von Ranke (S. W. 27 u. 28, 148) benutzt ist, giebt 83468 Mann an. Die Differenz erklärt sich daraus, daß hier die „neuen Garnisonen" (die Schöpfung des Jahres 1729) mitgezählt sind.

Präsenz, Beurlaubung, Werbung u. s. w.

| | effek-tive | krank | beur-laubt | kom-man-dirt | an-gewor-ben | dimit-tirt | ge-storben | deser-tirt | man-quiren |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| Infanterie: | | | | | | | | | |
| Oberoffiziere | 1337 | 24 | 51 | 224 | — | 6 | 2 | — | 1 |
| Unteroffiziere | 3176 | 68 | 225 | 362 | 13 | 11 | 4 | 2 | 38 |
| Feldschere . . | 393 | — | — | — | — | — | — | — | — |
| Pfeifer . . . . | 203 | 1 | — | — | — | — | — | — | — |
| Tambours . . | 1206 | 18 | — | — | — | 3 | 1 | 1 | — |
| Grenadiere . | 4841 | 109 | 1446 | 99 | — | — | 3 | 3 | — |
| Musketiere . | 23727 | 659 | 13841 | 219 | 150 | 35 | 31 | 13 | 224 |

[1]) Die Feldschere und Pfeifer erscheinen in diesem Theile der Liste nicht aufgeführt.

| | effektive | krank | beurlaubt | kommandirt | angeworben | dimittirt | gestorben | desertirt | manquiren |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| Kavallerie: | | | | | | | | | |
| Oberoffiziere . | 596 | 6 | 23 | 100 | — | 1 | 1 | — | 1 |
| Unteroffiziere . | 1062 | 28 | 30 | 199 | 17 | 4 | 1 | — | 17 |
| Trompeter und Tambours . | 280 | — | — | — | — | — | — | — | 8 |
| Feldschere . . . | 106 | — | — | — | — | — | — | — | 1 |
| Fahnenschmiede | 170 | — | — | — | — | — | — | — | 1 |
| Gemeine . . . | 11346 | 444 | 2630 | 758 | 163 | 12 | 8 | 8 | 211 |
| Garnisonen[1]): | | | | | | | | | |
| Oberoffiziere . | 143 | 1 | 6 | 11 | — | — | 1 | — | 1 |
| Unteroffiziere . | 321 | 13 | 12 | 33 | 2 | — | — | 2 | 1 |
| Feldschere . . . | 29 | — | — | — | — | — | — | — | — |
| Pfeifer . . . . | 12 | — | — | — | — | — | — | — | — |
| Tambours . . | 112 | 6 | — | — | — | — | — | — | — |
| Grenadiere . . | 605 | 24 | 75 | — | — | — | — | — | — |
| Musketiere . . | 2878 | 116 | 681 | 332 | 12 | 3 | 2 | 10 | 13 |

Es waren also bei der Fahne: 47956, beurlaubt: 18940 Mann.

Die Ausländer und Inländer werden in den Listen erst seit August 1740 getrennt aufgeführt; s. Kriege Friedrich's d. Großen 1, 38. Die Behauptung Ranke's (S. W. 27 u. 28, 149), daß „leicht die Hälfte" der Armee Friedrich Wilhelm's I. durch Werbung zusammengebracht sei, beruht also lediglich auf Schätzung.

---

## Beilage 3.

### Über die Anfänge der Beurlaubung.

Wie bei der Enrollirung, so ist auch bei der Beurlaubung die zeitliche Feststellung des Ursprungs nur annähernd möglich. Die Untersuchung wird dadurch erschwert, daß den Verordnungen, auf die wir zunächst angewiesen sind (s. namentlich die Edikte vom 21. Dezember

---

[1]) Bei den Garnisonen findet sich noch die Rubrik „unvermögend", in welche ein Unteroffizier und 33 Musketiere eingetragen sind.

1626 und 6. Oktober 1665, die Interims-Ordonnanzen vom 1. Januar 1684 und 1. Januar 1699, bei Mylius 3, 1, 13. 80. 169. 211, dazu noch die Verpflegungs-Ordonnanzen vom 1. Juni 1713, bei Eickstedt S. 51 u. 55), nicht mit Sicherheit zu entnehmen ist, ob der Urlaub, von dem sie reden, ein auf Stunden oder Tage oder Wochen oder Monate ertheilter ist; dazu kommt noch, daß die älteren Urkunden (z. B. das Kurfürstlich Brandenburgische Kriegsrecht von 1656, bei Mylius 3, 1, 68 §§ 78—80) Urlaub auch im Sinne von Abdankung brauchen. Die erste sichere Spur von Beurlaubten im späteren Sinne des Wortes findet man in dem von Kopka v. Lossow 1, 139 veröffentlichten Bericht über die Musterung des Bataillons Alt-Dohna am 4. August 1700: „Wenn jemand verurlaubet oder auf Arbeit geschicket, werden die Wachten, so vor ihm gethan, nicht bezahlet, und wird dem beurlaubten Freiwächter [so alt ist also diese Bezeichnuug] monatlich an Gelde nur 12 Gr. gegeben, und 6 Gr. werden ihm an seine Schuld oder zu Behuf kleiner Montirung berechnet. Der Kapitän aber bekommt 18 Gr. [also die Hälfte des Soldes], welches er als ein Douceur genießet zu Anwerbung neuer Leute in der Deserteurs Stelle und deren Montirung". Vgl. ebenda 1, 35*. 36*. 43*. Es läßt sich annehmen, daß die Institution keinen sonderlichen Umfang erlangt hat, so lange das Heer, wie unter dem letzten Kurfürsten und ersten Könige geschah, bei der Demobilisirung um so viel Cadres vermindert wurde, als es bei der Mobilisirung vermehrt worden war. Doch verdient bemerkt zu werden, daß schon der Große Kurfürst bei der Reduzirung von 1666 die abgedankten Mannschaften nicht ganz aus der Hand gab: er ließ ihnen Gewehr und Montirung und erklärte, sich im Falle einer neuen Werbung zunächst an sie wenden zu wollen; vgl. Hirsch in der H. Z. 53, 270[1]). Eine andere Vorbereitung des Systems der Beurlaubung war gefunden, sobald bei der Reduzirung auf möglichste Erhaltung der Stäbe hingewirkt wurde. Auch dies ist unter dem Großen Kurfürsten geschehen: er hat die Friedenspräsenz nicht ausschließlich durch Auflösung ganzer Regimenter, sondern auch durch „Lizentiirung" einzelner Kompagnien hergestellt (s. die oben S. 273 Anm. 1 angeführte Kapitulation und meinen Scharnhorst 2, 651); die dabei vorherrschende Absicht war, möglichst viele Regimentsstäbe

[1]) Sehr erwünscht wäre es, Näheres über die 1654 „in Wartegeld genommenen Völker" zu erfahren, von denen Droysen (Gesch. d. preuß. Politik 3, 2, 55) redet.

beizubehalten. Man sieht: um die Institution der Beurlaubung in's Werk zu setzen, war nur noch zweierlei erforderlich; erstens die Summe der zu Entlassenden nicht mehr auf die Regimenter, sondern ausschließlich auf die Kompagnien zu vertheilen, so daß nicht nur die Stäbe, sondern auch die Primaplanas konservirt wurden[1]); zweitens: eine regelmäßig wiederkehrende Exerzirzeit einzurichten. Daß für letztere das Vorbild der Landmiliz Friedrich's I. wirksam gewesen ist, halte ich für gewiß. Daraus ergibt sich derselbe terminus a quo wie für die Enrollirung; s. oben S. 269 Anm. 2.

[1]) Vgl. den von Fischbach in seinen „Historischen, politisch-, geographisch-, statistisch- und militärischen Beiträgen" (Berlin 1783) 2, 2, 630 veröffentlichten Bericht über die Reduktion von 1698: Tous lesdits régiments tant infanterie, cavalerie que dragons ont le corps d'officiers doubles, Son Altesse Électorale n'ayant cassé aucun officier. La réforme a été faite par le Sr. Barfues, qui n'a observé d'autre ordre que celui de conserver les meilleures compagnies et dans lesquelles on a incorporé les meilleurs soldats, cavaliers et dragons, qui étaient en celles, qu'on a cassées.

# Miscellen.

## Zur Histoire de mon temps König Friedrich's II. von Preußen.

Von Theodor Wiedemann.

Bei der Erörterung darüber, ob König Friedrich II. für die dem Jahre 1775 angehörige Redaktion der Histoire de mon temps seine älteste, 1742 und 1743 zu Stande gekommene Ausarbeitung über die Geschichte des ersten schlesischen Krieges benutzt hat, ist ein Moment, das, an sich geringfügig und unter den übrigen gleichsam verschwindend, doch dadurch, daß es einen positiven Anhalt gewährt, eine von schwankender Auslegung einer Redewendung, abstrakten Erwägungen, denen sich andere entgegensetzen lassen, und auf besondere Punkte bezüglichen Observationen, welchen eben deshalb keine Allgemeingültigkeit zuerkannt werden kann, unabhängige, durchaus sichere und definitive Entscheidung ermöglicht, nicht genügend gewürdigt oder vielmehr völlig übersehen worden. Dasselbe ist aus der Vergleichung des einzigen, in unmittelbarer Wörtlichkeit erhaltenen Fragments der ältesten Redaktion in den Mémoires pour servir à la vie de M. de Voltaire écrits par lui-même, in der Ausgabe der Werke von Beuchot T. XL (Mélanges T. IV), 58 mit den entsprechenden Stellen der beiden späteren zu entnehmen. Da das eine und die anderen zusammen schon einmal in paralleler Anordnung in der H. Z. (52, 403) zum Abdruck gekommen sind[1]), ist es unnöthig, sie hier zu wiederholen.

[1]) In der Abhandlung von R. Koser, zur Textkritik der Histoire de mon temps Friedrich's des Großen. Man findet die Stellen auch bei H. Disselnkötter, Beiträge zur Kritik der Histoire de mon temps Friedrich's des Großen, in den Leipziger Historischen Studien Heft 14 (1885) S. 4 A. 1. — Ein anderer Titel der Schrift Voltaire's in den Ausgaben ist: La vie privée du roi de Prusse.

Bisher hat man nur eine, zugleich eine Abweichung von der Redaktion von 1746 in sich schließende Konkordanz zwischen der ältesten und spätesten Bearbeitung wahrgenommen, die Bezeichnung des Verlangens Friedrich's, sich einen Namen zu machen (Redaktion von 1742/3: le désir de faire parler de moi; von 1775: peut-être l'envie de se faire un nom), als eines seiner Motive zum Kriege gegen Maria Thereſia. Die Meinung, daß die Stelle in der Redaktion von 1775 nicht auf der Berücksichtigung der von 1742/43 beruhe, sondern aus spontaner Erinnerung hervorgegangen sei, ist, wie aus anderen Gründen, so vornehmlich wegen ihrer dubitativen Ausdrucksweise an sich ohne innere Wahrscheinlichkeit; doch läßt sie sich nicht direkt in überzeugender Weise widerlegen, da sich nur Verwandtschaft des Inhalts zeigt. Indes jeder obwaltende Zweifel wird dadurch gehoben, daß der berührten Konkordanz zwischen der früheſten und spätesten Redaktion in dem nämlichen Satzgefüge eine andere zur Seite tritt, die zwar in gewisser Hinsicht den Gedanken mitbetrifft, deren charakteristisches Gepräge und eigenthümliche Bedeutung für die hier behandelte Frage aber in der formalen Übereinstimmung zwischen der Fassung von 1742/3 und der von 1775, in der Identität der Phraseologie in beiden hervortritt; in der von 1742/3 heißt es: des troupes toujours prêtes à agir; in der von 1775: une armée tout prête d'agir; in der von 1746: l'appât d'une armée nombreuse et mobile [1]), wobei sowohl die Hinzufügung von appât und nombreuse, wie der Ersatz des prêt d'agir durch mobile beachtet werden müssen. Man wird, wie ich glaube, ohne Bedenken zugestehen, daß das soeben dargelegte Verhältnis der drei Redaktionen zu einander sich nicht als ein Spiel des Zufalls betrachten läßt, sondern nur dadurch erklärt werden kann, daß der König bei der im Jahre 1775 unternommenen Redaktion die von 1742/3 zu Rathe gezogen hat, wofür somit ein unbedingt gültiger Beweis erbracht ist. Daraus ergibt sich weiter, daß in dem handschriftlichen Vermerk zu Ende des 7. Kapitels der letzten Redaktion (Œuvres 2, 142): Corrigé à Sans-Souci sur l'original de mes Mémoires de 1741 et 1742,

[1]) Aus dieser Zusammenstellung erhellt zugleich, woran zu zweifeln überhaupt nicht der geringste Grund vorliegt, daß das Citat Voltaire's ein wörtliches ist, worüber Koser a. a. O. S. 403 ff. nicht zur Gewißheit gelangte; keineswegs ein „nach unsicherer Erinnerung niedergeschriebenes", was Disselnkötter a. a. O. S. 4 A. 1 für möglich, ja für wahrscheinlich hielt.

die letzten Worte sich auf die Schrift beziehen, welche zu Ausgang des Jahres 1742, in der ersten Hälfte des Jahres 1743 entstanden ist. Zu dem gleichen Resultat gelangt man durch eine andere Erwägung. Hatte Friedrich II., wie es der Fall ist, eine zwiefache Darstellung des ersten schlesischen Krieges ausgearbeitet, von denen die eine ein abgeschlossenes Ganze bildete, die andere hingegen die des zweiten mitumfaßte und überdies als Theil eines anderen Werkes von ihm geplant und bezeichnet worden war (Seconde partie de l'histoire de Brandebourg), wobei in der Überschrift selbst das Wort Mémoires, das sich allerdings bisweilen im Kontext findet, vermieden ist, so wäre es ein seltsames, ja geradezu wunderliches Verfahren gewesen, wenn er in der erwähnten Niederschrift, die doch auch den Nachlebenden verständlich sein sollte, willkürlich und nach rein individuellem Belieben die letztere Mémoires de 1741 et 1742 benannt hätte; diese Voraussetzung geht sicher fehl; der König kann nur das Elaborat von 1742/43 gemeint haben. Die Bezeichnung ist als Titel oder Stellvertretung desselben hinreichend korrekt; sie würde eine pedantisch-schwerfällige Form erhalten haben, wenn die letzten Monate des Jahres 1740 mit hineingezogen worden wären. Wie man sieht, denke ich bei der chronologischen Bestimmung an die erzählten Begebenheiten, nicht, wie es von andern geschehen ist, an die Zeit der Abfassung. Für die Deutung einer einfachen Anführung eines historischen Werkes in letzterem Sinne, der doch der außergewöhnliche ist, müßten triftige Gründe geltend gemacht werden können. Das findet aber hier keineswegs statt; vielmehr steht entgegen, daß die Angabe, für welche dabei völlige Genauigkeit erforderlich gewesen wäre, so interpretirt, dem Sachverhalt durchaus nicht konform ist, da die Arbeit erst im Spätherbst 1742 begonnen wurde[2]).

Für die Rekonstruktion der ältesten Redaktion ist ein von der Vergleichung der späteren Partien der Fassung von 1746 mit den korrespondirenden der von 1775 ausgehendes, gewissermaßen rückwärts aufsteigendes Verfahren in Vorschlag gebracht worden (H. Z. 62, 196), das bei ausdauerndem Scharfsinn und glücklicher Kombination ohne Zweifel zu Ergebnissen von einer gewissen Proba-

---

[2]) Nach dem 13. Oktober (der Datirung eines Schreibens Friedrich's an Voltaire, Œuvres 22, 130); vor dem 11. November 1742 (Schreiben v. Podewils' an Ilgen, Miscellaneen zur Geschichte Friedrich's des Großen, S. 313).

bilität führen würde. Damit müßte aber wohl, um für die Untersuchung ein positives Fundament zu gewinnen, die Feststellung des Textes der ursprünglichen Niederschrift der Redaktion von 1746, inbetreff dessen eine nähere Anlehnung an die verloren gegangene Schrift vermuthet werden darf[1]), gegenüber den nachträglichen Korrekturen, wenn diese auch im ganzen selten sind, und eine auf breitester Grundlage der Forschung basirte Ermittelung des Verhältnisses der beiden überkommenen Fassungen zu den Originaldokumenten verbunden werden. Dieses letztere Verfahren ist auch unmittelbar für die vorliegende Frage von Wichtigkeit, da es durch dasselbe gelingt, wenngleich nur indirekt, wie es in der Natur der Sache liegt, so doch bis zur Evidenz den Nachweis dafür zu führen, daß der König bei der Abfassung der Redaktion von 1775 in der That die von 1742/43 eingesehen und nach ihr die von 1746 korrigirt hat, was ich an einem Beispiel zu zeigen nicht unterlassen will. Während die Redaktion von 1775 in dem Bericht über die Audienz von Robinson in Strehlen am 7. August 1741 im übrigen, wie meist sonst, ganz nach der von 1746 geformt ist, weicht sie von derselben zwei- oder dreimal in der Phraseologie ab, indem sie zugleich mit Podewils' Précis des propositions du Sieur Robinson au camp de Strehlen le 7 d'août 1741 et de la réponse que le Roi lui fit im Wortlaut übereinstimmt. Die Stellen sind: Redaktion von 1746, S. 233, 1 ff. Robinson me dit avec hauteur que la Reine consentait à oublier la mémoire du passé, qu'elle m'offrait le Limbourg, la Gueldre espagnole et deux millions d'écus pour me dédommager de mes prétentions sur la Silésie, à condition que je fisse la paix, et que mes troupes se retirassent incessamment de ce duché; von 1775, S. 84, 9: Ce Robinson, prenant le ton de hauteur, dit au Roi que la Reine *voulait bien* oublier le passé, qu'elle lui offrait le Limbourg, la Gueldre espagnole et deux millions d'écus, en

[1]) Ein besonderer Grund ist, daß, wofür Koser (a. a. O. S. 401 ff.) wenigstens Einen Beleg beigebracht hat, die ursprüngliche und dann durchstrichene Niederschrift in der Redaktion von 1746 den Originaltext der Dokumente wiedergibt, während die dann eingetretene, in die Redaktion von 1775 aufgenommene Korrektur von demselben abweicht. — In Posner's Ausgabe der Redaktion von 1746 (Publikationen aus dem kgl. preußischen Staatsarchiv Bd. 4) sind für den der Arbeit von 1742/3 entsprechenden Theil die im Manuskript befindlichen korrigirten Stellen nicht vermerkt.

dédommagement de ses prétensions sur la Silésie, à condition qu'il fît la paix, et que ses troupes *évacu*assent incessamment ce duché. — Précis, Politiſche Korreſpondenz Friedrich's des Großen. Nr. 454, Bd. 1, 297, letzte Zeile: La Reine de Hongrie offre de payer deux millions d'écus au Roi, pour *évacu*er au plus tôt la Silésie. La Reine veut céder en équivalent au Roi de Prusse pour les prétentions qu'il fait sur une partie de la Silésie la partie du duché de Gueldre que la maison d'Autriche pessède avec le duché de Limbourg. S. 298 Z. 35 que la cour de Vienne . . . *voulait bien* pardonné au Roi le passé.

Für die Übereinſtimmung und die Differenz gibt es, da eine erneuerte Lektüre des Précis ſchon an ſich nicht und beſonders auch deshalb nicht angenommen werden kann, weil infolge einer ſolchen eine eingreifendere Umgeſtaltung des Textes von 1746 ſtattgefunden haben würde, nur eben die Erklärung, daß bei der Redaktion von 1775 die älteſte Ausarbeitung, die aus den Jahren 1742 und 1743, für welche ein engerer Anſchluß an die zu Grunde gelegte dokumentariſche Aufzeichnung vorausgeſetzt werden muß, von König Friedrich benutzt worden iſt. Aus der Vergleichung der angeführten Stellen ergibt ſich ſomit ein von dem Voltaire'ſchen Citat unabhängiger, ausdrücklicher und ſpezifiſcher Beleg für das Corrigé . . . sur l'original de mes Mémoires de 1741 et 1742, deſſen Sinn und Bedeutung in Bezug auf die Redaktion von 1775 in keiner Hinſicht mehr zweifelhaft ſein kann[1]).

[1]) Für Unterſuchungen, wie die vorliegende, iſt die Angabe der Varianten der beiden erhaltenen Redaktionen und die überdies nicht immer ganz korrekte Verweiſung auf Dokumente in der von Posner beſorgten Ausgabe der Redaktion von 1746 nicht ausreichend. Die Darſtellungen müſſen, wenn man zu beſtimmten Reſultaten gelangen und ſich nicht mit bloßen Vermuthungen begnügen will, in der Weiſe mit einander verglichen werden, wie man es bei den Autoren des Alterthums und des Mittelalters zu thun gewohnt iſt.

# Literaturbericht.

Les bibles provençales et vaudoises. Par **Samuel Berger.** Avec un appendice par **Paul Meyer.** Extrait de la Romania. XVIII. Paris 1889.

Die Untersuchung der wichtigen Frage nach der Entstehungsgeschichte der sogenannten waldensischen Literatur hat, nachdem sie Dezennien lang völlig geruht, im Laufe der letzten Jahre bedeutende Fortschritte gemacht. Unsere Kenntnis der einschlägigen Schriftdenkmäler ist zunächst durch die von Montet (Histoire littéraire des Vaudois du Piémont, Paris 1885) mitgetheilten Stücke und in jüngster Zeit durch Salvioni's Abdruck des in einer Züricher Handschrift erhaltenen Neuen Testamentes in waldensischem Dialekte (Archivio glottologico. Vol. XI. 1890) bereichert worden, während das Erscheinen einer Lichtdruckausgabe des provenzalischen Neuen Testamentes von Lyon (publ. par L. Clédat. Paris 1887) zum ersten Male auch Weiterstehenden das Studium dieser mit den waldensischen Bibeltexten in engem Konnex stehenden Übersetzung ermöglichte. Über die Geschichte und Eigenart des in den Thälern am westlichen und östlichen Abhang der cottischen Alpen gesprochenen Dialektes, welche der Sprache der waldensischen Schriften äußerst nahe steht, hat W. Förster umfassende Untersuchungen angestellt und deren Resultate gelegentlich seiner Besprechung der Montet'schen Ausgabe der „Noble Leçon" kurz dargelegt (Gött. Anzeigen 1888, Nr. 20. u. 21). In überzeugender Weise wird durch Förster die zuletzt durch Grützmacher vertretene Auffassung, daß das Waldensische ein Lyoneser Dialekt sei, widerlegt, und gezeigt, daß die heutigen waldensischen Mundarten im Verhältnis zu ihrer provenzalischen Nachbarschaft kein fremder Eindringling sind, sondern mit ihr ein „homogenes und geographisch und sprachlich

kontinuirliches Ganze bilden". Damit ist aber auch die vor einiger Zeit von mir in dieser Zeitschrift (N. F. 52, 57 ff.) bekämpfte Mythe, daß das zahlreiche Auftreten von Anhängern des Lyoneser Waldes in den Thälern der cottischen Alpen in einer massenhaften Einwanderung von lyonesischen Waldensern in jene Gegend begründet sei, auch nach der sprachlichen Seite hin unhaltbar gemacht: in den Alpenthälern der Dauphiné und Piemonts ist vielmehr von alters her eine provenzalisch sprechende Bevölkerung ansässig gewesen, welche in großer Menge der waldensischen Sekte zufiel, und aus deren Dialekt das Schriftwaldensische erwuchs.[1])

Die Frage nach der Entstehung der in dieser waldensischen Schriftsprache vorliegenden Bibelübersetzungen ist durch die vorliegende Schrift des ausgezeichneten Kenners der Geschichte der französischen Bibelübersetzung ihrer endgültigen Lösung um ein Bedeutendes näher gebracht worden. Der Vf. hat die sämmtlichen, bisher bekannt gewesenen waldensischen Bibelhandschriften selbst unter den Händen gehabt, die Zugehörigkeit der Bibelübersetzung von Carpentras zu dieser Gruppe hat er erstmals festgestellt. Die fünf behandelten Handschriften (Zürich, Cambridge, Grenoble, Dublin, Carpentras), welche sämmtlich im Besitze und religiös-liturgischen Gebrauche von Angehörigen der waldensischen Sekte sich befanden, bilden trotz mancher abweichenden Lesarten eine geschlossene Gruppe, welche auf einen gemeinsamen Archetypus zurückgeht. Für dessen Ermittelung ist von hohem Interesse die von B. vorgenommene Untersuchung der beiden provenzalischen Bibelübersetzungen von Lyon und Paris (bibl. nat. fr. 2425), als deren Heimat in der angefügten linguistischen Studie P. Meyer's — Förster's Untersuchungen wurden auffallenderweise nicht berücksichtigt — die Gegend von Narbonne und Carcassonne, bezw. der Südwesten der Provence bezeichnet wird. Diese beiden provenzalischen Übersetzungen sind unter sich nahe verwandt, so daß B. geneigt ist, nicht nur eine gemeinsame lateinische Vorlage, sondern auch ein Abhängigkeitsverhältnis zwischen beiden anzunehmen. Vorlage der Übersetzung von Lyon, die besonders durch das ihr angehängte katharische Ritual Berühmtheit erlangt hat, ist nach B. eine Interlinearübersetzung der Vulgata gewesen, und zwar eines Textes jener Familie von Vulgata-Handschriften, welche B., dessen Studien gerade hier sehr in die

[1]) Vgl. neuerdings: Morosi, L'odierno linguaggio dei Valdesi del Piemonti, in Archivio glottolog. italiano XII, 1 (1890) S. 28—32.

Tiefe gehen, als languedocsche bezeichnet. Diese Languedoc-Vulgata liegt nun aber auch den erwähnten fünf Repräsentanten der waldensischen Bibelübersetzung zu Grunde, ja, es scheint die Annahme unabweisbar, daß die waldensische Bibelübersetzung ihren Ursprung in der westprovenzalischen hatte, von der sich die waldensische, je öfter sie sprachlichen Umarbeitungen, wohl unter gleichzeitiger Heranziehung von jüngeren lateinischen Vulgata-Texten unterzogen wurde, desto weiter entfernte. Dies der Hauptinhalt der interessanten Schrift, auf deren Einzelheiten hier leider nicht näher eingegangen werden kann. Nur mit einem Worte sei des nahen Verwandtschaftsverhältnisses gedacht, das, wie B. neuerdings hervorhebt, zwischen dem provenzalisch-waldensischen Bibeltexte und dem vielbesprochenen Codex Teplensis besteht. Die Gegner der Hypothese von dem waldensischen Ursprung der deutsch-böhmischen Bibelübersetzung des Codex Teplensis werden es schwer verständlich finden, wie man in Böhmen dazu kam, jener Übersetzung einen ganz ausschließlich auf den Süden Frankreichs beschränkten lateinischen Bibeltext zu Grunde zu legen, während die seit der ersten Hälfte des 13. Jahrhunderts bestehenden engen Beziehungen der deutschen, gerade in Böhmen weit verbreiteten Waldenser zu ihren lombardischen Glaubensgenossen — daß auch die piemontesischen Waldenser und deren Literatur in diesen Kreis gehören, darf als sicher ausgemacht gelten — jene Erscheinung auf das ungezwungenste erklären würden. Einen der Tepler Handschrift sehr nahe stehenden lateinischen Text glaubt neuerdings W. Walther (in seiner sehr verdienstvollen Arbeit „Die deutsche Bibelübersetzung des Mittelalters" 1, 189) in einer aus Böhmen stammenden Vulgata mit tschechischer Interlinearversion nachweisen zu können. Die Mittheilungen über diese Handschrift sind leider recht spärliche und bedürfen dringend der Ergänzung seitens eines böhmischen Gelehrten. Je weniger ich die Argumente für den waldensischen Ursprung des katechetischen Anhangs des Codex Teplensis für widerlegt halte — auch Walther hält die Benutzung der Handschrift in waldensischen Kreisen für erwiesen — desto lebhafter möchte ich wünschen, daß das Erscheinen von B.'s Studie Veranlassung dazu geben möchte, die Frage nach dem Ursprung der deutsch-böhmischen Bibelübersetzung und nach ihren Beziehungen zu den provenzalisch-waldensischen Versionen an der Hand der im Eingang unserer Arbeit erwähnten neuen Hülfsmittel einer wiederholten gründlichen Untersuchung zu unterziehen. Herman Haupt.

Encyklopädie der neueren Geschichte. In Verbindung mit namhaften deutschen und außerdeutschen Historikern begründet von **Wilhelm Herbst.** II—V. Gotha, F. A. Perthes. 1884—1890.

Über das nunmehr vollendete Werk hat die H. Z. (49, 508) bereits berichtet. Das dort über den 1. Band abgegebene Urtheil gilt auch für die folgenden Bände; doch soll den Herausgebern das Zeugnis nicht versagt werden, daß sie sich bemüht haben, die Sammlung zu vervollkommnen. Da sie schließlich recht umfangreich geworden ist, würden wir es für zweckmäßig gehalten haben, auch die Historiker der neuen Zeit zu berücksichtigen. *

**A. de Gubernatis,** Dictionnaire international des écrivains du jour. Florence, Louis Niccolai. 1891.[1])

Bescheiden sagt der Herausgeber im Vorwort: Je suis loin d'être satisfait de l'ouvrage, que je vous présente; nul mieux que l'auteur, qui avait sans doute imaginé quelque chose de plus achevé, n'est à même d'en reconnaître les nombreuses lacunes et les regrettables imperfections. Ceci n'est donc que la première ébauche d'un livre international, qui manquait absolûment et qui pourra par la collaboration suivie, secrète et ouverte de chacun et de tout le monde se perfectionner à l'infini. Wir wollen also über die Druckfehler, grammatischen Versehen (nicht alle Redaktoren waren der deutschen Sprache mächtig), Ungleichheiten und Lücken hinwegsehen und gern feststellen, daß das Buch bereits jetzt in vielen Fällen mit Nutzen zu gebrauchen ist und in neuen Auflagen ein tüchtiges Nachschlagewerk zu werden verspricht. *

Handbuch der Forst- und Jagdgeschichte Deutschlands. Von **Adam Schwappach.** I. II. Berlin, J. Springer. 1886—1888.

Die Waldbenutzung vom 13. bis Ende des 18. Jahrhunderts. Von **Max Endres.** Tübingen, H. Laupp. 1888.

Nach dem Erscheinen von Stisser's umfassendem, heute veralteten Werke „Die Forst- und Jagdhistorie der Deutschen" im Jahre 1737 wurde der Geschichte der Waldwirthschaft und Forstwissenschaft eigentlich erst in den am Anfang dieses Jahrhunderts herausgegebenen Zeitschriften „Annalen der Jagd und Forstwissenschaft" (seit 1811)

[1]) Die erste Lieferung erschien 1888.

und „Beiträge zur Kenntnis des Forstwesens in Deutschland" (seit 1819) größere Beachtung zu Theil. Indes wie viel Aufsätze und Bücher seitdem auch immer über den betreffenden Gegenstand veröffentlicht wurden, und wie werthvoll das von einigen Schriftstellern beigebrachte Material war, so blieb, vielleicht abgesehen von Stieglitzen's „geschichtliche Darstellung der Eigenthumsverhältnisse in Wald und Jagd in Deutschland" (1832), der Stand der Forschung ein unbefriedigender, bis Bernhard's dreibändige Geschichte des Waldeigenthums, der Waldwirthschaft und Forstwissenschaft in Deutschland, an's Tageslicht trat (1869—75). Diesem Buche gelang es, die mittlerweile reichhaltiger erschlossenen Quellen der Waldgeschichte gründlich auszunutzen und in einer von allgemeinen Gesichtspunkten durchzogenen überaus lichtvollen Darstellung die Entwickelung der Waldwirthschaft und der Forstwissenschaft klarzulegen. Trotz der großen Bedeutung, welche demselben noch heute innewohnt, liegt es in der Natur der Sache, in den Fortschritten der Wissenschaft und in gewissen Eigenheiten des B.'schen Werks, daß andere Bücher ergänzend und verbessernd an seine Seite traten. So sind kurz nacheinander Roth's schätzenswerthe Geschichte des Forst- und Jagdwesens in Deutschland, (1879) und die beiden oben genannten Werke von Schwappach und Endres erschienen.

Beiden Vff. darf nachgerühmt werden, daß sie auf die Quellen zurückgegangen sind und sich wenig an die bereits vorhandenen Darstellungen angeschlossen haben. Ihre Werke haben daher den Vorzug der aus dem Vollen schöpfenden Unmittelbarkeit und ansprechenden Frische und machen auf manches Neue aufmerksam oder rücken weniger Beachtetes in's rechte Licht. Sicherlich bilden sie eine werthvolle Bereicherung der deutschen forstgeschichtlichen Literatur.

Schw. gibt die gesammte deutsche Forst- und Jagdgeschichte von der ältesten Zeit bis auf die Gegenwart. Er bleibt streng bei seinem Thema und vermeidet die längeren Ausblicke in die allgemeine Geschichte, welche bei Bernhardt eine große Rolle spielen, gänzlich. Nur für die wichtigsten verfassungsrechtlichen und volkswirthschaftlichen Verhältnisse gibt er zu Beginn der die ältere Periode schildernden Abschnitte eine allgemeine zum Verständnis der speziellen Forstverhältnisse erforderliche Erläuterung. Dadurch gelingt es ihm, den reichen Stoff, wenn auch zusammengedrängt, in dem Rahmen eines zweibändigen Lehrbuchs von nicht zu großen Umfang zu bewältigen, wobei noch zu berücksichtigen ist, daß in den Anmerkungen zahlreiche

Quellenstellen mitgetheilt sind, die es dem Leser ermöglichen, die Ansicht des Vf. zu prüfen. Schw. unterscheidet vier Epochen: bis zum Ende der Karolingerzeit, von 911 bis 1500, von 1500 bis 1790 und von 1790 bis auf die Gegenwart.

Endres beschränkt sich in seiner Arbeit auf eine Seite der deutschen Forstgeschichte. Er liefert eine Untersuchung über die Waldbenutzung, d. h. über die Art, wie der Wald in der menschlichen Wirthschaft ausgenutzt worden ist. Er hält dabei die markgenossenschaftlichen und landesherrlichen Waldungen auseinander und unterscheidet bei letzteren wieder die Zeit vor und nach dem Dreißigjährigen Kriege. Da er mehrfach andere Quellen heranzieht als Schwappach, auch bei diesem oder jenen Punkt eingehender verweilt, so ergänzt er die einschlägigen Partien des letzteren Buches vortrefflich. Mit Interesse folgt man den Ausführungen, die uns zum Theil in eine Zeit führen, deren Bedürfnisse und Ansprüche heute fast unverständlich erscheinen, so z. B. wenn die Streitfrage erörtert wird, ob die Mastnutzung oder Holzzucht des Waldes größeren Vortheil biete.

Wie ansehnliche Fortschritte in unserer Erkenntnis beide Bücher anbahnen, so steht doch manche Behauptung und Betrachtung auf lockerem Boden. Daher kann man sich dem Wunsche nach Spezialgeschichten deutscher Waldgebiete, den beide Schriftsteller aussprechen, nur durchaus anschließen. Stieda.

Die Genossenschaft der deutschen Kaufleute zu Brügge in Flandern. Von **Walther Stein.** Berlin, R. Gärtner. 1890.

Die große Ravensburger Gesellschaft. Von **Wilhelm Heyd.** Stuttgart, J. G. Cotta. 1890.

A. u. d. T.: Beiträge zur Geschichte des deutschen Handels.

Mit dem durch die Hansereceße und das hansische Urkundenbuch immer reichlicher erschlossenen Material zur deutschen Handelsgeschichte mehren sich die Arbeiten, welche einzelne bisher fast völlig dunkle Gebiete derselben aufhellen. Die vorliegende Arbeit Walther Stein's ist eine reife Frucht sorgfältiger Forschung, die sich an dem gedruckten Material nicht hat genügen lassen, sondern vielfach auf die werthvollen Aufschlüsse des nach Köln geretteten Archiv's des Brüggischen Kontors zurückgeht. Die Niederlassung der Deutschen in Brügge ist für die Hanse von besonderer Bedeutung gewesen. Nicht nur, daß Flandern als Stapelplatz für die Gewürze, als Produktionsland

der feineren Tücher und als Abnehmer des kostbaren Pelzwerks dem Handel der Hanseaten unentbehrlich war, so bedingte die überlegene Kultur, auf welche die norddeutschen Kaufleute hier stießen, eine andere Art des Auftretens wie in Novgorod oder Bergen. Kein gemeinsamer Haus- oder Grundbesitz, auf dem alle sich niederlassen mußten, sondern freie Wahl der Wohnung innerhalb der von den Privilegien gestellten Grenzen; kein Kontor, sondern eine Genossenschaft und in dieser die Bildung mehrerer Gruppen, jene eigenartige Drittelbildung — diese und andere Besonderheiten verdienten schon längst eine so ausgiebige Betrachtung, wie sie ihnen Stein nunmehr hat zu Theil werden lassen. Seine Ausführungen sind wesentlich verfassungsgeschichtlicher Natur, aber für die Handelsgeschichte nicht minder wichtig und man hat von beiden Standpunkten aus alle Ursache, froh zu sein, daß sie endlich geliefert wurden. Klar und überzeugend, mit gewissenhafter Prüfung der einschlägigen Urkundenstellen charakterisirt Stein die Genossenschaft und ihre Organe, setzt er ihre Finanzverfassung auseinander und erörtert ihre Rechtsordnung. Kein wesentlicher Zug scheint mir ausgelassen oder ungenügend berücksichtigt zu sein und wenn auch für die ältere Zeit manches unaufgeklärt bleibt, so wird in der Hauptsache das hier gezeichnete Bild sicherlich das maßgebende bleiben.

Weiter nach Süden führt uns Heyd's Abhandlung. Aus einer so feinsinnigen und kenntnisreichen Feder, wie Heyd sie führt, eine neue Arbeit zu erhalten, bedeutet immer einen Gewinn. Im vorliegenden Falle erscheinen die Gelehrsamkeit des Vf., welche es ihm gestattet, seinen Stoff aus entlegenen Fernen zusammenzutragen, und die Geschicklichkeit, mit der er aus den verstreuten Stücken einen ansprechenden Bau aufführt, in günstigster Beleuchtung. Nachdem Heyd seine grundlegenden Untersuchungen über den Levantehandel veröffentlicht, hat er sich in neuerer Zeit dankenswertherweise der deutschen Handelsgeschichte zugewandt, in der er namentlich den Verkehr süddeutscher Städte mit Spanien und Italien darstellte. Auch die neueste Schrift bewegt sich in dieser Richtung. Sie schildert uns die Thätigkeit der mehr als 100 Jahre in der kleinen Stadt Ravensburg in der Nähe des Bodensees bestanden habenden Handelsgesellschaft, an deren Spitze die Huntpiß sich befanden. Die nachgewiesenen weitreichenden Beziehungen derselben, die nach Mailand und Genua, nach Mittel- und Unteritalien, nach Spanien und den Niederlanden führen, sind ein hocherfreuliches Zeichen für die Ausdehnung und das

Ansehen des deutschen Handels im 15. Jahrhundert. — Daß der Vf. uns weitere Beiträge auf diesem bisher noch wenig angebauten Gebiete in Aussicht gestellt hat, begrüßen wir freudigst.

Stieda.

Geschichte der deutschen Literatur in der Schweiz. Von **Jakob Baechtold.** Erster Halbband. Frauenfeld, J. Huber. 1889.

Das Werk, dessen erste fünf Lieferungen kürzlich zu einem Halbband zusammengefaßt wurden, verfolgt, wie schon die Fassung des Titels anzeigt, nichts weniger als partikularistische Tendenzen: es will keine „Schweizerische Nationalliteratur" konstruiren und soll keinem Schweizer das Studium der deutschen Literaturgeschichte entbehrlich machen. Wohl aber wird den Landesgenossen zunächst und dann auch den Deutschen da draußen hier ein umfassendes und bis in's Detail ausgeführtes Bild von dem reichen Antheil geboten, den die deutschredenden Kantone der Schweiz am deutschen Schriftthum fast aller Zeiten besitzen, und gern gönnen wir dem Vf., wenn ihm zuweilen die Ungunst der Überlieferung, wie für das 12. Jahrhundert, das Material verkürzt und schier vorenthält, dafür ein behaglich stolzes Verweilen bei jenen Epochen, in denen seine Heimat als Pflegestätte unserer Sprache und Dichtung obenan steht. Jede deutsche Landschaft kann die Schweiz um diese Darstellung beneiden, — gar manche freilich auch um den literarischen Reichthum, der uns in ihr entgegentritt.

Baechtold's Werk ist keine bequeme Zusammenfassung der von anderen gewonnenen Resultate: wie es auf eine stattliche Reihe monographischer Arbeiten seines Vf.'s bereits hinweisen konnte, ist ihm auch während der Ausgestaltung selbst noch fortgesetzte gründliche Detailforschung zu gute gekommen. Insbesondere archivalische Quellenstudien sind bisher wohl kaum jemals einem literarhistorischen Werke in ähnlichem Umfang zugewandt worden. Von allen Enden der deutschen Schweiz (die Anmerkungen bezeugen es) haben Germanisten, Archivare, Lokalhistoriker zu dem patriotisch-wissenschaftlichen Unternehmen beigesteuert, und gelegentlich wuchs dem Vf. unter den Händen der Stoff so an, daß er der raschen Gestaltung widerstrebte. Dies gilt insbesondere von dem umfangreichen und werthvollen Abschnitt, welcher dem schweizerischen Drama des 16. Jahrhunderts gewidmet ist (S. 244—400, dazu die Anmerkungen S. 57—120). Die Fachgenossen sind B. gewiß herzlich dankbar für die ausführlichen

Inhaltsangaben, welche uns die Bekanntschaft mit einer Masse schwer zugänglicher Dramentexte bequem vermitteln: gedruckte und handschriftliche, protestantische und katholische, und besonders die letzteren zum Theil von wahrhaft erschreckender Länge. Ob aber der ausdauernden Leser — auch nur für diese Auszüge — unter den Nichtgermanisten viele sind? Ob nicht der in literarhistorischer Betrachtung weniger Geübte hier in der Fülle der Details Gefahr läuft, die Grundlinien der Entwickelung aus den Augen zu verlieren? An und für sich gehöre ich zu den Vertheidigern dieser Inhaltsangaben wie überhaupt einer mehr deskriptiven Literaturgeschichte, aber der Vf. geht mir etwas zu weit: vielfach würde eine knappe Analyse besser ihren Zweck erfüllen, und nun gar mit Auszügen, wie sie B. z. B. aus Notkers Übersetzungsarbeiten gibt, wird doch mehr eine allgemeine Stimmung als klare Vorstellung und historisches Verständnis erzeugt.

Die Anmerkungen geben, in kleinerem Drucke, die Literatur in nahezu absoluter Vollständigkeit und bringen vielfach zur Begründung der Darstellung neues Material bei. E. Schr.

Philipp v. Zesen und die deutschgesinnte Genossenschaft. Von **Karl Diffel.** Hamburg 1890. (Wissenschaftliche Beilage des Wilhelm-Gymnasiums.)

Philipp v. Zesen ist der großen Menge nur bekannt als eine bequeme Zielscheibe für den Spott oberflächlicher Literarhistoriker, die in ihm nur den puristischen Heißsporn kennen und ihn immer und immer wieder mit denselben lächerlichen Verdeutschungen an den Pranger stellen, die er schon bei seinen Lebzeiten von sich abwehren mußte. Die neuere Forschung ist dem Menschen und dem Poeten allmählich gerechter geworden, hat seinen Charakter schätzen gelernt und seine Vorzüge und Verdienste über seine Mängel und Verirrungen zu stellen begonnen. Eine eigentliche literarhistorische Monographie freilich steht noch aus, und für Zesen's Verhältnis zu Vorgängern und Mitstrebenden, wie namentlich auch zur niederländischen Literatur, bleibt noch viel zu thun. Inzwischen aber freuen wir uns der gründlichen biographischen Vorarbeiten, die mit einem wahren Gestrüpp von Irrthümern und Unklarheiten aufzuräumen hatten. Auf die Straßburger Dissertation von M. Gebhardt, Untersuchungen zur Biographie Philipp Zesen's (1888) ist jetzt die weit ausführlichere Arbeit von Diffel gefolgt, eines der gehaltvollsten Programme, die uns seit langem zu Gesichte gekommen sind. Der Vf. benutzt vor allem das reiche Material der Hamburger Stadtbibliothek, handschriftliches wie

gedrucktes, und es ist ihm, namentlich auch unter Heranziehung der Gelegenheitsgedichte, gelungen, eine Reihe von zweifelhaften Daten in Zesen's Lebensgang sicherzustellen. Werthvolle Beigaben bilden ungedruckte Briefe Rist's, Harsdörffer's, Dietrich's von dem Werder an Zesen, ein sorgfältiges, chronologisch geordnetes Mitgliederverzeichnis seiner „deutschgesinnten Genossenschaft" und ein Dankgedicht an den Rath der Stadt Hamburg für eine Weinspende (1677).

Was uns bei D.'s Eifer und Gewissenhaftigkeit Wunder nimmt, ist, daß er so wenig wie sein Vorgänger Gebhardt archivalische Quellen aufsucht. Da streiten sich die beiden Biographen darum, ob Zesen in Leipzig studiert habe oder nicht; aber keiner hat die Leipziger Matrikel zu Rathe gezogen, die darüber Aufschluß geben muß. Auch für die Erörterungen über die Dichterin Dorothea v. Rosenthal ließe sich gewiß durch eine Anfrage bei schlesischen Genealogen leicht die urkundliche Grundlage herbeischaffen. E. Schr.

Johann Ignaz v. Felbiger und seine Schulreform. Von **Volkmer.** Habelschwerdt, Franke. 1890.

Es war ein guter Gedanke des Vf., der ein erfahrener Schulmann ist, eine Biographie des berühmten schlesischen Pädagogen Felbiger zu schreiben, und wir dürfen zugleich sagen, daß er die gedruckten Quellen sehr fleißig benutzt und handschriftliche Nachrichten mit Eifer und Erfolg gesammelt hat. Leider ist es ihm aber nicht gelungen, über das Jugendleben Felbiger's etwas Näheres zu erfahren. Er nennt ihn einen Sohn des nachmals in den Adelstand erhobenen Postmeisters J. A. Felbiger; die unter dem Texte (S. 4) gegebenen urkundlichen Nachweise stimmen aber damit nicht ganz überein. Es müßte vielmehr oben heißen: „Sein Vater war bei der Geburt des Knaben kgl. Kammerfiskal im Fürstenthum Glogau und kaiserl. Postmeister; er wurde später kgl. Oberfiskal im Herzogthum Schlesien und erhielt 1734 den Adel; seine Mutter war Anna Katharina geb. Schacky v. Schönfeld." Mit großer Sachkenntnis wird von S. 6—59 die bekannte Wirksamkeit Felbiger's in Schlesien umständlich dargestellt, nur wäre hier das am Schluße (S. 59) erwähnte Gutachten Felbiger's über die Gymnasien und die Universität der Jesuiten, ihre Mängel und ihre Verbesserung nicht so kurz, wie es geschehen, sondern recht ausführlich zu behandeln gewesen. Der Vf. schildert (S. 59—77) alsdann die erfolgreiche Thätigkeit des Pädagogen im Dienste Maria Theresia's und die Abneigung, welche Joseph II. gegen ihn hegte.

Als dieser nach dem Tode der Mutter Alleinherrscher geworden war, hat er dem Wirken Felbiger's bald ein Ende gemacht; die ersten Lebensjahre mußten, die letzten konnten kurz (S. 78—79) behandelt werden. Hierauf folgt eine wohl erwogene Würdigung des berühmten Mannes (S. 80—89). Ein Anhang gibt Beispiele der Tabellenform, welche Felbiger beim Unterrichte benutzte. Vor dem Titelblatte finden wir das Bildnis Felbiger's; es ist nach demjenigen im 19. Bande der Allgemeinen deutschen Bibliothek gemacht. Der Vf. hat sich durch diese mit Sorgfalt und Liebe geschriebene Biographie, deren Reinertrag als Zuschuß zu den Kosten der Errichtung eines Felbiger-Denkmals verwendet werden soll, unstreitig ein Verdienst erworben. E. R.

Monumenta Castellana. Urkundenbuch zur Geschichte des fränkischen Dynastengeschlechts der Grafen und Herren zu Castell (1057 — 1546). Im Auftrage des gräflichen Hauses herausgegeben von **Pius Wittmann**. München, Verlagsanstalt für Kunst und Wissenschaft, vormals Friedrich Bruckmann. 1890.

Sollte die vorliegende Publikation in unseren Augen auch einiges zu wünschen übrig lassen, so muß sie unter allen Umständen dankbar begrüßt werden. Das noch blühende Geschlecht der Grafen v. Castell im Steigerwalde gehörte seit der Zeit seines Auftretens im 11. Jahrhundert zu den hervorragenden Dynastengeschlechtern des ehemaligen Ostfrankens und es war ein arges Mißverständnis, wenn Leute, die es hätten besser wissen sollen, bei dem Vorkommen dieses Namens an Kastel bei Mainz oder gar an Kastl in der Oberpfalz gedacht haben. Wie man weiß, zählte das alte Ostfranken eine stattliche Anzahl hochangesehener Dynasten- und Grafengeschlechter, von welchen die meisten freilich seit Jahrhunderten ausgestorben sind, während sich nur wenige, wie die Herren v. Castell und Hohenlohe erhalten haben. Für die Geschichte dieser Geschlechter ist freilich noch lange nicht genug geschehen, obwohl das Schicksal des Territoriums zum guten Theile auf's engste mit ihnen zusammenhängt. Die Werke von A. L. Schultes über die Grafen v. Henneberg und von Aschbach über die Grafen v. Wertheim sind bekannt, über andere, wie über die Grafen v. Riereck und die Herren v. Hohenlohe ist nur stückweise gearbeitet worden, alle übrigen, wie die Grafen v. Höchstädt an der Aisch, die Dynasten v. Grumbach, v. Trimberg, von Wildberg, und Thundorf, und wie sie alle heißen, erwarten noch ihre Geschichtschreiber. Am zweckmäßigsten würde es sein, die Geschichte aller dieser Geschlechter im Zusammenhange zu behandeln, schon aus dem Grunde,

weil sie genealogisch in viel engerer Verbindung stehen, als es bei nur vereinzelter Betrachtung den Anschein hat. Ob es aber zu einem Versuch dieser Art so bald kommen wird, muß billigerweise abgewartet werden. Um so willkommener ist uns ein Beitrag zur Geschichte eines der vornehmsten Geschlechter Ostfrankens, wie das vorliegende Urkundenbuch ihn bietet. Die Dynasten und Grafen v. Castell haben zwar nicht so viel Geräusch in der Welt gemacht und nicht so bedeutende Männer aufzuweisen, wie manches andere Geschlecht von gleichem Alter und gleicher Stellung, aber ihre Geschichte ist immerhin bedeutend und inhaltsreich genug, um unsere volle Aufmerksamkeit zu verdienen. Was in dieser Beziehung der Herausgeber in den ersten Sätzen seines Vorworts anführt, kann nur unterschrieben werden. Nicht minder gewiß ist, daß die älteren Versuche über die Geschichte des Castell'schen Hauses, wie der von Viehbeck, verdienstlich für ihre Zeit, den Anforderungen der Gegenwart unbedingt nicht mehr genügen können. So hatte es also einen guten Sinn, wenn man mit einer grundlegenden Arbeit, wie ein Urkundenbuch, zur Herstellung einer wissenschaftlichen Geschichte des Hauses den Anfang machte, wobei der Nutzen, den ein Sammelwerk dieser Art der gelehrten Forschung überhaupt bringt, noch gar nicht in Rechnung gezogen zu werden braucht. Der Herausgeber hat das bezügliche urkundliche Material mit genügender Vollständigkeit gesammelt. Auch über die Grundsätze, die er bei der Behandlung der Urkunden angewendet hat, wird man mit ihm übereinstimmen können; desgleichen damit, daß er in dem zweiten Theile seines Werkes von den für die Geschichte des Hauses Castell weniger bedeutenden Urkunden nur Auszüge gegeben hat. Daß er seine Sammlung mit dem Jahre 1546 schließt, ist, so zu sagen, mehr eine innere Frage, man mag den von ihm (S. V) angeführten Grund ja gelten lassen, aber völlig überzeugend ist er nicht, und man kann den Wunsch nicht ganz unterdrücken, der Herausgeber hätte uns von den drei noch folgenden Jahrhunderten, etwa bis zur Mediatisirung des Geschlechtes, wenigstens einen Überblick über dessen Geschichte geben mögen, da das Interesse, das wir daran nehmen, nicht gerade mit dem Jahre 1546 abbricht. Die Einführung der Reformation in den Castell'schen Besitzungen, die Wirkungen und Nachwirkungen derselben, die Zeiten des großen deutschen Krieges u. s. w. sind gewiß nicht spurlos an dem Grafenhause und seinem Gebiete vorübergegangen. Doch soll diese Unterlassung unser Urtheil über das Urkundenbuch selbst nicht weiter beeinflußen. Ganz einverstanden sind

wir mit dem Herausgeber, daß er die Anfänge des Geschlechts in die zweite Hälfte des 11. Jahrhunderts setzt, d. h. nicht früher, als haltbare Anzeichen dazu berechtigen.[1]) Nicht weniger zu billigen ist, daß er, wo die ersten Angehörigen des Geschlechts als Zeugen auftreten — was in den früheren Zeiten bekanntlich der einzige Nachweis der Existenz eines solchen ist —, die in Frage kommenden Persönlichkeiten in Verbindung mit den übrigen Zeugen, bezw. Standesgenossen vorführt, nur vermissen wir in allen Fällen, auch wo ganze Urkunden mitgetheilt werden, die Angabe des Ausstellungsortes neben der Zeit der Ausstellung an der Spitze der Urkunde oder des Regestes, die in der großen Mehrzahl der Fälle doch gar keine Schwierigkeit verursacht oder durch Kombination sich meist mit Sicherheit voraussehen läßt. In den Urkundensammlungen nicht bloß der neuesten Zeit ist diesem Wunsche ja fast überall Genüge gethan.

Anlangend die mitgetheilten Urkunden oder Urkundenauszüge können wir nicht umhin, einige Irrthümer namhaft zu machen oder Ergänzungen hinzuzufügen.

Nr. 4 (S. 2) bringt das Regest einer Urkunde angeblich von Bischof Burkard von Würzburg vom Jahre 1097. Es liegt in dieser Angabe aber ein Versehen irgend welcher Art vor, das auch in den Berichtigungen nicht verbessert worden ist, denn die ganze Würzburger Bischofsreihe kennt einen einzigen Bischof dieses Namens, der zugleich der erste der gesammten Reihe ist. Es muß Emehard heißen, wie ja auch die unmittelbar vorangehende und nachfolgende Urkunde von eben diesem Bischof ausgestellt ist. — Nr. 18 (S. 16) bringt das Regest einer Urkunde eines Bischofs Gebhard von Würzburg von 1140. In dieser Zeit saß aber notorisch Bischof Embriccho auf dem Stuhle des heiligen Burkard. Wer in der Geschichte des Hochstifts Würzburg nicht näher bewandert ist, wird nicht wissen, wie ein Bischof Gebhard zwischen lauter Urkunden des Bischofs Embriccho zu stehen kommt. Der Herausgeber hätte uns billigerweise über

[1]) Der Herausgeber beginnt mit dem Jahre 1057, wo zuerst ein „Rubbrecht" als Zeuge erscheint, den er mit Recht für einen Dynasten von Castell hält; er hat aber übersehen, daß zum Jahr 1087, 20. April, eine gedruckte Urkunde vorhanden ist, in welcher bereits ein „Friedrich de Castel" als Zeuge für Bamberg genannt wird (vgl. Harzheim, Concilia Germ. 3, 206). Diese Urkunde stammt aus den Schannat'schen Papieren; ihre Echtheit müßte freilich noch festgestellt werden.

diesen Fall aufklären und daran erinnern sollen, daß Gebhard v. Henneberg nach dem Tode des Bischofs Erlung von Würzburg von einer Partei zu dessen Nachfolger erwählt worden, aber infolge des Eingreifens des Kaisers Lothar III. hatte zurücktreten müssen. Er legte sich jedoch auch weiterhin, wenn auch kaum rechtmäßigerweise, den Titel eines Bischofs von Würzburg bei und ist erst viel später, nach dem Tode des Bischofs Sigfried († 1150) wirklich anerkannter Bischof von Würzburg geworden († 1160). Eine derartige Aufklärung des an sich schwer verständlichen Falles hatte man ein Recht vom Herausgeber zu verlangen, wie wir es überhaupt für keinen Vorzug der vorliegenden Publikation halten, daß der Herausgeber auf jede Art erläuternder Anmerkung Verzicht geleistet hat, dies um so mehr, als auch das Register, wovon sogleich des näheren gesprochen werden soll, keinen Ersatz dafür bietet. — Nr. 53 (S. 16) bringt das Regest einer Urkunde vom Jahre 1179, die dem vorliegenden Wortlaute nach von dem Grafen Gerhard v. Riereck und dessen Gemahlin Adelheid ausgestellt ist. Der Herausgeber führt als die Herkunft dieses Regestes ein Manuskript des historischen Vereins zu Würzburg, abgedruckt im Archiv des historischen Vereins für Unterfranken und Aschaffenburg 20, 1, 90, an. Hier stehen wir einer nicht gerade lieblichen Verwirrung gegenüber. Davon sei weiter kein Aufhebens gemacht, daß an der angeführten Stelle des genannten Archivs S. 90 überhaupt nichts von dem zu finden ist, was angeblich dort stehen soll, das kann auf einem Schreibfehler beruhen; dagegen steht auf S. 206 des genannten Bandes des genannten Archivs zum Jahre 1179 in höchst unkorrektem Deutsch das Regest, das unser Urkundenbuch reproduzirt. Indes hat sich der Herausgeber entgehen lassen, daß die angezogene Urkunde selbst bereits seit mehr als 80 Jahren an einem gar nicht abgelegenen Orte, nämlich in F. A. Jäger's Geschichte des Frankenlands, 3. Th. S. 331 N. XV., in ihrem ganzen Umfange gedruckt zu lesen steht. Dieses Versehen hängt jedoch mit dem Umstande zusammen, daß der Herausgeber, wie sich das noch weiter augenfällig ergeben wird, sich, als er an seine Arbeit ging, mit der Geschichte und geschichtlichen Literatur Ostfrankens allzuwenig vertraut gemacht hat. So ist ihm z. B. das von mir im Jahre 1864 veröffentlichte Nekrolog des Klosters Schwarzach a. M. entgangen, in welchem sich einige für seinen Zweck nicht unwichtige Angaben finden, die er, wie es der Charakter solcher Todtenbücher ist, freilich noch hätte näher bestimmen müssen. (Vgl. meine Schrift: „Zur Literatur

und Kritik der fränkischen Nekrologien". Nördlingen 1864, S. 16, 21, 23.) Daß sich die Fälle, in welchen ein Dynast von Castell als Zeuge auftritt, auch aus gedruckten Werken noch vermehren ließen, braucht kaum erst ausgesprochen zu werden, die Masse der betreffenden Literatur ist ja unendlich groß. Urkundensammlungen, wie Lacomblet's Urkundenbuch zur Geschichte des Niederrheins lagen freilich nahe genug; hier erscheint (1, 469) im Jahre 1179 „Rupertus de Castele" als Zeuge in einer Urkunde des Bischofs Reinhard von Würzburg für das Kloster Altenzelle. Bei L. A. Schultes (Beiträge 4, 228) tritt ein „Rupertus de Castele" d. Welderied, 1230, 10. November als Zeuge für das Kloster Vesten auf. In handschriftlichen, nahe genug liegenden Büchern wäre gleichfalls noch einiges derart zu finden gewesen. So birgt das Kreisarchiv zu Würzburg ein sogenanntes Zinsbuch des Klosters St. Afra daselbst und enthält die Abschrift einer Urkunde d. Halburg, 1200, in welcher Graf Friedrich v. Castell eine Schenkung von Gütern in Effeltrach an gedachtes Kloster genehmigt. Das Copialbuch des Klosters von Maidbrunn (nicht gar weit von Würzburg gelegen) enthält die Abschriften zweier Urkunden, von welchen die eine (a. a. O. f. 51b bis 52a) d. 24. Dezember 1239, die Bestätigung der Besitzungen des gedachten Klosters in Dorf Stammheim (Unterfranken B. A. Gerolzhofen) durch den Grafen Friedrich v. Castell, und die andere (ebenda f. 39) d. 1271 die Schenkung der Pfarrei Herlheim (ebendaselbst) durch die Gebrüder Hermann und Heinrich, Grafen v. Castell an gedachtes Kloster verkündigt. — Nr. 40 (f. 12 des Urkundenbuches) erscheint unter den Zeugen ein Rapoto comes de Amberg, ebenso Nr. 41, es muß aber in beiden Fällen heißen de Abenberg, wie es Nr. 43 wirklich gedruckt zu lesen steht. Es ist das augenfällig stets dieselbe Persönlichkeit, wie dem Herausgeber nicht hätte entgehen sollen; er hebt aber im Register den in Frage stehenden Irrthum nicht hervor und läßt den angeblichen Rapoto de Amberg, ohne ein Wort zu verlieren, ruhig neben dem Grafen Rapoto de Abenberg aufmarschieren. Die Grafen dieses Namens sind hinlänglich bekannt, einen Grafen de Amberg wird man überhaupt nicht leicht finden. — Nr. 37 begegnet unter den Zeugen ein Gerardus comes de Berhtheim und Nr. 46 ein Gerardus comes de Berghtheim. Es liegt nun gewiß nahe, zu vermuthen, daß beide Personen identisch sind, wie sie es in der That auch sind. Der Herausgeber verweist jedoch im Register bei Aufführung des Gerardus comes de Berhtheim auf die Grafen

v. Wertheim, statt an die Identität desselben mit dem v. Bergtheim zu denken. Grafen v. Bergtheim im mittleren Franken kommen aber in den Urkunden jener Zeit oft genug und unter Umständen vor, daß man kaum begreift, wie man verkennen kann, daß wir in ihnen ein selbständiges Geschlecht vor uns haben; freilich werden beide Geschlechter wegen des Gleichklangs des Namens allerdings häufig mit einander verwechselt und identifizirt, obwohl auch eine oberflächliche Betrachtung die unbedingte Unterscheidung derselben nahe legen sollte; sie treten in ganz verschiedenen Gegenden auf, die Personennamen sind verschieden u. s. w. Der Herausgeber dagegen verfällt allerdings nicht in den Irrthum der Identifizirung beider Geschlechter, geräth aber auf den nicht weniger verfehlten Einfall, zwei gleichnamige Geschlechter des Namens Wertheim anzunehmen, von welchen das eine im Tauber- und das andere im Ipfgau angesiedelt gewesen sei, und entfernt sich so nicht minder weit von dem geraden Wege. Wenn ich nun noch einmal auf eine Publikation von meiner Seite zu reden komme, so bitte ich, mir das nicht als Unbescheidenheit auszulegen. Hätte der Herausgeber sich, wie er sollte, um die neueren Arbeiten über die ostfränkische Geschichte bekümmert, so wäre sie ihm um so weniger entgangen, als sie in den Abhandlungen der Münchener Akademie gedruckt ist (1877), womit zu vergleichen Sybel's H. Z. 40, 189. Die in Frage stehende Publikation „Corpus regulae sen. Kalendarium domus s. Kiliani Wirceburgensis saecula 9—14 amplectens" hätte den in Frage stehenden Irrthum verhütet und den Herausgeber verhindert, noch manchen andern, recht elementaren Fehler auf sich zu laden. Er würde z. B. im Register nicht einen Würzburger Bischof Adelbero v. Laimbach (statt v. Lambach), nicht einen Würzburger Bischof Gottfried v. Pisenberg statt v. Spitzenberg, nicht einen Würzburger Bischof Reinhard v. Abensberg statt v. Abenberg aufführen; er hätte dem Würzburger Bischof Berthold v. Sternberg in der Klammer nicht einen v. Scherenberg beigegeben, was notorisch doch ganz verschiedene Geschlechter waren, er würde ersehen haben, daß der Würzburger Bischof Sigfried, aus dem Hause der Grafen v. Truhendingen, nicht von Querfurt stammt. Es sind das Irrthümer, welche allerdings die Würzburger Lokaltradition lange Zeit mit fortgeschleppt hat, die aber durch die neuere und neueste Forschung gründlich beseitigt sind. Angesichts solcher Mißverständnisse wird wohl niemand glauben wollen, wir seien mit unserer Behauptung, der Herr Herausgeber habe sich für seine Aufgabe nicht umfassend genug vorbereitet, zu weit gegangen.

Das Register anlangend, so ist es nach meinem Ermessen zu kahl und dürftig ausgefallen, und es ist mir unfaßlich, wie gerade diesem in einer Anzeige des Urkundenbuches in einer angesehenen Münchener Zeitung eine so überschwengliche Anerkennung gespendet werden konnte. Ein Register, wie man es jetzt von Publikationen dieser Art verlangt, und wie es in den neuesten Urkundenbüchern, z. B. von Böhmer-Ficker (Monumenta imp. selecta) und von Winkelmann (Monumenta imp. inedita) und noch mehreren hergestellt haben, muß mit einer sorgfältigen Bestimmung der Orts- und Personennamen verbunden werden. Die Lösung dieser Aufgabe mag oft genug mit Schwierigkeiten verbunden sein, aber wer soll sie lösen, wenn nicht der Herausgeber der mitgetheilten Urkunden? Schon die sichere Feststellung des Textes setzt eine so genaue Bekanntschaft mit den vorkommenden Orts- und Personennamen voraus, daß es nicht mehr schwer sein kann, ein kommentirtes Register zu liefern. Wenn es der Herausgeber nicht kann, wer soll es können? Unterläßt man es aus irgend einem Grunde, so erschwert man die Benutzung des Urkundenbuches. Die paar Erklärungen, die uns hier geboten werden, sind entfernt nicht im Stande, dafür einen Ersatz zu bieten, auch wenn sie überall zutreffend wären, was eben nicht der Fall ist. Ob die vorkommenden Namen zu den Grafen v. Castell in Beziehung stehen, darauf kommt es selbstverständlich nicht an. Wenn z. B. in den beiden Urkunden Nr. 40 und 41 ein Otto marchio de Witingen et fratres ejus Theto, Dietericus, Fridericus als Zeugen auftreten, so wird man im Register Aufschluß über diese Persönlichkeiten erwarten, das Register gibt uns aber eine solche nicht, und hoffentlich ist der Leser so klug, sogleich bei Lepsius, Geschichte der Bischöfe von Naumburg-Zeitz nachzuschlagen, und er wird daraus ersehen, daß unter dem genannten Otto marchio de Witingen der Markgraf Otto von Meißen aus dem Hause Wettin zu verstehen ist. — Nr. 70 erscheint unter den Zeugen ein Eggehardus comes de Wirciburc, und Nr. 58 tritt ein Eckehardus, comes. Das Register führt beide auf, ohne ein Wort hinzuzufügen; beide sind aber identisch. Dieser Graf Eckard gehörte einem der angesehensten Ministerialengeschlechter in Würzburg an und den Zunamen comes (auch vicecomes) verdankte er seiner Eigenschaft als vicem praefecturae gerens, wie sich eine Urkunde deutlich genug ausdrückt. (Vgl. meine Einleitung zu dem historischen Album von Würzburg [Würzburg 1867], S. 10, Anm. 2) — Nr. 157 (S. 58) erscheint ein Zeuge Otto de Lodenburc custos, das Register führt

ihn als solchen auf, ohne indes anzudeuten, daß die Form Lodenburc offenbar nur verschrieben ist statt Lobdenburc, dem Namen des Geschlechtes, welchem die beiden Würzburger Bischöfe Otto I. († 1221) und Hermann I. († 1255) angehören, welche ebenfalls im Register erscheinen, ohne daß aber bei dem einen auf den andern verwiesen, d. h. ihre Zusammengehörigkeit erkannt wäre.

Doch sei es genug dieser Korrekturen, die nur im Interesse der Sache gemacht worden und sich um die eine oder die andere schon vermehren ließen. Nur ein Desiderium erlauben wir uns noch auszusprechen. Wir vermissen nämlich eine Geschlechtstafel der Grafen v. Castell, ohne welche die Benutzung nicht minder erschwert wird als durch den Mangel eines kommentirten Registers. Die Schwierigkeiten, welche die Herstellung eines solchen, wenigstens für die früheren Jahrhunderte zu überwinden hat, sind uns wohl bekannt, aber daraus folgt doch nicht, daß der Versuch gar nicht gemacht werden soll? Er hätte gemacht werden müssen. Um so dankbarer sind wir für die beigegebenen 7 Siegeltafeln und den Entwurf einer Karte des Castellschen Territoriums und schließen mit dem Wunsche, es möge der namentlich auch an kulturgeschichtlichen Mittheilungen reiche Inhalt des Urkundenbuches für die Wissenschaft recht fleißig ausgebeutet werden. Die erfreulichste und erwünschteste Wirkung der vorliegenden Publikation in unseren Augen würde aber sein, wenn ein dazu berufener Forscher sich durch sie angeregt fühlen würde, die Ausführung einer pragmatischen Geschichte des erlauchten Hauses Castell zu unternehmen. Wegele.

Herzog Albrecht von Preußen. Eine biographische Skizze. Von **Karl Lohmeyer.** Festschrift zum 17. Mai 1890. Danzig, A. W. Kafemann. 1890.

Die Biographie des Herzogs Albrecht von Bock, welche 1745 erschien, ist längst antiquirt und kaum noch lesbar. Seit jener Zeit sind von verschiedenen Seiten her sehr schätzenswerthe Beiträge zur Geschichte desselben erschienen, aber ein zusammenfassendes Hauptwerk fehlt noch. Populäre Darstellungen sind mehrere vorhanden, doch leiden sie alle mehr oder weniger an Einseitigkeit und Oberflächlichkeit. Da ist es sehr erfreulich, daß einmal ein Kenner, der die Erforschung der preußischen Provinzialgeschichte sich zur Lebensaufgabe gemacht und schon vor mehr als dreißig Jahren mit den Quellen zur Geschichte Herzogs Albrecht im Königsberger Staatsarchiv sich eingehend beschäftigt hat, eine Skizze von dem Leben des merk-

würdigen Fürsten darbietet. Die Skizze beruht auf gediegener Forschung und bringt trotz ihrer Kürze doch manche willkommene Ergänzung zu dem sonst Bekannten, wie besonders die Schilderung der politischen Verhältnisse in der zweiten Hälfte der Regierung des Herzogs. Sie ist dabei leicht lesbar und im besten Sinne populär. Die durchaus ehrenwerthe und edle Gesinnung des Herzogs ist (S.40) zu voller Geltung gekommen, daneben aber auch seine Schwächen. — Dankenswerth ist auch der Anhang, welcher eine recht vollständige Albrecht-Bibliographie enthält; aber von Pfarrer Rindfleisch ist außer dem S. 57 angeführten Aufsatze auch eine größere Schrift über den Herzog als „ein kirchenhistorisches Zeitbild" erschienen, Danzig 1880 in Kommission bei Th. Anhuth. M. Töppen.

Urkundenbuch zur Reformationsgeschichte des Herzogthums Preußen. Herausgegeben von **Paul Tschackert.** I—III. Leipzig, S. Hirzel. 1890.

A. u. d. T.: Publikationen aus den kgl. preußischen Staatsarchiven. XLIII—XLV.

Das Werk ist gemäß dem bei den „Publikationen aus den preußischen Staatsarchiven" gewöhnlich eingehaltenen Brauch in der Art eingerichtet, daß sowohl die Materialien selbst, wie eine aus denselben gezogene Darstellung gegeben wird. Das Urteil zumal über die letztere läßt sich dahin aussprechen, daß der Vf. das volle Recht besitzt, auf seine Arbeit stolz zu sein und diesen Stolz auch offen zu zeigen, daß das Bewußtsein des Werthes der Arbeit, welches an so manchen Stellen derselben und ganz besonders auch in der unlängst erschienenen Selbstanzeige in den Göttingischen Gelehrten Anzeigen (1891 Nr. 3) offen hervortritt, seine volle Berechtigung hat. Den schönen Ruhm darf ihm niemand streitig machen, daß er die drei ersten Jahrzehente der Reformationsgeschichte Altpreußens und insbesondere des bisherigen Ordenslandes zum ersten Male aus den echten Quellen selbst herausgearbeitet und in gelungener Weise, zwar vom entschieden protestantischen Standpunkte aus, aber doch durchaus unbefangen zur Darstellung gebracht hat.

Von Studien über den Reformator Preußens, über Johannes Brießmann, ausgehend, sah der Vf. seinen Gesichtskreis sich sehr bald erweitern; sein eigener Spürsinn, welcher von dem liebenswürdigen Entgegenkommen zumal der nächstbetheiligten Königsberger Archivbeamten auf das trefflichste unterstützt wurde, hatte ihm in verhältnismäßig kurzer Zeit ein so umfassendes Urkundenmaterial zur

Verfügung gebracht, daß es ihm geboten erschien, seine ursprüngliche, beschränkte Aufgabe fallen zu lassen und die Gesammtdarstellung der Kirchenreform in Preußen zum Vorwurfe zu nehmen.

Seine den ersten Band füllende Darstellung der preußischen Reformationsgeschichte beginnt der Vf. mit einer kurzen Einleitung, welche „die geistigen, religiösen und sittlichen Zustände" des Deutschordenslandes Preußen beim Eintritte der Reformation schildert und die Regierung des damaligen Hochmeisters, des Markgrafen Albrecht von Brandenburg-Ansbach, bis zu der zweiten Reise in's Reich, die er 1522 antrat, um für die Weiterführung des durch einen Waffenstillstand unterbrochenen polnischen Krieges Hülfe zu suchen, kurz erzählt. Die Reformationsgeschichte selbst führt er dann in einer natürlichen und sachmäßigen, sich fast von selbst ergebenden Anordnung von der ersten Annäherung des Hochmeisters an Luther im Jahre 1523 und den gleichzeitigen, die Kirchenverbesserung in Preußen selbst vorbereitenden und fördernden Ereignissen fort bis zur Ankunft des Nürnberger Predigers Andreas Osiander im Jahre 1549, der zwar in Albrecht selbst die ersten reformatorischen Keime gelegt hatte und darum von ihm auf's höchste verehrt wurde, aber doch andererseits durch seinen Charakter und sein Gebahren jede Weiterführung der Reformation für lange Zeit gehemmt und die Landeskirche in die schlimmste Verwirrung gebracht hat. Wie T. aber im Anfange es mit Recht für räthlich gehalten hat, die Männer, welche damals für die kirchliche Entwickelung Preußens maßgebend und bestimmend wurden, einen Brießmann, Georg v. Polentz, Paulus Speratus und die anderen, um sie besser verständlich zu machen, auch mit ihren früheren Schicksalen und ihrem Werden dem Leser vor Augen zu führen, so bricht er auch am Schlusse nicht mit dem erwähnten Ereignis rund ab, sondern erzählt auch noch die Lebensausgänge der drei eben genannten Reformatoren, welche in der aufgestellten Reihenfolge 1549, 1550 und 1551 gestorben sind.

Ich darf versichern, daß es nur wenige Seiten gibt, auf denen nicht etwas zu finden wäre, was bisher, sei es noch gar nicht oder nicht ganz oder doch nicht gerade so gewußt ist, als es hier erscheint. Für die Kundigen stand, um wenigstens einiges beizubringen, das persönliche, unmittelbare Verdienst des Markgrafen Albrecht um die Einführung der Reformation in Preußen auch früher schon fest, aber nach der jetzt vorliegenden Darstellung können doch nur Übelwollende daran mäkeln, wobei es freilich fraglich gelassen werden kann, ob dabei für

den Fürsten die Triebfeder mehr auf der kirchlichen oder auf der politischen Seite gelegen habe. Ebenso ist seine Unselbständigkeit in den Glaubensansichten, die sich zwar immer in dem Rahmen des evangelischen Bekenntnisses bewegt, aber doch mitunter eine recht bedenkliche Gestalt annimmt, nicht weiter in Abrede zu stellen; sie hätte nur von dem Vf. noch etwas deutlicher hervorgehoben, aus der Unfertigkeit seiner Bildung und seines Charakters als eine fast nothwendige Folge hergeleitet werden müssen. Unerwähnt darf auch die geradezu grundlegende Auffassung des Vf. nicht bleiben, wenngleich er sie auch schon früher an anderen Stellen vorgetragen hat, daß nicht, wie man immer hört, der samländische Bischof Georg v. Polentz, der nichts weniger als Theologe war, sondern vielmehr Johannes Brießmann der geistige Leiter der ersten reformatorischen Bewegung in Preußen gewesen ist. Ebenso neu wie wohlbegründet ist die Hinweisung darauf, daß die preußische Reformation, selbstverständlich die Tochter der deutschen, doch nicht immer bloß im Schlepptau derselben einhergefahren, sondern ihr auch nicht selten und gerade in den Anfängen, in dogmatischer Hinsicht wie in der inneren Ordnung um ein gutes Stück vorausgeschritten ist. So gut wie neu ist, zumal in der hier gebotenen Ausführlichkeit, der Inhalt derjenigen Abschnitte, welche das Eindringen sektirerischer Elemente und Regungen und ihre Bekämpfung und Niederwerfung behandeln, zuerst die von dem einflußreichen herzoglichen Rath Friedrich v. Heydeck gestützten Schwenkfeldianer, die es eben waren, welche eine Weile den Herzog selbst fast schon als einen der Ihrigen ansehen konnten, und dann die reformirten holländischen Flüchtlinge, welche allmählich zu Tausenden nach Preußen kamen und in den schwachbevölkerten Gegenden bereite Aufnahme fanden. Von den zahllosen Einzelnheiten seien hier wenigstens zwei erwähnt: die dem Anscheine nach endlich richtig getroffene Herleitung des Namens Speratus (bürgerliche Familie Spret aus Rötlen bei Elwangen) und der urkundliche Nachweis für die schon sehr früh (Ende 1524) vorhandene entschieden evangelische Gesinnung und Thätigkeit des pomesanischen Bischofs Erhard v. Queiß.

Daß ein Buch, welchem man in dem Maße wie dem vorliegenden Zustimmung und Billigung im großen und ganzen entgegenbringen darf, dennoch eine größere oder geringere Menge von Einzelnheiten, enthalten kann, an welchen der Leser nicht bloß auf Grund persönlicher Anschauung, sondern auch aus allgemein gültigen Gründen und unbedingt Anstoß nehmen muß, ist selbstverständlich. Ich will hier nur eines

hervorheben. Die Ansicht, welche ich schon früher an einer andern Stelle ausführlicher begründet habe, daß nämlich Albrecht im Jahre 1524 nicht ernstlich daran gedacht haben kann, die Regierung Preußens in die Hand eines Andern zu übergeben (Tsch. S. 18), erscheint mir nach wie vor unanfechtbar.

Nicht in gleicher Weise stillschweigend wie an Versehen und Meinungsverschiedenheiten im einzelnen kann ich an zwei tiefer greifenden Ausstellungen vorübergehen, die sich mir beim Studium des T.'schen Buches aufgedrängt haben. Einmal hat der Vf. den ihm allerdings oft massenhaft zuströmenden Stoff nicht so völlig beherrscht, daß er ihn in die gewählte Gruppirung, so natürlich, wie bereits gesagt, sie ist, durchaus geschickt hätte einordnen können. Da er in die fortlaufende Erzählung der Thatsachen ab und zu in gesondertem Zusammenhange die Schicksale der einzelnen Persönlichkeiten einzustreuen beliebt hat, so gehören auffällige Wiederholungen durchaus nicht zu den Seltenheiten, und sehr häufig fehlen dabei die Verweise, ja bisweilen werden an jeder einzelnen Stelle die Quellen selbst in aller Vollständigkeit aufgeführt; kommt es doch sogar vor, daß eine Persönlichkeit als ein „gewisser" bezeichnet wird, von welcher vorher schon zweimal genauer gesprochen war (über Sciurus S. 315 trotz S. 283 und 288). Von der durch die holländischen Flüchtlinge verursachten „reformirten Unterströmung" spricht er, während ihre Anfänge doch richtiger da einzuschalten gewesen wären, wo sie der Zeit nach hingehören, erst da (S. 322 ff.), wo ihre völlige Zurückweisung zu erzählen ist, so daß es nunmehr in jenen Abschnitten den Anschein hat, als ob zuerst neben den Schwenkfeldianern keine andere, nach ihrer Unterdrückung aber gar keine sektiererische Gefahr vorhanden gewesen wäre. Dann sagt der Vf. im Vorwort: „Mit Absicht habe ich in der Einleitung (d. h. im darstellenden Bande) unterlassen, an den vielen Hunderten von Stellen, wo ich Neues bringe, dieses auch als solches kenntlich zu machen". Dagegen wäre natürlich nichts einzuwenden. Aber der Vf. hat auch unterlassen, zu sagen, daß er, allerdings nicht durchweg, aber doch recht sehr häufig, namentlich neueren Bearbeitern gegenüber nicht anzugeben für gut befunden hat, was Andere an Quellen gefunden und benutzt, an eigenen Ergebnissen zu Tage gefördert haben. Wenn nach der von ihm beliebten Methode ein Unkundiger die Meinung gewinnen sollte, daß seit Friedrich Samuel Bock, der vor mehr als einem halben Jahrhundert, und seit Christoph Hartknoch, der vor zwei Jahrhunderten geschrieben hat, über den

Hochmeister und Herzog Albrecht und über die preußische Reformation so gut wie nichts wesentlich Förderndes gearbeitet und geschrieben worden wäre, so könnte das nicht Wunder nehmen[1]). Von der in wissenschaftlichen Werken üblichen Regel[2]), Quellen und Quellenstellen doch nur da, wo man als der erste Benutzer derselben erscheinen will, ohne jede weitere Bemerkung anzuführen, weicht der Vf. für gewöhnlich ab und wird sich daher nicht zu beklagen haben, wenn man, wovon ich selbst weit entfernt bin, aus diesem übeln Scheine auch den entsprechenden Vorwurf gegen ihn herleiten sollte. Für die Beschreibung der Fastenprozession des Jahres 1519, der letzten katholischen Prozession im Ordenslande, (S. 16) beruft sich z. B. T. auf dieselbe einzige Quelle, welche bereits von Gebser in seiner Geschichte des Doms zu Königsberg ebenfalls fast wörtlich benutzt ist, doch ohne diesen zu nennen. Bei der Erzählung der früheren Schicksale des Bischofs Georg v. Polentz zieht er bis auf zwei Stellen, zu denen er Gebser ausdrücklich anführt, immer wieder die unmittelbaren Quellen selbst heran, woraus man den Schluß ziehen müßte, daß Gebser von allem Übrigen noch nichts gewußt hätte, und doch würde man diesem damit Unrecht thun. Wenn der Vf. (S. 106 Anm. 1) für sich den Ruhm in Anspruch nimmt, daß „nach seiner quellenmäßigen Darstellung das seit Hartknoch übliche Urteil über Bischof Queiß geändert werden müsse", daß jetzt „sich wohl endlich ein gerechtes Urtheil über den jahrhundertelang verkannten Mann Bahn brechen werde", so scheint er nicht zu wissen, wie z. B. nicht bloß Gebser und ich selbst, sondern schon Arnoldt und Jacobson und auch einige katholische Schriftsteller Erhard v. Queiß und seine Thätigkeit auch schon vor dem Jahre 1525 aufgefaßt und beurteilt haben, wenngleich uns freilich die allen Zweifel benehmenden, von T. aufgefundenen themata noch nicht bekannt waren. Warum mögen wohl (S. 181) für die kaiserliche Belehnung Walters v. Cronberg mit dem Meisteramt und mit der Administration über Preußen nur Bock und noch ältere Skribenten herangezogen sein

---

[1]) Meine eigene, zwar sehr kurze, aber doch auch, wie der Vf. wohl wußte, auf eigenen Studien beruhende Lebensbeschreibung Albrecht's (Allg. deutsche Biographie Bd. 1, 1875) erwähnt er nicht mit einem Worte, und auf die im vorigen Jahre selbstständig erschienene Umarbeitung derselben weiß er in einer Note seiner Selbstanzeige nur „hinzuweisen" als auf eine „Festschrift".

[2]) Diese Regel ist keineswegs allgemein üblich. A. d. R.

anstatt Johannes Voigt's? Ebenda fällt es auf, daß über Johannes Dantiscus nur auf eine alte, durchaus ungenügende Lebensbeschreibung hingewiesen wird anstatt etwa auf das von Prowe (in seinem Nicolaus Coppernicus) beigebrachte reiche Material. Und ähnlich oft.

Der zweite und der dritte Band, über die ich hier nur noch ganz kurz und sachlich berichten kann, enthalten in chronologischer Reihenfolge das durch den nicht genug rühmenswerthen Eifer und Fleiß T.'s zusammengebrachte urkundliche und urkundenartige Quellenmaterial. Von den im ganzen 2639 Stücken (darunter nach des Herausgebers eigener Zählung etwa 1200 gedruckte und ungefähr 1400 handschriftliche) sind weitaus die meisten nur auszugsweise mitgetheilt, nur einige wenige in wörtlichem Abdruck wiedergegeben; bei allen finden sich genaue Angaben über ihre Herkunft und natürlich bei den bereits früher gedruckten ein Nachweis über den Ort des Abdrucks. Daß die meisten handschriftlichen Stücke dem königsberger Staatsarchiv entstammen, soll, wenn es auch fast selbstverständlich ist, nicht verschwiegen werden. Den ersten Band schließt ein (Namen- und Sach-) Register für die Darstellung, den dritten Band zwei verschiedenartig geordnete Register für das Urkundenbuch. K. Lohmeyer.

## Bericht über die im Jahre 1888 erschienenen, Ungarn betreffenden historischen Werke[1]).

Über die neuen Funde prähistorischen und römischen Ursprungs orientirt man sich am leichtesten aus dem Archäologiai Értesitö[2]). Das größte Interesse erweckten die zwölf punzirten und mit drei Kaiserporträts versehenen Goldbarren von Kraszna, deren Prägung von den Forschern annähernd in die Zeit zwischen 364—392 gesetzt wird. Was die Porträts und die Bestimmung der Barren betrifft, so ist dies eine noch ungelöste Frage. — Was Fr. Pulszky[3]) über das Charakteristische der Funde aus der Völkerwanderungsepoche anführt, ist nicht neu und von ihm selbst schon wiederholt dargestellt worden.

---

[1]) Vgl. Jahresberichte der Geschichtswissenschaft (1888) 3, 125 ff.

[2]) Im Berichtjahr erschien Bd. 8, herausgegeben von Jos. Hampel. Verlag der ungar. Akademie.

[3]) Studien über die Denkmäler aus der Zeit der Gothen und Attila's. (Histor. Abhandl. d. ungar. Akad. XIV Nr. 1.) Im Auszug auch in der Ungar. Revue (deutsch) erschienen (1888) S. 725; (1889) S. 465.

Die Abstammung der Magyaren wurde von Paul Hunvalfy neuerdings eingehendst besprochen [1]). — Lad. Réthy leugnet die traditionelle Herkunft der Székler von den Hunnen und erklärt die alte Széklerschrift für das Machwerk eines mit den hebräischen Schriftzügen vertrauten Theologen des 16. Jahrhunderts [2]). — K. Fischer wandelte auf neuen Pfaden, insofern er aus der Farbe der in verschiedenen Theilen des Landes getragenen, großen Mäntel (Szür) auf die hunnische oder ungarische Abstammung der Bevölkerung Schlüsse zog [3]).

Auf den Zeitraum der Arpáden bezieht sich zunächst eine Arbeit Jul. Pauler's [4]), der in erster Reihe auf Grund des von Rački edirten 7. Bandes der Monumenta Histor. Slavon. meridion. spectantia die Eroberung Kroatiens und Dalmatiens durch Ladislaus I. und Kolomanus in ein neues Licht stellt. Die ungarischen Chronisten des 14. Jahrhunderts benutzten nur späte Quellen über diese Ereignisse und würdigen zudem in Ladislaus vorwiegend den Heiligen. Was Dandolo über eine Expedition Stephan des Heiligen und Peter's in das Küstenland berichtet, beruht zwar auf einer älteren, verloren gegangenen ungarischen Quelle; doch verwechselte der venezianische Chronist die Führer dieser Expedition, indem er statt der genannten Könige die Regenten Andreas und Salomon mit der Führung betraut. Im allgemeinen läßt aber Dandolo durchblicken, daß die Selbständigkeit Kroatiens im Schwinden begriffen gewesen sei, wie denn auch die größere Machtentfaltung unter Peter III. Krescimir die letzte Kraftanstrengung des Landes bedeutete. Als das Jahr der Eroberung durch Ladislaus hält Pauler entschieden 1091 fest. Die Erhebung unter dem Prätendenten Peter setzt er in's Jahr 1096, dessen Besiegung durch Kolomann (beim heutigen Pietrosello) in's Jahr 1097. Die Konvention mit Venedig setzte aber dem Vordringen der Ungarn in Dalmatien bald Schranken. (Die kroatischen Historiker verlegen diesen Vertrag in's Jahr 1101, Pauler ist geneigt, einen früheren Zeitpunkt anzunehmen.) Erst nach der

[1]) Die Völker des Ural und ihre Sprachen (Ungar. Revue S. 384 f.).

[2]) Die sog. hunnisch-skythische Székler-Schrift; erschien zuerst im Arch. Értesitö, dann in Separatabdruck.

[3]) Erklärung der „schwarzen" und „weißen" Hunnen und Magyaren. (Budapest.)

[4]) Die Eroberung Kroatiens und Dalmatiens. Századok (1888) S. 197 u. 320 f.

stattgefundenen Verschwägerung mit dem normannischen und dem byzantinischen Hofe konnte Kolomanus ohne weitere Rücksichten zur Eroberung Dalmatiens schreiten; 1105 nahm er Zara mit stürmender Hand, worauf sich auch Sebenico und Trau, ebenso Arbe, Veglia und Ossero ergaben. Venedig mußte ihn gewähren lassen, ja im Jahre 1108 mußte es die ungarischen Hülfstruppen, die Alliirten des byzantinischen Hofes, behufs Verwüstung des Gebietes von Tarent nach Italien überschiffen. Die Frage, ob sich Kolomanus wirklich zum Könige von Kroatien habe krönen lassen, läßt Pauler unentschieden, da die mangelhaften und widersprechenden Angaben der Quellen und Urkunden eine bejahende Antwort nicht gestatten. Schließlich gedenkt er des vor Zaras Mauern abgehaltenen Landtages (curia), (1111?), auf welchem Kolomanus im Grunde nur die Privilegien der dalmatinischen Kirche bestätigte.

Auch für die älteste Geschichte der Siebenbürger Sachsen liegt ein interessanter Beitrag vor. Nachdem Keintzel an der Hand der sprachlichen Verwandtschaft als Heimat der Sachsen das mittelrheinische Gebiet um Köln, Bonn, Düsseldorf-Trier eingehend feststellte, hat nun Fr. Zimmermann[1]) die Route der Einwanderung vom Donauknie bei Waitzen ausgehend, über Szathmár (event. über Großwardein) in's Thal der Szamos und dann jenes der Maroſch und Kokel festgesetzt. Die Ansicht Reschner's, die Kolonisten seien donauabwärts bis Nicopolis gefahren und von dort längs dem Olt durch den Rothenthurm-Paß nach Siebenbürgen gezogen, ist nicht mehr haltbar.

Gust. Wenzel[2]) hat sich als Helden einer Biographie Herzog Rostislaw von Galizien ausersehen, der 1243 der Eidam Bèla IV., wurde, 1249 das mit ungarischer Hülfe eroberte Halitsch verlor, später das Banat von Machow verwaltete, 1246 an der Fischach, 1260 bei Kroissenbrunn mitfocht und 1263 starb. — Manguca[3]) vollendete seine Ausführungen über eine, von Ladislaus IV. gegen die Kumanen gerichtete (von den ungarischen Historikern angeblich verschwiegene) Expedition, deren Ziel die Bekehrung und Ansiedlung dieses Räuberstammes gewesen sei.

---

[1]) Über den Weg der deutschen Einwanderer nach Siebenbürgen (Mitth. d. Inst. f. österr. Gesch. 9, 46). Vgl. H. Z. 60, 363.

[2]) H. Rostislaw von Galizien. (Histor. Abhandl. d. ungar. Akademie XIII Nr. 8.)

[3]) Die Chronik des Huru (erschienen in d. Rumän. Revue 1887—1888).

Über den Beginn der Epoche 1301—1526 hat namentlich Ant. Pór eine Reihe Untersuchungen in verschiedenen Zeitschriften veröffentlicht; so über die Wittwe Andreas III., Königin Agnes; ferner über die mächtigen Oligarchen der Übergangszeit, die Güssinger Grafen und den Palatinus Matthias Chák; schließlich über den nicht minder gewaltthätigen Woiwoden von Siebenbürgen, Ladislaus, der Otto von Baiern der Krone beraubte und denselben gefangen hielt. Dieser Ladislaus stammte indes nicht, wie bisher angenommen wurde, aus dem Geschlecht der Apor, sondern vielleicht aus jenem der Kean. Auch einem Getreuen Robert Karl's, dem Feldherrn und höchsten Richter des Landes, Alex. Köcski, hat Pór ein biographisches Denkmal errichtet; es ist derselbe, welcher bei Mühldorf das ungarische Hülfscorps befehligte. Ein anderer hervorragender Mann dieser Zeit war der Palatinus Kopasz, der es zuerst mit Otto, dann mit Chák, endlich mit Robert Karl hielt, dann aber auch gegen diesen sich empörte und dabei umkam. Sein Geschlecht war jenseits der Theiß begütert und schon unter den letzten Arpáden mächtig. Es ist nicht ausgeschlossen, daß die Mörder Ladislaus' IV. nur die Werkzeuge der Familie Kopasz gewesen seien[1]).

Unter dem zweiten Könige aus dem Hause Anjou that sich, sowohl auf den Feldzügen gegen Neapel, wie auch bei den inneren Bewegungen die Familie Laczkfy hervor[2]), von vielen fälschlich mit den Apors identifizirt. Karácsonyi weist nach, daß nicht Stephan Laczkfy, sondern der Condottiere Ulrich Wolfhard von Ludwig dem Großen zum Anführer der in Neapel verbliebenen Truppen und zu seinem Statthalter ernannt worden sei. — C. Steinherz hat die im letzten Bericht erwähnten Untersuchungen über die Beziehungen Ludwig's zu Karl IV. zum Abschluß gebracht und mehrere Excerpte beigefügt[3]). — Der Gymnasiallehrer Mitis[4]), dem wir schon manchen Beitrag zur nationalen Geschichte verdanken, hat gleichfalls einen Beitrag zur

---

[1]) V. Bunyitai, der Palatin Kopasz (erschien zuerst in den Századok S. 15 u. 129 f., dann im Separatabdruck).

[2]) E. Karácsonyi, die Familie Laczkfy. (Anzeiger des südungar. histor. Vereins [1888] N. F. Bd. 3.)

[3]) Selbe erschienen in den Mitth. des Inst. f. österr. Gesch. (1889) 9, 529.

[4]) La Dalmazia ai tempi di Ludovico il Grande, re d'Ungheria. (Zara, Artale.)

Geschichte Ludwig's geleistet. — Eine englische Zeitschrift brachte einen Brief Petrarca's zum Abdruck, in welchem sich der damalige Hofkaplan und Sekretär der Königin Johanna von Neapel über den mit Herzog Andreas von Ungarn gekommenen Frater Robert, den Günstling und Rathgeber des jungen Fürsten, sehr ungünstig ausspricht[1]). — M. Wertner hat den Stammbaum der Anjou revidirt und manche irrige Angabe beseitigt[2]).

Über Sigismund sind zunächst die einschlägigen Partien der vortrefflichen Geschichte Österreichs von Alf. Huber; Bd. 3 zu vergleichen; hierauf beziehen sich Buch V und VI. — Der 5. Band des im Auftrag der Familie von Emr. Nagy edirten Zichy-Codex[3]) enthält 504 lateinische Urkunden aus den Jahren 1396—1409, zumeist privatrechtlicher Natur. Doch geht auch die Landesgeschichte nicht leer aus. So erfährt man z. B., daß der Primas Joh. Kanizsay sich während der Gefangenschaft Sigismund's nicht Kanzler des Königs, sondern Kanzler der heiligen Krone nannte, und daß der Judex Curiae die übliche Formel domini Sigmundi Dei gratia regis Hungariae gleichfalls wegließ.

Damit sind wir zum Zeitalter der Hunyadi gelangt. Eine polnische Arbeit[4]) befaßt sich mit der Wahl Wladislaw's III. (I.) zum König von Ungarn. Ferner fallen zwei kriegsgeschichtliche Arbeiten in den Rahmen dieser Regierung. Joh. Temesváry verlegt den Sieg Joh. Hunyadi's (1442) von St. Imre nach Hermannstadt. Wichtiger ist die eingreifende Untersuchung Eug. Horváth's über die Vorgeschichte und den Verlauf der Schlacht bei Warna; die übliche Darstellung, welcher auch die Karte bei Feßler zu Grunde liegt, beiseite lassend, rekonstruirt Vf. zumeist im Anschluß an die Darstellung Köhler's den Verlauf des verhängnisvollen Tages[5]).

---

[1]) L. Kropf, A royal Mausoleum. (The Art Journal 1888, Februar-Heft.) Beigegeben ist eine Abbildung des Grabdenkmals der Königin.

[2]) Die Genealogie der Anjou (erschien im Turul 6, 14. 68). Der Berliner „Herold" brachte eine Anzeige.

[3]) Erschien im Verlag der Ungar. histor. Gesellschaft 9, 616.

[4]) Der Verfasser ist J. Zagrodszky. Die Arbeit erschien als Programmabhandlung der Krakauer Staatsrealschule.

[5]) Erschien im Hadtörténelmi Közlemények 1, 104. 268. Eine kurze Inhaltsangabe geben die Jahresber. d. Geschichtswissenschaften (1888) 3, 234.

Eine neu entdeckte Urkunde (1457) Ladislaus' V. überträgt die konfiszirten Güter der „treulosen" Hunyadi auf deren Gegner[1]).

Über Matthias Corvinus handelt zunächst im allgemeinen der schon erwähnte Band des Huber'schen Buches. Neues urkundliches Material verdanken wir einem böhmischen Gelehrten[2]). — Fraknói wies nach, daß der Kanzler und langjährige Freund Matthias', Primas Vitéz, im Komitat Körös das Licht der Welt erblickte[3]). — Unter den einschlägigen kriegsgeschichtlichen Arbeiten ist jene von Desider Csánki[4]) die bedeutendste; sie rektifizirt die Erzählung der Belagerung von Schabatz bei Teleki und dessen Ausschreibern. Als Quellen konnte Csánki sieben Briefe Matthias' und ein neuentdecktes, gleichzeitiges „Lied" (Mon. Hist. Hung. Ss. 3, 152) benutzen. Von Bonfini weist er neuerdings nach, daß er Wahres mit Falschem verwechsle; Dlugos' Bericht erweist sich als Matthias ungünstig gefärbt, während Thuróczy an dieser Heldenthat wortkarg vorübergeht.

Über die beiden letzten Jagellonen ist Bd. 5 (zweite Hälfte) von Caro zu vergleichen[5]), ferner der Schluß von Huber's Handbuch (Bd. 3). — Fraknói wies nach, durch welche Spekulationen der Primas Bakócs sein ungeheures Vermögen erworben habe, wobei es nicht immer gerecht und anständig zugegangen ist[6]).

Zsilinszky[7]) nahm sein Thema aus der Zeit der Kämpfe der Gegenkönige Ferdinand und Zápolyai, indem er den wechselvollen

---

[1]) K. Szabó, aus dem Archiv der gräfl. Familie Tholdalaghi. (Történ. Tár. = Histor. Archiv Bd. 11.)

[2]) Kalousek im Archiv Cesky Bd. 7 (1887). Auf Ungarn nehmen die auf S. 228. 237. 346—348. 389—391. 435—436 und 449 publizirten Urkunden Bezug.

[3]) Im 4. Heft der Katholikus Szemle (1888).

[4]) Die Belagerung und Eroberung von Schabatz (erschien zuerst in den Hadtörtén. Közlemények 1, 55).

[5]) Geschichte Polens. Der angezogene Band enthält den Zeitraum von 1481 bis 1506.

[6]) Die Gütererwerbungen des Primas Bakócs (erschien in den Századok 22 (1888), 97 f.). Im Zusammenhang damit erwähne ich den sog. Bakócs-Codex, welchen Kandra in den „Beiträgen zur Geschichte der Erlauer Diöcese" herausgab. Dieses Rechnungsbuch enthält auch über den Zehent, Einnahmen und Ausgaben des Erzbischofs lehrreiche Daten.

[7]) Franz Patócsy. Eine Charakterstudie. (Erschien in den Századok 20, 611.)

Lebenslauf des reichsten Oligarchen im ungarischen Tieflande, Franz Patócsy's, schilderte, der, obgleich ein Todfeind und Rivale Martinuzzi's, dennoch mit einer in den damaligen Zeitläuften seltenen Treue dem Hause Zápolyai anhing († 1552). — Die Monographie Hirschberg's über Hieronym Laski hat in dieser Zeitschrift schon eine Besprechung erfahren[1]). — Einen anderen Staatsmann dieser Epoche, den Bischof von Waitzen und zeitweiligen Kanzler Brodarics, erkor sich S. Székely[2]) als Helden seiner Arbeit. Obgleich unermüdlich um Herstellung des Friedens zwischen den Gegenkönigen und mit dem Großtürken bemüht, gelang es Brodarics nicht, sich die Gunst Ferdinand's I. zu sichern. Unter seinem literarischen Nachlaß hat von jeher die Beschreibung der Schlacht von Mohács, welcher der Bischof beiwohnte, das meiste Interesse erregt. — Über die ganze Regierung Ferdinand's I. handelt die Studie von Ign. Acsády[3]), der insbesondere die finanzielle Seite in's Auge faßte. Aus dem reichen Inhalt dieser, auf archivalischen Studien beruhenden Arbeit sei hervorgehoben, daß Ferdinand aus dem ihm verbliebenen Drittheil des Landes, durchschnittlich genommen, jährlich 400000 Gulden bezog, was nach heutigen Verhältnissen einer Summe von 6600000 Gulden entspricht. Die so oft wiederholten Klagen der Regierung über rückständige Steuersummen erscheinen nicht immer begründet. Im Jahre 1550 z. B. betrug die nicht bezahlte Steuersumme nur fünf Prozent. Andrerseits darf man sich nicht wundern, daß die den Türkeneinfällen am meisten ausgesetzten Komitate ihrer Steuerpflicht nicht nachkamen. Geschah es doch in dem vor den Thoren Wiens gelegenen Preßburger Komitat, daß infolge der türkischen Brandschatzung von 5297 steuerzahlenden Heimstätten (portae) 2663 ihrer Steuerpflicht auf ein Jahr enthoben werden mußten. Der Grundbesitz war überwiegend in den Händen des großen Adels, der in den Ferdinand gehörenden Landestheilen 66 Prozent besaß. Die Kopfzahl der Hörigen setzt Vf. um das Jahr 1550 auf ca. 187000 Familien, d. i. ca. 935000 Seelen. Den im Besitz dieser an die Scholle gebundenen Leibeigenen befindlichen Grund und Boden schätzt Vf. auf 1920000 Gulden, von welchem

---

[1]) S. H. Z. 61, 373.

[2]) Stephan Brodarics, sein Leben und Wirken. (Történeti Tár 11, 1 u. 225 f.)

[3]) Ungarns finanzielle Verhältnisse unter Ferdinand I. (Budapest, Verlag der ungar. Akademie.)

Kapital diese Parias leben, Steuer bezahlen und Kriegsdienste leisten mußten. Die Gesammtbevölkerung Ungarns taxirt Vf. auf etwa ein Fünftel der jetzigen Bevölkerung.

Über die gleichzeitige siebenbürgische Geschichte verbreitete sich L. Szádeczky[1]), der aus Wiener und polnischen Archiven über das fünfjährige Exil der Wittwe Johann Zápolya's und ihres Sohnes (1551—1556) neue Daten beibrachte. Das wichtigste Faktum ist das Attentat gegen das Leben des jungen Fürsten, welches von Ferdinand I. gedungene Mörder verübten. Indes blieb der Prinz unverwundet.

Über die Türkenkriege um die Wende des 16. Jahrhunderts ist gleichfalls einiges zu verzeichnen. Bekanntlich wurden über den groß angelegten Kriegsplan des Jahres 1595 mehrere Memoriale ausgearbeitet, u. a. von Don Juan d'Austria, von Tilly und von Gonzaga. Einen bisher unbekannten, von deutscher Hand verfaßten Plan veröffentlichte G. Gömöry[2]). Derselbe schilderte auch den Heerführer Matth. Somogyi, der vorerst in königlichen Diensten sich in der Zeit von 1604—1605 als geschickter Söldnerführer erwies, später unter Bocskay den nationalen Fahnen folgte, zuletzt aber an den Kämpfen auf der Schütt-Insel und unter Boucquoy (1619) Theil nahm[3]). — Kosmopolitische Farben trägt die Studie unseres in England wohnenden Landsmannes, Ludwig Kropf[4]), der es unternahm, die in englischen Werken vielfach verherrlichten Heldenthaten eines gewissen Kapitäns John Smith in das richtige Licht zu stellen. Vf. beschränkt sich auf kritische Würdigung der in Ungarn und Siebenbürgen geschehenen Siegesthaten und verweist sie in das Reich der Fabeln. Das Smith angeblich von Sigmund Báthory verliehene, im Londoner College of Arms aufbewahrte Wappenschild mit den drei abgehauenen Türkenköpfen ist gleichfalls ein Falsifikat.

Über die Zeiten des Dreißigjährigen Krieges sind zunächst einige Biographien zu erwähnen. Kollányi[5]) setzte dem streitbaren Primas

---

[1]) Isabella und Johann Sigmund Zápolya in Polen. (Verlag der ungar. Akademie.) Vgl. Ungar. Revue (1888) S. 370.

[2]) Eine militärische Denkschrift (erschien in den Hadtörtén. Közlem. 1, 311 f.). Gömöry bietet eine ungarische Übersetzung des deutschen Originals.

[3]) G. Gömöry, ein ungarischer Heerführer. Ebenda S. 480 f.

[4]) Capitain John Smith (erschien im Turul 6, 164 f.).

[5]) Primas N. Oláh. (Preisgekrönte Studie; erschien zuerst in der Kathol. Szemle, dann im Separatabdruck.)

Nik. Oláh, der durch die Berufung des Jesuitenordens die Gegenreformation einleitete, ein vom katholischen Standpunkt errichtetes Denkmal. — Das von J. H. Schwicker[1]) verfaßte Buch über Pázmány, dem Nachfolger Oláh's, ist im wesentlichen ein Auszug aus Fraknói's im letzten Bericht besprochenen Werke. — Über den Führer der Protestanten, Palatinus E. Thúrzó, erschien in der Serie der „Illustrirten Biographien" eine entsprechende Biographie[2]). — Über Bethlen Gábor selbst liegt neues urkundliches Material vor, zunächst über sein Verhältnis zu Emrich Thúrzó (deutsche und ungarische Urkunden aus den Jahren 1613—1621[3]). Von derselben Hand[4]) erschien ferner die Instruktion Bethlen's für seinen Gesandten G. Rákóczy (datirt 3. Sept. 1619), unmittelbar vor dem Ausbruch des ersten Feldzuges erlassen; sodann Aktenstücke, betreffend die Verhandlungen, welche in Hamburg mit den protestantischen Seemächten gepflogen wurden, um die von Ferdinand II. beabsichtigten Konfiskationen in Oberungarn zu verhindern. Schließlich ist ein Vertrag Bethlen's mit dem Berliner Kaufmann Melchio betreffs Lieferung von Queckfilber zu erwähnen. (1626). — Jul. Szabó veröffentlichte zumeist deutsche Urkunden und Briefe[5]) aus der Feder Katharina's von Brandenburg und des Freiherrn v. Listius, ferner die lateinische Vertragsurkunde betreffs der Aussteuer und Morgengabe der Prinzessin. — Den anerkannt prächtigen Hof- und Haushalt Bethlen's würdigt eingehend Baron Béla Radvánszky[6]). — Edm. Olchváry[7]) schildert Bethlen's Feldherrntalent, des weiteren jene 42 Schlachten und Gefechte, an denen er

---

[1]) Peter Pázmány, Kardinal-Erzbischof von Ungarn, und seine Zeit. Köln, Bachem

[2]) Nik. Kubinyi, Graf Emr. Thúrzó. 1598—1621. Budapest, Mehner.

[3]) Herausgegeben von Alex. Szilágyi, dem wir über diese Epoche schon so vieles verdanken; erschienen im Történ. Tár. 11, 401 u. 609 u. d. T.: Aus dem Archiv der Familie Batthyányi zu Kitsee (bei Preßburg).

[4]) Al. Szilágyi, zur Biographie Gabr. Bethlen's (ebenda S. 801—807).

[5]) Die Heirat Bethlen Gábor's mit Katharina von Brandenburg (ebenda S. 640 f.).

[6]) Dieses Werk bildet zugleich den 1. Band eines unter dem Titel: Házi Történelmünk Emlékei in's Leben gerufenen, neuen Unternehmens der Ungar. hist. Gesellschaft. Das Werk ist eine Fundquelle für das häusliche und alltägliche Leben jener Zeit.

[7]) Die Organisation und Kriegskunst Bethlen Gábor's (Hadtörtén. Közlemények 1, 601 f.)

Theil genommen, und untersucht mehrere kriegsgeschichtliche Fragen. Was das Heer Bethlen's betrifft, so war in demselben die Kavallerie dreimal so stark vertreten, als die Infanterie. — Schließlich sei der verdienstvollen, kleinen Arbeit aus L. Óváry's Feder gedacht, der die wichtigsten Resultate der von Mircse vor zwei Jahren veröffentlichten italienischen Urkunden zur Geschichte Bethlen's und seiner Zeit dem großen Lesepublikum mundgerecht zusammenfaßte [1]).

Zur Geschichte Georg Rákóczy's I. und II. liegen zunächst Urkunden über die Beziehungen des erstgenannten Fürsten zur Pforte vor, denen eine internationale Bedeutung insofern zuerkannt werden muß, als das Haus der siebenbürgischen Gesandten in Konstantinopel während der Zeit des Dreißigjährigen Krieges eine Reihe fremder Diplomaten in seinen Mauern sah, welche am Faden der Weltgeschichte spannen [2]). — L. Kropf entdeckte in der Bibliothek zu Durham ein wahrscheinlich von Basirius verfaßtes Manifest G. Rákóczy's II., welches die Anklageschrift Joh. Bethlen's entkräften sollte. Das Manuskript stammt aus dem Jahre 1559. Beigefügt sind mehrere Epitaphien auf den Tod des Fürsten [3]). — Mit gewohnter Pünktlichkeit ist Bd. 13 der Acta Comitialia Transylvaniæ erschienen, welcher das sämmtliche, auf die Reichstage von 1661 bis 1664 bezügliche Material sammt einer auf der Höhe der Forschung stehenden, orientirenden Einleitung aus der Feder des verdienstvollen Herausgebers dieser wichtigen Publikation, Alex. Szilágyi, enthält [4]).

Im Anhang des Bandes finden sich Nachträge zu Bd. 10 und 11, wobei es sich in erster Linie um die Berichte Simonius' und Frank's handelt, deren Tagebücher als unentbehrliche Fundquellen für die Jahre 1640—1661 bezeichnet werden müssen. Was speziell das Tagebuch des Andreas Frank betrifft, so bietet dieses über die Sitzungen der Reichstage von 1657—1661 ein viel vollständigeres Bild, als die

---

[1]) Zur Geschichte der diplomatischen Beziehungen Bethlen Gábor's. (Histor. Abhandlungen der ungar. Akademie.)

[2]) A. Beke und S. Barabás, Rákóczy György és a porta. II. Budapest, Verlag der ungar. Akademie.

[3]) Kropf L., Georg Rákóczy's II. Rechtfertigungsschrift auf Joh. Bethlen's Innocentia Transylvania (Történ. Tár. XI). Vgl. Ungar. Revue (1888) S. 839.

[4]) Erdélyi Országgyülési Emlékek XIII. Budapest, Verlag der ungar. Akademie.

anderen Zeitchroniſten. Die einzelnen Sitzungsberichte pflegte Frank durch tagebuchartige Anmerkungen mit einander zu verknüpfen. Szilágyi veröffentlichte vorläufig die letzteren[1]). Zugleich ergab ſich als Gewißheit, daß Frank über die Belagerung Hermannſtadts im Jahre 1659—1660 das durchaus verläßliche Tagebuch des Demetrius Keresztúry benutzte.

Über die Ereigniſſe in Ungarn unter der Regierung Leopold I. iſt noch folgendes nachzutragen. Der Bericht des modeneſiſchen Agenten Olivi[2]) bringt auch über die ungariſchen Verhältniſſe während der Jahre 1659—1660 einiges von Intereſſe. Ein bisher unbekannter Brief Nikol. Zrinyi's weiſt die Nothwendigkeit der Wiedererbauung der Veſte Zerin als im Intereſſe des Landes nach[3]). Hauptmann Götz[4]) ſetzte die Publikation der Berichte Karl Guſtav's von Baden-Durlach über den türkiſchen Feldzug von 1685 fort und veröffentlichte auch einen Plan von Neuhäuſel, ſowie eine Liſte aller deutſchen Regimenter, welche an der Belagerung Ofens Theil genommen haben. — L. Szádeczky brachte die Korreſpondenz Sobieski's mit Mich. Teleki aus den Jahren 1684—1686 zum Abſchluß[5]). — Die Geſchichte Thökölyi's bereicherten S. Gergely[6]) und die aus der Feder D. Angyal's ſtammende, durchaus vortreffliche Biographie des Kurutzenkönigs[7]); das letztere Werk beruht vorwiegend auf Material der Pariſer und Wiener Archive. — Eug. Horváth[8]) ſchiebt die Schuld am Mißlingen der Belagerung von Kanizſa im Jahre 1664 dem Führer der deutſchen Hülfstruppen, Hohenlohe, in die Schuhe, der von Anbeginn an ſich mit dem kaiſerlichen Feldherrn Strozzi und mit Nikol. Zrinyi über die nöthigen Maßregeln nicht zu einigen wußte und auf eigene Fauſt die Belagerung vorzeitig aufhob. — G. Balázs[9]) beſprach eingehends die Geſchicke der Feſtung Neuhäuſel, ſpeziell die

[1]) Das Tagebuch des ſächſiſchen Chroniſten A. Frank (Történelmi Tár. 11, 35).

[2]) Veröffentlicht in der Revue Histor. Diplomatique (1888) H. 4.

[3]) Veröffentlicht von F. Kanyaró in der Történelmi Tár 11, 605—608.

[4]) In der Történelmi Tár. Bd. 11. Im Separatabdruck bei Kilián, Budapeſt, erſchienen.

[5]) In der Történelmi Tár. 11, 160. 334 f.

[6]) Thökölyi und die franzöſiſche Diplomatie S. 471. 707 f.

[7]) Thökölyi Imre. Budapeſt, Mehner.

[8]) Die Arbeit erſchien in den Hadtörtén. Közlemények 1, 632.

[9]) Ebenda 1, 199. 431 f.

Belagerung und Eroberung von 1663 durch die Türken, sowie die Rückeroberung im Jahre 1685. — Seit 1689 kämpfte gegen die Türken auch der später berühmt gewordene Marschall Villars, der am Siege von Mohács einigen Antheil hatte. Seine Briefe aus dem Feldlager finden sich im 1. Band seiner Memoiren. Jetzt hat Vogüé[1]) bisher unbekanntes Material veröffentlicht, das auch über das Verhältnis Villars' zu Prinz Eugen Streiflichter wirft. — Über die Türkenkämpfe der Jahre 1689—1699 liegt eine Regimentsgeschichte vor[2]). — Über die Ende des 17. Jahrhunderts aufgetauchten angeblichen Grafen Brankovics, sowie über deren Verbindung mit der ungarischen Hofkanzlei und deren Wühlereien unter dem neugewonnenen Serbenelement hat L. Thallóczy eine interessante Studie veröffentlicht, die auch in deutscher Übersetzung vorliegt[3]).

Über den Aufstand Franz Rákóczy's hat auch diesmal Koloman Thaly, sozusagen der Leibhistoriograph dieses Fürsten, mehreres veröffentlicht[4]). Er bespricht namentlich die Schwierigkeit der Formirung der nationalen Armee Rákóczy's, welcher das unter Eugen von Savoyen und andern berühmten Heerführern auf die Höhe seiner Aufgabe gebrachte kaiserliche Militär mit siegreicher Übermacht gegenübertrat. Die einzelnen Waffengattungen und Stärke derselben besprechend, weist Thaly nach, daß Rákóczy 1705 über 75,000 Mann irreguläre Truppen gebot. Bei Szathmár kapitulirten 12000 Kurutzen mit 149 Fahnen. An der Spitze der Artillerie standen französische Offiziere, deren einer, de la Mothe, auch ein schriftliches Gutachten über die nöthigen Verbesserungen verfaßte. — Krones[5]) schilderte den eifrigen Anhänger Rákóczy's, Nik. Bercsényi, zumeist im Anschluß an die einschlägigen Arbeiten Thaly's. M. Zsilinszky[6]) betont zunächst, daß sich im Rath des Königs Joseph I. unter 34 Räthen außer dem

---

[1]) Vgl. H. Z. 62, 564.

[2]) Staudinger, das kgl. baierische Infanterie-Regiment Nr. 2 [Kronprinz] Bd. 2. (1689—1704.) München.

[3]) In der Ungar. Revue (1888) H. 9—10.

[4]) Politikiai és müvelödéstörténeti adalékok a Rákóczy felkeléshez (Történelmi Tár 11, 789). — Ferner: Das Heer Fr. Rákóczy's (in Hadtörténeti Közlemények 1, 12. 343 f.

[5]) Niklas II. Graf Bercsényi (erschien in der Cotta'schen Zeitschrift für Geschichte u. Kulturwissenschaft [1888] H. 12).

[6]) Beiträge zur Geschichte des Reichstages von Preßburg (1708), erschienen im Verlag der ungarischen Akademie (Histor. Abhandl. 13, 90).

Primas nur ein einziger Ungar befand; daß ferner Ungarn von der Soldateska brutal behandelt wurde und, entgegen dem Gesetz, durch lange Zeit keine Reichstage gehalten wurden. Ferner weist er nach, daß Joseph deshalb nicht auf dem Preßburger Reichstag (1708) erschien, weil er befürchtete, daß die Stände den damals in Mitteleuropa siegreich vordringenden Schwedenkönig zum ungarischen König ausrufen würden. Der Reichstag selbst verlief aus dem Grunde resultatlos, weil die katholische Majorität die Gravamina der Protestanten niederstimmte und die an Joseph gerichtete Petition der Letzteren unbeantwortet blieb. — Das Tagebuch des Schatzkämmerers Kövösy, eines Vertrauten Rákóczy's, hat Thaly herausgegeben[1]). — Derselbe schilderte auch den Lebenslauf des Husarenobersten A. Jávorka, der sich während des Aufstandes vor dem Feinde stets mit Auszeichnung benahm, den zum Verräther gewordenen Ladisl. Ocskay rechtzeitig gefangen nahm, später aber nach der ungarischen Emigrantenkolonie Jaroslaw in Galizien flüchtete und um die Sicherung und Rückbeförderung des Forgách'schen Archivs sich große Verdienste erwarb[2]). Im Anhang gibt Thaly[3]) aus dem Jaroslawer Kirchenbuch die Namen der von 1714 bis 1757 dort verstorbenen Ungarn und schildert deren letzte Ruhestätte.

Über das ganze 18. Jahrhundert verbreitet sich das mit großem Interesse und Beifall aufgenommene Werk Béla Grünwald's[4]), eines der hervorragendsten Führer der parlamentarischen Opposition, der bisher nur als Politiker hochgeschätzt, sich hier auch als selbständig denkender, den Dingen auf den Grund sehender Historiker bekundete. Über das Werk, welches in gleichsam pathologischer Weise die Gründe des nationaleu Verfalls Ungarns im genannten Zeitraum bloßlegt und auf drei Kardinalmängel zurückführt, liegen auch in deutscher Sprache ausführliche Besprechungen vor, auf welche ich Raummangels halber hiermit verweise[5]). — Da Grünwald als Anhänger der centralistischen Staatsadministration die alte Komitatsherrlichkeit nicht in den rosigsten

---

[1]) Aus dem Tagebuch G. Kövösy's 1707 — 1708. (Századok [1888] S. 42. 156 f.)

[2]) Oberst Adam Jávorka. (Ebenda S. 293 f.)

[3]) Nachtrag. (Ebenda S. 768 f.)

[4]) A régi Magyarország (das alte Ungarn) 1711—1825. (1. u. 2. Aufl.) Budapest, Franklin.

[5]) S. Ungar. Revue. Jahrg. 1887 u. 1888.

Farben darstellte, hielt es ein eifriges Mitglied der Komitats-Gentry [1]) für nöthig, jener Periode möglichst viele Lichtblicke abzugewinnen und die Schuld an dem unleugbaren Jammer einzig und allein der Regierung in die Schuhe zu schieben.

Die Arbeiten über die Regierung Maria Theresia's sind zumeist kriegsgeschichtlichen Inhalts. Hieher gehört die Biographie des Feldmarschalls Nádasdy's von Eug. Horváth [2]). — Heinrich berichtet über jene sieben preußischen Kriegsgefangenen, welche auch nach dem Frieden von Hubertsburg in Hetzeldorf (Siebenbürgen) verblieben [3]).

Über Ungarn zur Zeit Joseph's II. ist der Schlußband der großen Biographie von H. Marczali zu verzeichnen [4]). Er bespricht zunächst die „Sozialen Reformen" und den Aufstand, die Regelung der Urbarialverhältnisse, die Reorganisirung der Komitate und Reformen auf dem Gebiete der Justizgesetzgebung. Das folgende Buch bringt unter dem Titel: „Der Kaiser" ein Resumé über die Ergebnisse seiner Regierung, ferner Partien kulturgeschichtlichen Inhalts, während das letzte Buch den Türkenkrieg und den Zusammenbruch des Systems behandelt. Auch dieser Band beruht auf eingehenden archivalischen Studien und weist im übrigen dieselben Vorzüge und Mängel auf, welche die Kritik [5]) schon bei Erscheinen der ersten Bände hervorgehoben hat. — Nachträglich hat die ungarische Akademie zu allen drei Bänden einen zuverlässigen Index [6]) anfertigen lassen. — Von kleineren Arbeiten ist diejenige Emr. Waltherr's zu nennen [7]), der die Wirkung der Erlasse Joseph's auf die öffentliche Meinung in Ungarn schilderte. — Die von K. Torma zum Abschluß gebrachte Publikation der Memoiren des 1787 in Siebenbürgen gestorbenen pensionirten Generals Graf Franz Gyulai enthält Beiträge zur Hora-Empörung [8]).

[1]) Ludwig Mocsáry, der alte ungar. Adel (A régi magyar nemes). Budapest, Franklin.

[2]) In den Hadtörtén. Közlemények erschienen. Bd 1. Deutsch in der Ungar. Revue (1888) S. 251.

[3]) Korrespondenzblatt des Vereins für siebenbürg. Landeskunde 11, 86.

[4]) Magyarország története II. József korában. Bd. 3. Budapest, Verlag der Akademie.

[5]) Den ungarischen Kritiken hat sich jetzt auch ein französisches Referat zugesellt. S. Revue historique 62, 149—166.

[6]) Verlag der Akademie.

[7]) Die Erlässe Joseph's II. (Hazánk [1888] 10, 194.)

[8]) Diese Memoiren erschienen im Hazánk und erstrecken sich über die Jahre von 1715 bis 1787.

Nach einer Aufzeichnung des Obergespans des Torontáler Komitats, Balogh, gab Leopold II. sich der Hoffnung hin, daß es mit der Macht des Klerus nunmehr für immer vorbei sei[1]).

Über den Zeitraum von ca. 1780 bis 1825 handelt (außer dem schon besprochenen Grünwald'schen Buch) das Werk von Géza Ballagi[2]), welches die politische, an Flugschriften schier überreiche Literatur Ungarns bespricht. Im Eingang wirft Vf. auf die Geschichte der Censur in Ungarn einen Rückblick. Von Ferdinand I. angefangen bis Leopold I. unterlag die vaterländische Literatur der Wiener Censurbehörde. Erst der letztgenannte Fürst ernannte in der Person Martin Szentiványi's einen ungarischen Censor. Die vom Primas und dem Bischof von Waitzen ausgearbeiteten Statuten für die Censoren waren den protestantischen Autoren nicht günstig. Die Rolle der Censur unter Maria Theresia ist bekannt. Als Kuriosum mag erwähnt werden, daß 1777 auch das Verzeichnis der verbotenen Bücher auf den Index gesetzt wurde, damit „böse Menschen nicht die schlechten, und gescheidte Leute nicht die gescheidten Bücher kennen lernten". Unter Joseph II. kam es zu einer Besserung, während Franz I. auch auf diesem Gebiete die Reaktion einführte. Der vom Propst Sauer befürwortete Erlaß vom Jahre 1795 machte der Preßfreiheit ein Ende. — Der eigentliche Kern des Buches befaßt sich sodann mit der unter der Einwirkung der französischen Revolutionsideen entstandenen politischen Literatur, welche sowohl auf kirchlichem, wie auf politischem und rein wirthschaftlichem Gebiete kühne Neuerungen beantragte.

Das letztgenannte Werk bildet den Übergang zur Regierung Franz I. — Hier möge die ungarische Übersetzung der bekannten Historia Jacobinorum Hungaricorum von Ant. Szirmay genannt sein, in welche der Bearbeiter die einschlägigen Stellen aus den Jegyzetek des in die Verschwörung eingeweihten Kazinczy's eingeflochten hat[3]). — Kriegsgeschichtlichen Charakter zeigt die archivalische Studie von G. Gömöry[4]), der die Schwierigkeiten der Reorganisirung der ungarischen Adelsinsurrektion und deren Ordre de bataille aus den Jahren 1797 und 1800/1 darstellt. Die Insur-

---

[1]) Ludwig Abafi, Peter Balogh de Ocsa (Hazánk 9, 116).

[2]) A politikai irodalom Magyarországon. Budapest, Franklin.

[3]) Erschien bei L. Aigner, Budapest.

[4]) Die Insurrektionsarmee im Jahre 1797 und 1800/1 (Hadtörtén. Közlemények 1 (1888), 47.

rektion zählte 1797: 18017 Reiter und 3556 Infanteristen; im Jahre 1800/1 insgesammt 37378 Mann. Der siebenbürgische Adel wurde nicht aufgerufen; dagegen stellte der kroatisch-slavonische 3763 Mann. Gömöry weist ferner nach, daß Ungarn in den Jahren 1797—1800 115000 Rekruten für die reguläre Armee in's Feld stellte.

Über die Zeit der Reform-Reichstage (1825—1848) ist die Zeitschrift Hazánk zu vergleichen, welche sich in erster Reihe mit dieser Epoche befaßt. Die wichtigste einschlägige Publikation dürfte das Tagebuch Ludwig Kalovich's über den Reichstag von 1825 bis 1827 sein. Auch die von E. Kerékgyártó aufgefundenen Sitzungsprotokolle der königlichen Tafel in Angelegenheit des Prozesses Kossúth's (1839) sind im Hazánk erschienen. Das Tagebuch von Emr. Walther über die Jahre 1846—1850 findet der Leser gleichfalls in dieser Zeitschrift.

Die Geschichte des Freiheitskampfes von 1848 bis 1849 hat, wie alljährlich, auch im Berichtsjahr eine große Anzahl mehr oder minder berufener Bearbeiter gefunden, deren Arbeiten zumeist im Hazánk eine Unterkunft fanden. So die „Erinnerungen" der Frau Alex. Vachott, ferner Briefe aus der Feder Szemere's und Lázár Mészáros', das Tagebuch des Temesvárer Piaristen Lapónyi, die Memoiren des Honvédmajors G. Pünkösti u. s. w.; Kmety und Moriz Perczel erhielten je ein biographisches Denkmal. — Von den selbständig erschienenen Arbeiten ist der 2. und 3. Band von Stephan Görgey's Werken zu nennen [1]), der es sich zur Aufgabe gemacht hat, seinen Bruder, den Honvédgeneral und Unterzeichner der Kapitulation von Világos, von dem auf ihm ruhenden Verdacht des Verrathes zu befreien. Das umfangreiche und dokumentarisch beglaubigte Werk hat von Seite der 1848er Partei und ihren Anhängern viele Anfeindungen über sich ergehen lassen müssen. — Schließlich schilderte ein italienischer Historiker den Antheil seiner Landsleute am ungarischen Freiheitskampfe [2]).

Über die Ereignisse der jüngsten Zeit, von 1850 angefangen, liegen gleichfalls mehrere Arbeiten vor. Das Buch von Fr. Pulszky, „Phantasie und Wirklichkeit", enthält u. a. gelungene Charakterbilder von Eötvös, Széchenyi, Deák und Aurel Dezsewffy [3]). — Ráth

[1]) 1848 és 1849 böl. (Budapest, Franklin.) Vgl. die Ungar. Revue 1888 und 1889.

[2]) Conte Bettoni-Cazzagno, Gli Italiani nella guerra d'Ungheria. Storia e documenti. (Milano, Fratelli.)

[3]) Ábránd és valóság. Budapest, Aigner.

begann ein, dem Andenken Deák's gewidmetes, großes Lieferungswerk[1]). — Mit Deák, dem Juristen und Staatsmann, befaßt sich auch die Studie Steinbach's[2]). — Von Deák's Reden hat Kónyi den 3. Band veröffentlicht, der die Jahre 1861—1866 umfaßt[3]). Der Sammelfleiß des leider unlängst gestorbenen Herausgebers wurde und wird viel zu wenig gewürdigt. — Bei Herausgabe dieses Bandes benutzte er auch das bisher unveröffentlichte Tagebuch G. Lónyai's und L. Gorove's. — Über Trefort gab sein Mitarbeiter im Ministerium, Sektionschef Szász, eine Biographie heraus[4]). — Auf die in deutscher Sprache vorliegende Studie Reményi's sei gleichfalls hingewiesen[5]). — Aus Trefort's Nachlaß wurde ein im Jahre 1861 entworfenes Memoriale veröffentlicht[6]), welches den Beweis erbringt, daß er schon damals die Institution der Delegationen befürwortete und daß er für die Errichtung eines gemeinsamen Handelsministeriums und der selbständigen ungarischen Armee Gründe vorbrachte, die er später als Minister bekämpfte.

Quellenedition en. Einige der einschlägigen Publikationen wurden schon oben erwähnt. Hiezu kommt noch das Diplomatarium Hortense, welches 210 Urkunden aus den Jahren 1256—1399 enthält, die meistens privatrechtlichen Charakter tragen und in erster Reihe die Geschichte der im Honter-Komitate ansässig gewesenen Adelsfamilien berühren[7]). — L. Óváry verdanken wir Regesten über die in italienischen Archiven aufbewahrten, auf Ungarn bezüglichen Urkunden[8]). Die Regesten erstrecken sich über die Zeit von 901 bis 1439.

An Quellenuntersuchungen mangelt es noch immer in empfindlicher Weise[9]).

---

[1]) Deák Ferencz emlékezete. Budapest, Ráth.

[2]) G. Steinbach, Franz Deák. Wien, Manz.

[3]) Deák Ferencz beszédei. Budapest. Franklin.

[4]) Trefort Ágost, 1817 — 1888. Preßburg, Stampfel. Vgl. Ungar. Revue (1888) S. 608.

[5]) Zwanzig Jahre Verfassungsleben in Österreich-Ungarn (erschien in der Deutschen Rundschau 1888, Februar-Heft).

[6]) Zur Lösung der ungarischen Frage. Ungar. Revue (1888) S. 655.

[7]) Franz Kubinyi, Magyar Történelmi Emlékek. II. (Bd. I. dieses Unternehmens erschien im Jahre 1864).

[8]) Erschienen im Történelmi Tár 11, 450.

[9]) Hier wäre zu erwähnen der oben (S. 124) angezogene Aufsatz über Brodarics; ferner die Studie von Dudás über die ungarische Historiographie

Von Werken allgemeineren Inhalts ist nur Bd. 5 der Gesammelten Werke Arnold Ipolyi's rühmenswerth hervorzuheben[1]). Er umfaßt die „Reden" (zumeist diejenigen, welche der Verstorbene in der Akademie hielt), und schließlich einen Index zu sämmtlichen fünf Bänden.

Stattlich sind vertreten die verschiedenen historischen Hülfswissenschaften. Fast jede dieser Disziplinen hat ihr eigenes Fachorgan. So z. B. die Genealogie und Heraldik in der Zeitschrift Turul, die Bibliographie in der Magyar Könyvszemle, welche beide eine lange Reihe einschlägiger Arbeiten enthalten. Seit 1888 verfügt auch die Ungarische Kriegsgeschichte über eine eigene Fachzeitschrift, die von Eugen Horváth redigirte Hadtörténeti Közlemények, deren wichtigere Aufsätze oben erwähnt wurden. — Hier wäre ferner das neue große Werk von Petrik[2]) zu nennen, dessen Inhalt die ungarische Bibliographie von 1711 bis 1860 bilden wird; gleichsam eine Fortsetzung von Kertbeny's Torso. Bibliotheken sei dies vortreffliche, geschickt angelegte und viel praktische Winke enthaltende Buch bestens empfohlen. — Ferner muß die Arbeit L. Thallóczy's über die illyrischen Wappensammlungen genannt werden, welche auch in deutscher Übersetzung vorliegt[3]).

Auf dem Gebiet der Kirchengeschichte herrscht rege Thätigkeit. Hier seien genannt: Böredy, Die Echtheit des sog. Privilegiums des hl. Stephan von Ungarn[4]). Ferner: der neue Band der Monum. Vaticana Historiam R. Hungariae illustrantia, welcher 349 Bullen des Papstes Bonifazius IX., des Gegners von König Sigismund, enthält[5]). Die Biographien über Primas Oláh und Pázmány wurden

---

im 18. Jahrhundert (Hazánk Bd. 10). — Alex. Mika, ein sächsischer Historiker (Programmabhandlung der Kronstädter Staatsrealschule 1888). Diese Arbeit befaßt sich mit dem Buche G. Hermann's: „Das alte und das neue Kronstadt".

[1]) Ipolyi A., Kisebb müvei Bd. 5. Budapest, Franklin. Noch sei genannt: E. D. Gerard, The Land beyond the forest. I. II. Edinburgh (handelt über Siebenbürgen).

[2]) Magyarország bibliographiája Bd. 1, erste Hälfte. Budapest, Dobrovszky-Frank.

[3]) In der Ungar. Revue (1889).

[4]) Erschien im Archiv für kath. Kirchenrecht (1888).

[5]) Bd. 3 der ersten Serie. Budapest, Franklin. Sämmtliche Bullen rühren aus der Zeit von 1389 bis 1396 her.

schon oben genannt. E. Karácsonyi[1]) beschäftigte sich mit den kirchlichen Synoden des 11. und 12. Jahrhunderts, speziell mit den Synoden unter Stephan dem Heiligen, Ladislaus I. und Kolomanus. — J. Reiner gab eine historische Übersicht der Besetzung der ungarischen Bisthümer[2]). — Über die Studie von Akusius Timon, welche das Patronatsrecht der ungarischen Städte behandelt, liegt auch eine deutsche Anzeige vor[3]). Die wichtigste literarische Erscheinung ist aber der endlich veröffentlichte erste Band der Kirchengeschichte des berühmten protestantischen Historikers Peter Bod (gest. 1768)[4]). Das 1114 Seiten zählende Manuskript wurde im Jahre 1756 zum Druck nach Leyden befördert, blieb aber dort auf lange Zeit verschollen, bis es von Karl Szalay 1884 aufgefunden und von demselben zusammen mit Professor Rauwenhoff zum Druck befördert wurde. Buch 1 und 2 reicht bis zum Wiener Frieden 1606. Naturgemäß entspricht das Werk nicht dem heutigen Stand der Forschung; aber mit dem Maßstab seiner Zeit gemessen, verdient es volle Beachtung. Es vertritt die von den Neueren aufgegebene Meinung, nach der die junge ungarische Kirche anfangs mehr griechisch als römisch gewesen wäre (Kapitel 11). S. 119 behauptet er, „die wahre Lehre" hätten in Ungarn die Waldenser erhalten, und druckt zugleich einen Waldenser-Katechismus ab. Buch 1 schließt mit der Schilderung des Hussitismus (der auch in Ungarn tiefere Wurzeln besaß, als man heutzutage gewöhnlich annimmt) und mit einem Rückblick auf die Verderbnis des katholischen Klerus vor der Reformation. Das zweite Buch enthält die Geschichte der Reformation bis zum Siege Bocskay's, jedoch nicht in zusammenhängender Darstellung. Kap. 5 bespricht das Leben der hervorragenderen Gönner der neuen Lehre. Kap. 7 ist besonders Honterus gewidmet; von Luther sind zwei Briefe eingefügt. Auch das Religionsgespräch von Schäßburg (1538) ist abgedruckt. Die Streitigkeiten der verschiedenen Kirchen werden ausführlich behandelt, wobei besonders die siebenbürgische Kirchengeschichte im Auge behalten wird. Bod fügt auch urkundliches Material, wie Synodalbeschlüsse und amtliche Verzeichnisse bei. Den Beschluß

---

[1]) In ungarischer Sprache (Raab).

[2]) Im Archiv für kath. Kirchenrecht (1888) erschienen.

[3]) Ebenda (1889).

[4]) Bod, Historia Hungarorum ecclesiastica inde ab exordio novi testamenti ad nostra usque tempora. Tom. I. Lugduni Batavorum, Brill.

des zweiten Buches bildet eine gedrängte Schilderung der Gegenreformation in Siebenbürgen und des Aufstandes Bocskay's. — Über Honterus brachte das Korrespondenzblatt des Vereins für siebenbürgische Landeskunde zwei kleine Beiträge; die Magyar-Zsidó Szemle beschäftigte sich mit der Geschichte der Sabbatianer, der Keresztény Magvetö mit jener der Unitarier. Auf dem Gebiet der kirchlichen Lokalgeschichte sind gleichfalls mehrere Werke zu verzeichnen.

Hieran schließt Ref. die Besprechung der Geschichte Klausenburgs von Alex. Jakab, welche nunmehr in drei stattlichen Bänden abgeschlossen vorliegt[1]). Der 1. Band reicht bis 1540, der 2. bis 1690, der 3. bis 1848. Die ersten zwei Bände enthalten ferner ein reichhaltiges Diplomatarium. Keine zweite Stadt Ungarns kann sich einer ähnlichen, ebenso umfangreichen wie gediegenen Monographie rühmen. — Für die Geschichte der Kolonisation ist im Berichtsjahr vieles geschehen; hieher gehören die Werke von G. Großschmidt[2]), F. Millecker[3]), Hradszky[4]), S. Weber[5]), P. Oltványi[6]) und A. Karcsú[7]). In diesem Zusammenhang möge auch Erwähnung finden, daß in den Jahren 1747 bis 1770 zahlreiche Einwanderer aus Baden-Durlach und Baden überhaupt sich im Sachsenland niederließen (speziell in Birthälm, Burgberg und Stolzenburg) und daß die österreichische Regierung

[1]) Budapest, Selbstverlag. — Eine deutsche Kritik findet der Leser in der Ungar. Revue (1888) S. 839.

[2]) Történelmi Tanulmányok (= Histor. Studien). Zombor. Das Buch enthält die Geschichte der Kolonisationen und Einwanderungen in Ungarn, mit besonderer Berücksichtigung der deutschen Kolonien des Bács-Bodroger Komitates.

[3]) Die ersten deutschen Kolonisten in der Gegend zwischen Maros—Theiß—Donau. (Anz. des südungar. histor. Vereins. N. F. 3 [1888], 82.) Die erste Kolonie wurde in Oravicza errichtet (1703); den Beschluß machte Neu-Arad (1725). Wegen des Türkenkrieges von 1739 mußte manche Kolonie später auf's neue begründet werden. — Von demselben Vf. erschien auch eine Geschichte der Gemeinde Alibunár.

[4]) Geschichte des Zipser Komitates bis 1526. (Jahrb. des histor. Ver. d. Zips. 1888.)

[5]) Schicksale der 16 Zipser Städte während ihrer Verpfändung an Polen (1414—1772). (Jahrb. des histor. Ver. d. Zips.) Auch im Separatabdruck erschienen (Szepes-Váralya).

[6]) Die Kolonisation des Banats seit dem 18. Jahrhundert. (Anz. des südungar. hist. Vereins.)

[7]) Geschichte der Stadt Waitzen, Bd. 9. (Selbstverlag d. Vf.)

1730 und 1755 mehrere sog. Salpeterer (unruhige oder unbequeme Leute) auf immer nach Siebenbürgen verwies[1]). — Von dem großangelegten Werke Friedrich Pesty's über die Ortsnamen Ungarns ist der 1. Band erschienen[2]), der in 1566 Artikeln eine Fülle historischen Materials birgt; jetzt, nach dem Todedes gelehrten Verfassers wird aber das Werk kaum eine Fortsetzung erleben, was umsomehr zu bedauern ist, da Pesty auf dem Gebiete der historischen Geographie wohl die anerkannt größte Autorität war. — Aladár Ballagi ist durch zwei kleinere Arbeiten vertreten[3]). — Thirring veröffentlichte einen bisher unbekannten Brief des ungarischen Afrikareisenden Ladislaus Magyar (der 1864 in Benguela starb), aus dem hervorgeht, daß Magyar die in jüngster Zeit oft genannten Yellala-Fälle des Kongo schon kannte[4]).

Auf dem Gebiete der Literaturgeschichte verdient das Lexicon linguae Hungariae aevi antiquioris von Szarvas und Simonyi die größte Beachtung[5]).

Die meisten kunstgeschichtlichen Arbeiten enthält der Archäologiai Értesitö, auf den ich hiemit verweise[6]). — Resch und Reißen-

---

[1]) S. bezüglich des ersteren: Wittstock, zur Einwanderung von Baden-Durlachern in Siebenbürgen (Korresp.-Blatt des Ver. f. siebenb. Landeskunde [1888] 11, 57. 101). Vgl. dazu den Aufsatz von Amlacher (ebenda S. 124), der als Heimat der in Mühlbach und Umgebung eingewanderten Badenser den Ober- und Mittelrheinkreis des heutigen Baden nachwies. — In Bezug auf letzteres Faktum s. den Aufsatz von W. Groß (ebenda S. 43).

[2]) Magyarország helynevei. Budapest, Verlag der Akademie.

[3]) Das Ungarthum in der Moldau (Földrajzi Közlemények, woselbst auch ein deutscher Auszug zu finden) und: Wallfahrtsorte in Rußland (ebenda, welcher Aufsatz über das mit Ungarn in vielfachem Zusammenhang gestandene polnische Paulinerkloster Czenstochau handelt.

[4]) Földrajzi Közlemények 16, 333; vgl. Ungar. Revue (1888) S. 374.

[5]) Erscheint bei Hornyánszky in Lieferungen. Bd. 1 liegt bereits komplett vor. Er reicht von A bis I.

[6]) Hervorzuheben: Reißenberger, Überreste der Gothik und Renaissance in Hermannstadt (erschien 1887 auch deutsch im öfters genannten Korrespondenzblatt). — Henszlmann, Klassifikation der vaterländischen Kunstdenkmäler. — Myskovszky, Denkmäler in Oberungarn. — Csontosi; die Bilder des Königs Matthias Corvinus und der Königin Beatrix (vgl. Halleisches C.-Bl. 1889 und Ung. R. 1890). — Hampel, Goldschmiedwerke aus der Zeit Ludwig's des Großen (weist nach, daß die in Aachen aufbewahrten berühmten Votivtafeln Ehrengaben der Stadt Bistritz an König Ludwig waren und aus der Werkstätte des Meisters Martin von Klausenburg herrührten). Der Aufsatz: „Das unga-

berger wiesen nach, daß Sebastian Hann als Mustervorlagen zu den auf seinen Kannen dargestellten Szenen Illustrationen aus der 1642 in Frankfurt a. M. erschienenen Jo. Ludovici Gottfridi Histor. Chronica benutzt habe[1]). — Auch die interessante Rede Szily's über berühmte ungarische Naturforscher des 18. Jahrhunderts mag hier erwähnt werden[2]).

Die Rechts- und Verfassungsgeschichte ist durch Hajnik[3]), B. Márjássy[4]), Kunz[5]) und S. Mayer[6]) vertreten.

Das monumentale Werk von Fr. Teutsch über die siebenbürgisch-sächsischen Schulordnungen[7]) hat auch im Ausland große Anerkennung gefunden.

Wertheimer's Beitrag zur Geschichte des Handels in Ungarn unter Maria Theresia liegt nunmehr auch in deutscher Sprache vor[8]).

Kol. Thaly erinnerte an das Projekt einer Suezkanal-Unternehmung, welches von Franz Tóth, einem in französischen Diensten stehenden ungarischen Emigranten ausging (1770), aber nicht zur Ausführung gelangte[9]).

Über die sehr zahlreichen, kleineren Arbeiten auf dem Felde der Kulturgeschichte im weitesten Sinne verweist Ref. auf die im Eingang erwähnte Zusammenstellung. L. Mangold.

---

rische Drahtemail" desselben Verfassers liegt in der Ungar. Revue (1888) S. 1—45 auch deutsch vor.

[1]) Beide Aufsätze erschienen im genannten Korrespondenzblatt (1888) 8, 19. 40.

[2]) Erschien deutsch in der Ungar. Revue (1888) S. 524.

[3]) Die Erbobergespanschaft in ihrer verfassungsgeschichtlichen Entwickelung. Ein in der Akademie gehaltener Vortrag. Im Auszug in der Ungar. Revue (1888) S. 473 deutsch erschienen.

[4]) Geschichte Ungarns und der ungarischen Gesetzgebung (in ungar. Sprache). Raab, Selbstverlag. (Bd. 4 reicht von Karl III. bis Franz I., Bd. 5 von 1805 bis 1848.)

[5]) Lehrbuch des Nationalstaates (ungar.). Preßburg, Stampfel.

[6]) Die Entwickelung der Justizgesetzgebung in Ungarn von 1875 bis 1887. Wien, Manz.

[7]) Monum. Germaniæ Paedagogica Bd. 6. Berlin, Hoffmann. Vgl. H. Z. 61, 557; Liter. Centralbl. 1888 Nr. 51; Deutsche Liter.-Ztg. 1889 Nr. 39.

[8]) Ungar. Revue (1888) S. 118 f.

[9]) Erschien im Egyetértés (5. April 1888).

Catalogus van de pamfletten-verzameling berustende in de koninklijke bibliotheek, bewerkt, met aanteekeningen en een register des schrijvers voorzien, door **W. P. C. Knuttel.** Deel I, Stuk 1. 1486—1620. Deel I, Stuk 2. 1621 — 1648. 's Gravenhage, Landsdrukkerij. 1889.

Kaum ein anderes Land hat eine so reiche Literatur von Flugschriften aufzuweisen wie die Niederlande; nirgends hat aber auch dieser Literaturzweig eine so eingehende Beachtung, sowohl seitens der Sammler und öffentlichen Bibliotheken, wie seitens der wissenschaftlichen Bibliographie gefunden, wie dies in den Niederlanden zu beobachten ist. Von den größeren holländischen Flugschriften-Sammlungen, unter denen wir diejenigen J. Meulemann's, F. Muller's, der Universitätsbibliotheken zu Utrecht und Leiden, der Stadtbibliothek zu Amsterdam und der Remonstrantenkirche hervorheben, sind im Laufe der letzten Jahrzehnte verschiedene treffliche Kataloge veröffentlicht worden; namentlich die Arbeiten von Tiele, Petit, van der Wulp und Rogge sind mit Auszeichnung zu nennen. Man muß es dankbar begrüßen, daß auch die königliche Bibliothek im Haag sich entschlossen hat, unterstützt von der Landesregierung, ihre sehr bedeutenden Schätze aus diesem Literaturgebiete durch Herausgabe von Katalogen weiteren Kreisen zugänglich zu machen. Die vorliegenden beiden Hälften des ersten Bandes verzeichnen die Literatur vom Jahre 1486 bis 1648; die Bearbeitung des anschließenden zweiten Bandes ist nach Angabe der Vorrede schon weit vorgerückt. Der Herausgeber hat sich keineswegs auf die mit peinlicher Akribie durchgeführte Wiedergabe der Titel der Drucke beschränkt, sondern denselben durchgängig erläuternde Bemerkungen, kurze Inhaltsangaben und bibliographische Notizen beigefügt, die jedem Benutzer in hohen Grade willkommen sein werden. Wie zu erwarten, sind die aufgeführten Schriften der königlichen Bibliothek zum allergrößten Theil niederländischen Ursprungs. Auch inhaltlich beziehen sich dieselben vorwiegend auf die politische und kirchliche Geschichte der Niederlande, wenn auch selbstverständlich die großen Ereignisse der allgemeinen europäischen Geschichte des 16. und 17. Jahrhunderts in der niederländischen Flugschriftenliteratur nicht ohne Widerhall geblieben sind. War auch ein Theil der beschriebenen Stücke schon aus anderen Verzeichnissen bekannt gewesen, so ist für den Historiker, der K.'s Katalog einer Durchsicht unterzieht, der Ertrag immerhin noch reichlich genug. Für die Geschichte der politischen und religiösen Freiheitskämpfe der Niederlande seit der Mitte des 16. Jahr-

hunderts, für die Kenntnis der leidenschaftlichen Konflikte zwischen den Arminianern und Gegenremonstranten seit ca. 1600, sowie der Antheilnahme der Niederlande an den Ereignissen des Dreißigjährigen Krieges wird in der vorliegenden Sammlung eine Reihe von werthvollen Quellen erschlossen. Um eine Andeutung von der Reichhaltigkeit des hier vereinigten Materials zu geben, weisen wir darauf hin, daß allein aus den Jahren 1609—1612, in welchen die kirchlichen Kämpfe zwischen Remonstranten und Gegenremonstranten am heftigsten tobten, nicht weniger als 437 Flugschriften aufgeführt werden, während für die Jahre 1646—1648, in welchen die Modalitäten des Friedensschlusses die öffentliche Meinung lebhaft beschäftigten, 562 Nummern nachgewiesen sind. Man möchte dringend wünschen, daß das von unseren niederländischen Nachbarn gegebene Beispiel der pietätvollen Behandlung der hinsichtlich ihres historischen Werthes allzu oft unterschätzten Flugschriftenliteratur auch in Deutschland Nachahmung fände.

Herrman Haupt.

Geschiedenis der nederlandsche letterkunde in de 16de eeuw, door **G. Kalff.** I. II. Leiden, Brill. 1889.

An niederländischen Literaturgeschichten ist nachgerade kein Mangel. Kaum war die dritte Auflage des verdienstlichen Werkes von Jonckbloet (in sechs Bänden) abgeschlossen, so trat Jan te Winkel mit dem ersten Theil einer Geschiedenis der nederlandsche letterkunde (Haarlem 1887) hervor, die, durchweg auf der neuesten und zum guten Theil auf eigener Forschung beruhend, bestimmt ist, die vielfach unselbständige und veraltete Darstellung Jonckbloets zu ersetzen. Und noch ehe diese neue Gesammtdarstellung den Ausgang des Mittelalters erreicht hat, bescheert uns G. Kalff ein zweibändiges Werk über die niederländische Literatur des 16. Jahrhunderts. Im Vergleich zur mittelniederländischen Epoche wie zum 17. Jahrhundert erscheint das Zeitalter der Reformation wissenschaftlich wenig angebaut, und wir brauchen die Konkurrenz von K. und te Winkel gerade hier nicht zu beklagen. Nur freilich, was wir neben dem Werke te Winkel's noch besser brauchen könnten, wäre ein Grundriß der Literaturgeschichte, der bibliographische Vollständigkeit und Übersichtlichkeit anstrebte, eine Art niederländischer Gödeke. Gerade für das 16. Jahrhundert habe ich ein solches Buch schon oft vermißt, und auf manche Fragen, die mir die Beschäftigung mit der deutschen Dichtung des gleichen Zeitraums nahegelegt hat, gibt auch K.'s Werk nicht genügende Auskunft.

Im übrigen ist es ein Erzeugnis rührigen Fleißes und umfassender Belesenheit, etwas breit und bequem in Anlage und Ausführung, wie es auch das Erstlingswerk von K. (Het lied in de middeleeuwen, Leiden 1884) war, aber reich an Belehrung im einzelnen und dabei durchgehends den Zusammenhang der Literatur mit der politischen, religiösen und Bildungsgeschichte des niederländischen Volkes im Auge behaltend. Die Historiker werden hier vielfache Anregung und Aufklärung finden, für den Kenner der deutschen Literatur ergeben sich die lehrreichsten Parallelen. Das kulturhistorische Interesse überwiegt in diesem Buche fast durchweg das poetische; das bringt schon der Gegenstand mit sich, und auch des Vf. Stärke ist nicht eben die ästhetische Analyse und Kritik. So verstehen wir ihn selbst nicht recht, wenn er an die Spitze seiner Vorrede den Satz stellt: „Literaturgeschichte ist Kunstgeschichte"; denn mit weit größerem Rechte dürfte gerade er, diesem Gegenstande gegenüber, sagen: „Literaturgeschichte ist Kulturgeschichte".

Renaissance und Reformation sind als die vornehmsten Triebkräfte der Literatur wie der nationalen Bildung beide richtig gewürdigt. Aber freilich, alles Volksthümliche kommt besser zur Geltung als das Gelehrte, und gar nicht einverstanden können wir uns erklären mit der Einschränkung, in welcher der Vf. die humanistische Literatur in lateinischer Sprache berücksichtigt. Es kommen eigentlich nur Erasmus und Johannes Secundus einigermaßen zu ihrem Rechte, der niederländische Gelehrte steht dem Ruhme seiner Nation geradezu im Lichte, indem er von seiner Darstellung das lateinische Schuldrama ausschließt. Sein Vaterland hat in Georg Macropadius vielleicht den bedeutendsten festländischen Dramatiker des 16. Jahrhunderts hervorgebracht: er und seine Kollegen Gnapheus, Crocus, Schonaeus u. s. w. haben auf das deutsche Drama weitreichenden Einfluß gewonnen — und alle diese Dichter müssen sich bei K. mit bloßer Namensnennung begnügen. Damit hängt es zusammen, daß das Kapitel über die Entwickelung des modernen Dramas (Bd. 2, 368—379) mager und unlebendig erscheint, während die Ausläufer des mittelalterlichen Schauspiels eingehend und wirklich fördernd behandelt sind. Daneben sind die Abschnitte über Rederijker und Volksdichter, über die geistliche und politische Lyrik der Protestanten und Katholiken, über die literarischen Mitstreiter des niederländischen Freiheitskampfes als besonders inhaltreich hervorzuheben. E. Schr.

Soziale Fragen vor 200 Jahren (An essay on Projects). Von **Daniel Defoe.** Übersetzt von Hugo Fischer. Leipzig, Hirschfeld. 1890.

Daniel Defoe, der Dichter des Robinson Crusoe, ist in seinen Jugend- und Mannesjahren einer der wirkungsvollsten englischen Publizisten gewesen, der Theil genommen an allen politischen und religiösen Kämpfen seines Vaterlandes. Ein 36jähriger Mann, schrieb Defoe An essay on Projects und entwarf hier eine Reihe der weitgreifendsten und kühnsten Reformpläne tiefer sozialer und wirthschaftlicher Schäden seiner Zeit. Das Buch erwarb dem berühmten Publizisten auch noch den Ruf als Englands ersten sozialpolitischen Schriftsteller.

Der Inhalt ist der allermannigfaltigste. Der Vf. deckt die Schwächen des englischen Bankwesens auf und entwickelt ganz neue Gedanken eines großartigen und weitverzweigten Banksystems, er weist gegenüber dem elenden Zustand vieler englischer Landstraßen auf die wirthschaftliche Bedeutung guter Verkehrswege hin, er empfiehlt Versicherungsanstalten und Altersversorgungskassen, er führt den Plan einer Art Verstaatlichung des englischen Seewesens vor, er geißelt die Modekrankheit der Zeit, das unmäßige Wetten, und greift die harten englischen Bankerottgesetze an; in einem weiteren trefflichen Essay kommt Defoe auf Akademien und höhere Bildungsanstalten zu sprechen, vertheidigt dann die Nothwendigkeit der Einführung besonderer Handelsgerichte und macht endlich humane Vorschläge zur Verbesserung der englischen Irrenanstalten.

Überall sind Defoe's Ideen eigenartig, anregend, überzeugend, ein glänzendes Zeugnis lebhafter Phantasie zugleich und eindringenden Verstandes. Der Essay on Projects gewann eine ungeheure Verbreitung und übte in der Folgezeit den allerbedeutsamsten Einfluß aus. Benjamin Franklin bekennt von diesem Buche: „Es wandelte mein ganzes System der Philosophie und Moralität um. Die hauptsächlichsten Ereignisse meines Lebens und der Antheil, den ich an der Revolution meines Vaterlandes genommen habe, ist in der That in gewisser Hinsicht das ganz unmittelbare Ergebnis dieser meiner Jugendlektüre." Eine Reihe der Defoe'schen Ideen, die den Zeitgenossen noch als eitel Projekt erschienen, sind in den kommenden Jahrzehnten Gemeingut aller ziviliſirten Völker geworden; in seinen staatssozialistischen Plänen aber und in seinen Gedanken über Unfall- und Altersversicherung ist Defoe seiner Zeit derart vorausgeeilt, daß z. B. in Deutschland erst die allerneueste Gegenwart praktisch hier

etwas schuf, dem ähnlich, was der große englische Sozialpolitiker bereis 1697 anstrebte.

Die dankenswerthe Übersetzung Fischer's wird dazu beitragen, das Werk Defoe's, das so viele Beziehungen zur Gegenwart hat, auch in Deutschland weiteren Kreisen bekannt zu machen.

Wilhelm Naudé.

Sir Charles Napier. By Colonel Sir **William F. Butler.** London, Macmillan and Co. 1890.

Dieser Band gehört zu der Sammlung von Geschichtswerken, welche unter dem Titel English men of action herausgegeben wird. Der Napier, von dem hier gehandelt wird, ist mit dem gleichnamigen Admiral nicht zu verwechseln. Butler's Held ist der im Jahre 1853 gestorbene General Napier, der in Spanien unter Wellington und in den vierziger Jahren am Indus kämpfte. Seine Geradheit und Offenheit war zum Theil daran schuld, daß er mit den Leitern der Ostindischen Kompagnie in Unfrieden lebte. Sein Biograph ist der Meinung, daß er bei seinen Lebzeiten die verdiente Anerkennung nicht gefunden habe, und so sorgt er nach Kräften dafür, sie ihm bei der Nachwelt zu sichern. Er darf auf Carlyle's Urtheil verweisen, der sagte, Napier sei ein Mann, in welchem der Geist der alten Ritterschaft fortlebe, und ihn beseele ein ungewöhnlicher Wahrheitssinn in allen seinen Worten und Werken. Daß Napier für Napoleon vom Beginn seiner Laufbahn an eine ausgesprochene Bewunderung hegte, verdient hervorgehoben zu werden, weil diese Art Schätzung des Gegners zu jener Zeit in England nicht häufig war; sie wird übrigens auch von Butler getheilt. Butler's Schrift enthält manche nutzbare Notiz zur Geschichte des englischen Heer- und Kriegswesens, sowie zur Eroberung und Verwaltung von Indien. Ed. Sch.

Itinéraire de Louis XI. Dauphin. Par **Ulysse Chevalier.** Voiron, Imprimerie Baratier et Mollaret. 1886.

Itinéraire des Dauphins de Viennois de la Seconde race. Par **Ulysse Chevalier.** Voiron, Baratier et Mollaret. 1886.

Itinéraire des Dauphins de la Troisième Race Anne et Humbert I, Jean II, Guiguls VII et Humbert II (1282—1355). Par **Ulysse Chevalier.** Valence, Jules Cénset Fils. 1887.

Compte de Raoul de Louppy, Gouverneur Du Dauphiné de 1361 à 1369. Par **Ulysse Chevalier.** Romans, R. Sibilat André. 1886.

Der gelehrte Vf. der Bio-Bibliographie (s. die Besprechung von Krusch in Bd. 53 dieser Zeitschrift), dem man außerdem die collection

des chartes du Dauphiné verdankt, bietet hier eine Reihe von Veröffentlichungen, sämmtlich Abzüge aus der Revue petite Dauphinoise und dem Bulletin d'Histoire ecclésiastique etc. des diocèses de Valence, Gap, Grenoble et Viviers, die in erster Linie werthvolle Beiträge zur Geschichte des Dauphiné liefern, aber auch für die französische Geschichte von Wichtigkeit sind, und insofern diese Landschaft zum alten Königreich Arelat gehörte, auch dem deutschen Historiker Interesse abgewinnen können. Die oben erwähnten Itinerare sollen eine Vorarbeit sein für ein Regestenwerk, welches dieser unermüdliche Gelehrte nach deutschem Muster für das Dauphiné beabsichtigt. Der Vf. stützt sich für die nackten Tages- und Ortsangaben, die er neu über den jeweiligen Aufenthalt des betreffenden Dauphin beibringt, auf lediglich urkundliches Material, das ihm wohl hauptsächlich die reichen Bestände der archives de la préfeture de l'Isère geliefert haben. Belege gibt er nirgends für seine Angaben an, und insofern dieses Itinerare nur eine Vorarbeit sein sollen, kann man ja auch davon absehen. Ob es angebracht war, den Aufenthalt von Ludwig XI. Dauphin außerhalb des Dauphiné zu verzeichnen, scheint mir zweifelhaft. Nothwendig muß das Itinerar hier sehr lückenhaft sein, und da der Vf. selbst um Nachweise bittet, mache ich ihn darauf aufmerksam, daß er für die Zeit von 1442—1445 seine Angaben erheblich vervollständigen kann aus Tuetey, Les Écorcheurs, sowie aus der Ausgabe der Chronik des Matthieu d'Escouchy von Beaucourt, namentlich aus Bd. 3, welcher Akten und Urkunden enthält, und endlich auch aus meinem Buche über die Armagnaken im Elsaß (Straßburg 1889).

Die beiden weiteren Hefte von 1178 bis 1282 und von 1282 bis 1355 bieten erheblich mehr, indem der Vf. dem Itinerar jedes Dauphin eine in knappsten Umrissen gehaltene, auf urkundlichem Material aufgebaute Biographie vorausschickt, wobei er wiederholt irrthümliche Angaben berichtigt. Literaturnachweise vermag ich dem Vf. hier nicht zu geben; möglich wäre es, daß ihm die vortreffliche Arbeit von O. Winckelmann, die Beziehungen Kaiser Karl's IV. zum Königreich Arelat, die ja auch Huber's Regesten für Arelat vervollständigt, nicht bekannt geworden ist.

Interessanter ist die zuletzt angeführte Veröffentlichung, die Rechnungsablage des Statthalters des Dauphiné, Raoul de Louppy; wie es scheint, ist sie die einzige von allen Rechnungsablagen, welche die Statthalter abzulegen hatten, welche erhalten ist. Sie besteht aus

zwei von einander unabhängigen Theilen, indem Raoul v. Louppy nach seiner Statthalterschaft vom 8. Oktober 1373 bis zum 31. März 1376 die Kastellaneien von Vienne-Le Château et Guemenières, sowie die von Clermont-en-Argonne innehatte. Indem nun der Statthalter Rechnung ablegt über seine Auslagen auf Dienstreisen 2c., erhalten wir eine Reihe historischer Notizen sowohl von lokaler als auch allgemeiner Bedeutung. Wiederholt führen den Statthalter wichtige geheime Aufträge an den Hof zu Avignon. Da handelt es sich um die Entfernung der großen Kompagnien vom französischen Boden, um die Vermittlung des Papstes im Kriege mit England. Wir vernehmen auch von Schutzmaßregeln wider jene schrecklichen Banden, welche nach ihrem Siege bei Brignais das Dauphiné zu überfluthen drohen. Auch für die deutsche Geschichte fällt hier etwas ab; denn es ist ja bekannt, daß diese Banden unter Anführung des Erzpriesters Arnaud de Cervolles 1365 in's Elsaß einfielen. In derselben Zeit hatte der Sire de Louppy Kaiser Karl zu geleiten, als dieser das Königreich Arelat besuchte, und wichtige geheime Aufträge der französischen Regierung auszurichten. Als Inhaber der Kastellanei Clermont-en-Argonne trat er dann in Berührung mit den Kompagnien, welche im Jahre 1375 unter Enguerrand de Coucy durch das Barrois und Lothringen in's Elsaß einfielen.

Der Text wird begleitet von zahlreichen sachlichen Anmerkungen, in denen der Herausgeber auch vielfach noch urkundliches Material bietet und die lokale Geschichtsliteratur in umfassendem Maße heranzieht. Aufgefallen ist mir, daß er über das Auftreten der Kompagnien nur das ziemlich unbedeutende Buch von Allut, Les Routiers au XIV. siècle, les Tard-Venus et la bataille de Brignais, citirt, hingegen das vortreffliche Werk von Chéreſt, L'Archiprètre, außer Acht läßt. H. Witte.

Documents des Archives de la Chambre des Comptes de Navarre (1196—1384). Par **Jean-Auguste Brutails.** Paris, Emile Bouillon. 1890.

Bei den engen Beziehungen, welche seit dem 13. Jahrhundert zwischen Frankreich und Navarra bestehen, war es ein glücklicher Gedanke von A. Giry, Professor an der École des Chartes, Nachforschungen in dem Archiv zu Pampelona anzuregen. Herr Brutails, Archivar des Departements Gironde, wurde damit betraut, und die Frucht seiner Studien liegt in dieser Urkundensammlung vor.

Es ist bekannt, wie unheilvoll Karl der Böse von Navarra seit dem Jahre 1354 in die Geschichte Frankreichs eingreift. Der Haupttheil dieser Urkundensammlung fällt in seine Regierung, von 202 Nummern 161, und so ist dies Quellenwerk für die kritischen Jahre unter Johann dem Guten und Karl V., namentlich für die Geschichte der großen Kompagnien, von großer Wichtigkeit. Aus früherer Zeit hebe ich eine Urkunde Simon's v. Montfort hervor vom 29. Oktober 1248, worin er Streitigkeiten von König Thibaut von Navarra mit König Heinrich von England der Entscheidung von Schiedsrichtern unterbreitet. Interessant sind auch die coutumes de la Bastide-Clairence, welche König Ludwig von Novarra Juli 1312 bestätigt.

Bei einem Schüler der école des chartes braucht nicht besonders hervorgehoben zu werden, daß, soweit dies ersichtlich ist, die Behandlung der Texte allen Anforderungen entspricht. Sie sind zum größeren Theil in spanischer Sprache gehalten, minder Wichtiges wird durch Regest mitgetheilt. Eine kurze, sachliche Einleitung über die finanziellen und militärischen Einrichtungen Navarras ist vorausgeschickt. Soweit die Beschränktheit seiner literarischen Hülfsmittel es zuließen, hat der Herausgeber in Anmerkungen die einzelnen Persönlichkeiten festzustellen gesucht; er beklagt sich dabei über die mangelhafte Einrichtung der öffentlichen Bibliotheken, welche das Arbeiten in der Provinz so sehr erschwert. Wir in Deutschland sind in dieser Hinsicht besser gestellt. Ein Orts- und Personenregister schließt das tüchtige Buch; bei Stichproben habe ich den Ort Aignoé = Ainhoa nicht vorgefunden. H. Witte.

Bibliothèque Gilon. Vie domestique d'un seigneur châtelain du moyen âge d'après des documents originaux inédits. Par **G. Hagemans,** Verviers, Gilon 1888.

Die Bibliothèque Gilon, unter dem Patronat des Vorstandes der Ligue Belge de l'enseignement stehend, ist ein Unternehmen, das in seinem wissenschaftlichen und literarischen Charakter etwa die Mitte zu halten vermag zwischen dem 'Wissen der Gegenwart' und der 'Kollektion Spemann.' In solchen Sammlungen pflegt historisches Quellenmaterial nur selten aufzutauchen, und darum sei das vorliegende Bändchen hier kurz angezeigt. Der 'Schloßherr' des Titels ist Jean de Blois auf Château-Renault (Indre et Loire), und die Quellen sind zwei handschriftlich — wo? — erhaltene Wirthschaftsbücher, welche gestatten, seine Lebensführung und seine Ausgaben

einmal während der Herbstmonate (September bis November) 1327, und dann wieder durch das Frühjahr (Februar bis Juni) 1329 hindurch genau zu verfolgen. Der Text unseres Büchleins erläutert in behaglicher Plauderei Monat für Monat die als Anmerkungen abgedruckten Rechnungsposten und erzielt, nicht ohne harmlose Zuthaten der Phantasie, ein hübsches Gesammtbild von ritterlichem Haushalt und ritterlicher Lebensweise des 14. Jahrhunderts. Am Schlusse faßt ein Répertoire die einschlägigen Daten zu einer lehrreichen Übersicht der Preise zusammen. Die Haltung des Ganzen verbietet eine Kritik im einzelnen. E. Schr.

Les Cabochiens et l'Ordonnance de 1413. Par **Alfred Coville.** Paris, Hachette & Cie. 1888.

Das mit großem Ernst und gründlicher Gelehrsamkeit geschriebene Buch beschränkt sich nicht auf die Schilderung des Aufstandes der nach einem ihrer Führer, dem Metzger Simon Caboche, genannten Cabochiens, die vom April bis Juli 1413 die Gewalt in Paris an sich rissen und den König in einer Art von Belagerungszustand hielten, um ihn zu einer gründlichen Verwaltungsreform zu zwingen; es gibt vielmehr ein sorgfältig ausgeführtes, aber mehr figurenreiches, als lebendiges Bild des Hofes jenes nur von Zeit zu Zeit zurechnungs- und handlungsfähigen Königs Karl VI., der Regierungsweise des Königreichs und der Zustände in der Stadt Paris. Von den fünf Büchern ist das erste dem Hofe und der Regierung, das zweite der Stadt und der Universität Paris gewidmet; das dritte behandelt die Versammlung der Reichsstände im Anfang 1413, die Verbindung des Herzogs Jean sans Peur von Burgund mit der Reformpartei und den Ausbruch der Unzufriedenheit der von den Zünften, namentlich den Metzgern geführten Masse der Pariser Bevölkerung; das vierte gibt eine sehr eingehende Analyse der Ordonnance cabochienne, die in ihren 259 Artikeln fast den Versuch einer Codifikation des gesammten Verfassungs- und Verwaltungsrechtes von Frankreich darstellt. Der Vf. untersucht die einzelnen Artikel auch auf ihren Ursprung und weist die theilweise wörtliche, theilweise modifizirte Übernahme einer großen Anzahl derselben aus früheren Ordonnanzen nach. Im übrigen haben an der Ordonnance cabochienne die Cabochiens nur das Verdienst, ihre Verkündigung erzwungen zu haben, die Abfassung ist das Werk einer von der Ständeversammlung eingesetzten Kommission. Die Cabochiens schaffen weiter nichts als eine mehr-

monatliche Anarchie. Die Universität, der Herzog von Burgund und zuletzt auch die Bourgeoisie von Paris trennen sich von ihnen, der Hof verbindet sich mit der Partei der Orleans, und so wird sowohl der Sturz der Cabochiens, wie die Flucht des Herzogs von Burgund herbeigeführt. Das ist der Inhalt des fünften und letzten Buches; dasselbe erzählt auch die umfassenden Reaktionsmaßregeln, die jetzt erfolgen. Wie im 14. Jahrhundert der Versuch, durch eine Theilung der Staatsgewalt zwischen Krone und Versammlung der Reichsstände ein geordnetes Rechtswesen zu schaffen, gescheitert war, so mißglückte auch dieser Versuch, die Monarchie wenigstens auf eine gesetzliche Grundlage zu stellen. Es war, allerdings erst nach einer neuen Periode des englischen Krieges, die das Reich fast an den Rand des Abgrundes brachte, der siegreichen Krone allein vorbehalten, eine gründliche und dauernde Reform des Staatswesens, aber im Sinne der absoluten Monarchie herbeizuführen. So hat die Ordonnance cabochienne ihre Bedeutung für den Gang der französischen Staatsentwickelung und diese Bedeutung klar zu legen war die Aufgabe, die sich der Vf. gesteckt hatte. Einen Anhang widmet er noch ihrer Textfassung. Mkgf.

Die Geschichte der Prinzen aus dem Hause Condé. Von **Heinrich Herzog von Aumale.** Autorisirte Übersetzung von J. Singer. I. Wien, K. Konegen. 1890.

Wie der auf der Scholle groß gewordene Landmann in der schweizerischen Republik den Edelmann, der „bauern" will, scheel ansieht, so pflegt man auch in der Respublica literarum schriftstellernden Prinzen kein günstiges Vorurtheil entgegenzubringen, ja in der Zunft selbst sie ein wenig wie Eindringlinge zu betrachten. Verzeihung wird ihnen nur dann ertheilt, wenn sie das zur allgemeinen Kenntnis bringen, was sie gewissermaßen „hinter den Falten des Thronhimmels" erspäht haben oder was in den vergilbten Hausarchiven bisher vor indiskreten Blicken sorgfältig gehütet worden war.

So entschuldigt denn auch der hochgeborne Vf. der Geschichte der Prinzen aus dem Hause Condé in der Vorrede sich gleichsam damit, daß er geglaubt habe, die zahlreichen Dokumente benutzen zu sollen, welche er von dem letzten Sprossen aus dem Hause Condé erhalten habe.

Von den zwei ersten Original-Bänden, welche im Frühling des Jahres 1890 die Presse verließen, liegt bis jetzt nur der erste übersetzt,

in vortrefflicher Ausstattung, vor. Fast die Hälfte des Buches ist von Aktenstücken eingenommen, welche insbesondere für die Zeiten der Hugenottenkriege von Interesse sind. Nichts spiegelt den Geist jener Periode besser wieder, als die diplomatische Korrespondenz der englischen Gesandten in Paris mit Elisabeth's Ministern; leider ist die dem alten englischen Texte beigefügte deutsche Übersetzung nicht immer korrekt.

Schon diese Raumeintheilung deutet darauf hin, daß das Werk mehr für Gelehrte, als für das große Publikum bestimmt ist. In der That setzt es eine genaue Kenntnis der Geschichte voraus, um mit vollem Verständnisse gelesen zu werden, und der Herzog von Aumale hat Recht gehabt, indem er in Anmerkungen Erläuterungen über die von ihm besprochenen Persönlichkeiten beigefügt und Geschichtschreiber empfohlen hat, welche die von ihm kurz berührten Episoden nach seiner Ansicht unparteiisch geschildert haben.

Obgleich das erste Dokument, in welchem einem Prinzen von Bourbon der Titel Prinz von Condé beigelegt worden ist, das vom 15. Januar 1557 datirte Protokoll des Throngerichts ist, so zieht Vf. doch auch den Connetable Karl von Bourbon in seine Arbeit hinein. Emsig bemüht, den Vorfahren das möglichst ehrenvolle Andenken zu sichern, kann er doch nicht umhin, den Connetable als Vaterlandsverräther zu brandmarken. Auch des Prinzen Ludwig von Bourbon Thaten, des ersten, der sich als Prinz von Condé hervorgethan hat, seine Schilderhebung gegen seinen angestammten König, seine landesverrätherischen Abmachungen mit fremden Staaten und seine Abtretungen französischen Bodens an England finden gerechte Verurtheilung; aber er ist ihm ein milderer Richter, als dem Connetable gegenüber und behauptet sogar, daß der Prinz zwar durch einen Vertrag mit der Königin Elisabeth gebunden gewesen sei, die in seinem Namen eingegangenen Verpflichtungen indessen offiziell nicht ratifizirt habe. Dieser Einwand findet in den diplomatischen Aktenstücken, in der Drohung Elisabeth's, den mit Siegel und Unterschrift versehenen Vertrag den fremden Mächten bekannt zu machen, um Condé's Charakter herabzusetzen, und endlich in den zahlreichen Briefen seine Widerlegung, in welchen der Prinz die Königin beschwört, auf die ihr vertragsmäßig zugesicherte Besetzung von Calais zu verzichten. Der einzige [1]) Entschuldigungsgrund des unpatriotischen Verhaltens des Prinzen liegt wohl darin, daß er

[1]) Wenn man nämlich von der Religion absieht. A. d. R.

nur durch das Heranziehen fremder Streitkräfte die Königin Katharina von der Tyrannei des Herzogs von Guise zu befreien im Stande war.

Obgleich die Mehrzahl der diplomatischen Aktenstücke, welche diese Differenzen betreffen, schon in der Sammlung des Dr. Forbes, welche unter dem Titel A full view of the public transactions in the reign of queen Elizabeth 1740 erschien, veröffentlicht ist, so zeigt doch eine Vergleichung mit den in dem vorliegenden Werke abgedruckten Dokumenten, daß die Forbes'sche Wiedergabe stellenweise ungenau ist. Dies trifft besonders zu hinsichtlich des ersten langen Schreibens vom 17. März 1563, in welchem der Prinz die Königin davon unterrichtet, daß er ohne sie — seine Alliirte — mit der Partei der Katholiken Frieden geschlossen habe. H. v. W.

La France sous l'ancien régime. Par le Vicomte **de Broc.** I. II. Paris, E. Plon, Nourrit et Cie. 1887. 1889.

Der Vikomte de Broc urtheilt über das ancien régime günstiger als die meisten seiner Landsleute. Er ist Royalist und gläubiger Katholik, dabei tolerant. Die guten Seiten der Zeit, die er schildert, z. B. die feinen Formen, welche in der Gesellschaft herrschten, das patriarchalische Verhältnis zwischen Gutsherren und Bauern, wie es in der Bretagne und auch sonst bestand, u. a. finden in ihm einen warmen Lobredner. Dabei ist er wahrheitsliebend genug, auch den Ungeheuerlichkeiten der entnervten Gesellschaft ins Auge zu sehen, aber er ist hier ein milder Richter, manchmal mit Recht, zumal die gegnerischen Darstellungen sich Übertreibungen genug haben zu Schulden kommen lassen. So meint er, die Misère des Landvolkes sei gar nicht so schlimm gewesen, wie man sie gewöhnlich darstelle, man habe vielmehr aus einzelnen, besonders in die Augen springenden Fällen zu viel geschlossen u. s. w. Bei Ludwig's XV. berüchtigtem Parc-aux-Cerfs weist er nach, wie ungeheuer hier übertrieben ist. Daß in der Bastille bei der Erstürmung nur sieben Gefangene gefunden wurden, worunter vier Wechselfälscher, ist für de B. ein willkommenes Beispiel, um den Unterschied zu zeigen zwischen der Legende, die jene Staatsgefängnisse umschwebt, und den wirklichen Thatsachen.

So wenig sich nun leugnen läßt, daß eine Darstellung wie die vorliegende ihre Verdienste hat, so ist das Werk als Ganzes doch zu optimistisch. Wenn z. B. der Vf. voller Bewunderung ist für die sittliche Reinheit mancher Mitglieder der Parlamente, so ist der Tadel, den die Parlamente als diejenigen verdienen, welche alle

Reformen unmöglich machten, bei weitem nicht scharf genug ausgesprochen. Den Parlamenten fällt ein sehr großer Theil der Schuld zu. Ferner ist es zwar richtig behauptet, daß in den Kreisen der Regierenden die Forderung von Reformen fast allgemein war, aber ebenso sicher ist, daß nichts Ernstliches freiwillig von Seite der Privilegierten geschehen ist und zu erwarten war. Wem das Verhalten derselben Turgot gegenüber nicht als genügender Beweis hierfür erscheinen mag, der sei an die Notabelnversammlung erinnert.

Diese zu große Milde gegen das ancien régime ist umsomehr zu bedauern, als de B.'s Auffassung sonst nichts weniger als oberflächlich ist. Die Frage, ob ohne Ludwig's XVI. Schwäche die Revolution unvermeidlich gewesen sei, beantwortet er, nach Mittheilung der Ludwig XVI. verdammenden Beurtheilung Sénac's de Meilhan, wie ein echter Historiker: La France s'acheminait depuis longtemps vers une de ces formidables crises politiques et sociales que la puissance et le génie modèrent en les dirigeant, mais qu'aucune force humaine ne saurait empêcher, car les grandes révolutions viennent moins des époques qui les font que de celles qui les ont préparées. So zeigt de B. einerseits genügende Einsicht, um das Ganze, das wir mit dem Ausdruck ancien régime bezeichnen, als unhaltbar zu begreifen, andrerseits macht es ihm Freude, die Lichtseiten dieses verrufenen Regiments aufzuzeigen.

Der 1. Band behandelt le gouvernement et les institutions in zehn Kapiteln: König und Hof, Ministerien, Armee, Verwaltung, Justiz, Finanzverwaltung, Stadt- und Dorfverwaltung und Polizei werden in den ersten neun Kapiteln behandelt. Kap. 10 behandelt die „Klassen vor der Revolution" (le clergé, la noblesse, la bourgeoisie, le peuple). In den einzelnen Kapiteln beginnt die Darstellung jedesmal mit Ludwig XIV. und wird bis 1789 fortgeführt. Dadurch hat die Darstellung in manchen Kapiteln etwas Springendes erhalten. Das Buch beruht in den einzelnen Theilen u. a. auf den betreffenden Spezialwerken, ungedruckte Quellen sind selten verwerthet. Neues findet sich deshalb auch nur wenig. Dahin gehört der Versuch (Kap. 3), die Abneigung der Franzosen gegen die Miliz zu erklären. Es ist nämlich gewiß auffallend, daß die Miliz, zu der ganz Frankreich jedes Jahr nur 10,000 Mann stellte, immer als besonders drückend hingestellt wird, drückender als die Konskription. De B. erklärt dies durch die gerade bei der Miliz besonders zahlreichen Befreiungen, so daß nur diese Ungerechtigkeit, nicht die Größe der Last

an sich, die Ursache war, weshalb man diesen Dienst so sehr verabscheute.

Der 2. Band ist betitelt les usages et les moeurs: Erziehung, Heiraten, Familienleben, Toilette, l'existence et la table, Paris, das Leben in Paris, Versailles, das Leben in den Provinzialstädten, auf den Schlössern, in den Dörfern, die Arten zu reisen, Personenpost, Briefpost, Zeitungen, das Theater bilden den Inhalt dieses Bandes. Als Einleitung geht eine Schilderung der Moral und Religiosität im 17. und 18. Jahrhundert vorher. Im Anschluß an das Kapitel über das Theater gibt der Vf. dann nochmals eine Auseinandersetzung über les idées et les moeurs d'après les comédies du temps. Das 11. Kapitel behandelt die Salons im 17. und 18. Jahrhundert, das 12. berichtet von dem Ende der alten französischen Gesellschaft. — Über diesen Band gilt im allgemeinen dasselbe, was über den ersten gesagt ist. Anerkennung verdient, daß de B. es nicht verschweigt, wie Ludwig XIV. die Heuchelei großgezogen hat. Dagegen hat der Vf. für die Intoleranz der alten Kirche nicht das genügende Verständnis.

De B.'s Werk zeigt manche Vorzüge, aber zu den standardworks über das ancien régime wird man es nicht rechnen dürfen. Das Bild, welches er gibt, ist geschmeichelt, und die ihm dabei zu Gebote stehende Gelehrsamkeit übersteigt ein mittleres Maß nicht.

G. Kriegsmann.

Un intendant sous Louis XIV. Étude sur l'administration de Lebret en Provence (1687—1704). Par **J. Marchand.** Paris, Hachette et Cie. 1889.

Über die Verwaltung der Provinzen, besonders über die Institution der Intendanten besitzen wir eine Reihe von Arbeiten, unter denen Thomas' Une province sous Louis XIV. und Hanotaux' Origines de l'institution des intendants des provinces die bekanntesten sein dürften. Daneben hat d'Hugues' Arbeit über Turgot's Intendantur in Limoges besonderes Interesse wegen der behandelten Persönlichkeit. Marchand's Werk über Lebret beschränkt sich wie dasjenige d'Hugues' auf eine einzige Intendantur und vermeidet planmäßig die Verallgemeinerungen. Gleichwohl hat das Buch nicht nur für die Provence Bedeutung, hauptsächlich deshalb, weil hier an einem Beispiel, wie es in gleicher Klarheit sonst nicht vorliegt, der Übergang gezeigt wird, durch den die territorialen Gewalten der

Provinz ihre Macht an die Vertreter des centralisirenden Königthums abtraten. Dieser Prozeß hat sich zwar nicht grade in der verhältnismäßig kurzen Zeit (17 Jahre), während welcher Lebret Intendant der Provence war, abgespielt. Er beginnt schon vorher, aber er kommt unter Lebret zum Abschluß, und deshalb ist M.'s Buch eine Bereicherung der inneren Geschichte Frankreichs, für die man sehr dankbar sein muß.

Der Grund, weshalb M. Lebret zum Gegenstand seiner Untersuchung gemacht hat, ist freilich in erster Linie wohl ein anderer gewesen. Sein Buch steht im Gegensatz zu dem Geschichtschreiber der Provence, Papon. Während Papon die Kriege, Empörungen und Bündnisse der provençalischen Großen als den eigentlichen Gegenstand der Geschichtschreibung ansieht, ohne Verständnis für die wirthschaftlichen Verhältnisse seines Landes, dessen Geschichte nach ihm mit Louis XIV. aufhört, will M. zeigen, wie die Lage der Provençalen war, seitdem die Provinz ihre Selbständigkeit verloren hatte. M. gibt les éléments d'un tableau de la vie politique et sociale des Provençaux à la fin du XVIIe siècle.

Grade Lebret's Intendantur zu wählen, kam nun noch ein weiterer Grund hinzu: da die Intendanten ihre Korrespondenz als Privateigenthum betrachteten, so ist es eine Seltenheit, wenn diese erhalten blieb. Lebret's Korrespondenz ist in 140 Bänden erhalten und im Besitz der Nationalbibliothek. Neben dieser Hauptquelle schöpfte M. noch aus zahlreichen sonstigen unedirten Dokumenten der Nationalbibliothek, insbesondere natürlich auch aus den Akten der Contrôle général des finances. So beruht das ganze Buch auf bisher ungedrucktem Material. Der reiche Inhalt desselben ist auf fünf Bücher vertheilt, denen als Einleitung eine Biographie Lebret's vorangeht. Buch 1 behandelt in sieben Kapiteln die Verwaltung, Buch 2 die Finanzen, Buch 3 die militärische Verwaltung, Buch 4 Justiz und Polizei. Buch 5 Ackerbau, Industrie, Handel. Dann folgt ein Schlußwort, das in der Hauptsache ein Rückblick ist, in dem aber der Vf., der sonst Verallgemeinerungen grundsätzlich vermeidet, diesem Grundsatze in vorsichtiger Weise untreu wird. Es folgen noch drei Anhänge: die Instruktion des Intendanten Lebret, die Liste der provençalischen Intendanten vor Lebret und das Budget der Provence in den Jahren 1687 bis 1703. Ein sorgfältiges Register endlich bildet den Schluß des fleißigen Werkes.

Wir heben aus demselben nur die Punkte hervor, die uns auch für die allgemeine Geschichte Frankreichs besonders bedeutend oder geeignet erscheinen, herkömmliche Anschauungen zu berichtigen. Dahin gehört, was M. über die Subdelegirten des Intendanten mittheilt. Das waren zu dieser Zeit nicht Subalternbeamte, sondern geachtete Vertrauensmänner, die schon durch Vermögen, Familie oder Amt Bedeutung hatten: Offiziere, Geistliche, Magistratspersonen. In Aix wurde wiederholt der lieutenant général (der Vertreter des Gouverneurs, und da dieser meist abwesend war, der vornehmste Mann in der Provinz) als Subdelegirter verwendet. Die Verwendung geschah immer nur für einen bestimmten Zweck oder für eine bestimmte Zeit. — Die Stellung der höheren Geistlichen in den pays d'États war bekanntlich eine sehr bedeutende. M. weist beim Erzbischof von Aix nach, daß die Macht der Erzbischöfe ähnlich wie die der Gouverneure vor der der Intendanten immer mehr zurückging. Das Königthum aber liebte es, die alten Formen zu behalten; es ersetzte nicht leicht gewohnheitsmäßig respektirte Würden durch andere, sondern setzte zuverlässige Agenten neben die herkömmlichen Gewalten. Gouverneur und Erzbischof hatten beide das Recht, unmittelbar mit den Ministern zu korrespondiren, aber die Antworten, die sie erhielten, waren diktirt — vom Intendanten. — Die Provence wird herkömmlich zu den pays d'États gerechnet, dabei ist aber zweierlei zu bemerken: Marseille, Arles und einige kleinere Kommunen, im ganzen ein Viertel der Bevölkerung, stehen als terres adjacentes direkt unter dem Intendanten. Sie haben keine Vertretung in den assemblées générales. Diese assemblée générale war seit 1639 an die Stelle der Ständeversammlung getreten und setzte sich folgendermaßen zusammen. Der Erzbischof von Aix war Vorsitzender, außer ihm waren noch zwei Geistliche da, die von der Versammlung selbst gewählt wurden. Der Adel hatte zwei ebenso gewählte Vertreter. Jede Viguerie entsandte einen Deputirten und zwar stets den ersten Konsul des Hauptorts der Viguerie. Dazu kamen noch 16 Kommunen, die ihre ersten Konsuln deputirten. Sie durften aber keinen anderen als diesen hinsenden. Von Wahlen irgendwelcher Art ist also nicht die Rede, ebenso wenig von einem Übergewicht des geistlichen oder adelichen Standes; denn selbst wenn dieser manchen der premiers consuls zu den Seinigen zählte, so vertraten sie doch nicht den Adel, sondern die Gesammtheit der taillables. — Wie sehr Frankreich durch Ludwig's Kriege zurückging, zeigen die Kapitel über die

Finanzen und die Militärverwaltung oft in grellem Lichte; insbesondere ist auch die Geschichte Marseilles in dieser Beziehung lehrreich und mit Recht von M. eingehend berücksichtigt. Ein sehr drastisches Beispiel von der Pflichtvergessenheit der Regierung Ludwig's XIV. theilt Vf. über die Straßenerleuchtung der Städte mit. Lebret nahm die von Richelieu unternommene, aber nicht durchgeführte Sache für Marseille, Aix und Toulon wieder auf. Die Beleuchtung wird einem traitant übergeben, die Provinz will sich loskaufen und der König nimmt die gebotenen 300 000 Livres, wofür die Provinzialen das Recht bekommen, ihre Laternen selbst zu unterhalten. Tout était prétexte à impôts. Lebret erfüllte nur ungern, was ihm der übertriebene fiskalische Eifer der Minister in ähnlichen Fällen zumuthete; aber er ist nicht besser, freilich auch nicht schlechter, als seine Zeit, der Widerspruch zwischen dem Willen des Königs und der utilité publique entging ihm nicht; aber er gehorchte. So ist seine Stellung zu den Protestanten leicht verständlich. Er würde sie nicht verfolgen, wenn es nach ihm ginge; so aber sind sie Rebellen.

Taine berichtet, daß in den vier Monaten vor dem Bastillesturm mehr als 300 Emeuten in Frankreich stattfanden, in der Provence in 14 Tagen 40—50. Wer M.'s Buch über Lebret liest, wird sich hierüber nicht mehr wundern. G. Kriegsmann.

Dix-huitième siècle. Études littéraires. Par **Émile Faguet.** Paris, Lecène, Oudin et Cie. 1890.

Ref. begrüßt mit Freude diese Studien, welche eine Ergänzung der früher erschienenen Arbeiten des Vf. über die vornehmsten Schriftsteller des 17. und 19. Jahrhunderts bilden. Faguet betont, wie Ref. glaubt, mit Recht den Werth seiner Arbeit als Einführung in die Lektüre der Werke der hervorragendsten französischen Schriftsteller des 18. Jahrhunderts. Ebenso billigt Ref. vollkommen die Art und Weise, wie F. die Aufmerksamkeit der Leser auf gewisse besonders bezeichnende Werke der verschiedenen Schriftsteller lenkt. Daß das Studium der Schriften dieser Männer durch das F.'sche Buch nicht überflüssig wird, gibt F. selbst bereitwillig zu; er will nur einführen und leiten; er will den weniger Unterrichteten für die Lektüre der Werke vorbereiten. Und dieses Ziel erreicht er, indem er die leitenden Ideen in den Werken der einzelnen Schriftsteller in klarer, gemeinverständlicher Weise hervorhebt. Aber auch der gut Unterrichtete wird das Buch F.'s mit Genuß und Nutzen lesen können. Denn F. versteht es ausgezeichnet,

ein Werk zu analysiren und auch oft behandelten Gegenständen eine neue Seite abzugewinnen. Von den elf Essays, welche das Buch F.'s enthält, ist bloß einer einem Dichter — André Chenier — gewidmet, alle anderen Essays Männern, die — obwohl wenigstens zum Theil auch Dichter — in erster Linie als Schriftsteller aufgefaßt und beurtheilt werden wollen. Die Namen dieser Schriftsteller lauten: Pierre Bayle, Fontenelle, Le Sage, Marivaux, Montesquieu, Voltaire, Diderot, J. J. Rousseau, Buffon, Mirabeau. Die Aufsätze sind insgesammt sachlich und formell vortrefflich; am besten gefielen Ref. jene über Fontenelle und Marivaux. A. Pribram.

Die Katastrophe Ludowico Moro's in Novara im April 1500. Eine quellenkritische Untersuchung von **Benno Kindt.** (Greifswalder Inaugural-dissertation.) Greifswald, Julius Abel. 1890.

In vorliegender Greifswalder Dissertation untersucht der Vf. die Berichte über die Gefangennahme von Ludowico Moro zu Novara und berichtigt in erheblichen Punkten die bisherige Ansicht hierüber. Es handelt sich hauptsächlich um die Briefe des Hieronymus Morone, des Vertrauten des unglücklichen mailändischen Fürsten, deren Glaubwürdigkeit und unbedingte Zuverlässigkeit er sowohl indirekt als direkt nachweist; indirekt, indem er dem widersprechenden Bericht Rebucco's bei Rosmini: Dell' Istoria di Gian-Jacopo Trivulzio, eine Reihe von Irrthümern und falschen Angaben nachweist, die zum Theil den Zweck verfolgen, die Person des Marschalls Trivulzio, des glühenden Feindes von Ludowico Moro, auf Kosten des französischen Generals Grafen v. Ligny, zu verherrlichen, direkt, indem er die „Authentizität" der Briefe Morone's nachweist, welche kein Geringerer als Leopold v. Ranke in seiner Abhandlung „Zur Kritik neuerer Geschichtschreiber" in Zweifel gezogen hat. Ranke's Zweifel wurden hauptsächlich durch eine Stelle in einem Briefe Morone's erregt, worin es heißt, daß duodecim pagorum Elveticorum legati in das Lager der Schweizer im Dienste Ludowico's gekommen wären; Ranke meinte nun, da Morone im Jahre 1500 von zwölf Schweizer Kantonen spräche, müßte der Brief abgefaßt sein zu einer Zeit, wo die Schweizer Eidgenossenschaft erst durch Aufnahme von Schaffhausen und Basel zu 12 Kantonen angewachsen war. Der Vf. macht dagegen mit Glück geltend, daß es sich bei dieser Stelle nicht um die zwölf Orte, sondern um zwölf Gesandte handelt. Es war nämlich beschlossen worden, daß jeder Ort zwei Gesandte stellen sollte zu einer gemeinschaftlichen

Abordnung, um die Schweizer aus dem mailändischen und französischen Lager abzuberufen. Indem sich aber einzelne Orte davon fernhielten, glaubt der Vf., wie mir scheint mit Recht, die Zwölfzahl in der Weise erklären zu können, daß sich nur sechs Orte an der Abordnung betheiligten. Ich möchte noch hinzufügen, daß es überhaupt Sitte war bei den eidgenössischen Orten, bei besonders wichtigen Abordnungen je zwei Vertreter zu senden. Indem der Vf. dann noch die Briefe Morone's einer genauen Kritik in Bezug auf ihre einzelnen Angaben unterzieht, kommt er zu dem Resultat, daß alle Zweifel an der Authentizität dieser Briefe hinfällig sind. Sie sind gleichzeitig mit den Ereignissen geschrieben worden, und ihre Angaben sind bei der vertrauten Stellung Morone's zu Ludowico Moro von größtem Werth.

Auf Grund dieser Untersuchung gestaltet sich nun das Urtheil über das Verhalten des im mailändischen Sold stehenden Schweizer Heeres erheblich günstiger, insofern der Vorwurf wegfällt, daß das Heer in seiner Gesammtheit den Herzog um ein Sündengeld an die Franzosen verkauft hätte. Ludowico Moro trug nicht am wenigsten zu seiner Gefangennahme bei, indem er sich bald auf seine Verhandlungen mit dem Grafen v. Ligny verließ, der ihm, ohne befugt zu sein, sehr günstige Bedingungen gestellt hatte, bald den Zureden der Schweizer Hauptleute sein Ohr lieh, die ihn in Verkleidung durch die Reihen der Franzosen hindurch bringen wollten. Damit steht nicht in Widerspruch, daß etliche Schweizer den Franzosen bei der Suche nach dem Gefangenen die richtige Fährte gezeigt haben. Auch so bleibt es traurig genug, daß die Franzosen den unglücklichen Herrscher mitten aus seinem Söldnerheer hervorholen durften, ohne behindert zu werden.

Außerdem zieht der Vf. noch die gleichzeitigen italienischen Tagebücher und Geschichtschreiber in den Bereich seiner Untersuchung, und was er hier über Sanuto beibringt, ist beachtenswerth. Weniger ist die Arbeit in formaler Hinsicht zu loben. Die Anordnung des Stoffes ist nicht glücklich; der Vf. hätte seine Quellenuntersuchung voraufschicken und danach seine Darstellung aufbauen sollen. Auch Text und Anmerkung sind nicht gehörig geschieden. Für den Fall, daß der Vf. auf diesem Gebiete weiter zu arbeiten gedenkt, mache ich ihn auf die in Deutschland wenig gekannte Zeitschrift des Tessin, Bolletino Storico della Svizzera Italiana, aufmerksam.

H. Witte.

**Société d'histoire vaudoise.** Bulletin du bicentenaire de la glorieuse rentrée 1689—1889. Turin, Société d'histoire vaudoise, Torre Pellice. 1889.

Im September des vergangenen Jahres ist in den waldensischen Thälern die zweite Säkularfeier der für die neuere Geschichte des Waldenserthums so bedeutungsvollen „glorreichen Rückkehr" der aus ihrer Heimat vertriebenen, von ihrem ritterlichen Barben Henri Arnaud zurückgeführten piemontesischen Waldenser (17. — 30. August 1689) begangen worden, eine Feier, der zugleich von dem außerordentlichen Aufschwung, welchen der italienische Protestantismus in den letzten Dezennien genommen, beredtes Zeugnis ablegte. Besondere Bedeutung verlieh dem Feste die Beglückwünschung der Waldenser seitens des Königs Umberto, welcher zugleich eine bedeutende Summe für das Waldenserhaus und das Collegio zu Torre Pellice spendete. Unter den bei dieser Gelegenheit erschienenen Festschriften ist neben den beiden von Em. Comba in französischer und italienischer Sprache verfaßten, in ihrer Anlage von einander abweichenden, Biographien Henri Arnaud's namentlich die von Alexander Vinay herausgegebene Festgabe der Gesellschaft für waldensische Geschichte zu erwähnen. Von den elf in derselben vereinigten Abhandlungen, welche ausschließlich die Geschichte des Jahres 1689 zum Gegenstande haben, hebe ich den auf archivalische Quellen zurückgreifenden Aufsatz von E. de Budé über den Aufenthalt der piemontesischen Waldenser in der Schweiz während der Jahre 1686—1689, sowie den interessanten Artikel Appia's über den Antheil Wilhelm's III. von Oranien an der Rückkehr der Waldenser, endlich die von einem Ungenannten gegebene Übersicht der handschriftlichen und gedruckten Literatur zu den Ereignissen der Jahre 1689 hervor. Recht erwünscht ist ferner das von Peyrot mitgetheilte Itinéraire de la glorieuse Rentrée, dem eine sorgfältig ausgeführte Karte des von den Waldensern durchzogenen Gebietes vom Genfer See bis zum Mont Cenis beigegeben ist. Die eifrige Thätigkeit der Gesellschaft in der kurzen Zeit ihres Bestehens läßt in erfreulicher Weise die völlige Abkehr von den für die waldensische Historiographie so verhängnisvoll gewordenen Traditionen eines Leger und Perrin erkennen; ihre „Bulletins", so dürfen wir hoffen, werden auch in Zukunft zugleich zur Stärkung des historischen Sinnes in den Waldenserthälern und zur Aufhellung der zahlreichen bisher noch dunkeln Partien der Geschichte des Waldenserthums an der Hand des in Italien noch massenhaft vorhandenen urkundlichen Materials in erfolgreicher Weise beitragen. Herman Haupt.

Cronache Veneziane antichissime pubblicate a cura di **Giov. Monticolo.** I. Roma, Forzani. 1890.

A. u. d. T.: Fonti per la storia d'Italia pubblicati dall'Istituto Storico Italiano. Scrittori. Secoli X—XI.

I Manoscritti e le Fonti della Cronaca del Diacono Giovanni. Per **Giov. Monticolo.** Roma, Forzani. 1890.

A. u. d. T.: Bullettino dell'Istituto no. 9.

Seit vielen Jahren mit der Chronik des Johannes Diaconus und der älteren venezianischen Geschichte sich beschäftigend, war Giov. Monticolo die geeignetste Persönlichkeit, welche von dem italienischen historischen Institut mit der Neuausgabe der Chronik betraut werden konnte. Und er hat diese Aufgabe im ganzen in befriedigender, den heutigen Anforderungen der Geschichtswissenschaft entsprechender Weise gelöst. Wie in seinen früheren Schriften: Intorno agli studi fatti sulla cronaca del Diacono Giovanni (1878 im Archivio Veneto tom. XV) und La cronaca del diac. Giovanni e la storia politica di Venezia sino al 1009 (Pistoja 1882), zeigt sich M. auch hier wiederum als ein sehr kenntnisreicher, ungemein sorgfältiger, ja fast peinlich genauer Forscher, der mit der einschlägigen, namentlich auch deutschen Literatur gut vertraut ist und die historische Kritik zu handhaben weiß. Nur ist auch hier wieder, insbesondere in der als Erläuterung zu der Ausgabe dienenden Abhandlung bisweilen ein gewisser Hang zur Hyperkritik bemerkbar und die Genauigkeit öfters bis zu ermüdender Weitschweifigkeit ausgedehnt.

Die Abhandlung hat nur die Untersuchung der Handschriften und der Quellen der Chronik zum Gegenstand, nachdem die sachliche Prüfung derselben bereits früher von M. angestellt worden ist. So handelt denn M. sehr ausführlich in den ersten Kapiteln von den früheren Ausgaben und den verschiedenen Handschriften, wobei dies die wichtigste Frage, ob der Codex Urbinas in Rom 440, wie Pertz angenommen hat, das Autograph des Vf. ist oder nicht. M. entscheidet sich gegen Pertz und will die Handschrift nur als älteste, vielleicht erst nach dem Tode des Vf. gemachte Abschrift der Urschrift gelten lassen — wie mir scheint, mit nicht genügenden, wenig überzeugenden Gründen.

Der zweite Theil, der von den Quellen der Chronik handelt, läßt hinsichtlich der Anordnung und Übersichtlichkeit mancherlei zu wünschen übrig. M. scheidet dieselben in drei Gruppen und betrachtet sie dann — ohne freilich dies ausdrücklich und deutlich zu

erwähnen — in dieser Reihenfolge: erstlich jene zur kirchlichen, dann die zur politischen Geschichte Venedigs, endlich die zur auswärtigen Geschichte. Aber hinterdrein kommen dann doch noch mehrere Kapitel, welche das Verhältnis der Chronik zu einzelnen Quellen, wie das Chronicon Gradense, Altinate, Beda, Paulus Diaconus u. s. w. beleuchten — was man eben in einem anderen Zusammenhang und an früherer Stelle erwartet. Im übrigen ist es auch M. nicht gelungen, in allen den hier einschlägigen Fragen viel weiter zu kommen, als seine Vorgänger. Eine umfassendere, geschriebene Geschichtsquelle für die ältere venezianische Geschichtsperiode bis auf die Zeit des Johannes Diaconus selbst hat sich bisher nicht erweisen lassen; welche Quellen unser Autor für die spätere auswärtige Geschichte benutzt hat, läßt sich ebenso wenig ermitteln. Gänzlich verfehlt erscheint mir der Versuch, für den Anfang (proemio) der Chronik, der im Anschluß an Paulus Diaconus die ziemlich bekannte Scheidung des alten und neuen Venedigs und die Aufzählung der venezianischen Inseln enthält, und wozu M. auch noch den Passus über die Wahl des ersten Dogen rechnet, einen anderen Verfasser aufstellen zu wollen, als den Johannes Diaconus. M. will in diesen drei „Fragmenten" (besser Sätzen) Überbleibsel einer alten venezianischen, bis zur Mitte des 9. Jahrhunderts reichenden Chronik erblicken, die von Johannes Diaconus nur benutzt und durch die dazwischen geschobenen Interpolationen über die auswärtige Geschichte (von Narses, den Longobarden und Griechen) gewissermaßen verunstaltet worden sei. Wenn M. für seine Vermuthung aber nur anführt, Johannes Diaconus habe schwerlich seine eigene Chronik durch zwei so große Einschiebsel von Anfang an verunstalten können, so ist dem doch entgegen zu halten, daß Johannes Diaconus in unserem Urtheil über seinen stilistischen Geschmack schwerlich viel gewinnt, wenn wir annehmen sollen, Johannes Diaconus habe nur eine schon vorhandene Quelle auseinander gerissen und verunziert. Übrigens finde ich diese Einschiebsel gar nicht so schrecklich unpassend: im Gegentheil! Die Erzählung von Narses und dem Einbruch der Langobarden soll eben die Gründung des „neuen" Venedig erklären und ist hiefür ganz wesentlich. Das Einschiebsel zwischen dem zweiten und dritten „Fragment" ist allerdings etwas umfangreich, so daß man daran denken könnte, Johannes Diaconus habe dasselbe in dieser Ausdehnung vielleicht erst nachträglich hinzugefügt. Aber deshalb die Einleitung ihm abzusprechen, ist um so weniger Grund vorhanden

und zutreffend, als sie ganz seinen Geist und Stil verräth[1]), zum Theil aus denselben Quellen geschöpft ist (besonders Paulus Diaconus), die auch sonst in der Chronik benutzt sind, und zu allem Überfluß M. selbst zugesteht, daß darin sich Sätze (über die Grenzen des damaligen Gebietes von Venedig) finden, die von niemand anderem als Johannes Diaconus auf Grund des ihm zugänglichen urkundlichen Materials geschrieben sein können, und endlich Johannes Diaconus überhaupt auch sonst solche Einschiebungen liebt (cf. S. 108).

Daß die Annahme einer alten schriftlichen Quelle für die Geschichte des Patriarchen Fortunatus (Anfang des 9. Jahrh.) auf schwachen Füßen stehe, erkennt M. selbst an, da Johannes Diaconus gerade hier auf mündliche Überlieferung hinweist, aus der er geschöpft und die vermuthlich auch sonst ihm das Hauptmaterial lieferte — wobei man sich freilich über seine mitunter sehr detaillirten Angaben nicht genug wundern kann.

Unberechtigt erscheint mir ferner der Vorwurf M.'s gegen Johannes Diaconus, daß derselbe absichtlich in dem größten Theil seiner Chronik — von einigen wenigen Stellen abgesehen — von Urkunden keinen Gebrauch gemacht habe. Selbst zugestanden (wozu ich mich schwer entschließe), daß wirklich von allen, angeblich sämmtlich bei der Einäscherung des alten Dogenpalastes 976 zu Grunde gegangenen, Urkunden private Abschriften außerhalb des Staatsarchivs vorhanden gewesen seien[2]) — was hätte denn Johannes Diaconus für einen Grund haben sollen, diese Quelle zu ignoriren, wenn er doch aus seiner eigenen Zeit einige Dokumente verwerthet hat? Da liegt es doch wohl näher, zu glauben, daß er von jenen „Abschriften" eben keine Kenntnis hatte und überhaupt gar nicht (wie die wenigsten mittelalterlichen Chronisten) das Bedürfnis fühlte, für seine Darstellung urkundliches Material sonst noch zu verwerthen. Mit einem Andrea Dandolo darf man ihn eben überhaupt nicht in dieser Beziehung vergleichen.

Die Frage nach der Benutzung urkundlicher Quellen gibt M. Gelegenheit zu einer größeren Digression über die bekannten ältesten,

---

[1]) Als besonders charakteristisch möchte ich die Anknüpfung des dritten „Fragments" durch das von Joh. Diaconus sehr beliebte Igitur anführen.

[2]) Warum M. an anderer Stelle (S. 171) meint, alle Texte der politischen Urkunden in den verschiedenen, sogleich zu erwähnenden Sammlungen vor 1009 gingen auf solche „Privatabschriften" zurück, ist wirklich unerfindlich, da jener Brand ja schon 976 statthatte!

wichtigen venezianischen Urkundensammlungen, die offiziellen Libri Pactorum (Bd. 1 u. 2), den von Andrea Dandolo angelegten Liber Albus und Blancus und den nach dem Besitzer des 17. Jahrhunderts so genannten, zwischen 1394 und 1419 entstandenen, Codex Trevisaneus, deren Ursprung und Inhalt näher beleuchtet wird. Ich stehe nicht an, gerade diese Partien der Abhandlung und die daran sich anschließenden Kapitel (II und IV) des Anhangs als die allerwerthvollsten zu bezeichnen — man könnte sie einen sehr schätzbaren Beitrag zur Diplomatik der Republik Venedig nennen — wenn ich auch nicht allen Erörterungen des Vf. zustimmen kann, wie dieser sie übrigens selbst nicht für abgeschlossen erklärt.

Beachtung verdienen auch M.'s Bemerkungen über die Briefe Gregor's II. an den Patriarchen Serenus von Aquileja, an den Dogen Ursus und den Patriarchen Antoninus von Grado, welch' beide letzteren er Gregor III. zuweist, und über jene neun Briefe Johannes' VIII., die sich auf den Streit zwischen dem Dogen Ursus Particiaco und dem Patriarchen Petrus von Grado (867—877) beziehen, welche M. gleichfalls im Anhang — was im Index aufzuführen vergessen ist — in verbesserter Gestalt veröffentlicht. Füge ich hinzu, daß M. überdies im Anhang aus dem alten Archiv der Kirche S. Antonio auf Torcello sieben (Privat-)Urkunden aus den Jahren 1225—1246 abdruckt, so wird man erkennen, daß der Inhalt dieser Abhandlung ein überreicher ist. Und doch ist er damit noch nicht einmal erschöpft. Wenn M. diesmal auch nur die Überlieferung und die Quellen der Chronik zum Gegenstand seiner Untersuchung machen wollte, hat er doch wiederholt auch sachliche Erörterungen einzuschalten nicht unterlassen können, woraus ich nur die Anmerkung auf S. 54 über das Abhängigkeitsverhältnis Venedigs von Byzanz hervorheben will. Im einzelnen habe ich hiezu noch zu bemerken, daß S. 31 bei Veneciam penetrare wohl einfach die Stadt Venedig und nicht das Gebiet gemeint ist, und zu S. 195/196 der Wortlaut der Stelle aus dem sog. Chronicon Altinate, zu S. 201 mein letzter Aufsatz aus dem Archivio Veneto Bd. 35 anzuführen gewesen wären.

Was nun die neue Ausgabe der Chronik des Johannes Diaconus selbst betrifft, welche in dem vorliegenden Band der Cronache Veneziane antichissime nach Inhalt und Umfang die bedeutendste ist, so unterscheidet sie sich von derjenigen in unseren Monumenta vor allem durch die genauere Angabe aller der Korrekturen und Rasuren, die

sich in dem Cod. Urbinas finden, wobei Monticolo wohl kaum ein einzelnes, mit anderer Tinte geschriebenes Strichelchen vergessen zu haben scheint. Ferner durch den wörtlichen Abdruck aller anderswoher entlehnter Stellen und endlich durch einen viel reicheren Kommentar in den Anmerkungen, unter denen namentlich die vielfachen urkundlichen Belege über einzelne vorkommende Familien, Persönlichkeiten oder Ereignisse von besonderer Wichtigkeit sind. In die Anmerkungen sind auch die Hinweise auf die von Joh. Diac. benutzten Quellen verlegt, wobei der sonderbare Modus eingehalten ist, nicht am Anfang, sondern erst am Schluß des Satzes oder Absatzes die Quelle anzugeben. Eigenthümlich ist auch der Brauch, die beim Abdruck beibehaltenen lateinischen Zahlen durch zwei Punkte, z. B. .VII., abzugrenzen. Ebenso sorgfältig sind die Varianten verzeichnet. Textlich ist die Zahl der Verbesserungen in der neuen Ausgabe gegenüber der in den Monumenten keine allzugroße. M. hat in der Abhandlung (p. 224) selbst die wichtigsten aufgezählt.

Der Chronik des Johannes Diaconus geht in dem vorliegenden Band voraus: 1) Die Cronica de singulis patriarchis Nove Aquileie, welche Waitz in den Scriptores Langob. et Ital. veröffentlicht hat. Aus dem Kommentar dazu ist zu erwähnen, daß M. S. 5, Anm. 2 für die Echtheit der Akten der Synode von Grado vom Jahre 579 eintritt unter Hinweis auf die Erwähnung und Anführung derselben von Seite der Päpste, z. B. Gregor's III. auf der Synode zu Rom vom November 731 — was natürlich keineswegs ausschlaggebend ist. Es folgt 2) das Chronicon Gradense, gleichfalls schon von Pertz in den Scriptores tom. VII veröffentlicht und von diesem dem Johannes Diaconus zugeschrieben, von anderen (wie auch von mir) diesem abgesprochen, wie M. (Abhandlung S. 137) — wenig glaublich — meint: nur eine Art „privater" Materialiensammlung für eine wirkliche Chronik oder Geschichte des Patriarchats von Grado. Daneben hat M. auch jene Umarbeitung eines Theiles dieses Chronicon zum ersten Male abgedruckt, welche in einer Handschrift des Seminario Patriarcale zu Venedig ‚Liber pontificatus ecclesie Aquilegiensis' überliefert ist[1]). Überflüssig erscheint der

[1]) M. gibt für dieselbe die Signatur G. III, 10 an, während sie, als ich sie benutzte, unter D. II, 9 aufgestellt war. M. schweigt über diese Differenz, wie er überhaupt vergessen zu haben scheint, daß ich von dieser Umarbeitung bereits in meiner Dissertation „Andreas Dandolo und seine

Abdruck (Nr. IV) eines allerdings nur 1½ Seiten großen Auszuges aus dem Chronicon Gradense, der sich im ersten Bande der Libri Pactorum findet und vielleicht aus der Zeit Andrea Dandolo's stammt.

Auf die Chronik des Johannes Diaconus folgen außer den schon in den Monumenta SS. tom. VII gedruckten Zusätzen und Listen der Dogen, der langobardischen und karolingischen Könige Italiens die römisch-byzantinischen Kaiser, deren letzte Reihe auch in meiner Ausgabe des sog. Chronicon Altinate SS. tom. XIV pag. 6 u. 7 ff. abgedruckt ist, was von M. wohl hätte bemerkt werden dürfen, sowie auch, daß bereits ich den byzantinischen Ursprung dieser Liste betont habe.

Den Band beschließt ein dreifacher Index: 1) der Eigennamen und wichtigeren Dinge, 2) einiger bei Ducange nicht oder mit anderer Bedeutung verzeichneten Worte, 3) der im Kommentar gekürzt angeführten Werke — der ebenfalls sehr sorgfältig gearbeitet scheint. Ja, selbst hier hat sich der Vf. nicht enthalten können, noch mehrere sachliche Anmerkungen hinzuzufügen. Überhaupt möchte ich nun zum Schluß, nachdem ich mit meinen Ausstellungen nicht zurückgehalten habe, dem außerordentlichen, unendlichen Fleiße des Vf., der sich auf jeder Seite verräth, das verdiente Lob und die gebührende Anerkennung nicht vorenthalten. H. Simonsfeld.

Das Heidenthum in der römischen Kirche. Bilder aus dem religiösen und sittlichen Leben Süditaliens. Von **Th. Trede.** I—III. Gotha, F. A. Perthes. 1889—1890.

Das Werk T.'s hat — um gleich eine allgemeine Ausstellung zu machen — den Fehler, daß es zuviel beweist, obschon daraus nicht gefolgert werden soll, daß es nichts bewiese. Aber der im Titel hinlänglich klar angedeutete ganz richtige Grundgedanke — daß nämlich Heidenthum und recht viel Heidenthum nach Form und Inhalt in dem religiösen Denken und Leben Süditaliens sich erhalten habe trotz der römisch-katholischen Formen, ja von ihnen gehegt und gepflegt — wird in den drei Bänden unter vielen Wiederholungen immer wieder so servirt und muß so sehr als passe-partout für die Erklärung aller Bethätigungen des modernen kirchlichen Lebens dort gelten,

---

Geschichtswerke" gehandelt habe, wo ich S. 58 gezeigt, daß die Handschrift nicht vor 1495 geschrieben sein kann.

daß den Leser die einseitige Betrachtungsweise schließlich in hohem Grade ermüdet. Dazu kommt noch die Mache des Werkes selber. Es sind zu nicht geringem Theile alte Bekannte, diese Aufsätze, die sich oft sehr lose an einander reihen — oder sollte Ref. sich darin irren, daß er ihnen an verschiedenen Stellen im Journalismus schon begegnete? Und nun soll gar noch ein vierter Band ähnlichen Inhalts und gleicher Tendenz nachfolgen.[1])

Ref. bedauert den Mangel an künstlerischer Gestaltung dieser Stoffe. Denn außergewöhnlich viel Interessantes und Charakteristisches wird thatsächlich geboten, und ohne vielfache Belehrung wird kein Leser die Bände aus der Hand legen. T. sieht scharf, und weil er nun einmal alle jene Erscheinungen von seinem Gesichtspunkte aus unter die Lupe genommen hat, so offenbaren sich ihm ganz überraschende Dinge. Er ist der erste, welcher systematisch die Untersuchung anstellt, wieviel Heidenthum in den römisch-kirchlichen Formen erhalten geblieben ist, und das Facit seiner Abrechnung weist ungemein viel auf — das meiste davon zwingend, anderes freilich nicht. Von dem mannigfaltigen Inhalt der Bände hier auch nur eine annähernde Anschauung im einzelnen zu geben, verbietet dem Ref. die Rücksicht auf den ihm verstatteten Raum. Aber man kann wohl sagen, von der äußeren Form der Gotteshäuser und Gottes- (bezw. Heiligen-) dienste bis zu den intimsten Äußerungen des religiösen Gefühls, von den pomphaften und lärmenden öffentlichen Aufzügen der jauchzenden Menge bis zu dem Seufzer und Stoßgebet des elend Verlassenen, von den religiösen Verrichtungen und Formen, welche des Menschen Entwickelung begleiten seit den ersten Stunden seines Daseins bis zu dem letzten Angedenken des Verstorbenen — Alles ist untersucht, vieles zum ersten Mal zur Kenntnis gebracht, manches schlagend im Sinn des leitenden Gedankens verwendet. Wer gewohnt ist, die Entwickelung der Völker im Zusammenhang anzuschauen und unter veränderten Formen doch das Wirken desselben Geistes herauszusuchen, der wird in reichem Maße Anregung aus der Lektüre dieses Werkes schöpfen. Dabei soll nicht verhehlt werden, daß im einzelnen denn doch eine ganze Menge Schnitzer unterlaufen. Die Art der Mache hat nicht allein zahlreiche Wiederholungen herbeigeführt,

[1]) Jahrg. 1891 ist inzwischen erschienen und hat das Material noch beträchtlich vermehrt, auch ein alphabetisches Namen- und Sachregister über alle vier Theile, welches dringend erforderlich war, beigefügt.

sondern auch Flüchtigkeiten übersehen lassen, von denen Reusch in der Theol. Lit. Ztg. (7, 18, Jahrg. 1890) zum 1. und 2. Bde. eine Anzahl notirt, die leicht vergrößert werden könnte. Benrath.

Geschichte des oströmischen Kaisers Justin II. Nebst den Quellen. Von der philosophischen Fakultät der Universität Halle gekrönte Preisschrift von **Kurt Groh.** Leipzig, B. G. Teubner. 1889.

Die Regierung Kaiser Justin's II., des Nachfolgers Justinian's des Großen, ist bisher wenig günstig beurtheilt worden. Gibbon ebenso wie zuletzt Ranke in der Weltgeschichte machen es demselben zum Vorwurf, daß er in eitlem und thörichtem Hochmuth die Nachbarn, die Avaren und Perser, provozirt und so das Reich in neue Gefahren gestürzt und neue Verluste herbeigeführt hat, und daß auch im Innern unter ihm dieselben Schäden wie früher, Steuerdruck, Aussaugung der Unterthanen durch den Staat und durch die Beamten und religiöse Verfolgung fortgedauert haben. Der Verf. der vorliegenden Schrift ist abweichender Meinung, er rühmt Justin, daß er im Gegensatz zu der feigen und schwächlichen Politik seines Vorgängers jenen Nachbarn gegenüber energisch aufgetreten ist, er gibt zwar zu, daß derselbe die Krebsschäden des Reiches, die Beamtenhierarchie und das Steuerwesen nicht habe beseitigen können, aber er behauptet, daß Justin persönlich gerechtigkeitsliebend gewesen sei. Wir können diese neue Auffassung nicht als berechtigt anerkennen. Die Verweigerung des Tributs an die Avaren, die provozirenden Schritte, durch welche der zur Erhaltung des Friedens geneigte Perserkönig zum Kriege gedrängt wurde, würden rühmlich erscheinen können, wenn denselben eine innere Regeneration des Reiches vorangegangen wäre, dieses ist aber nicht geschehen. Heerwesen und Finanzen waren, als Justin die neuen Kriege heraufbeschwor, ebenso zerrüttet wie vorher, diese sind daher auch unglücklich geführt worden, den Avaren hat schließlich Justin doch wieder, als er mit ihnen Frieden schloß, einen Tribut zugestehen müssen und ebendazu hat er sich auch in dem mit dem Perserkönige eingegangenen Waffenstillstand verstehen müssen. Was die Gerechtigkeitsliebe des Kaisers anbetrifft, so beruft sich Groh gegenüber den Anklagen des Euagrius auf das Zeugnis des Johannes von Ephesus und auf eine von den späteren Chronisten erzählte Anekdote. Die letztere aber ist wenig glaubwürdig und den von dem Vf. angeführten Stellen aus Johannes von Ephesus, in denen dieser sich günstig über den Kaiser ausspricht, stehen andere gegenüber (s. S. 94 u. 97 der

Schönfelder'schen Übersetzung), in denen er ihn auf das heftigste der Ungerechtigkeit, Gewaltsamkeit und Habsucht anklagt. Auch im einzelnen enthält die Schrift mehrfache willkürliche und unrichtige Angaben, die kirchliche Politik des Kaisers und überhaupt die kirchlichen Angelegenheiten unter demselben sind (der Vf. erklärt, dieselben später in einer Geschichte Justinian's mit behandeln zu wollen) ganz unberücksichtigt geblieben.

Doch ist die Arbeit nicht ganz ohne Verdienst, den Anfang desselben bildet eine Übersicht über die Quellen, in welcher schon auf die Wichtigkeit einerseits des Johannes von Ephesus und andrerseits der persischen Quellen hingewiesen wird, und in der folgenden Darstellung hat der Vf. sich bemüht, diese bisher wenig beachteten orientalischen Quellen möglichst auszunutzen, er hat so manches neue Material für die Geschichte jener Zeit gewonnen, so verweisen wir z. B. auf S. 75, wo er unter Verwerthung einer Stelle des Johannes von Ephesus in der That überzeugend nachweist, daß der angebliche Verrath des Narses nicht stattgefunden hat. F. Hirsch.

**Ignatii** diaconi vita Tarasii archiepiscopi Constantinopolitani. Graece primum edidit **J. A. Heikel.** Helsingforsiae, ex offfcina typographica Societatis litterariae fennicae. 1889.

Die Lebensbeschreibung des Tarasius, welcher während der Jahre 784—806 den Patriarchenstuhl von Konstantinopel inne gehabt hat, und unter dessen eifriger Mitwirkung durch die Kaiserin Irene die Wiederherstellung des Bilderdienstes erfolgt ist, verfaßt von dem Zeitgenossen Ignatius, welchem wir außer anderen Schriften auch noch eine Lebensbeschreibung des späteren Patriarchen Nicephorus verdanken, war bisher nur in lateinischer Übersetzung von den Bollandisten (AA. SS. Februar. III) herausgegeben und danach von Migne wieder abgedruckt worden. Die Schrift ist von keinem besondern Werthe, sie ist durchaus panegyristisch gehalten, berücksichtigt neben den kirchlichen die sonstigen Zeitereignisse sehr wenig und ist außerdem in einem sehr schwülstigen Stile geschrieben, immerhin ist sie als Arbeit eines unmittelbaren Zeitgenossen von einem gewissen Interesse und muß als Ergänzung zu dem sonstigen wenig reichlichen Quellenmaterial herangezogen werden. Daher muß es mit Dank begrüßt werden, daß Heikel in der vorliegenden Schrift, einem Sonderabdruck aus dem 17. Bande der Verhandlungen der finnischen Gesellschaft der Wissenschaften, den griechischen Originaltext auf Grund einer

Pariser und einer Wiener Handschrift veröffentlicht hat. In der kurzen Vorrede zählt er die bekannten Schriften des Ignatius auf und beschreibt die von ihm benutzten Handschriften, in einem Anhange hat er Bemerkungen über Eigenthümlichkeiten in dem Sprachgebrauch und Stil des Vf. zusammengestellt. Beigegeben ist außerdem ein Namenregister und ein Glossar. F. Hirsch.

Un empéreur Byzantin au dixième siècle, Nicéphore Phokas. Par **Gustave Schlumberger.** Paris, Firmin Didot et Cie. 1890.

Der Gelehrte von Fach wird in einer Geschichte des Nikephoros Phokas die ausführliche Schilderung des Überfalles von Thessalonike durch Leo Tripolitanus nach Joannes Kameniata, der Zeremonien bei kaiserlichen Begräbnissen und der kaiserlichen Sarkophage, verschiedene ganze Übersetzungen aus des Konstantinos Porphyrogennetos Zeremonienbuche und aus Leo's Taktika, die Besprechung der Themen des Reichs nach Rambaud, eine lange Erörterung über das griechische Feuer, über die Behandlung des Kaisers Andronikos 1185, Proben aus den Gedichten des Mottenabbi u. s. w. nicht suchen — ich kann für dieses Beiwerk auch trotz der Erklärung des Vf. p. III keine Entschuldigung finden: j'ai voulu faire de ce livre comme un resumé de l'existence militaire, sociale et politique vers l'an 960. Andrerseits wird z. B. fürdie wichtige Erscheinung der militärischen Lehen, für deren Entstehungsgeschichte Gfrörer bei aller Einseitigkeit seiner Anschauungsweise sehr schöne Beiträge geliefert hat, eine eingehendere Behandlung wünschen, wenngleich die Materie eine sehr schwierige ist und noch vielfache Vorarbeiten zu erledigen sind, nicht minder für die gesetzgeberische Thätigkeit des Kaisers. So schön sich auch die ersteren Partien lesen mögen, nöthig sind sie nicht, und man wir nicht fehlgehen, wenn man vermuthet, Schlumberger's Absicht sei gewesen, für ein größeres Publikum zu schreiben, worauf auch die ab und zu etwas feuilletonistische Art der Darstellung hinweisen würde. Abgesehen davon fesselt das Werk durch seinen Inhalt außerordentlich, und die Literatur ist so vollständig benutzt, wie man es anderswo selten finden wird. Ich stehe nicht an, zu erklären, daß dasselbe alle bisherigen Darstellungen der Geschichte dieses Kaisers durchaus in den Schatten stellt, auch wenn man nicht allenthalben den Anschauungen und Behauptungen des Vf. beipflichten kann. Im Großen und Ganzen freilich ist das Bild, das Schlumberger von seinem Helden entworfen, richtig. Das Buch aber dürfte auch noch aus einem andern

Grunde von besonderer Wichtigkeit sein, insofern als man nämlich hoffen darf, dasselbe werde einen erneuten Anstoß zur Kritik einer der Hauptquellen dieser Zeit, des Leon Diakonos, geben. Hier ist trotz der überaus eingehenden und fleißigen Studien des Vf. noch manches zu thun. Ich halte Leon's Darstellung für viel mehr gefärbt und beeinflußt, als man bisher zuzugestehen geneigt war, doch kann ich hier diese Behauptung nicht näher begründen[1]). Daß bei einem so umfangreichen Werke auch Irrthümer sich finden, wird einen gerechten Beurtheiler nicht befremden. Ich führe zum Beweise dessen nur einen an. Wenn Sch. p. 257 sagt: toute cette floraison intellectuelle (er meint die literarische und geistige Blüthe unter den drei ersten macedonischen Kaisern) s'evanouit parmi le fracas de la periode troublée et guerrière qui suivit. Ce ne fut que sous la dynastie des Comnènes que le gout de l'instruction et le culte de lettres revinrent en honneur à la cour byzantine, so ist das nicht wahr. Das Gegentheil dieser Behauptung hat einerseits schon Sathas in den Einleitungen zu dem 4. und 5. Bande seiner μεσαιωνικὴ βιβλιοθήκη, andrerseits Ref. ausführlicher und mit neuen Belegen in den „Stud. zur byz. Gesch. des 11. Jahrh." nachgewiesen. William Fischer.

Das Datum auf den Philippinen. Von **Jerolim Freiherrn v. Benko.** Wien, Selbstverlag (Druck von Gerold). 1890.

Die vorliegende kleine Abhandlung (Separatabdruck aus „Die Schiffsstation der k. u. k. Kriegsmarine in Ostasien") verfolgt den Zweck, weitere Kreise von einer Maßregel in Kenntnis zu setzen, welche schon im Jahre 1844 auf den Philippinen von der Regierung getroffen wurde, welche aber bisher so unbeachtet blieb, daß beinahe kein Werk, welches sich mit diesem Gegenstand beschäftigte, darauf Rücksicht genommen hat, nämlich daß das Datum auf den Philippinen, welches seit ihrer Eroberung durch den Spanier Legaspi, der von dem spanischen Amerika herkam, um einen Tag von dem z. B. in Macao geltenden differirte, durch Erlaß des Gouverneurs von Manila vom 16. August 1844 dem im übrigen Asien geltenden gleichgestellt wurde. Der 31. Dezember 1844 wurde übersprungen und nach dem 30. Dezember 1844 sogleich der 1. Januar 1845 gezählt. Der historische

[1]) Vgl. auch meine Abhandlung: Beiträge zur historischen Kritik des Leon Diakonos und Mich. Psell. in Mittheil. des Instituts für österr. Geschichtsforsch. Bd. 7 Heft 3.

Rückblick, welchen der Vf. über die Entſtehung dieſes Datumunterſchiedes gibt, die Ausführungen über die Datumsgrenze überhaupt ſind ſehr inſtruktiv und geben auch dem Laien Klarheit in dieſer ſcheinbar ſo merkwürdigen Sache. Theodor Schott.

**Medina, José Toribio,** Historia del Tribunal del Santo Oficio de la Inquisicion en Chile. I. II. Santiago, Impr. en casa del autor. 1890.

Mit Recht ſagt der durch hiſtoriſche, geographiſche und ethnographiſche Arbeiten über ſein Vaterland Chile und die Nachbarländer rühmlichſt bekannte Autor, daß die Geſchichte der Inquiſition in Chile, welche er den Hiſtorikern darbringt, alle Reize einer Enthüllung biete. Ein dichter Schleier bedeckte alle Handlungen des „Heiligen Gerichtes" während ſeiner Wirkſamkeit. Selbſt die freigelaſſenen Angeklagten wurden durch Androhung der ſtrengſten Strafen verpflichtet, über Alles, was ſie während ihres Prozeſſes und ihrer Gefangenſchaft geſehen, gehört und erfahren hatten, unbedingtes Schweigen zu bewahren. Nur bei den Autos de fé trat die Inquiſition an die Öffentlichkeit, und hier bekam das Volk die Unglücklichen zu ſehen, die zur öffentlichen Abſchwörung ihrer „Irrthümer" reſp. ihrer Verbrechen oder Vergehen, oder zum Feuertode verurtheilt waren.

Der Werth der fleißigen und eingehenden Arbeit des Herrn Medina beruht in erſter Linie darin, daß er faſt nur Originale, Akten und Urtheile der Inquiſition publizirt und das Urtheil über dieſelben dem Leſer ſelbſt überläßt. Das vorliegende Werk ſchließt ſich eng an die vor drei Jahren erſchienene Hist. del Tribunal del Santo Offico de la Inquis. de Lima (2 Bände, Santiago) an, behandelt viele in jener Geſchichte nur kurz angedeutete Prozeſſe, deren Hauptperſonen Chilenen waren, ſpezieller. Ein aufmerkſames Studium beider Werke läßt erkennen, daß das Inquiſitionsgericht, bei all ſeiner Furchtbarkeit und Macht, doch durch Ergänzung der mangelhaften weltlichen Gerichtsbarkeit ſich entſchiedene Verdienſte um Sittlichkeit und Moral erworben hat. So kamen Bigamiſten und Prieſter, die einen unſittlichen Lebenswandel führten und den Beichtſtuhl zu dieſem Zwecke mißbrauchten, vor das Forum des Santo Oficio. Die Strafen waren in dieſen Fällen durchaus nicht grauſam, beſonders wenn man das im 16. und 17. Jahrhundert allgemein gültige „Recht" und die üblichen Strafen für Vergehen und Verbrechen der verſchiedenſten Art bedenkt. Daß Gotteslästerungen und Schmähungen der katholiſchen

Kirche strenger als heut bestraft wurden, kann aus demselben Grunde erklärt werden. Es bleiben nur die Prozesse wegen „Irrlehren" und die gegen getaufte Juden und Mohamedaner, welche wieder in ihren alten Glauben zurückgefallen waren, deren Studium Entsetzen einflößen kann. Hier wurde die Folter besonders häufig angewendet und hier ergingen die meisten Blutsentenzen.

Von 1516 an war Kardinal Adrian von Utrecht (später Papst Adrian VI.) Groß-Inquisitor von Spanien. Er ernannte den ersten Inquisitor für Amerika. Es war dies der Dominikaner Pedro de Córdoba, welcher auf der Insel Española (Hayti) residirte. Vf. gibt einige Daten über die ersten Inquisitoren und die geringe Wirksamkeit derselben. Die Inquisition erlangte auch in Amerika erst durch das Dekret Philipp's II. vom 25. Januar 1569 eine größere Bedeutung. Die ersten historisch beglaubigten Opfer der Inquisition in Südamerika waren ein Moriske und ein Mulatte, welche 1560 in Lima dem weltlichen Arme ausgeliefert, d. h. erdrosselt und dann verbrannt wurden. Sie hatten heimlich dem Mohamedanismus gehuldigt und neue Dogmen aufgestellt.

Der erste Prozeß des Mönches Gil Gonzalez de San Nicolas gegen Alonso de Escobar gab Veranlassung zu einem Rattenkönige von Klatschereien, Prozessen, Verurtheilungen und Zänkereien zwischen den weltlichen und geistlichen Behörden und der verschiedenen Geistlichen und Orden untereinander. Einer exkommunizirte und verhaftete den andern. Die erste Kommission des Santo Oficio wurde für Chile im April 1572 durch den Vorsitzenden der Inquisition in Lima, Cerezuela, ernannt. Es waren dies Melch. Calderon und Cisneros. — Von namhaften Personen wurden Franc. de Aguirre und Pedro Sarmiento de Gamboa vor das Inquisitionsgericht citirt. Beide Prozesse werden eingehend behandelt. Schrecklich war das Los der englischen und holländischen Freibeuter, welche an den Küsten von Perú und Chile in die Hände der Spanier fielen und als „Lutheraner" der Inquisition ausgeliefert wurden, falls dieselben nicht zum Katholizismus übertraten (was allerdings fast stets geschah).

Der letzte Kommissar der Inquisition in Chile war José Ant. de Errázuriz y Madariaga (1810—15). Dem bekannten Beschlusse der Cortes vom 22. Februar 1813, welcher die Inquisition in den spanischen Ländern aufhob, gab der Vizekönig von Perú sofort Folge, er ließ die Gelder der Inquisition an die königlichen Kassen abliefern. Gestützt auf den Willen der überwiegenden Mehrzahl der Bevölkerung

gab er dem Dekrete Ferdinand's VII. vom 22. Juli 1814 (Wiedereinführung der Inquisition) keine Folge. In Chile dagegen befahl Osorio, daß den Inquisitoren ihre Einnahmen wieder zurückgegeben wurden, und so erhielt der Schatzmeister des Santo Oficio im Dezember 1815 das letzte Geld von chilenischen Bürgern. Durch Dekret vom März 1820 hoben die Cortes von Spanien die Inquisitionstribunale definitiv auf. H. Polakowsky.

Development and character of Gothic Architecture by **Charles Herbert Moore.** London, Macmillan and Co. 1890.

Das vorliegende Werk will keine Geschichte der Gothik geben, sondern nur die Entwickelung des gothischen Stils beim Kirchenbau kennzeichnen. Ich kann nicht finden, daß das Buch etwas Neues bringt, wenn auch der Vf. wenigstens seinen englischen Lesern gegenüber einen ungewöhnlichen Standpunkt einzunehmen scheint; denn er versichert, seine Herleitung der gothischen Konstruktion von französischen Baudenkmälern würde vielen Engländern unwelcome sein. Sollte man in dem Inselreiche wirklich noch so zurück sein, und sollte Herr Moore nicht wissen, daß in Deutschland schon F. Mertens im Jahre 1843 den französischen Ursprung der Gothik dargelegt hatte? Der Vf. läßt sich nun, von der vermeintlichen Neuheit seiner Theorie begeistert, zu einer einseitigen Behandlung seines Gegenstandes verleiten, indem er die Gothik Frankreichs, zum Nachtheil der übrigen Länder, entschieden zu stark in den Vordergrund rückt. Vier von neun Kapiteln (Einleitung und Schluß ausgenommen) beschäftigen sich ausschließlich mit französischen Konstruktionen, französischer Skulptur und Glasmalerei, und diese Kapitel halten sich streng an die Lehren Viollet Le Duc. In zweiter Linie kommt erklärlicherweise England; Deutschland und Italien werden auf einigen Seiten abgefertigt. Kein Wunder, daß die Niederlande dem Vf. völlig terra incognita sind. Ganz richtig erklärt er das künstlerische Übergewicht Frankreichs im späten Mittelalter aus den politisch und materiell glücklichen Verhältnissen. Soll aber deshalb von einer deutschen, englischen und italienischen Gothik nicht gesprochen werden dürfen? Frankreich war schon damals das Land der Neuerungen, aber die Neigung für den Wechsel ist der erschöpfenden Ausbildung einer Kunstweise gewiß nicht günstig. Auch die übrigen Länder hatten ihre besonderen wichtigen Aufgaben innerhalb der Gothik gelöst, denen der Kunsthistoriker nachzugehen hat. Deutschland mochte sich im Mittelalter

erst spät und zögernd zu der neuen Bauart entschließen; doch nachdem dies geschehen war, fand hier die Gothik eine so liebevolle, konsequente und zum Theil auch völlig eigenartige Ausbildung, daß es grundfalsch ist, wenn Herr M. glaubt, der deutsche Stil sei nur etwa eine primitive Nachahmung des Französischen. Die Bedeutung der Hallenkirche unterschätzt er, und der norddeutsche Backsteinbau mit seinen originellen Konstruktionen findet gar keine Berücksichtigung.

So lange die Gothik bei den zivilisirten Völkern in Mißkredit stand, fand man es selbstverständlich, daß diese „barbarische" Bauweise in Deutschland entstanden und hier gleich Unkraut üppig gediehen war. Wie die Italiener einst den Architekten ihrer gothischen Kirchen, gleichgültig woher die Leute kamen, den Beinamen Tedesco gaben, so hat noch der Holländer Philipp Vingboons in einem Architekturwerke von 1688, welches Frankreichs Renaissance verherrlichte, die volle Schale seiner Verachtung jenes Stils auf Deutschland allein ausgegossen. Sobald aber in neuester Zeit die Gothik wieder allgemein Anerkennung fand, säumte man nicht, Deutschland ein selbstständiges Anrecht an diesem Baustil abzusprechen. Herr M. findet darum den Muth, leichten Sinnes im Vorwort seiner Arbeit zu bemerken, er kenne die deutschen Bauten nur aus Büchern und Photographien. Und welche sind seine deutschen Gewährsmänner? Förster und Boisserée! Was Ungewitter über die konstruktive Entwickelung, Schnaase, Kugler, Lübke u. a. über die historische und ästhetische Bedeutung der deutschen Gothik gesagt, ist ihm unbekannt. Hätte das vorliegende, hübsch ausgestattete und gut illustrirte Buch bloß den Titel geführt: Development and Character of G. Arch. in France and England, so hätten wir der knappen, klaren und sachgemäßen Behandlung des Gegenstandes unsern Beifall nicht versagt. G. Galland.

L'autobiographie de **Juste Lipse**, publiée, avec une traduction française et des notes par P. Bergmans. Gand, Libr. C. Vyt. 1889.

Der berühmte niederländische Philologe Justus Lipsius hat in einem Briefe an Jean Woverius einen kurzen Abriß seines bewegten und kulturhistorisch interessanten Lebens gegeben; dieser Brief wurde sodann für seine Biographen Miräus und Reiffenberg eine Hauptquelle. Bergmans gibt jetzt eine französische Übersetzung desselben nebst erklärenden Anmerkungen, welche hauptsächlich aus Lipsius' Briefen und van der Haeghen's Bibliographie Lipsienne geschöpft sind. Darin liegt ihre Stärke und zugleich ihre Schwäche; letztere

insofern, als andere Literatur nicht genügend herangezogen erscheint. So war z. B. bei dem Großoheim Martin Lipsius, einem Freunde des Erasmus (S. 15 und 34) zu verweisen auf Ad. Horawitz Erasmus von Rotterdam und Martinus Lipsius (Wien 1882). Für die Freundschaft des Lipsius mit Fulvio Orsini (S. 23 und 54) mußte verwiesen werden auf P. de Nolhac La bibliothèque de Fulvio Orsini (Paris 1887), woselbst S. 437 ein bisher unbekannter Brief des Lipsius an Orsini abgedruckt ist.

Karl Hartfelder.

Un philologue Gantois inconnu du XVII^e siècle, Louis Lautius. Par **Paul Bergmans.** Gand, Vanderhaeghen. 1889.

Louis Lautius ist ein ziemlich unbekannter Philologe aus Gent, von dem nicht eben viel zu sagen ist. Seine Anmerkungen zu Catull, Tibull und Properz scheinen nicht gedruckt worden zu sein. Wohl aber erschienen seine Noten zu Orosius in Mainz bei Petrus Cholinus 1615. Bergmans hat noch einige weitere Notizen über Lautius und einige seiner lateinischen Gedichte aufgespürt, welche S. 8 ff. mitgetheilt werden. Wenn man übrigens bedenkt, daß Lautius ein ziemlich kleines philologisches Licht war, daß es ferner auch B. trotz fleißigen Suchens nicht gelungen ist, Erhebliches über sein Leben oder seine Werke zu sagen, wird man es vielleicht überflüssig oder mindestens luxuriös finden, einem solchen Manne eine besondere Schrift zu widmen, selbst wenn sie so klein sein sollte, wie die von Bergmans thatsächlich ist.

Karl Hartfelder.

Un imprimeur Belge du XV^e siècle, Antonius Mathias. Par **Paul Bergmans.** Bruxelles, F. Hayez. 1889.

Antonius Mathias ist ein Niederländer aus Antwerpen, der in den Jahren 1471—1472 zu Genua, in der Folgezeit in Mondovi und später, d. h. seit 1475, vielleicht in Zaragossa druckte. Aber weder die Zahl der Drucke noch deren Inhalt ist von besonderer Bedeutung. Die Arbeit v. Bergmans, welche patriotischen Beweggründen ihre Entstehung hauptsächlich zu danken scheint, ist in den Theilen, wo sie über P. C. van der Meerth hinausgeht, eine Reproduktion von Forschungen des Italieners Staglieno. X.

Bibliothèque nationale. Catalogue des manuscrits des fonds Libri et Barrois. Par **Léopold Delisle.** Paris, Champion. 1888.

Die beiden Gruppen der Handschriftensammlung der Pariser Nationalbibliothek, welche uns von deren Vorstand in dem vorliegenden Katalog vorgeführt werden, haben eine höchst merkwürdige Entstehungsgeschichte; beide Abtheilungen, zusammen 180 Handschriften umfassend, bestehen ausschließlich aus wieder gewonnenem gestohlenen Gute, das, durch nichtswürdige Räuber aus den verschiedensten Bibliotheken Frankreichs entführt, hauptsächlich infolge D.'s rastloser Bemühungen wieder in französischen Besitz gelangte. Die höchst interessante Vorrede gibt eine geradezu verblüffende Schilderung der schurkischen Frechheit, mit welcher der italienische Abenteurer Libri-Carucci in den Jahren 1841—1842 in seiner Stellung als Mitglied der für die Aufstellung von Handschriften-Katalogen der französischen Provinzialbibliotheken zusammengesetzten Kommission seine Räubereien an den Bibliotheken zu Dijon, Lyon, Grenoble, Carpentras, Montpellier, Poitiers, Tours und Orléans betrieb; sie läßt uns in die Werkstätte dieses raffinirten Fälschers blicken, in der die gestohlenen Handschriften zerschnitten, umgebunden, mit falschen Etiketten und Eigenthumsvermerken versehen oder sonstwie entstellt wurden, um dann 1847, weit unter ihrem immensen Werthe, an den leidenschaftlichen Sammler Lord Ashburnham losgeschlagen zu werden. Gleichwohl hatte Libri, der, 1850 zu zehnjähriger Gefängnisstrafe verurtheilt, in England Zuflucht gefunden hatte, noch die Stirn, bis in die sechziger Jahre hinein in einer langen Reihe von Vertheidigungsschriften sich als Opfer von Intriguen hinzustellen, wobei er auch bei zahlreichen illustren Persönlichkeiten wie Guizot, Mérimée, Laboulaye u. A. Glauben fand. Nahezu mittellos ist Libri in Fiesole 1869 gestorben. — Für Jos. Barrois (gest. 1855) ist es wenigstens nicht direkt erwiesen, daß er mit eigenen Händen Handschriften gestohlen; wohl aber hat er eine große Zahl von entwendeten werthvollen Manuskripten der königlichen Bibliothek zu Paris wissentlich als solche gekauft, durch ähnliche Manipulationen, wie die von Libri angewandten, unkenntlich gemacht und dann gleichfalls an den in dieser Angelegenheit eine recht traurige Rolle spielenden Lord Ashburnham weiterverkauft. Auf die Geschichte der Zurückerwerbung der geraubten Handschriften, die mit außerordentlichen Schwierigkeiten verbunden war und, wie bemerkt, in erster Linie dem Vf. der Kataloge zu danken ist, können wir nicht näher eingehen; äußerst schwer verständlich scheint es für unsere

Rechtsauffassung, daß es so langwieriger Verhandlungen zwischen Frankreich und England und so enormer Geldopfer der französischen Republik bedurfte, um das, wie allerseits zugegeben werden mußte, gestohlene staatliche Eigenthum wieder in französischen Besitz zu bringen.

Durchblättert man freilich auch nur flüchtig den vorliegenden Katalog, so wird man zugeben, daß der zurückgewonnene Schatz die aufgewandten Opfer reichlich aufwiegt. Auf die Wichtigkeit der „Sammlung" Libri, namentlich in paläographischer Hinsicht, wird in D.'s Vorrede hingewiesen. Gerade die kostbarsten Perlen der von ihm heimgesuchten französischen Bibliotheken hat Libri mit scharfem Kennerblicke sich angeeignet, beispielsweise gegen zwanzig Handschriften in Unciale und Halbunciale, worunter Stücke aus dem 6.—9. Jahrhundert, ferner eine lange Reihe von illustrirten Handschriften, aus welchen D. einen dem 7. Jahrhundert angehörenden, mit 19 großen Bildertafeln geschmückten Pentateuch von Tours hervorhebt. Besonders reich ist der Bestand der beiden Gruppen an Werken aus der romanischen Literatur und der Geschichte des Mittelalters, von welchen letzteren ein Urkundenbuch der Abtei St. Pierremont, das Privilegienbuch der Picardischen Nation an der Universität Orléans, ein Epistolar mit Briefen Kaiser Friedrich's II., zwei Exemplare der Chronik von Richard II. von England, eine Anzahl von Heiligenleben, die Chroniken des Renaud Havard, Gilles de Roie und P. Béchin genannt seien. Von den Klassikerhandschriften scheint ein Justinus des 9. Jahrhunderts für die Textkritik bemerkenswerth. Endlich ist eine Menge entwendeter Autographen und Korrespondenzen von Descartes, Laplace, Peiresc, Baluze und anderen Celebritäten des 17. und 18. Jahrhunderts mit den beiden Sammlungen nach Paris zurückgekehrt.

Die Bearbeitung der Kataloge ist, wie von dem Vf. nicht anders zu erwarten, eine musterhafte, die Ausstattung eine würdige. Durch ein sorgfältig aufgestelltes Register wird der Inhalt der beschriebenen Handschriften nach jeder Richtung hin für den Benutzer erschlossen. Die auf den sieben. beigegebenen Tafeln mitgetheilten Schriftproben bieten für die Geschichte der Paläographie hohes Interesse.

Herman Haupt.

Schriftproben aus Handschriften des 14. bis 16. Jahrhunderts. Zusammengestellt von **Rudolf Thommen.** Basel, C. Dettloff. 1888.

Als ich mich zu einer Neuausgabe meiner Schrifttafeln anschickte, entging es mir nicht, daß die Schriftarten des 14. und 15. Jahrhunderts im Vergleich zu denen der früheren Zeiten nur mangelhaft vertreten waren. Es entstand bei mir der Plan, diesem Mangel durch ein besonderes Heft abzuhelfen; Besprechungen mit einem Verleger waren bereits eingeleitet. Zufälligkeiten verhinderten die Ausführung. So freut es mich, in dem vorliegenden Werk die gewünschte Ergänzung meiner Schrifttafeln begrüßen zu können, es wird den Fachgenossen — zumal es für sehr billigen Preis zu beschaffen ist — gewiß überaus willkommen sein. Auch werden diese 20 Tafeln — obschon auch sie natürlich nicht die große Mannigfaltigkeit der am Ausgang des Mittelalters üblichen Schriftarten vollständig darstellen konnten — den Bedürfnissen des Unterrichts wohl genügen. Ich kann es nur billigen, daß durchweg zeitlich fest zu bestimmende Proben gegeben sind; daß die Urkundenschrift ausgeschlossen wurde; daß die Auswahl nach drei Kategorien: Schrift in Klöstern, Schrift der städtischen Kanzlei, Schrift von Bürgern, getroffen worden ist. Auch daß je zwei Jahrzehnte zusammengefaßt wurden, „um die in denselben vorhandenen Schriftformen durch mindestens zwei Tafeln zur Darstellung zu bringen", findet meinen Beifall, denn noch kleinere Zeiträume zu wählen, hätte eine Vermehrung der Tafeln auf das Doppelte zur Folge gehabt. Wie ich bei der neuen Auflage meiner Schrifttafeln schwierigere Schriftarten in der Einleitung ganz aufgelöst habe, so finde ich hier die vollständige Wiedergabe des Textes in dem Vorwort durchaus angebracht, auch die einfache Art der Auflösung von Abkürzungen durch Kursivdruck sehr zweckentsprechend. Bemerken möchte ich gleich, daß bei Nachprüfung sich die Lesung des Herausgebers überall als richtig erwiesen hat, denn das dominicums auf Seite 3 statt dominicus ist jedenfalls nur Druckfehler. Auch die Anmerkungen und die Stellung derselben am Fuß der Seiten haben meinen ungetheilten Beifall, sie genügen für das Verständnis vollkommen, und nur wenig hätte ich anders gefaßt, noch weniger ist es, was ich vielleicht noch hinzugesetzt hätte. Daß zur Herstellung der Tafeln Photolithographie gewählt worden, ist — zumal es billigsten Verkaufspreis ermöglichte — zweckentsprechend, denn beim Unterricht kommt es doch in erster Linie darauf an, den Lernenden mit den Buchstabenformen bekannt zu machen, und ist es für diesen

Zweck sehr gleichgültig, ob die Buchstaben etwas dicker ausfallen, als beim phototypischen Druck. Gewünscht hätte ich, daß am Rande der einzelnen Tafeln die Zeilenzahlen von 5 zu 5, wie ich es bei der Neuauflage meiner Schrifttafeln gethan, hinzugefügt worden wären.

Von Einzelheiten mag ich nur wenig bemerken. Bei Tafel 1 hätte ich gewünscht, daß auf die Einfügungszeichen noch besonders aufmerksam gemacht worden wäre. Bei Tafel 3 wäre eine Erklärung des am Schluß stehenden: 231. K. willkommen gewesen; soll es Kapitel bedeuten? Die bei dieser Tafel Kolumne 2 hinübergeschriebenen Charaktere weiß ich auch nicht mit Bestimmtheit zu deuten. Ersichtlich ist, daß sie auf die Lücke im Anfang der Zeile 4 sich beziehen, wo vor annum sicherlich novum zu ergänzen sein wird. Stammt das Übergeschriebene vom Korrektor der Handschrift her? Dann möchte ich die Vermuthung wagen, daß es ig = inganden (vgl. Tafel 12, 4) heißen soll. Bei Tafel 12, Note 2 nehme ich Ligatur von n und d, nicht mit dem Herausgeber eine solche von v und n, an. Zu Tafel 14, Note 3 bemerkt Herausgeber: „nach zukunfft ein sich durchgestrichen". Hinzuzufügen wäre, daß der Schreiber sich schon in die folgende Zeile, wo: derselben zukunfft sich steht, verirrt hatte, daß ihm also eine Vorlage, welche er abschrieb, zu Gebote stand. Bei Tafel 15 hätte ich eine kurze grammatikalische Erklärung des doch wohl mundartlichen haut für „hat" gewünscht; Grimm's Wörterbuch läßt dafür im Stich. Auch wäre es wohl nöthig gewesen, anzugeben, weshalb die einzelnen Absätze auf dieser Tafel durchstrichen sind; ich vermuthe, daß dies erst nach erfolgter Bußezahlung geschehen. Bei Tafel 17 vermisse ich eine Erklärung der langen rothen Buchstaben und der Zahl VIIII, die am linken Rande stehen. Bei Tafel 20 sind in den Notenzahlen mehrere Druckfehler stehen geblieben.

W. Arndt.

---

## Bericht der Centraldirektion der Monumenta Germaniae historica.

Erstattet im April 1891.

(Auszug.)

Vollendet wurden im Laufe des Jahres 1890/91: in der Abtheilung **Auctores antiquissimi** IX, 1, enthaltend Chronica minora saeculorum IV, V, VI, VII ed. Mommsen I, 1; in der Abtheilung **Scriptores**:

Deutsche Chroniken V, 1, enthaltend Ottokar's Österreichische Reimchronik von Seemüller (1. Halbband); Libelli de lite imperatorum et pontificum saeculorum XI et XII tom. I; Reginonis abbatis Prumiensis Chronicon cum continuatione Treverensi recogn. Kurze; in der Abtheilung **Leges**: Legum sectio II. Capitularia regum Francorum ed. Boretius et Krause II, 1. Als Ergänzung zu allen bisherigen Bänden: **Indices** eorum quae tomis hucusque editis continentur scrips. Holder-Egger et Zeumer; von dem neuen **Archiv** der Gesellschaft Bd. 16.

Unter der Presse befinden sich ein Folioband, 14 Quartbände, ein Oktavband.

Die Abtheilung der **Auctores antiquissimi** nähert sich ihrem Abschluß. Von der Ausgabe des Claudianus von Prof. Birt ist der Text vollendet. Von Cassiodor's Variae ist der Text durch Prof. Mommsen ebenfalls ausgedruckt. Obgleich von den auf mindestens zwei Bände zu veranschlagenden kleinen Chroniken die erste Hälfte des 1. Bandes soeben ausgegeben worden ist, schreitet der Druck dennoch ununterbrochen fort und wird zunächst Prosper, Polemius Silvius, Hydatius umfassen.

In der Abtheilung **Scriptores** hat Archivar Krusch seine Vorarbeiten für die Ausgabe der Merowingischen Heiligenleben fortgesetzt.

Von den für Kirchengeschichte wie für Kirchenrecht überaus wichtigen Schriften zum Investiturstreite ist der 1. Band glücklich an sein Ziel gelangt. Die bedeutsame Schrift Wido's von Ferrara, de scismate Hildebrandi, mußte darin leider nach dem früheren Drucke wiederholt werden, weil die noch im Jahre 1855 nachweisbare Handschrift seitdem verschwunden war. Der Druck des 2. Bandes, welcher durch die Schriften Bernold's, herausgegeben von Prof. Thaner, eröffnet werden soll, steht unmittelbar bevor. Die folgenden Streitschriften sind soweit vorbereitet, daß eine Unterbrechung des Druckes nicht stattzufinden braucht.

In dem 1. Bande der Deutschen Chroniken sind auch die Fortsetzungen der von Prof. Schröder bearbeiteten Kaiserchronik gedruckt worden. Der Druck der von Prof. Rödiger übernommenen Ausgabe des Anno-Liedes, welches sich unmittelbar daran anschließen soll, kann im Sommer beginnen. Die für den 3. Band bestimmte, bisher ungedruckte Weltchronik Enikel's, von Prof. Strauch herausgegeben, wird als erste größere Hälfte desselben im Herbst erscheinen. An Ottokar's Österreichischer Reimchronik von Prof. Seemüller im 5. Bande wird rüstig fortgedruckt.

Von der durch Prof. Holder-Egger geleiteten Folioausgabe der Scriptores ist der seit 1888 dem Drucke übergebene 29. Band nur langsam vorgerückt, weil die nunmehr vollendeten Isländischen Excerpte sehr lange aufhielten. Für die darauf folgenden Auszüge aus polnischen und ungarischen Chroniken, sowie aus der Hennegauer Chronik des Jacques de Guyse und für die Braunschweiger Fürstenchronik ist ein rascherer Fortschritt des Druckes zu gewärtigen. Die umfangreichen italienischen Chroniken des 13. Jahrhunderts sollen den 30. und 31. Band füllen.

In der Reihe der **Handausgaben** ist die kritische Bearbeitung der Chronik Regino's von Prüm und seines Fortsetzers von Dr. Kurze erschienen, der neue verbesserte Abdruck der Annales Altahenses von dem Freiherrn E. v. Öfele beinahe vollendet. Ebenfalls druckfertig ist eine kritische Ausgabe der Annales Fuldenses von Dr. Kurze.

In der Abtheilung der **Leges** hat der Druck der von Prof. v. Salis übernommenen Leges Burgundionum seit kurzem begonnen. Von dem

2. Kapitularienbande ist durch Dr. Krause im Anschluß an Prof. Boretius das 1. Heft ausgegeben worden, welches bis in die ostfränkischen Kapitularien hineinreicht. Durch Prof. Zeumer wurde eine Handausgabe der leges Eurici und der lex Reckissuinthiana zum Drucke vorbereitet. Die erste Abtheilung der Regesten der Gerichtsurkunden Frankreichs und Italiens von Dr. Hübner, die Vorarbeit einer künftigen Ausgabe, wird als Beilageheft der Zeitschrift der Savigny-Stiftung soeben gedruckt.

Die Sammlung der Reichsgesetze hofft Prof. Weiland im Spätsommer der Presse zu übergeben. Dagegen hat der Druck der Synoden des merowingischen Zeitalters, unter der Leitung des Hofrathes Maassen von Dr. Bretholz bearbeitet, schon seit mehreren Wochen begonnen.

In der Abtheilung **Diplomata** hat Hofrath v. Sickel infolge seiner Übersiedelung nach Rom die Leitung nur noch bis zum Schlusse der Urkunden Otto's III. beibehalten, die Ausführung der Arbeit selbst aber größtentheils in die Hände der Dr. Uhlirz und Erben gelegt, die den Druck dieses Halbbandes noch vor dem Ablaufe dieses Jahres zu vollenden hoffen. Für die Urkunden Heinrich's II. hat Prof. Breßlau seine vorbereitenden Arbeiten eifrig fortgesetzt.

In der Abtheilung **Epistolae** ist der Druck des 1. Bandes, welcher die ersten sieben Bücher des Registrum Gregorii umfassen soll, durch Dr. L. Hartmann wieder aufgenommen worden. In dem 3. Bande befindet sich im Anschluß an die Merowingischen Briefe der von Dr. Gundlach bearbeitete codex Carolinus unter der Presse. Von dem stetig fortschreitenden 3. und letzten Bande der Regesta pontificum des 13. Jahrhunderts ist durch Dr. Rodenberg etwa gerade die Hälfte gedruckt.

Von den zu den sog. **Antiquitates** zählenden Partien nähern sich die Salzburger Todtenbücher (Necrologia Germaniae II), von Dr. Herzberg-Fränkel herausgegeben, langsam ihrem Abschluß. Von dem 3. Bande der Karolingischen Dichter, bearbeitet von Dr. Harster und Traube, sind eine Anzahl Bogen gedruckt, welche die bisher meist unbekannten Gedichte aus St. Riquier und Agius enthalten.

---

## Bericht der historischen Kommission bei der bairischen Akademie der Wissenschaften.

Erstattet im Juni 1891.

(Auszug.)

Seit der letzten Plenarversammlung (Ende September vor. Js.) sind folgende Publikationen durch die Kommission erfolgt: 1) Geschichte der Wissenschaften in Deutschland. Bd. 21. Geschichte der Kriegswissenschaften von Max Jähns. Abtheilung III. (Schluß.) 2) Vatikanische Akten zur deutschen Geschichte in der Zeit Kaiser Ludwig's des Baiern. Herausgegeben von Sigmund Riezler. 3) Allgemeine deutsche Biographie. Bd 31 u. 32.

Von der Augsburger Chronik des Hektor Mülich (1448—1487) nebst Zusätzen von Demer, Walther und Rem, welche für Bd. 22 der Städte-Chroniken (Augsburg Bd. 3) bestimmt ist, sind 16 Bogen gesetzt, bzw. gedruckt; das Erscheinen des Bandes ist im Laufe des Sommers zu erwarten.

Dagegen ist Dr. Koppmann, Archivar der Stadt Rostock, durch andere Arbeiten verhindert worden, den Druck des 7. und 8. (Schluß-)Bandes der Hanse-Recesse schon in diesem Jahre beginnen zu lassen.

Auch Prof. Ölsner in Frankfurt hat die Umarbeitung des Bonnell'schen Buches über die Anfänge des karolingischen Hauses, welche er für die Jahrbücher des deutschen Reiches übernommen hatte, noch nicht zu Ende führen können. Prof. Meyer von Knonau in Zürich ist mit der Fortsetzung seiner Arbeiten für die Deutschen Jahrbücher eifrig beschäftigt und gedenkt dem im vorigen Jahre erschienenen 1. Band der Geschichte Heinrich's IV. und Heinrich's V. schon 1894 den 2. Band, der womöglich die Jahre 1070—1080 umfassen soll, folgen zu lassen.

Von der Geschichte der Wissenschaften in Deutschland steht zunächst die Geschichte der Medizin zu erwarten. Geheimrath Hirsch in Berlin spricht die bestimmte Hoffnung aus, bis zum nächsten Frühjahre das Werk zum Abschluß zu bringen. Die Geschichte der Physik in diesem Jahre zu vollenden, ist Prof. Karsten in Kiel durch Krankheit verhindert worden. Prof. v. Zittel in München glaubt mit Sicherheit voraussagen zu dürfen, daß er im Jahre 1894 die Geschichte der Geologie vollenden werde. Die seit Jahren schmerzlich vermißte Fortsetzung von Stintzing's Geschichte der Rechtswissenschaft hat nun Prof. Landsberg in Bonn übernommen. Er hat sich bereit erklärt, die Geschichte der Rechtswissenschaft in Deutschland im 18. und 19. Jahrhundert zu schreiben, und gedenkt im Jahre 1897 diese Arbeit zu Ende zu führen.

Die Allgemeine deutsche Biographie ist in rüstigem Fortgang begriffen und wird, wofern keine unerwartete Störung eintritt, binnen wenigen Jahren zum Abschluß gelangen.

Die Arbeiten für die ältere Serie der Deutschen Reichstagsakten erlitten durch die Berufung des Prof. Quidde nach Rom eine empfindliche Störung, doch wurde sein römischer Aufenthalt für das Unternehmen in der Weise nutzbar gemacht, daß nach seinen Anweisungen Dr. Kaufmann aus Wertheim eine Ergänzung der früheren römischen Arbeiten in Angriff nahm. Beim Beginn der vatikanischen Ferien wird die Arbeit voraussichtlich bis 1471 abgeschlossen, in einigen Punkten noch weiter hinausgeführt sein. Die Schlußredaktion des 10. Bandes ist von Dr. Schellhaß begonnen worden.

Die Vorarbeiten für die Herausgabe der Deutschen Reichstagsakten der Reformationszeit, an welchen sich unter Prof. Kluckhohn's Leitung Dr. Wrede, Dr. Merx, Dr. Saftien betheiligten, vornehmlich auf Sammlung des Materials für die zwanziger Jahre gerichtet, konnten in der Hauptsache an dem Wohnort des Leiters, zu Göttingen, stattfinden. Da sich im Laufe dieser Arbeiten das Vorhandensein einer Fülle von außerordentlich wichtigen und bisher von der Forschung kaum berührten Akten über die Wahl Karl's V. herausstellte, so verlangte und erhielt der Herausgeber die Genehmigung der Kommission für eine Abänderung des ursprünglichen Planes des Unternehmens. Während nach diesem mit dem Tage der Wahl Karl's V. der Anfang hätte gemacht werden sollen, werden nun die Wahlverhandlungen, beginnend mit dem Reichstag von Augsburg 1518, vorangestellt, und soll der 1. Band bis zum Reichstag in Worms 1521 reichen, der 2. Band ausschließlich diesem Reichstag gewidmet sein. Dadurch wird der Beginn des Druckes hinausgeschoben. Der Herausgeber hofft: nur um ein halbes Jahr.

Dagegen ist die Sammlung der Nuntiaturberichte aus Deutschland, die als Supplement zu den Deutschen Reichstagsakten der Reformationszeit erscheinen soll, von Prof. Friedensburg in Rom so weit gefördert worden, daß der Druck des 1. Bandes am 1. Juni, die Versendung hoffentlich um Michaelis stattfinden dürfte. Der 2. Band soll unmittelbar danach folgen und spätestens Ostern 1892 gedruckt vorliegen.

Für die ältere pfälzische Abtheilung der Wittelsbacher Korrespondenzen hat Prof. v. Bezold die Arbeit wieder aufgenommen, indem er das Material

für den 3. Band der Briefe des Pfalzgrafen Johann Casimir vervollständigt. Für die ältere baierische Abtheilung ist Prof. v. Druffel wieder thätig. Er ist mit der Vorbereitung zur Drucklegung des 4. Bandes seiner Beiträge zur Reichsgeschichte beschäftigt. Außerdem ist das Anerbieten des Dr. Lossen, die Herausgabe der Korrespondenzen Herzog Albrecht's V. und seiner Söhne 1563—1590 vorbereiten zu wollen, dankbar angenommen worden.

Für die vereinigte jüngere pfälzische und baierische Abtheilung, die unter der Leitung des Prof. Stieve steht, hat sein Mitarbeiter, Dr. Mayr-Deisinger, die Sammlung des Materials für die Jahre 1618—1620 fortgesetzt. Prof. Stieve selbst wurde durch die unvermuthete Entdeckung höchst wichtiger Akten des Münchener Staatsarchivs veranlaßt, sich nochmals zum Zweck einer ergänzenden Veröffentlichung mit den Jahren 1600—1602 zu beschäftigen. Von jetzt an wird er seine Kräfte gänzlich der Herausgabe des 6. Bandes der „Briefe und Akten" widmen.

Ferner hat die Kommission beschlossen, zwei neue Arbeiten in Angriff zu nehmen: 1. Eine „Sammlung von Briefen und Akten zur Geschichte Baierns in der Zeit der Reformation" wird unter die Leitung des Prof. v. Druffel gestellt. 2. Für die Herausgabe von „Korrespondenzen deutscher Humanisten des 15. und 16. Jahrhunderts", und zwar vor allem und zunächst derjenigen, die den Landschaften angehören, die heute den baierischen Staat bilden, wird Prof. v. Bezold den Plan entwerfen und die Leitung übernehmen.

---

## Bericht der Historischen Kommission der Provinz Sachsen.

Erstattet im Juni 1891.

(Auszug.)

Von den Geschichtsquellen ist in dem letzten Verwaltungsjahre nur ein Band, die Korrespondenz Mutian's, herausgegeben von weil. Dr. K. Gillert, erschienen. Binnen kurzer Zeit wird zur Ausgabe gelangen das Urkundenbuch der Stadt Wernigerode, von Archivrath Dr. Jacobs bearbeitet. Im Druck befindlich ist der 1. Band des Urkundenbuchs der Stadt Magdeburg, herausgegeben von Oberlehrer Dr. Hertel. Auch der Druck des von Dr. Hortschansky angefertigten Registers zu den von Weißenborn herausgegebenen Matrikeln der Universität Erfurt ist vorwärts geschritten. Im Manuskript liegen druckfertig vor der zweite Band des Urkundenbuchs der Stadt Erfurt, bearbeitet von Stadtarchivar Dr. Beyer, bis zum Ende des 14. Jahrhunderts reichend, und der erste Theil des Urkundenbuchs der Stadt Goslar, in welchem der Staatsanwalt Bode die Urkunden der Stadt Goslar bis zum Jahre 1250 vereinigt hat. Die Arbeiten an den Regesten der Herzoge von Sachsen-Wittenberg sind durch Dr. Pabst gefördert worden. Dr. Walther-Schultze hat einen Wegweiser durch die Geschichtsquellen der Provinz Sachsen ausgearbeitet, welcher eine Übersicht über das sämmtliche gedruckte Quellenmaterial zur Geschichte der Provinz Sachsen und ihrer Bestandtheile bis zum Jahre 1555 enthält.

Zur Erinnerung an das verstorbene Mitglied der Kommission Dr. Heinrich Otte soll die letzte Arbeit des Verstorbenen über die Glocken, welche ursprünglich als Neujahrsblatt für das Jahr 1891 in Aussicht genommen war, besonders herausgegeben werden. Dr. Julius Schmidt wird eine kurze Biographie Otte's nebst einer Bibliographie der von ihm verfaßten Werke voranschicken. Als Festschrift der Kommission zu der bevorstehenden Jubel-

feier der Universität Halle im Jahre 1894 ist eine Sammlung der kleinen deutschen Schriften des Thomasius in Aussicht genommen.

Das Neujahrsblatt für 1892, welches Geh. Reg.-Rath Prof. Dr. Dümmler übernommen hat, wird auf die Provinz Sachsen und angrenzende Gebiete bezügliche Auszüge aus dem Tagebuche eines Schweizers Namens Landolt enthalten, der im Jahre 1782 und den folgenden Jahren Deutschland durchreiste.

Von den Bau- und Kunstdenkmälern der Provinz Sachsen ist im verflossenen Verwaltungsjahre das 13. Heft, umfassend die Stadt und den Landkreis Erfurt von Oberregierungsrath Frhr. v. Tettau, erschienen. Demnächst wird zur Ausgabe gelangen das 14. Heft, die Bau- und Kunstdenkmäler des Kreises Oschersleben, bearbeitet vom Gymnasialdirektor Dr. Schmidt, enthaltend. Weiter sind vollendet die Kreise Mansfeld und Gardelegen, welche zusammen mit den seit längerer Zeit druckfertig vorliegenden Kreisen Delitzsch, Bitterfeld und Schweinitz sobald als möglich dem Drucke übergeben werden sollen.

Von den Vorgeschichtlichen Alterthümern liegt das Heft 11: Die vorgeschichtlichen Burgen und Wälle der Hainleite von Dr. med P. Zschiesche bearbeitet, vor und wird binnen kurzem erscheinen.

Das Provinzialmuseum hat nach dem eingereichten Berichte nicht nur einen bedeutenden Zuwachs an Gegenständen vorgeschichtlicher und historischer Herkunft erfahren, sondern es ist vor allem mit der systematischen, wissenschaftlichen Ordnung der Anfang gemacht worden. Das Museum ist namentlich durch Abformungen, Zeichnungen und Photographien von Gegenständen aus auswärtigen Sammlungen, welche ihrem Ursprunge nach der Provinz Sachsen angehören, ergänzt worden. Der Museumsdirektor wird in dieser Richtung die Neuordnung und Vermehrung des Museums fortsetzen und außerdem eine Anzahl von Ausgrabungen vornehmen. Die vom Direktor zu erstattenden Jahresberichte sollen künftig gedruckt und in geeigneter Weise vertheilt werden.

Die Arbeiten am Geschichtsatlas und dem Wüstungsverzeichnis sind im verflossenen Jahre weiter gefördert worden. Namentlich ist Archivar Dr. Krühne nach letzterer Richtung thätig gewesen und stellt er einen vorläufigen Abschluß seiner Arbeit schon für das laufende Verwaltungsjahr in Aussicht. Prof. Dr. Größler ist beauftragt, ein Wüstungsverzeichnis der beiden Mansfelder Kreise in Angriff zu nehmen.

Der im vorigen Jahre gefaßte Beschluß betreffs Sammlung von Abdrücken der Stadt-, Gemeinde-, Kirchen- und Innungssiegel der Provinz Sachsen hat den Erfolg gehabt, daß ein großer Theil dieser Siegel der Kommission von den Behörden übersendet worden ist.

# Der Ursprung des Bürgerthums und des städtischen Lebens in Deutschland.

Von

**Karl Lamprecht.**

I. Früheste Entwickelung des deutschen Handels. II. Die volkswirthschaftliche Umwälzung der Stauferzeit. III. Die Gilde. IV. Der Markt. V. Die Stadt. VI. Markt- und Stadtherrschaft. VII. Die Städte und das Reich.

I. Nur sehr langsam ist in unserem Volke, trotz frühzeitiger Berührung mit den höheren Kulturen des Südens, ein wirthschaftliches Werthbewußtsein der Güter erwachsen. In der Zeit der Karolinger war es noch keineswegs vorhanden. Zwar gebrauchte man schon lange Münzen, ja man hatte vielleicht schon damals ihre Kenntnis und Verwendung den Slawen vermittelt[1]): aber gleichwohl trug man sie noch in der unbequemen Geldkatze bei sich[2]) und war weit davon entfernt, das Geld als stehendes Verkehrsmittel, als selbstverständlichen Werthmesser der Wirthschaftsgüter zu betrachten: wiederholt drohte die karolingische Gesetzgebung denen Strafe an, welche die Annahme vollwichtiger Denare verweigern sollten.

Wie die Volkswirthschaft den Werth des Geldes noch nicht erkannt hatte, so hatte das Rechtsleben noch keine Veranlassung

[1]) Altslov. pěnęgu pěnędžč geht doch wohl auf das deutsche 'Pfenning' zurück.

[2]) Althochdeutsch scazpfung vgl. altnord. pungr. Börse erst entlehnt aus lat. burissa.

gehabt, auch nur den einfachsten Formen des kaufmännischen Verkehrs Einfluß auf seine Entwickelung zu gestatten. Ein speziell kaufmännisches Vertragsrecht war noch gar nicht vorhanden; der Normalvertrag war der Kauf oder Tausch. Vertragsschulden konnten nicht staatlich beigetrieben werden, denn es gab hierfür noch keine öffentliche Gewalt gerichtlicher Vollstreckung: vielmehr hatte jeder Gläubiger den Versuch zu machen, sich selbst zu befriedigen. Auch das aber war nur möglich, wenn die Schuld fällig war. Eine bloße Forderung rechtlich zur Geltung zu bringen, war überhaupt ausgeschlossen. Vergegenwärtigt man sich neben alledem, daß die Bürgschaft für Schuld bei den Sachsen, dem Hauptstamm des späteren Hansegebietes, erst durch einen Akt der fränkischen Gesetzgebung vom Jahre 782 eingeführt zu sein scheint[1]): so begreift man, daß noch bis tief in's 8. Jahrhundert hinein im eigentlichen Deutschland kein größerer Eigenhandel der Nation bestanden haben kann: noch dauerte völlig ungebrochen die Herrschaft ausschließlicher Naturalwirthschaft.

Erst nach weiteren Jahrhunderten drängte sich dem Gemeinbewußtsein der Nation die Thatsache auf, daß neben der ausschließlichen Wirthschaftsthätigkeit auf agrarischem Gebiete auch langsam zunächst der Handel, später die Industrie Rechte zu erwerben begannen: noch bedeutet ahd. choufôn vornehmlich tauschen und erinnert an das agf. ceáp, 'Vieh, Handelsgeschäft', noch versteht der Deutsche des 10. und 11. Jahrhunderts unter gëlt Vergeltung, Ersatz und nur ausnahmsweise Geld[2]), und als Ertrag, Besitz überhaupt gilt ihm Gitregidi, Getreide.

Gleichwohl entbehrten schon die merowingische wie die Karlingerzeit nicht jedes Handels. Freilich der Passivhandel der Germanen vorchristlicher, vorgeschichtlicher Zeit mit den Ländern des Mittelmeeres war ebenso verfallen, wie der spätere commerzielle Verkehr mit den Römern vornehmlich an den Grenzen des Weltreiches. Doch hatten sich daraus und noch mehr aus der

[1]) Cap. de part. Sax. § 27.

[2]) Im Angelsächsischen bedeutet es nie Geld; Geld ist englisch bekanntlich money (moneta).

römischen Kultur auf deutschem Boden immerhin manche Spuren der Frühzeit durch die Jahrhunderte erhalten. Noch gelangten manche Waren des Orientes auf dem alten Handelswege der Griechen über Marseille (und nunmehr weiter über die großen Messen der Champagne) nach Deutschland; noch weniger scheint die uralte, schon von Strabon und Plinius erwähnte Handelsstraße verschüttet gewesen zu sein, welche von den Ufern des Ganges zu den Gestaden des Kaspischen Meeres, und von da durch das russische Tiefland bis zum Becken der Ostsee führte. An Rhein und Donau aber blieb von Römerzeiten her immer ein gewisser Verkehr. An der Donau hatte ihn Karl der Große durch seinen Bau eines Main-Donau-Kanals, wie durch seine Kriege gegen die Avaren zu fördern gesucht. Am Rhein versteht er sich von selbst, so lange am oberen Laufe des Stromes Weingärten bestellt und vor seinem Mündungsland Häringe gefangen werden. Aber über diese natürliche Bedeutung hinaus erfreute sich der Rheinverkehr doch auch noch in karlingischer und sächsischer Zeit der Nachwirkung römischer Impulse. Alle großen Städte des Mittelalters am Rhein, mit Ausnahme von Frankfurt und theilweise Basel, stehen auf römisch-geschichtlichem Boden; Frankfurt und Basel aber haben sich erst seit dem 13. und 14. Jahrhundert bedeutender entwickelt. So schützten hier fast überall die Trümmer römischer Befestigungen, nothdürftig geflickt; so erhielt sich eine gewisse technische Überlieferung in Kunst und Handwerk. Aber freilich waren diese Reste römischer Zeiten noch keineswegs der nationalen Kultur völlig eingeordnet. Das gilt auch für den Handel, soweit ein solcher bestand. Er war kein Eigenhandel der Nation; Fremde betrieben ihn. Im Süden waren es theilweise Lombarden; auf sie weisen noch heute die Regensburger Straßennamen Unterwalchen und Römling. In Mitteldeutschland und im Norden traten vor allem die Juden hervor, das Welthandelsvolk schon des Römerreiches; für Köln ist es sicher, daß ihre Gemeinde, die Zeiten des römischen Verfalles zäh überdauernd, sich in's Mittelalter rettete; für Magdeburg werden noch im 10. Jahrhundert Jude und Kaufmann als gleichwerthige Begriffe gebraucht. Im äußersten Norden, an den Gestaden der

Nordsee, haben dagegen schon zu karlingischer, ja merowingischer Zeit die Deutschen selbst Handel getrieben. Aber nicht wirthschaftliche Erwägung in erster Linie trieb die Sachsen und vor allem die Friesen in die Ferne. Es waren andere, altgermanische Empfindungen. 'Kein Mann auf Erden ist so Übermuthes voll', sagt das angelsächsische Gedicht 'Der Seefahrer'[1]), 'daß er nicht sorgenvoll der Reise zur See gedächte. Dennoch regt sich im Seemann der Fahrtendrang, fern will er fremde Lande schauen. Nicht auf Harfenspiel, auf Ringspende und Wonne am Weibe steht sein Meinen: dem Meer, dem Wogengewühl gilt seine Sehnsucht. Der Lenz naht, die Bäume blühen, es grünen die Wiesen: da schweift sein Sinn über des Walfisches Heimat zum Ende der Welt und weist ihn mit unwiderstehlicher Lockung den Todweg des Meeres.' Abenteurerlust, das urgermanische Wohlgefühl an der Unfaßbarkeit des Erhabenen, Wagemuth zum Bestehen übermenschlicher Gefahren haben dem nordischen Handel den Weg bereitet. So fuhren die Friesen über Meer den Nordweg und zum eisigen Island; und mit ihnen gelangten dorthin die Erzeugnisse Deutschlands und der Mittelmeerländer wie des Orientes zum Austausch gegen nordische Produkte, Pelzwerk vornehmlich und Fische. Dieser Verkehr erforderte nun wiederum einen großen Handel nach Süden hin; von Wijk bij Durstede, ihrer Haupthandelsstadt an der letzten und damals wichtigsten Gabelung des Rheines im Niederland fuhren namentlich die Friesen den Strom zu Berg, sie wurden heimisch in Duisburg und Köln, in Mainz und Worms, und sie drangen über Land bis zu den Messen von St. Denys. Aus dieser Zeit stammt unsere Bezeichnung groben Wollenzeuges als Fries[2]): es war der hauptsächlichste Ausfuhrartikel des Nordens; schon früh ist der Name auch in's Romanische übergegangen[3]). Daneben wurde Leinwand zum Süden geführt: Laken und Linnen sind niederdeutsche, sehr zeitig in's Hochdeutsche aufgenommene Wortformen. Und wie die Erzeug-

[1]) Aus spätkarolingischer Zeit; Thorpe Cod. Exon. p. 306 ff.

[2]) Von altfriesisch frisle Haupthaar.

[3]) Französisch frise.

nisse der Webindustrie aus dem Norden kamen, so gelangten schon in dieser Frühzeit unseres Handels einzelne Naturalprodukte aus dem Süden nach Deutschland; noch jetzt erinnern die Worte Wal-Nuß und Lamberts-Nuß an die wälschen, lombardischen Händler.

Über diesen Passivhandel hinaus begann sich, wohl gegen Ausgange der karolingischen Wirthschaftspolitik, seit dem 9. Jahrhundert energischer, ein erster deutscher Aktivhandel auszubilden. Er war zunächst räumlich gar eng begrenzt; die großen Flußthäler und Stromgebiete bildeten der Hauptsache nach seine natürlichen Bezirke. So gab es einen Donauhandel, dessen Mittelpunkt Regensburg war, da die große west-östliche Handelsrichtung auf Byzanz seit der Eroberung Pannoniens durch die Ungarn dauernd verschüttet blieb. Es bildete sich ein Handel im Elbgebiet aus; doch war er noch sehr beschränkt, da ihm die sichere Anknüpfung an den Ostseehandel nur unvollkommen über Schleswig gelang, und da sein eigentliches Hinterland noch von gering entwickelten Slawenstämmen bewohnt ward. Weit höhere Stufen erreichte der Handel in den westlichen Gebieten. Hier war der Rhein die gegebene Straße. Der Strom kam aber im wesentlichen nur als Weg zu Thal in Betracht; nach Süden hin schlossen die Alpen trotz aller Kriegszüge der deutschen Kaiserzeit den Handelsverkehr noch auf lange ab; nur ein geschickt organisirter Nachrichtendienst überschritt regelmäßig das Hochgebirge. Und auch der Rheinweg zu Thal bildete noch kein völlig einheitliches Handelsgebiet. Bis in die Zeit der Salier zerfiel er vielmehr in eine oberrheinische und eine niederrheinische Hälfte. Am Oberrhein waren Zürich und Konstanz, Straßburg und Speier, Worms und Mainz die Emporien; ihr Verkehr sammelte sich naturgemäß in Mainz, wohin auch der Main mit Würzburg und bald Bamberg wies; so ward Mainz zur Haupthandelsstadt des Gebietes: seit dem 10. Jahrhundert war es gewiß eine der größten Städte des Reiches, die aurea Maguntia, die prima regni sedes. Indes je mehr der Weinverkehr zunahm, dessen Betrieb schon die Bezwingung der Stromsperre des Binger Loches lohnte, um so mehr verschmolz der oberrheinische Handel

mit dem niederrheinischen, um so mehr mußte Mainz dem Ruhme Kölns weichen.

Das niederrheinische Handelsgebiet, wie es sich von Dortmund bis Cambray, von Bingen und Trier bis zum Mündungslande des Stromes erstreckte und in Köln seinen Mittelpunkt fand, hatte von jeher einen besondern Charakter. Der Rhein wies in der letzten Strecke seines Laufes wie in seiner Verkehrsverbindung mit der Maas gebieterisch hinaus auf das Meer, nach Flandern, nach England. Waren die übrigen Gebiete frühesten deutschen Eigenhandels in sich abgeschlossen, im wesentlichen dem Binnenverkehr zugeneigt: hier erstreckte sich der Handelsstrom über die engen kontinentalen Grenzen hinaus, und er traf in London wie an den festländischen Küsten des Ärmelkanals auf die letzten Ausläufer des großen orientalischen Handelsstromes, der sich durch's Mittelmeer und die Straße von Gibraltar nach dem fränkisch-germanischen Norden ergoß. Der niederrheinische Handel der früheren Kaiserzeit war der einzige internationale Handel Deutschlands, Köln die einzige Seestadt des Reiches. Früh schon waren diese Verbindungen geknüpft worden; mit Recht vermuthlich rühmten sich die Kölner Kaufleute des einstigen Schutzes ihres Londoner Handels durch den großen Kaiser Karl; um's Jahr 1000 werden sie den dauernden Verkehr der sächsischen Kaiserfamilie mit den Herrschergeschlechtern der Angelsachsen vermittelt haben[1]); im 11. und 12. Jahrhundert war Köln unbestritten die erste Handelsstadt des Reiches; nach Köln versetzte dies Zeitalter den einzigen Großkaufmann unserer mittelalterlichen Sage, den guten Gerhard.

Und eben im Laufe des 12. Jahrhunderts trat nach einer Stockung des deutschen Verkehrs seit etwa 1070 ein neuer Aufschwung ein, der den niederrheinischen und bald den gesammten rheinischen Verkehr noch mehr hob, zugleich aber glänzende Aussichten auf einen fruchtbaren Handel in den nordischen Meeren eröffnete. Infolge innerer Unruhen in den russischen Reichen

---

[1]) Vgl. Köpke, Hrotsuit p. 100; s. dazu v. Inama, deutsche Wirthschaftsgeschichte 2, 383 f.

war die alte orientalische Handelsstraße vom Kaspischen Meer zur Ostsee verödet; Kaufleute Genuas und Venedigs hatten sie nach dem Mittelmeer abgelenkt; in Asow gab es schon im 12. Jahrhundert ein genuesisches Handelskonsulat. So waren die italienischen Städte, schon längst im Besitze der eigentlichen Mittelmeerstraßen nach dem Orient, nunmehr zu den einzigen europäischen Vermittlern der sagenhaften Erzeugnisse Arabiens und Indiens geworden. Und wie hob sich mit den Kreuzzügen, mit der Begründung von Christenstaaten an den Ostgestaden des Mittelmeeres dieser Verkehr. Immer zahlreicher erschienen orientalische Waaren in den Häfen Flanderns und Englands: und dem deutschen Kaufmann fiel ihr weiterer Vertrieb von dort nach Deutschland und vor allem auch nach jenen Ländern der Nord- und Ostsee zu, welche jetzt von einem Bezug dieser Produkte über Land völlig abgeschlossen waren. So ward die Grundlage großer west-östlicher Handelsbeziehungen gewonnen; und alsbald knüpfte sich an sie ein lebhafter Austausch englischer, deutscher und nordöstlicher Erzeugnisse. Die kommerziellen Voraussetzungen der Deutschen Hanse treten langsam in's Leben; schon das Anno-Lied[1]) spricht von Crïechin unt' Engelantin, von Denemarkin, von Vlanterin unti Riuzilanti; der kleine westfälische Ort Medebach nimmt in einer Aufzeichnung des Jahres 1165 Bedacht auf Handelsgeschäfte seiner Bürger unter Dänen und Russen; bald sehen wir neben Thiel und Utrecht, Bremen und Lübeck auch Köln und Groningen, Münster und Soest am Seeverkehr nach Osten betheiligt, und stolz spricht eine Dortmunder Urkunde des 13. Jahrhunderts von den cives maricolae Tremonienses[2]).

So waren in der zweiten Hälfte des 12. Jahrhunderts etwa die engen Möglichkeiten des deutschen Binnenhandels abgestreift; weit über sie hinaus stand im Norden des Reiches ein internationaler Handel mit dem gesammten Westen und Osten wie den nordgermanischen Völkern in Aussicht. In Deutschland selbst aber hatte sich der Handel inzwischen als eines der hauptsäch-

---

[1]) ed. Bezzenberger V. 635—678.

[2]) Rübel, Urkundenbuch Bd. 1 Nr. 157. 1281.

lichsten Ergebnisse wie Förderungsmittel jener großen wirthschaftlichen Umwälzung gezeigt, welche dem Zeitalter der staufischen Herrschaft eigenthümlich ist.

II. Die ältesten Artikel des deutschen Aktivhandels waren Flößholz und Pelzwerk, Salz, Vieh und Sklaven gewesen: Produkte und Waaren einer rohen, wesentlich nur okkupatorischen Volkswirthschaft. Später traten an die Stelle Leinwand und Holzgeräth, vor allem aber Getreide und Wein: Erzeugnisse eines Ackerbaues, der schon über den eigenen Bedarf der Einzelwirthschaften hinaus produzierte.

Es bedeutete einen außerordentlichen Fortschritt im Leben unseres Volkes, daß seit dem 12. Jahrhundert etwa solche Überschüsse eines intensiveren Landbaues in großen Mengen in den Handel gelangten: die Nation zeigte sich in der Lage, über die gemeinen Sorgen des Tages hinaus wirthschaftliche Werthe zu erzeugen und in diesem Mehrerwerb die Mittel zu gewinnen zur Entwickelung einer höheren Stufe wirthschaftlichen und sozialen, politischen und geistigen Daseins.

Schon längst, ehe der Handel den Vertrieb wirthschaftlicher Überschüsse der Naturalwirthschaft immer massenhafter übernahm, hatten solche Überschüsse bestanden; vornehmlich die großgrundherrschaftliche Organisation hatte sie gezeitigt. Verwendung gefunden hatten sie im fortschreitenden Ausbau des Heimatlandes, und damit in der Ernährung einer stets wachsenden Bevölkerung. Es war schließlich zu einer Steigerung der Bevölkerung gekommen, der eine wirthschaftliche Thätigkeit wesentlich im bloßen Ackerbau nicht mehr genügte. In Fülle wandten sich seit Mitte des 12. Jahrhunderts freie wie hörige Leute vom Lande den Städten zu, um dem älteren Handel wie dem nunmehr erblühenden städtischen Handwerk zuzuströmen; und schon zeigte sich das platte Land in der Lage, durch Vermittelung des Handels auch die rapid wachsende Bevölkerung der Städte zu nähren.

Indem aber die Uberschüsse eines stets intensiveren Anbaues zur Entwickelung städtischen Lebens vornehmlich beitrugen, bewirkten sie zugleich eine bisher unerhörte Theilung und Ver-

einigung der nationalen Arbeit. Bisher war das Wirthschaftsleben der Nation im wesentlichen in einer Fülle agrarischer Herrschaften und Gemeinschaften verlaufen, deren jede nach außen abgeschlossen für sich bestand, ihre Zwecke völlig mit eigenen Mitteln und aus sich heraus, durch Organisation persönlicher Dienste, durch Einforderung von Naturalabgaben zu sichern wußte. Zwischen diesen wirthschaftlichen Sonderkreisen bestand fast kein gegenseitiger wirthschaftlicher Verkehr; es gab beinahe keine Nachfrage, kein Angebot wirthschaftlicher Güter, es gab keine sichere gesellschaftliche Bestimmung wirthschaftlicher Werthe, und somit blieb die Anwendung des aus Römerzeiten her vorhandenen allgemeinen Werthmessers, des Geldes, stets schwankend und zweifelhaft.

Wie wurde das nun alles anders! Die einzelnen Wirthschaften, welche über den eigenen Bedarf produzierten, harrten des Absatzes, des Austausches ihrer Mehrerzeugung gegen nützliche Güter des Auslandes oder heimischer Herkunft: so schob sich kaufmännischer Verkehr ein: der Eigenhandel der Nation begann zu erblühen. Und bald stand neben dem Eigenhandel eine erwachende nationale Industrie, die dem Kaufmann jene Waaren lieferte, welche das platte Land vor allem forderte, Tuche und Eisengeräth: die ersten Anfänge der Geldwirthschaft tauchten empor.

Sofort brachten sie politisch wie sozial den Beginn ungeheurer Umwälzungen. Politisch hatten bisher die einzelnen Stämme des Reiches nebeneinander gestanden, wie die Wirthschaftsweise des Landes: jeder im wesentlichen sich selbst genügend, isolirt, wohl gar mißtrauisch gegenüber den anderen. Die Königsgewalt wie die kaiserliche Würde waren im ganzen bloße Obergewalten geblieben über den vielfach rebellischen Stämmen; sie hatten keine Organisation entwickelt, welche den Körper der einzelnen Stämme dicht und dauernd durchdrungen und somit eine wahrhafte Einheit der Nation hergestellt hätte. Hier ersetzte die wirthschaftliche Entwickelung bedeutsam einen Mangel der Centralgewalt. Ihr entwuchs in dem regeren Verkehr, in der Gemeinsamkeit geldwirthschaftlicher Interessen ein Band, das die Nation

von Jahrzehnt zu Jahrzehnt stärker einte und zusammenhielt: die äußeren Garantieen nationaler Einheit im späteren Mittelalter waren, soweit sie bestanden, wesentlich wirthschaftlicher Natur.

Noch gewaltiger wirkte die Entwickelung der Geldwirthschaft auf das soziale Leben ein. Bisher hatte es innerhalb der Nation grundsätzlich nur agrarische Arbeit gegeben; in ihr stufte sich das Verhältnis der einzelnen Gesellschaftsschichten zu einander ab; hier standen Grundherr und Grundholder, Markgenoß und Markungenoß nebeneinander, und sie unterschieden sich durch abweichendes Recht innerhalb der gemeinsamen Beschäftigung. Jetzt zum ersten Mal traten verschiedene Berufsarten im wirthschaftlichen Leben der Nation nebeneinander auf; pflügte der Bauer auf der engen Flur des Heimatsdorfes, so führte der Kaufmann seine Saumlasten von Ort zu Ort, und die Gassen der Stadt hallten wider von der lauten Arbeit des Handwerks. Nicht mehr das Recht im agrarischen Wirthschaftsrahmen, sondern der Beruf, die verschiedenartig qualifizirte Arbeit schied die Stände. Gleichgültig wurde dem neuen Geschlecht der Städte, ob es, agrarisch, landrechtlich gesprochen, frei war oder unfrei; ihm galt nur der Beruf; aus diesem Gesichtspunkte schied es sich, indem es seine persönliche Freiheit immer mehr als selbstverständlich annahm, von der träger fortschreitenden Bevölkerung des platten Landes.

Aber mehr als der Begriff bloß wirthschaftlichen Berufes ward gewonnen. Mit dem Beginn der Geldwirthschaft wurden zugleich die ersten Grundlagen einer Ständebildung gelegt, welche späterhin neben wirthschaftlichen Elementen bereits durch Faktoren der idealen Kultur beeinflußt werden sollte. Klassen geistiger, immaterieller Produktion, Lehrer und Gelehrte, Künstler und Beamte können als Stände erst dann sich entwickeln, wenn es möglich ist, vermittelst ihrer in Geld umgesetzten Produktion alle wirthschaftlichen Bedürfnisse zu befriedigen: die Geldwirthschaft ist Voraussetzung jeder Bildung sozialer Schichten dieser Ordnung. Es gab zwar auch schon vor dem geldwirthschaftlichen Zeitalter in Deutschland Stände, welche geistiger Produktion oder wenigstens geistiger Beschäftigung lebten. Aber diese Beschäftigung bildete nicht ihre soziale Grundlage. In der früheren Kaiserzeit

war die Bildung wesentlich kirchlich; ihre Träger im Standesleben der Nation waren geistliche Grundherren. Unter den Staufern erhob sich eine erste Laienbildung, aber sie war die des Adels. Erst die vollendete Geldwirthschaft des späteren Mittelalters sah den Gelehrten-, den Künstler-, den Beamtenstand entstehen und erlebte damit eine soziale Schichtung von höheren Gesichtspunkten aus, als sie irgend eine frühere Zeit gekannt hatte. In ihrem Zeichen vollzieht sich um die Wende des 15. und 16. Jahrhunderts der geistige Bruch mit dem Mittelalter: der moderne Individualismus darf in gewissem Sinne ein Spätkind der volkswirthschaftlichen Umwälzung der Stauferzeit genannt werden.

Da begreift es sich, daß die wirthschaftliche Revolution auch schon unmittelbar für die Stauferzeit geistig befreiend wirkte. Je mannigfacher die menschliche Arbeit sich ausbildet, um so mehr gestattet, ja erringt sie dem Menschen eine intensive Beherrschung der Außenwelt. In der vollen Fähigkeit dieser Beherrschung muß aber eine der wesentlichsten Freiheiten des Individuums gesucht werden. Wirkungen dieser Art traten mit den wirthschaftlichen Fortschritten des 12. und 13. Jahrhunderts hervor: das intellektuelle Niveau hebt sich: ferne Reisen verschaffen dem Kaufmann und durch ihn der Nation weiten Blick und besseres Verständnis der Heimat; der geschichtliche Sinn gewinnt durch den Vergleich eigener und fremder Kulturzustände; nicht umsonst beginnt erst mit der städtischen, nicht mehr mönchischen Geschichtsschreibung des 13. Jahrhunderts unsere eigentliche nationale, deutsche Historiographie.

Nicht weniger wichtig ist die Thatsache, daß erst mit den nationalen Wirthschaftsüberschüssen des 12. Jahrhunderts die Möglichkeit freierer geistiger Muße für größere Theile der Nation geschaffen ward. Ihr entspringt die Anregung zur ritterlichen Bildung der Stauferzeit, ihr verdankt der außerordentliche Aufschwung der Kunst nach Kostbarkeit und Masse der Denkmäler sein Leben; auf sie ist der feinere gesellschaftliche Ton und damit zum Theil der ganze Konventionalismus des Zeitalters, auf sie der zunehmende Luxus und das Aufkommen der Mode um die Wende des 12. und 13. Jahrhunderts zurückzuführen.

In dieser Richtung liegen freilich auch die Schäden, welche die Entwickelung der Geldwirthschaft namentlich im sittlichen Leben der Stauferzeit hervorrief. Große wirthschaftliche Gewinne winken nicht, ohne daß Egoismus und Gewinnsucht in weiten Kreisen wachgerufen werden; und niemals findet eine ruckweise Hebung des nationalen Einkommens statt, ohne daß eine Fülle moralisch schwach veranlagter Existenzen an ihr zu Grunde geht.

Auch in der Stauferzeit hat es auf wirthschaftlichem Gebiete weder an übermüthigen Schwächlingen noch an kühnen Abenteurern gefehlt. Doch brachte es die weitere wirthschaftliche Entwickelung mit sich, daß den sittlichen Ausschreitungen ein immerhin heilsamer Gegendruck entgegengestellt ward.

Man kann von einer bald individualistischen, bald sozialistischen Färbung des wirthschaftsgeschichtlichen Verlaufes reden, je nachdem es sich um die volkswirthschaftliche Organisation schon stark entwickelter oder erst im Emporkommen begriffener spezifischer Wirthschaftsmächte handelt. So war der Grund und Boden im Anfang unserer naturalwirthschaftlichen Entwickelung zunächst gleichmäßig unter die Volksgenossen vertheilt; die Organisation der Volkswirthschaft war sozialistisch. Erst seit dem 6. Jahrhundert, mit der allmählichen Individualisirung der Rechte am Grund und Boden, machte dies System dem entgegengesetzten Platz. Grund und Boden ward nun zum sozialen und politischen Machtmittel von Einzelpersonen; und indem diese sich des neuen Elementes mit sehr verschiedenem Erfolge bemächtigten, wurden außerordentliche Massen von Grundbesitz in wenigen Händen angehäuft, während der Menge die alte Wohligkeit einer vollen Ackernahrung anfing verloren zu gehen. Das neue ausgedehnte Grundeigenthum der Großen aber bedurfte einer neuen Organisation: sie konnte nur individualistisch sein; gefunden ward sie in der Grundherrschaft: die Grundherrschaft bestimmte vom 8. bis zum 11. Jahrhundert den Charakter der deutschen Volkswirthschaft.

In verwandter Weise, wie die naturalwirthschaftliche Zeit, ist auch das neue Zeitalter der nationalen Wirthschaft verlaufen, das mit der Entwickelung von Handel und Handwerk begann.

Sein sozial wichtiger Faktor ist das Kapital; das Kapital übernimmt die ein Jahrtausend lang vom Grund und Boden innegehabte Stellung, das Kapital wird das gesellschaftliche und politische Machtmittel der neuen Zeit. Aber auch hier läuft anfangs das Bestreben aller, welche mit dem neuen Element in Berührung treten, der Bürger vornehmlich, auf einen gleichmäßigen Genuß seiner Kräfte und Wirkungen hinaus: so ist die Gesetzgebung der mittelalterlichen Städte bestrebt, eine thunlichst gleichmäßige Vertheilung des Kapitals auf alle Insassen der Stadt durchzuführen, sie kennt das Kapital im Grunde nur als Arbeitskapital; ihr volkswirthschaftliches System zeigt sozialistischen Hintergrund. Aber auch hier erfolgt schließlich, merklicher seit dem 15. Jahrhundert, die Individualisirung des Kapitals als Machtmittel; seine Bedeutung für individualistische Arbeitsorganisation, sein Rentencharakter, seine zinstragende Kraft wird gleichzeitig mit seiner fast ungemessenen Anhäufung in einzelnen Händen, seiner relativen Entziehung für größere Massen städtischer Einwohner anerkannt; dem folgt die soziale Scheidung in Unternehmer und Arbeiter: das 16. Jahrhundert sieht den Beginn einer individualistischen Entfaltung des geldwirthschaftlichen Zeitalters.

Dieser allgemeinen Betrachtung des volkswirthschaftlichen Verlaufes läßt sich für die frühesten Entwickelungsstufen der Geldwirthschaft und damit für die Anfänge des Handels die Vermuthung entnehmen, daß eine nahezu sozialistische, jede persönliche Ausschweifung verhindernde Organisation der neuen Wirthschaftskräfte bestanden haben werde.

Sie ist in der That das Charakteristische. Genossenschaftlich im Sinne der Ausgleichung ward ursprünglich der nationale Handel, ward allem Anschein nach noch mehr das nationale Handwerk betrieben: ein erster Blick auf die kaufmännischen Gilden und die handwerklichen Zünfte, jene Lebensgemeinschaften der frühesten geldwirthschaftlichen Entwickelung, ruft sofort den Vergleich mit der agrarisch-sozialistischen Vereinigung der Urzeit, mit der Markgenossenschaft hervor: alle drei sind sozialistisch gefärbte Produktivgenossenschaften; ihre Zwecke gipfeln nach völlig gleicher

Weise in der Lebensfürsorge für ihre Mitglieder und deren Familien.

Andrerseits sind die Unterschiede unverkennbar. In der Urzeit, als die Markgenossenschaften entstanden, scheiterte jede Kapitalbildung an der niedrigen Stufe der Volkswirthschaft; niemand vermochte seine und seiner Familie Zukunft durch Ersparnis oder Darlehen zu sichern: der Einzelne war überhaupt nicht dauernd im Stande, für sich zu sorgen: der Staat mußte für ihn eintreten. So waren die Markgenossenschaften, wenn auch auf genealogischer Grundlage erwachsen, doch in der Zeit der Völkerschaften vor allem staatliche Bildungen: von oben her wurden sie gebildet und abgerundet, der Staat gab und gewährleistete ihnen das Markgebiet, die Grundlage ihres Bestehens.

Wie anders entwickelten sich Gilde und Zunft! Wie jede höhere Wirthschaftsstufe die freie Verfügung über die wirthschaftlichen Machtmittel der vorhergegangenen Periode naturgemäß besitzt, so erfreuten sich Gilde- wie Zunftgenossen von vornherein eines nahezu vollen Individualeigens am städtischen Grund und Boden: sie standen nicht wirthschaftlich voraussetzungslos da, sie bedurften keines höheren politischen Schutzes. Von sich aus, autonom, grundsätzlich von unten her, wenn auch gelegentlich durch die staatlichen Gewalten unterstützt oder bevormundet, begründeten sie ihre Genossenschaften gemeinsamen Kaufhandels und gemeinsamen Handwerkes, und sie nahmen staatlichen Schutz und öffentliche Anerkennung prinzipiell nur so weit in Anspruch, als sie deren zur Durchführung ihres sozialistischen Produktionsideals bedurften.

Unendliche Fortschritte sprechen sich in diesen Unterschieden zwischen markgenossenschaftlichem System einerseits, Gilde- und Zunftorganisation andrerseits aus. In der Markgenossenschaft erscheint die Einzelperson noch staatlichem Zwang in Lebenswahl und Lebenshaltung unterworfen, und hinter dem Zwange des Staates steht, noch viel stärker bindend, die vorzeitliche Macht des Geschlechtes: in den Wirthschaftsgenossenschaften der beginnenden städtischen Entwickelung ist das Individuum persönlich frei in der Wahl seines Berufes, es bildet sein Berufsleben sich selbst aus

in gemeinsamer Arbeit mit den Genossen gleichen Berufes; und fühlt es sich auch noch nicht befähigt, in der Schrankenlosigkeit individuellen Wettbewerbes den wirthschaftlichen Lebenskampf zu bestehen, so fordert es doch für die sozialistische Verkettung mit berufsverwandten Genossen nur die Hülfe der öffentlichen Gewalt, statt, jeder eigenen Willensregung baar, ihrem wechsellosen Zwange zu unterliegen.

III. Die älteste, längere Zeit hindurch vornehmlich die einzige aller bürgerlichen Produktivgenossenschaften ist die kaufmännische Gilde[1]). Im Rahmen der Gilde erwachsen recht eigentlich die Anfänge nationalen Eigenhandels und damit die Anfänge des Bürgerthums überhaupt.

Der älteste Eigenhandel in Deutschland wurde von den Kaufleuten selbst nach Art großer Hausirer oder Besitzer von Wanderlagern betrieben; der Kaufmann zog mit seiner Waare in Person über Land, von Markt zu Markt, und tauschte, kaufte und verkaufte; es gab kein besonderes Geschäft der Waarenspedition. Sobald sich der Verkehr dieser Art reger gestaltete, mußte er zum Karawanenhandel führen. Die Kaufleute reisten gemeinsamen Weges, oft unter Bedeckung gegen räuberische Angriffe aus Burg oder Piratenschiff; sie vereinigten sich für die Kauffahrt zu Gesellschaften.

Es ist der Ursprung der kaufmännischen Gilde. In der Natur der Dinge liegt es, daß sich diese älteste, temporäre Form der Gilde zuerst bei den Sachsen und vornehmlich den Friesen, den ersten deutschen Stämmen mit Eigenhandel, entwickelt haben mag; hier war sie zugleich durch die besonderen Gefahren der Seereise doppelt angezeigt. Allein in gleicher Weise organisirte sich allem Anschein nach auch die älteste Kaufmannschaft des Rheins und der Donau; wenngleich von hier nur Spuren dieser frühen Bildung bis zu unserer Kenntnis gelangt sind[1]).

Der Natur ihrer ganzen Organisation nach gehörte die Karawanengesellschaft der Kaufleute keinem besonderen Stande an;

[1]) In Süddeutschland ist die Gilde (Hanse) bezeugt nur in Regensburg; Spuren für den Mittelrhein will Koehne S. 55 ff. nachweisen.

es konnten sich in ihr hörige, im Auftrage ihrer Herren reisende Leute, Freie und Männer edler Abkunft, reiche Händler wie minder vermögende Detailliſten zusammenfinden. Gleichwohl wird von Anfang an die immer zunehmende Zahl der berufsmäßigen Großkaufleute, wie sie in den Handelsplätzen ansässig waren, überwogen haben. Diese aber erwuchsen aus heimischen reichen Bauern, deren wirthschaftliche Überschüsse den Übergang zum Handel gestatteten oder denen die allmähliche Umwandlung ihrer Äcker in städtisches, bebautes Areal das Ergreifen eines neuen Berufes nahe legte; sie erwuchsen aus zugezogenen Freien, sie zählten in ihren Reihen gewiß auch die Abkömmlinge manches Hörigen oder Unfreien vom Lande.

Für die Fahrt selbst ward von der Fahrtgenossenschaft meist ein Aldermann gewählt; er sorgte für die Sicherheit der Reisenden vor räuberischem Angriff[1]); er gebot Recht unter den Genossen nach deren Spruch; er war für die Bequemlichkeit und die Ruhe des jeweils aufgeschlagenen Marktes verpflichtet.

War die Fahrt beendet, so löste die Gesellschaft sich auf. Allein je regelmäßiger von einem bestimmten Handelsplatze aus solche Kauffahrten unternommen, je häufiger Fahrtgenossenschaften gebildet wurden, um so mehr mußte das genossenschaftliche Element zum ständigen Lebenselement werden: und wohl schon sehr früh entwickelte sich damit aus den temporären Reisevereinigungen jeden Ortes eine dauernde, heimische Genossenschaft der marktgesessenen Kaufleute. Es ist die zweite Entwickelungsstufe der frühmittelalterlichen Kaufgilde.

Die ständig gewordene Genossenschaft erwuchs nun sofort, einem allgemeinen Zuge des mittelalterlichen Genossenschaftsrechtes folgend, zur vollen Lebensgemeinschaft. Zwar wurde sie auch jetzt formell auf meist nur kurze Zeit geschlossen, doch nur, um stetig erneuert zu werden. Im übrigen begründete sie für ihre Mitglieder gemeinsamen Gottesdienst und somit gemeinsame Hoffnungen für ein zukünftiges Leben; in Dortmund wurde die

[1]) Interessante Spur in der auch sonst wichtigen Stelle V. Herib. Colon. c. 9, M. G. SS. 4, 748.

Gilde nach St. Reinold, dem Stadtheiligen, Reinoldsgilde benannt. Nicht minder sorgte die Gilde für eine enge Lebensgemeinschaft im Diesseits in Fest und Frohsinn: Gilde bedeutet ursprünglich Opfer, Opferschmaus, erst abgeleitet geschlossene Gesellschaft; die Sachsen übersetzen das Wort mit Convivium[1]), am Rhein gibt man seinen Sinn mit Fraternitas wieder[2]).

Die innere Organisation der Gilde ist zum großen Theile diesen Bedürfnissen geselligen Zusammenlebens angepaßt oder entsprungen; unter dem Aldermann, welcher auch bei der ständig gewordenen Gilde häufig als Vorsteher beibehalten wird, steht gern eine Anzahl von Gildebrüdern als Börseherren oder Schaffner: sie treffen die kleinen Einrichtungen für die Geselligkeit des Tages, sie bedienen bei Schmausereien, sie kassiren die Festbeiträge ein. Noch lange ist gerade diese gesellige Seite der Gilde erhalten geblieben, als längst deren wirthschaftliche Bedeutung zu Grunde gegangen; nicht wenige Gilden endeten als vornehme Kasinos. In die Frühzeit der Entwickelung führen noch die alterthümlichen Bräuche, womit in Salzwedel die periodische Erneuerung der Gilde gefeiert ward. Die Festlichkeiten zogen sich durch vier Tage hin. Am ersten Tage fand nach der Neuwahl der Gildebeamten ein gemeinsames Mahl statt; beim Hauptgang begab sich der abgetretene Aldermann zum neugewählten, einen Kranz in der einen Hand, in der andern den gefüllten Becher der Gilde: mit beiden huldigte er seinem Nachfolger. Den Höhepunkt erreichte die Feier am dritten Tage. Festlich geschmückt traf man sich bald nach Mittag auf dem Tanzhause. Von hier aus bewegte sich ein glänzender Zug durch die Straßen der Stadt; vorweg der Klerus, dann der neue Aldermann mit seiner Gattin, Kränze aus rothen Rosen auf dem Haupte, danach die unvermählten Söhne und Töchter der Gildebrüder, auch sie mit heiteren Kränzen im Haare, nunmehr die Gildebrüder selbst mit ihren Frauen und ein ehrsamer Rath, am Schluß der gewesene Aldermann mit seiner

[1]) Hasse, d. schlesw. Stadtrecht S. 86; Wigand, denkw. Beitr. S. 137. Zu Widukind 1, 35 vgl. Wilmans in Zeitschr. f. D. Kulturgesch. 3, 1; Nitzsch, deutsche Gesch. 1, 306.

[2]) Ennen, Quellen z. Gesch. d. Stadt Köln Bd. 1 Nr. 36, 1113.

Ehefrau, mit Rosen geschmückt gleich dem voraufziehenden Nachfolger. Nach dem Umzuge hielt man auf dem Markte der Altstadt; jedem Theilnehmer werden zwei oder drei Trunk Weines gereicht, darauf einmal auf dem Markte herumgetanzt. Der Tag ward beschlossen durch frohes Mahl und abendlichen Festestanz.

Läßt sich dieses Bild viel späterer Zeit nur mit dem Rechte der Wahrscheinlichkeit in die frühen Tage der deutschen Kaufmannsgilde zurückverlegen, so lauten die Nachrichten über die ernste Thätigkeit jener Frühzeit viel bestimmter. Indem die Gilde zu einer ständigen Einrichtung kaufmännischer Plätze geworden war, mußte sie vor allem für eine örtliche Regelung des Handels eintreten. Sie suchte Verkehrserleichterungen und Verkehrsgarantieen zu erreichen; sie schuf Verkehrswaage und Verkehrsgewicht, sie baute Stapel und besserte Wege. Sie wußte weiter eine gewisse polizeiliche Gewalt in Sachen des kaufmännischen Verkehrs zu entwickeln: sie urtheilte sogar günstigenfalls über alles Wahnmaß, über unrechte Wage, unrechte Scheffel, unrechtes Gewicht und allerlei Speisekauf, kurz über allen Meinkauf. Sie strebte danach, die Thätigkeit der sonstigen Erwerbsgenossenschaften am Platze zu beaufsichtigen, sei es die der Münzer, sei es die handwerklicher Zünfte. Sie begann einen eigenen Kodex kaufmännischer Usancen zu entwickeln, sie stellte die großen Ziele der Befreiung des Grundeigens von hörigen Lasten wie der Ausbildung eines freien, kaufmännisch verwendbaren Vertragsrechtes auf. Sie suchte endlich den städtischen Handel für den Kreis ihrer Genossen zu monopolisiren — genau so, wie die Markgenossen es seit dem 5. Jahrhundert durchgesetzt hatten, die Ausbeutung des Markbodens auf Eingesessene der Mark zu beschränken —, und sie erstrebte das Handelsmonopol für einen möglichst weiten Umkreis ihres Platzes[1]).

Neben all diesen lokalen Zielen gab sie die großen, fernreichenden Gesichtspunkte ihrer Vorläuferin, der temporären Kauf-

[1]) Dies Handelsmonopol hieß Hanse; die Hanse ist also für die Gilde genau das, was der Zunftzwang für die Zunft. Weithin erreicht ist das Ziel der Hanse von Groningen. Für Dortmund vgl. Frensdorff, Dortmunder Statuten und Urtheile S. LV.

fahrtgilde, nicht auf. Nach wie vor schützte sie die Karawanenreisen ihrer Mitglieder, wie deren Schicksal überhaupt in der Fremde; zu ihrer Unterstützung bildete sie an den besuchtesten Handelsplätzen Tochtergilden, welche aus den jeweils anwesenden Brüdern der Muttergilde wie anderweitig aufgenommenen Mitgliedern bestanden und ihren Mitgliedern den vollen Ersatz der Heimat bieten sollten. So hatte Köln seit uralten Zeiten eine Tochtergilde in London, so besaß die Groninger Gilde Zweiggilden in Köln und Utrecht, sowie vermuthlich in Ripen und in den 'fünf Häfen' Englands; sie konnten in Sachen der Gildebrüder urtheilen, sobald sie mit sechs Brüdern besetzt waren, von ihnen ging der Rechtszug an die Muttergilde daheim: sie waren gleichsam Groninger Enklaven im Ausland[1]).

Solche Einrichtungen gaben den Gilden einen großen und freien Zug. Wie man am fremden Platze freundlich aufgenommen sein, seine Heimat wieder finden wollte, so war man daheim entgegenkommend gegen den fremden Kaufmann, sobald er sich dem heimischen Handels- und Erwerbsleben einordnete; verweilte er länger gastesweise am Platze, so wurde ihm der Eintritt in die Gilde gestattet, ja nahe gelegt. Es war eine Freundlichkeit, deren Belohnung man an anderem Orte, dann selbst ein fremder Kaufmann, erwartete: gleichwohl mußte sie den Egoismus der heimischen Kaufmannschaft brechen, ihren engen Gesichtskreis erweitern. Zugleich trug sie gewiß Vieles zur einheitlichen Ausgestaltung der Gilden aller Plätze bei, um so mehr, als jeder größere Handelsverkehr an sich schon überall wesentlich gleichartige Einrichtungen nach sich zieht; man wird nicht irren, wenn man die Anfänge der Kaufmannsgilden, soweit sie einfache Platzgilden waren, als aller Orten ziemlich übereinstimmend sich vorstellt.

In diese Gleichförmigkeit der Bildung wurde Bresche gelegt durch die Verknüpfung der Gilden mit der höheren, staatlichen

---

[1]) Vgl. Nitzsch in den Monatsber. der Berl. Akad. d. Wiss. 1880 S. 402; dazu einen nachgelassenen Aufsatz von Nitzsch, der in der Savigny-Zeitschrift für Rechtsgeschichte erscheinen wird und dessen Einsicht ich der Güte von Dr. Liesegang verdanke.

Schutzmacht. Indem diese einzelnen Gilden Theile ihrer Gewalt delegirt, sie also mehr oder minder mit öffentlichen Rechten ausstattet, führt sie eine dritte Entwickelungsstufe der kaufmännischen Gilde herauf.

In merowingischer Zeit, auch noch unter König Pippin hatte wohl die Kirche, insbesondere der Episkopat, gern den Schutz der Handelsinteressen übernommen. Damals entstanden viele der großen Messen, welche sich an die Begehung von Heiligentagen knüpfen; ein Nachhall jenes Schutzes ist es, wenn hie und da noch in später Zeit das Handels- oder Schiffergericht auf dem Kirchhof, auf geistlich befriedetem Boden, gehalten wird.

Im allgemeinen aber war der kirchliche Schutz seit der deutschen Kaiserzeit längst in den Hintergrund getreten; schon Karl der Große hatte den staatlichen Schutz ihm vorgeschoben. Gern ließ er seinen Schutz einzelnen Kaufleuten, auch wohl der Kaufmannschaft ganzer Länder zu Theil werden; und schon Ludwig der Fromme begründete daraufhin für einzelne Kaufleute ein besonderes Recht, indem er sie von der Beweispflicht durch Gottesurtheil entband[1]). Die sächsischen Herrscher seit Otto dem Großen haben mit ihrem Schutze dann ganze Kaufmannsgilden bewidmet; doch galt der Schutz im wesentlichen wohl nur dem Kaufmann auf Reisen und schloß zugleich meistens eine Anzahl von Zollbefreiungen ein. Weiter mußte die kgl. Privilegirung sich erstrecken, sobald die Kaufgilde an ihrem Platze polizeiliche Rechte oder gar das Recht möglichst ausschließlichen Handelsverkehrs nur ihrer Mitglieder in Anspruch zu nehmen versuchte und, statt diese Rechte usurpatorisch geltend zu machen, ihre Verleihung von seiten der öffentlichen Gewalt anrief und etwa erreichte. In diesem Falle wäre die Gilde zum öffentlichen Amt des Marktes, ja zur städtischen Behörde geworden, soweit Stadt und Markt zusammenfielen. Es wäre eine Entwickelung, welche namentlich da, wo die Gildebrüder zugleich die alleinigen Vollbürger, weil die alleinigen vollberechtigten Grundbesitzer waren, ohne weiters zur Verwaltung des Handelsplatzes als Stadt durch die Gilde hätte

[1]) LL. V ed. Zeumer p. 310.

führen müssen[1]). Da aber, wo sich ein öffentlicher Markt entwickelt hatte, wo mithin die Gilde grundsätzlich nur usurpatorisch in den Besitz des Verkehrsmonopols gelangen konnte, mußte sich unter Umständen zwischen der Gilde und den Herren des öffentlichen Marktes ein Kampf mit der Möglichkeit sehr verschiedenen Ausganges entspinnen.

IV. Die Entwickelung der Kaufgilde hatte sich ihrem hauptsächlichen Verlaufe nach durchaus selbständig vollzogen; der temporären Form der Kauffahrtgilde war die stetige der Platzgilde gefolgt. Erst die Platzgilde in ihren weitestgehenden Bestrebungen war mit der öffentlichen Gewalt in nothwendige Berührung gekommen. Die öffentliche Gewalt aber war inzwischen auch von sich aus den Bedürfnissen des Handels längst nahegetreten: weit über gelegentlichen persönlichen Schutz der Kaufleute hinaus hatte sie den Markt als Einrichtung ihres Rechtes entwickelt.

Die Märkte sind in Deutschland nicht übermäßig alt; das Wort Markt ist erst eine althochdeutsche Entlehnung aus dem lateinischen mercatus[2]). Sie entstanden vorübergehend da, wo Kauffahrten der Regel nach durchzogen, an Furthen, an den Kreuzwegen großer Heerstraßen, an Wallfahrtsorten, vornehmlich aber an den Punkten früheren großen Verkehrs und einstiger Römerherrlichkeit. Unter Karl dem Großen kamen daneben Grenzmärkte empor; der Kaiser schloß aus militärischen Gründen den lokalen Verkehr über die slawische und avarische Grenze und konzentrirte den Grenzhandel an einzelnen Orten, so in Hamburg und Bardewik, in Magdeburg und Erfurt, in Regensburg und Lorch a. d. Donau.

Märkte, welche auf diese Weise entstanden und vergingen, fanden zumeist vor dem Orte, nach dem sie hießen, auf freiem

---

[1]) Ob ebenso in Dortmund? Vgl. Frensdorff a. a. O. S. LII ff. In Dortmund gilt noch viel später das Zeugnis eines Gildebruders so viel, wie das eines Rathmannes; das Haus der Wandschneider ist zugleich Rathhaus. — In Dortmund war der Grundbesitz der Vollbürger wohl völlig frei, vgl. Frensdorff a. a. O. S. XVI, XX ff.

[2]) markât, mërkât, mërchât.

Felde statt; mit Vorliebe wurden Stellen etwa zwischen dem vorbeifließenden Strome und dem Orte selbst gewählt, so in Regensburg, in Straßburg, in Köln[1]): an sie hat sich dann später auch der ständige Markt geknüpft. Hier ward zu Zeiten des Marktes der Strohwisch aufgesteckt[2]): er bedeutete die Verfrohnung des Platzes, seinen zeitweisen Übergang in speziell königliches Eigenthum und damit in besonderen königlichen Schutz und Frieden. An Stelle des Strohwisches trat wohl auch die königliche Fahne, welche nach Art der Kirchenvexille von einer Querstange wehte; daraus scheinen später die weit verbreiteten Marktkreuze entstanden zu sein[3]). Und nach Art des deutschen Rechtes, welches in fortgeschritteneren Zeiten die nicht mehr völlig verstandenen Symbole seiner Personen und Gedanken zu häufen liebt, umgab man wohl das Kreuz noch mit den Leibzeichen des Königs, mit Hut und Schild, mit Handschuh und Schwert: so hing man noch spät zu Esch a. d. Sauer im Luxemburgischen während des Jahrmarktes an das Kreuz „ein hulzen schwert und ein hulzen hand“[4]). Es ist ein Brauch, aus welchem sich später die Rolandssäulen entwickelt haben: Roland war der Sage nach der Träger des Schwertes, des Hauptleibzeichens, Karl's des Großen.

Aber längst, ehe diese Verschiebung in den Symbolen königlicher Verfrohnung eintrat, waren die vorübergehenden Märkte an allen größeren Verkehrsorten zu ständigen, dauernden geworden. Schon König Ludwig der Deutsche privilegirt stetige Märkte; ihre hauptsächlichste Entstehungszeit aber deckt sich mit

---

[1]) Charakteristisch ist St. 905 (= DO. 3, 34) eine Marktverleihung zu Giebichenstein für das Erzbisthum Magdeburg, deren Indorsat De marcato Halla von einer Hand des 10. Jahrhunderts eingetragen ist, die auch sonst Indorsate auf Magdeburger DD. geschrieben hat, z. B. auf St. 881 (Mitth. von W. Erben in Wien an Hrn. Dr. Kehr in Marburg). Vgl. Rathgen S. 32—33.

[2]) Wenigstens im Gebiete der Saalfranken und dem entsprechend wohl im Gebiete der vlämischen Ansiedlung im Osten Deutschlands; vgl. Schröder, Weichbild (Hist. Aufsätze, dem Andenken an Waitz gewidmet) S. 311.

[3]) Eine andere Erklärung versucht neuerdings Kuntze, die deutschen Städtegründungen S. 36 ff.

[4]) Hardt, Luxemb. Weisth. 232 § 39; Schröder a. a. O. S. 307.

der ersten Blüthezeit des deutschen Kaiserthums; vornehmlich die sächsischen Herrscher seit Otto I. wie die frühesten Salier haben eine Fülle dauernder Märkte begründet.

Indem nun der Markt ständig ward, erhielt er eine feststehende räumliche Begrenzung; er wurde als ein besonderer Bezirk aus dem bisherigen, rein ländlicher Kultur entwachsenen Verwaltungsgebiet herausgehoben[1]); er bildete fortan eine kommerzielle Freistatt völlig neuen Charakters. Sein eigenartiger Friede bewirkte, daß alle Kaufleute, welche ihm zureisten, unter besonderem Schutze des Königs fuhren: so wurde der früher persönlich ertheilte besondere Kaufmannsschutz des Königs dem ganzen Stande zu Theil[2]). Sein Friede bewirkte weiterhin, daß jedes im Marktgebiete begangene Verbrechen, soweit es mit kaufmännischen Vorgängen in Zusammenhang stand, außer der gewöhnlichen Strafe grundsätzlich mit der Zusatzstrafe des königlichen Bannes (60 Schillinge) geahndet ward: eine Sonderbestimmung, unter deren Durchführung späterhin ein erstmaliges voll öffentliches Strafrecht in Deutschland entwickelt ward. Dieser Friede bewirkte endlich im Orte selbst eine besondere Marktfreiheit von der Strafvollstreckung für auswärts begangene Verbrechen wie vom Vollzug auswärts eingegangener Schuldverpflichtung: er wirkte im Sinne des Rechtes einer Freistatt; er begründete damit prinzipiell das Recht, daß gegen kaufmännische Angehörige des Marktgebietes nur in diesem Gebiete selbst gerichtlich geklagt werden konnte.

So machte er die Einrichtung eines besonderen Marktgerichtes nothwendig: es entstand ein neues öffentliches Gericht vornehmlich für Handelssachen, eine bis dahin auf deutschem Boden unerhörte Erscheinung. An die Spitze des Marktes trat ein öffentlicher Marktrichter, bald Schultheiß, bald Amtmann oder sonstwie benannt; er bildete mit Hülfe der Rechtsweisung der kaufmänni-

---

[1]) Man nannte das mercatum construere, s. Rathgen, Entstehung der Märkte S. 33. Vgl. auch Thietmar 6, 39.

[2]) Die persönliche Schutznahme war damit antiquirt. Der allgemeine Schutz wird im Jahre 946 zum ersten Male, seit Otto III. der Regel nach betont; s. Rathgen S. 36.

schen Gemeinde oder auch eines Schöffen-Ausschusses derselben ein neues, kaufmännisches Recht aus; ein Recht, das vor allem Schuldsachen und Marktfrevel betraf, das die Vergehen des unrechten Kaufes und des Bruches von Maß und Gewicht, des Auflaufes und des Schwertzückens während des Marktfriedens ahndete. Der Platz des neuen Gerichtes war zumeist der Marktplatz selbst; hier ward unter offener Halle unverzüglich Recht gesprochen, dort stand der Stuhl des Richters und die Bank der Schöffen.

Das neue Gericht war zunächst das Gericht einer Personalgemeinde. Neben den Kaufleuten konnten in der Freiheit des Marktes eine Fülle von anderen Berufsthätigen, Bauern und Geistliche, edle oder freie Grundherren und Dienstmannen sitzen, ohne dem Marktgericht eingeordnet zu sein: nur für den Kaufmann, den Handeltreibenden, war das neue Gericht geschaffen, nur für ihn hat es ursprünglich gegolten[1]).

Allein in den größeren Handelsplätzen wurde diese älteste Entwickelungsstufe meist wohl rasch überholt. Hier saßen innerhalb des meist eng begrenzten, keineswegs den ganzen Ort umfassenden Marktgebietes bald thatsächlich nur Kaufleute; die Personalgemeinde der Kaufleute fiel mit der Realgemeinde des Marktgebietes zusammen. So wurde das Marktgericht zum Gerichte aller Markteingesessenen — und nunmehr ordneten die meisten Rechtsmaterien sich ihm unter, nicht bloß die kommerziellen. Klar aber war es, daß in diesem Falle das hergebrachte Recht von kaufmännischen Gesichtspunkten aus betrachtet und gefördert werden mußte. Vor allem das Recht des Grundes und Bodens. Bisher konnte auch im Marktgebiete aller Grund und Boden, soweit ein Obereigenthum an ihm bestand, hörig oder unfrei gebunden gewesen sein. Es war ein Zustand, welcher mit der vollen Ausbildung kaufmännischen Berufes und Vertragsrechtes unvereinbar war; wie vermochte gebundenes Eigen kaufmännisch

[1]) Das zeigt noch sehr deutlich die Lage in Allenbach gegen Ende des 11. Jahrhunderts, s. Schulte, Zeitschr. f. d. Gesch. d. Oberrheins N. F. Bd. 5, besonders S. 150 Anm. 1.

belastet zu werden? So war es der erste große Fortschritt des Marktrechtes der Realgemeinde, daß das Grundeigen, welches die Kaufleute durchweg vom Herrn der Stadt nur in Leihe besaßen, gleichwohl nicht als gebunden betrachtet ward, sondern trotz eines geringen Bodenzinses und geringer Erbübergangs- und Vorkaufsrechte des Herrn als frei vererblich galt und als frei veräußerlich. Ein neues, freieres Eigen entstand auf diese Weise in den Märkten; schon gegen Schluß des 11. Jahrhunderts ist es entwickelt[1])

Darüber hinweg aber ging die Marktgemeinde später darauf aus, ihr Gericht, das, mit den Gerichten der herkömmlichen Verfassung verglichen, nur ein Mindergericht war, zu einem Hochgericht, zur Zuständigkeit für peinliche Sachen zu entwickeln. Es war ein Streben, das den Marktgemeinden, wenn überhaupt, so erst spät, zumeist im 13. Jahrhundert, Erfolg brachte; ein Ziel, das sie gewiß überall erst erreicht haben, nachdem sie über ihr Gebiet hinaus Einfluß auf den gesammten Handelsplatz errungen hatten, dem sie angehörten. Es ist somit eine Richtung ihres Fortschrittes, welcher über das enge Gebiet der ursprünglichen Marktstätte hinausführt in die Geschichte des Handelsplatzes überhaupt, dem der Markt zugehörte.

V. Die Verwaltungseintheilung des merowingisch-karolingischen Reiches kannte nur ländliche Bezirke; sie entstammte einem ausschließlich naturalwirthschaftlichen Zeitalter. Demgegenüber war das Marktgebiet der erste geldwirthschaftliche Verwaltungsbezirk; fremd und andersartig schob es sich in die alte Bezirkseintheilung und Bezirksverfassung ein. Allein da es klein war, da es wesentlicher Lebensbedingungen auch des Kaufmanns jener frühen Zeit entbehrte, da es deshalb bald zur Erweiterung, zur Erstreckung auf den gesammten Handelsplatz neigte, so konnten Beziehungen zu der alten Verfassung nicht ausbleiben, und sie mußten sich in weitaus den meisten Fällen von Jahr zu Jahr verstärken.

---

[1]) S. Sohm, Entstehung des Städtewesens S. 75 ff.; Schulte a. a. O. S. 165.

In der Entwickelung seiner Beziehungen über den gesammten Handelsplatz und dessen Gebiet hinweg erweitert sich der Markt zur Stadt, wird die Marktverfassung durch die erste Lebensform einer wirklichen Stadtverfassung abgelöst.

Die ursprüngliche Reichseintheiluug der merowingischen Zeit kannte nur Gaue und unter diesen Hundertschaften; der Gaubeamte, der Graf, war politischer Beamter und zugleich Gerichtsvorsitzender in dem Hochgericht jeder Hundertschaft. Aus dieser einfachen Gliederung kommt für die Entstehung der Stadt im wesentlichen nur noch die Hundertschaft in Betracht, denn zumeist waren die Grafenrechte zur Entstehungszeit der Städte schon den Hundertschaften einbezogen oder wurden wenigstens ihnen einbezogen gedacht; die Hundertschaft bildete der Regel nach ein selbständiges Hochgericht, ja oft war sie bereits in mehrere Hochgerichtsbezirke zersplittert.

In einem dieser Hochgerichte, sei es dem hundertschaftlichen, sei es einem kleineren, aus der Hundertschaft ausgeschiedenen, lag nun der Marktbezirk: aus ihm wurde er zunächst eximirt. Wie aber, wenn sich nun der Marktbezirk über sich hinaus auf Theile des Hochgerichtsbezirkes, wenn nicht gar auf das ganze Hochgericht auszudehnen begann?

Der Hochgerichtsbezirk umschloß aber nicht bloß eine Rechtsgemeinde, er umfaßte der Regel nach auch eine Wirthschaftsgemeinde: er war zugleich markgenossenschaftlicher Bezirk. Freilich war er wohl im seltensten Falle noch von einer einzigen ungetheilten Markgenossenschaft eingenommen; vielmehr hatten sich aus der großen Markgenossenschaft des Hochgerichtes mit ihrem Eigenthum an Wald- und Weideallmende schon kleinere Markgenossenschaften ausgeschieden: der Regel nach einzelne Dörfer, und unter ihnen auch zumeist der Handelsplatz, in welchem der Marktbezirk belegen war. Diese Orte besaßen nicht bloß eigenen, aus der großen Allmende des Hochgerichtes ausgeschiedenen Gemeinbesitz, vornehmlich an Weide und Wald, sondern auch Ackerfluren, welche im Sondereigen von ihren Inwohnern bewirthschaftet wurden.

So konnte denn der Marktbezirk grundsätzlich in dreifache klare Beziehungen zu den umgebenden Wirthschaftsgemeinden agrarischer Natur treten: zur Flur wie zur Allmende des Handelsplatzes, dem er angehörte, oder nur zur Allmende dieses Platzes, oder endlich zur Allmende des Hochgerichtes. Möglich war es schließlich, daß alle derartigen Beziehungen überhaupt fehlten.

Der letztere Fall war selten und bei größeren Märkten von Anbeginn allem Anscheine nach unerhört[1]); bedurften doch die Schlacht- wie die Saumthiere der Kaufleute unter allen Umständen der Weide. Doch kommen späterhin, in der Periode nicht der Städteentstehung, sondern der Städtegründung durch Fürsten und Adeliche seit dem 12. und 13. Jahrhundert gelegentlich Marktbezirke ohne jede markgenossenschaftliche Beziehung vor; es sind zumeist kleine Burgmärkte, in Wahrheit mehr Festungen, als Märkte. Doch ist auch bei ihnen zumeist von vornherein wenigstens Allmende vorhanden oder wird rasch gewonnen[2]).

Da hingegen, wo Märkte in schon bestehenden Plätzen errichtet wurden, mochten diese Plätze reine Dörfer oder schon kommerziell und industriell entwickeltere Ortschaften sein, wurde zum mindesten an der Allmendegemeinschaft, bisweilen vielleicht sogar an der Feldgemeinschaft des Marktes mit der Ortschaft festgehalten[3]); im letzteren Falle läge der frühe Ursprung von Ackerstädten vor Augen.

Weitaus wichtiger ist freilich die Frage, wie sich denn die Verhältnisse in denjenigen Handelsplätzen gestaltet haben, welche sich später zu den Großstädten des Landes entwickelten.

Hier zerfällt der Regel nach der ausgedehnte Handelsplatz schon von undenklichen Zeiten her in eine Reihe von Quartieren,

[1]) Der Beweis Gothein's (Wirthschaftsgeschichte des Schwarzwaldes 1, 70 ff.), daß Konstanz anfangs keine Allmende gehabt, ist mißlungen; vielmehr zeigen die von ihm beigebrachten Thatsachen das Gegentheil.

[2]) Das gilt für den Süden (für den jetzt die schönen Untersuchungen Gothein's a. a. O. vorliegen), wie für den Norden; vgl. Liesegang, Forschungen zur brandenb. u. preuß. Gesch. 3, 381 f. (Salzwedel).

[3]) Vgl. freilich sogar für Allenbach, was Schulte a. a. O. S. 168 ausführt.

welche sich im Sinne einer dörflichen Markgenossenschaft verwalteten, also Spezialgemeinden bildeten; daß sie sich vermutlich genau so wie die Dorfmarkgenossenschaften des platten Landes durch Festsetzung eines bestimmten Geschlechtes, also auf genealogischer Grundlage ausgebildet haben dürften, zeigt ihr Name paraiges in Metz [1]). Derartige quartierartige Spezialgemeinden sind z. B. die sieben alten Parochieen Kölns und die Burschaften von Soest und Dortmund [2]). Sie alle bildeten als Ganzes eine große Markgenossenschaft (theilweise mit ausgeschiedenen Marken der Spezialgemeinden), zumeist aber auch, höchstens in Verbindung noch mit einigen auswärts belegenen Dörfern, ein Hochgericht; letzteres vornehmlich seit den Zeiten der sächsischen Herrscher.

In dies weitverzweigte Gebilde ergoß sich nun seit Aufrichtung des ständigen Marktbezirkes der volle Einfluß dieser neuen Institution: es ist begreiflich, daß die Spezialgemeinden, selbst in den Strudel der kaufmännischen Bewegung hineingezogen, ihm gar bald unterlagen [3]). Dazu kam, daß späterhin fast alle großen Städte nach Erwerb des ländlichen Gebietes bis weit vor ihren Mauern strebten, zur Weide für die immer zunehmenden städtischen Heerden, zur Sicherung der Reisenden und Waarenzüge auf den Straßen der Nachbarschaft, zum Ausschluß befestigter Anlagen in ihrer Nähe; spätestens unter diesen Bemühungen mußte das Stadtgebiet zum Gesammtgebiet des ursprünglichen Hochgerichtes erweitert werden.

---

[1]) Vgl. Sohm a. a. O. S. 93 Anm. 134.

[2]) Das Amt der Burrichter kann in Soest nicht als Ausfluß der Marktgerichtsbarkeit genommen werden, wie Sohm a. a. O. S. 95 ff. will. Zum Worte Burschaft, das immer wieder im Sinne unseres Wortes Bauerschaft aufgefaßt wird (so neuerdings noch von Sohm S. 73 Anm. 104; vgl. v. Below, Entstehung der deutschen Stadtgemeinde S. 33), sei hier nochmals bemerkt, daß althochdeutsch gibûro nur Mitbewohner, Nachbar, erst später speziell Dorfgenosse bedeutet. Althochdeutsch bûan heißt wohnen und pflanzen, gothisch bauan nur wohnen. Vgl. sanskrit bhû, griechisch φύω, lateinisch fui.

[3]) Nach Sohm a. a. O. S. 21 wäre dies schon völlig im 10. Jahrhundert geschehen.

Die verfassungsgeschichtlichen Folgen dieser Vorgänge sind nicht leicht zu übersehen. Sie konnten an sich ebenso verschiedener Natur sein, wie die heutigen verfassungsmäßigen Folgen der großstädtischen Eingemeindungen. Sie traten auch bei jeder einzelnen Großstadt nicht immer gleichzeitig und gleichartig, sondern in sehr unregelmäßigen Zwischenräumen und unter mannigfachen sachlichen Abweichungen hervor.

Gleichwohl lassen sich einige Züge als vermuthlich typisch kennzeichnen. Die Spezialgemeinden konnten durch den Vorzug völlig freien Verkehrs im Marktgebiete, sowie durch gerichtliche Unterstellung unter das Marktgericht, zunächst für Marktsachen, der Verfassung des Marktbezirkes angegliedert werden.[1]) Eine volle Verschmelzung mußte leicht eintreten, sobald die Sondergemeinden kaufmännischen Charakter erhielten und damit ihre Verfassungsorgane, die Heimburgen oder Burmeister, sich mindestens vorwiegend nicht mehr mit agrarischen sondern mit städtischen Dingen, Buchung der städtischen Grundbesitzbewegung u. dgl. zu beschäftigen hatten. War diese Verschmelzung erreicht, so gab es keine Marktgemeinde mehr neben Sondergemeinden, sondern nur noch eine große Stadtgemeinde über schwachen Resten der einstigen Sonderbildungen.

Es war natürlich, daß diese Gemeinde, nach Analogie der bisherigen ländlichen Gemeinden, die Führung ihrer Geschäfte selbständig in die Hand nahm. Es geschah das anfangs in großen Versammlungen aller Bürger, wie uns deren z. B. aus Magdeburg noch bekannt sind. Allein naturgemäß verbot sich diese Art der Geschäftsführung sehr bald von selbst; haben doch seit dem 13. Jahrhundert nicht einmal größere Dorfgemeinden in ihren den Bürgerversammlungen der Städte analogen Zusammenkünften gemeinsam die markgenössischen Geschäfte bewältigen können, vielmehr statt ihrer einen geschworenen Ausschuß zu handeln beauftragt[2]).

---

[1]) Vgl. Schulte a. a. O. S. 143 für Radolfzell.

[2]) S. Lamprecht, deutsches Wirthschaftsleben 1, 1, 318 ff.

Ganz entsprechend diesen Dorfausschüssen kam es unter günstigen Verhältnissen auch in den Städten während des 12. und 13. Jahrhunderts zur Bildung eines Bürgerausschusses, welcher der großen Versammlung der Bürger die gute Leitung der städtischen Geschäfte zuschwur: es ist der Anfang des Rathes[1]).

Die ursprünglichen Kompetenzen des Rathes sind mit seiner Entstehung gegeben: er hatte der Stadt Wohl zu fördern auf jede Weise. Zusammengesetzt wurde er durch Wahl aus Mitgliedern hervorragender städtischer Geschlechter; bisweilen gelten vielleicht die Burmeister oder Heimburgen der Sondergemeinden als seine geborenen Mitglieder[2]). Beschäftigte er sich bloß mit der Verwaltung rein städtischer Dinge, so war vom Standpunkte des öffentlichen Rechtes nichts gegen ihn zu erinnern; er ging nicht hinaus über die jeder Gemeinschaft des deutschen Rechtes gestattete Selbständigkeit. Versuchte er dagegen, irgendeine wirkliche Gerichtsbarkeit auszuüben, wie ihm das auf dem ganzen Gebiete städtischer Polizei sehr nahe lag, so überschritt er die Grenzen seines Rechtes und ward zu einer revolutionären Behörde; nur die Verleihung öffentlicher Gewalt seitens des Königs oder seitens des Stadtherrn, welchem die königlichen Rechte übertragen waren, vermochte ihn zu legitimieren. Und so war die gesicherte Ausbildung der Stadtverfassung im 12. und 13. Jahrhundert ebenso an königliche oder stadtherrliche Mitwirkung gebunden, wie diese im 10. und 11. Jahrhundert für die Entwickelung der Marktverfassung von Bedeutung gewesen war.

Wie aber fanden sich die Organe der Marktverfassung, wie die noch älteren Organe der Gilde mit dem Rathe, dem repräsentativen Körper der Stadtgemeinde ab?

Eine klare Antwort kann hier nur von der Betrachtung der sozialen Entwickelung des Kaufmannsstandes her ertheilt werden.

---

[1]) Hierhin gehören auch die Conjuratores des ältesten Freiburger Stadtrechts; Gothein a. a. O. S. 194 faßt sie als Gilde. Erste direkte Nennung von consules bekanntlich für Medebach 1165 (aber nach lombardischem Muster), vgl. Seibertz Bd. 1 Nr. 55 § 20. Zur Entwickelung der Räthe der kleineren Städte an Mittelrhein und Mosel s. Lamprecht a. a. O. S. 322 Anm. 1.

[2]) S. Frensdorff a. a. O. S. LVI Anm. 7.

In älterer Zeit galt noch jeder Handeltreibende als Kaufmann; Groß- und Kleinhandel waren sozial noch nicht geschieden. So scheint auch die Platzgilde grundsätzlich immer alle Handeltreibenden eines Ortes umfaßt zu haben. Dieser Lage des 10. und 11. Jahrhunderts gegenüber begann mit dem 12. Jahrhundert, vornehmlich seit der zweiten Hälfte dieses Jahrhunderts, immer deutlicher die Trennung von Groß- und Kleinhandel; die Interessen der Großkaufleute waren nicht mehr die der Detailliſten; es kam zu Auseinandersetzungen in den Gilden; meist traten die Kleinhändler freiwillig oder gezwungen aus ihnen aus; die Gilden wurden gern Genossenschaften der großen Kaufleute, Richerzechen. Als solche konnten sie nicht den Anspruch erheben, von der Stadtgemeinde als Gesammtvertretung der städtischen Interessen angesehen zu werden; sie machten den Räthen keinen gefährlichen Wettbewerb; nur in seltenen Fällen sind sie wohl aus besonderen Gründen lokaler Art einmal zur Stadtvertretung geworden und haben einen Rath nicht aufkommen lassen oder verdrängt.

Die Marktverfassung hatte ihre Spitze in dem marktherrlichen Richter gefunden. Sammelte der Richter innerhalb des Marktes kein ständiges Kollegium von kaufmännischen Schöffen um sich, wie z. B. in den meisten süddeutschen Städten nichtfränkischen Rechtes, so war der Rath das einzige repräsentative Organ der Stadtgemeinde; er hatte keine alte Konkurrenz zu bestehen.

Anders in den Städten, deren Marktgericht eine Schöffenbank entwickelte. Hier bildete sich in andauernder Selbstergänzung des Schöffenkollegiums eine Anzahl schöffenbankberechtigter Geschlechter des Großkaufmannsstandes aus; es entstand ein erstes, dem öffentlichen Rechte bekanntes, kommerzielles Patriziat. Ihm gehörten mindestens theilweise auch diejenigen Geschlechter an, welche die städtische Bürgergemeinde als für den Rath geeignet ansehen mußte: eine Konkurrenz zwischen Rath und Schöffenkollegium war nicht zu vermeiden. Sie mußte sich noch stärker aussprechen an Orten, wo gelegentlich der Erweiterung des Marktes zur Stadt das Marktgericht mit dem städtischen Hochgericht verschmolzen sein muß, so aller Wahrscheinlichkeit

nach in Köln. Hier wären zu den kaufmännischen Schöffen des Marktgerichtes die ursprünglich wenigstens theilweise bäuerlichen Schöffen des Hochgerichtes getreten; nur langsam hätten sie sich, durch fortwährende Stadterweiterungen ihrem bäuerlichen Berufe entzogen, einem neuen Leben als Rentner oder Kaufmann zugewendet; weit verstreut hätten sie über das Stadtgebiet gesessen[1]): alles Gründe, um der Stadtgemeinde, welche nicht, wie die Marktgemeinde, ausschließlich kommerzielle Ziele kannte, ihre Betrauung mit den Stadtgeschäften überhaupt zu empfehlen.

In der That haben derartige oder in verwandter Weise zusammengesetzte Schöffenkollegien in vielen Städten längere Zeit, bevor sich ein reiner Rath entwickelte, die Geschäfte geführt; sie hatten den Vortheil, durch den Richter angewältigt, also, wenn auch zunächst nur für den Bereich ihres Amtes, im Besitz öffentlicher Gewalt zu sein; man kann für manche Gegenden von einer Periode der Schöffensenate sprechen, welche ein oder zwei Menschenalter vor der reinen Entwickelung des Rathes andauert[2]).

Schließlich wurde aber fast überall über und neben dem Schöffenkolleg ein Rath entwickelt: sei es, daß eine innere Spaltung des Schöffensenates in Schöffenkolleg und Rath eintrat, wie sie die Zwistigkeiten schöffenbankfähiger Geschlechter leicht veranlassen konnten; sei es, daß einzelne neu emporgekommene Familien im Rathe eine Befriedigung ihres Ehrgeizes suchten, welche die schöffenbaren Geschlechter ihnen im Gerichte verweigerten; sei es, daß die Stadtgemeinde im Rath ein Gegengewicht zu begründen suchte gegen die Übermacht des Schöffensenates, sei es aus anderen Gründen.

Das 13. Jahrhundert wird somit zum Zeitalter der Rathsverfassung in den deutschen Städten; überall wird eine spezifisch städtische Vertretung aus den großen Kaufmannsgeschlechtern entwickelt; die Gilde ist antiquiert, die Marktverfassung in ihrer ursprünglichen Form vergessen. Der Rath dagegen entfaltet jetzt

[1]) Man vergleiche hiezu die Erwägungen von Höniger, Westd. Zeitschr. 2, 242; Liesegang, Zeitschr. d. Savigny-Ges. 11, 37.

[2]) Zur Datirung für die Hauptstädte des Oberrheins s. Koehne a. a. O. S. 247. 253. 298.

seine Personalverfassung, Bürgermeister treten als Vollzugsorgane an seine Spitze; er dehnt seine Zuständigkeiten aus; er entwickelt zum ersten Mal innerhalb der deutschen Rechtsabwandlung sein Gremium zu einem Gerichte aristokratischer Form[1]); er strebt schließlich nach voller Freiheit und Selbständigkeit der Stadt.

Auf diesem Boden aber findet er fast überall den energischen Widerstand der Stadtherren.

VI. Die Entwickelung der meisten Märkte zu Städten hatte sich bereits nicht mehr unter der unmittelbaren Obhut des Königs, des formellen Begründers des Marktes und somit der städtischen Freiheit, vollzogen. Zwar galten zur Zeit der sächsischen Könige alle Märkte noch als königliche Märkte; ihre Autorisation durch königliche Gewalt war noch nicht vergessen. Im übrigen aber waren sie infolge königlicher Übertragung zumeist schon in den Händen einzelner Großen, die Märkte an Mittelpunkten kirchlichen Lebens vornehmlich in den Händen der Äbte und Bischöfe.

Die Gründe dieser Übertragung waren anfangs rein finanzieller Natur. Mit dem Markt waren Einnahmen aus Zoll und Verkehrssteuer, aus Münze und Marktstand verbunden: ihr Genuß sollte dem beschenkten Großen zu gute kommen. Dementsprechend wurden zuerst auch nur die Einnahmen aus diesen Einrichtungen verliehen, während der Markt königlich blieb; das war die Praxis der Karlinger, welche sich bis zur Mitte des 10. Jahrhunderts erhielt.

Otto der Große begann dann den Markt selbst und mit ihm die Marktgerichtsbarkeit zu verschenken[2]). Vor allem die Bisthümer erfreuten sich solcher außerordentlicher Gnadenbeweise, schon früh wohl Mainz und Köln, dann Magdeburg, Bremen, Speier; gegen Ende der Herrscherzeit Otto's II. mögen schon die meisten Bischöfe Marktherren ihrer Residenz gewesen sein; unter Otto III. erfolgten neue Schenkungen, namentlich auch an Klöster und vornehmlich bereits zur Neugründung von Märkten;

[1]) Sohm a. a. O. S. 100 f.

[2]) Über den Zusammenhang dieser Entwickelung mit der Fortbildung der Immunität s. Rathgen a. a. O. S. 21 f.; Sohm a. a. O. S. 54 f.

vereinzelt dauern verwandte Schenkungen bis in's dritte Jahrzehnt der Regierung Heinrich's IV. und darüber hinaus fort. Dabei kommen von den uns bekannten Verleihungen der ganzen Periode neun Zehntel auf Geistliche, kaum ein Zehntel auf Laiengroße[1]: es war eine Maßregel zur Stärkung des geistlichen Einflusses im Reiche; vornehmlich anfangs ordnete sie sich völlig der bekannten inneren Politik Otto's I. ein, wie sie seit etwa Mitte des 10. Jahrhunderts die Begründung einer Reichsverwaltung auf bischöflichen Schultern zum Ziele hatte.

Indem die Marktherrschaft an die künftigen Reichsfürsten, vornehmlich die Bischöfe überging, wurde allerdings der königliche Einfluß auf die Verfassung der verschenkten Märkte nicht völlig aufgehoben. Die Könige sahen die Stadtherren doch immer nur als ihre Stellvertreter an; mit dem Gericht, dem Kernpunkt der ganzen Marktfreiheit, erhielten sie eine unmittelbare, wenn auch nur formelle Verbindung aufrecht, indem sie auf das Recht der Bannleihe für den Richter niemals verzichteten; auch sonst griffen sie, namentlich bei persönlicher Anwesenheit, in die Entwickelung des Marktes ein.

Indes verlief trotz alledem bei der allgemeinen Schwäche der königlichen Exekutive die Entwickelung der Märkte im ganzen unter der Obhut und dem Einfluß der Marktherren: demgemäß erhielt sie überall einen lokalen, in Ausdrucksform und thatsächlicher Einzelheit wechselnden Charakter. Ja noch mehr: auch da, wo keine königliche Marktverleihung vorlag, eigneten sich die Grundherren entstehender Marktbezirke gern und zumeist erfolgreich die Marktherrlichkeit an[2]; die Zahl der rein königlichen Märkte blieb beschränkt.

In den bedeutenden Märkten aber erwuchs die Marktherrlichkeit der Großen mit der allmählichen Entwickelung der Märkte zu Städten zur Stadtherrlichkeit um so mehr, je mehr sich die Marktherren schon vorher in den Besitz des für den

---

[1]) Rathgen a. a. O. S. 57.

[2]) Otto III. geht einmal gegen dieses Freibeuterthum vor, Rathgen a. a. O. S. 53; wie die spätere Lage zeigt, mit wenig Erfolg.

Handelsplatz zuständigen Hochgerichte zu setzen gewußt hatten: um die Mitte des 12. Jahrhunderts vereinigen die Stadtherren in sich zumeist alle oberste Gewalt in der Stadt für Gericht und Polizei, für Zoll und Münze.

Und längst schon hatten sie sich auch sozial zur maßgebenden Macht in der Stadt emporgeschwungen. Im 10. Jahrhundert spielen die harten Kämpfe, in welchen es vornehmlich den Bischöfen gelingt, den einflußreichen Laienadel der Umgegend aus den Handelsplätzen zu verdrängen: Bischof Einhard von Speier wurde in solchen Zwisten von den Grafen Wernher und Konrad geblendet. Nach der Überwindung des großen Laienadels sahen sich die Marktherren nur noch den Freien sowie der Menge der mehr oder minder grundhörigen Bevölkerung gegenüber. Von ihnen blieben die Grundholden fast außer Rechnung, da sie entweder Klöstern und Stiftern, also untergeordneten geistlichen Körperschaften angehörten oder Grundholde des Bischofs, des Marktherrn selbst waren. Gegenüber Freien wie zuziehenden Elementen von außen her aber galt die neue, marktherrliche Gewalt.

Sie wurde in einer besondern, zumeist sehr besonnen geführten [1]) Verwaltung ausgeprägt. Diese war naturgemäß, wie jede höhere grundherrliche Verwaltung, eine Ministerialverwaltung; nur der Richter, der ein Freier sein mußte, wurde zumeist dem Adel der Umgegend, vereinzelt wohl gar den Freien des Marktortes nach Wahl der Gemeinde entnommen [2]). Im übrigen aber versahen bischöfliche Dienstmannen, wie sie den Frohnhöfen des Bischofs in Stadt und Land in Dienstes Weise vorstanden, so auch in Dienstes Weise die Ämter der Münzer und Zöllner, der Marktaufseher und unteren Polizeirichter.

Es war eine Entwickelung, welche das Schicksal der Marktherrlichkeit in weitaus den meisten Fällen, so namentlich in den Bischofsstädten des Oberrheins, mit der sozialen Evolution der Dienstmannschaft unauflöslich verknüpfte. Wurden die Dienstmannen, einst Unfreie der Grund- und Marktherren, im Laufe

[1]) Über Erzbischof Adalbert I. von Mainz s. in dieser Hinsicht Koehne a. a. O. S. 236.

[2]) So in Speier; vgl. Hilgard, Speierer Urkundenbuch Nr. 183.

der früheren Stauferzeit deren niedere Vasallen, besaßen sie seitdem ihre Ämter nicht mehr in Dienstes Weise, sondern zu Lehen, so war vorauszusehen, daß sehr bald deren Erblichkeit eintreten würde. Zum letzten Male machte sich bei dem aus naturalwirthschaftlicher Zeit herkommenden Stande der Dienstmannen auch der naturalwirthschaftliche Zug einer Vererblichung jeder amtlichen Funktion geltend: seit dem 13. Jahrhundert sind die Ministerialen wie auf dem platten Lande, so in der Stadt nicht mehr Beamte ihres Herrn, sondern Herren ihres Amtes zu eignem Recht.

Diese für sie unglückliche Entwickelung haben die Marktherren im wesentlichen nur in kleinen Orten, vornehmlich auch in den vielen Städten vermieden, welche seit dem 12. Jahrhundert neu begründet worden sind: Herzog Berthold von Zähringen sah schon um 1120 völlig klar, wenn er in den stadtrechtlichen Bestimmungen für seine neue Gründung Freiburg i. Br. jeden Zuzug von Dienstmannen in die Stadt zu verhindern suchte.

In alten Städten aber, wie Worms und Straßburg, wurden reiche Dienstmannengeschlechter erblich in ihrem Amte; sie verquickten sich mit dem Großkaufmannstand zur Bildung eines einzigen städtischen Patriziates, und geschäftsgewohnt und zum Regieren erzogen, begannen sie im Verein mit den alten Kaufmannsfamilien den Kampf gegen die alte Herrschaft der Bischöfe.

VII. Wir verfolgen die Emanzipationskämpfe des gemischten Patriziates vornehmlich der oberrheinischen Bischofsstädte hier ebenso wenig, wie früher die Befreiungskämpfe des rein kaufmännischen Patriziates anderer Städte. Die Geschicke Straßburgs auf der einen, Kölns auf der andern Seite während der zweiten Hälfte des 13. Jahrhunderts würden hier typische Bilder geben, zugleich aber schon hinüberweisen in die Zeiten völliger Ausbildung städtischer Republiken; sie würden in den Entwickelungscharakter des späteren Mittelalters einführen.

Es darf aber nicht verkannt werden, daß die Städte schon in den blühenden Epochen der deutschen Kaiserzeit sich geschickt gemacht haben, diese Kämpfe glücklich zu bestehen.

Weit über den engen Kreis rein städtischer Wirksamkeit hinaus war schon der bürgerliche Einfluß gedrungen; nicht bloß hatte er auf rechtlichem Gebiete die alten Grenzen zwischen niederer und hoher Gerichtsbarkeit verschoben, hatte freiere Formen der Rechtsprechung überhaupt geschaffen, ein öffentliches Strafrecht ausbilden helfen, das Recht an Erbe und Eigen verändert: er war schon politisch wirksam geworden. Kapitalreichthum und Gemeingefühl, neue Wehrhaftigkeit und alte Manneskraft sicherten dem jungen Stande der Bürger bald einen Sitz im Rate der fürstlichen Stadtherren neben Klerus und Adel, hießen ihn früh hinübergreifen auf das Gebiet der inneren Reichspolitik [1]).

Schon am Schluß der eigentlichen Begründungszeit des römischen Reiches deutscher Nation, unter Kaiser Heinrich III., wird die militärisch-politische Kraft der Städte von einem berufenen Kenner erstaunlich hoch geschätzt. Als im Jahre 1047 König Heinrich I. von Frankreich zu einem Einfall in's Rheinland rüstete, während Heinrich III. fern in Italien weilte, die Kaiserkrone zu empfangen, bemerkte Bischof Wazo von Lüttich: der Frankenkönig möge nur kommen, die Bürger von Mainz, Köln, Lüttich und vieler anderer Städte würden ihm zu begegnen wissen.

Es ist ein für die spätere Reichspolitik der Städte fast programmatischer Fall und Ausspruch; Ruhe und Friede, Schutz von Kaiser und Reich: unter diesem Wahlspruch kämpfen die Bürger bis zum Schluß der staufischen Periode.

Es ist natürlich, daß damit die furchtbare Zeit inneren Kampfes unter Heinrich IV. die Städte zum ersten Mal auf den Plan rief, zu gunsten der Reichsgewalt.

Worms nimmt König Heinrich während der demütigenden Tage von Tribur im Jahre 1073 auf; der König lohnt es den Bürgern durch Befreiung von den königlichen Zöllen zu Frankfurt, Boppard und Hammerstein a. Rh., zu Dortmund, Goslar und Engern. Das Privileg schlägt den Ton des Manifestes

[1]) Zum Folgenden vgl. vor allem Koehne a. a. O. S. 203 ff.

an: Die Wormser sollen die ersten sein im Empfang königlicher Belohnung, wie sie die ersten waren in Leitung bürgerlichen Dienstes.

Es bedurfte keiner königlichen Mahnungen mehr; 1074 erhebt sich Köln gegen Anno, den Erzbischof der Kaiserswerther Entführung, 1077 steht Mainz gegen Rudolf auf, den soeben gekrönten Gegenkönig. Es waren nicht langer Hand geplante Verschwörungen; in beiden Fällen entfesselte ein Zufall den Aufruhr; nur geringfügiger Anlässe bedurfte es, um der Erbitterung des Kaufmanns über die ruhelosen Zeiten, dem Machtgefühl des Bürgers Bahn zu brechen.

Als Kaiser Heinrich im Jahre 1077 von Italien heimkehrte, da wurde Worms der Stützpunkt seiner Thätigkeit; von hier aus verhandelte er, hier sammelte er ein vorzugsweise städtisches Heer; das Bürgerthum trat nicht nebenher, wie bisher, sondern entscheidend mit in den Dienst des rechtmäßigen Herrschers. Neben den Städten des Mittelrheins, wo es Heinrich durchweg gelang, ihm ergebene Männer auf die Bischofsstühle zu setzen, zeichneten sich Regensburg, Augsburg, Würzburg, Goslar im königlichen Dienste aus; Köln blieb dem gramgebeugten Kaiser treu bis über den Tod. Heinrich aber lohnte den Städten durch die Gottesfriedenspolitik der letzten Jahrzehnte seiner Regierung.

Das 12. Jahrhundert eröffnet mit der von niemand mehr geleugneten Thatsache, daß das Bürgerthum ein wesentliches soziales und politisches Element der Nation geworden; ab und zu scheinen die Städte schon in dunkel geahntem Gegensatz gegen das gesammte Fürstenthum die Centralgewalt zu stützen; deutlich sichern sie ihren spezifischen Handelsinteressen Berücksichtigung in der Reichspolitik. Dabei ist ihre Haltung in hohem Grade selbstbewußt; eine städtische Urkunde des Jahres 1178 [1]) redet von den ausgezeichneten (egregii) Bürgern von Köln und Verdun.

Im einzelnen war ihre politische Haltung zumeist vom Glück begünstigt. Heinrich V. hat in wesentlichen Wendungen seine Staats-

[1]) Ennen, Quellen Bd. 1 Nr. 90.

kunst dem bürgerlichen Einflusse nicht entziehen können; die im ganzen feindliche Haltung gegen Lothar kam den Städten unter dem staufischen Herrschergeschlecht zu gute. Nun galten sie als altstaufisch gesinnt; mit vollem Rechte: wird doch Speier unter König Lothar einmal geradezu als Hauptstadt der geächteten Staufer bezeichnet[1]).

Eine noch höhere Stufe politischer Selbständigkeit erreichte das Bürgerthum gegen Schluß des 12. Jahrhunderts. Es war eine Entwickelung, welche sich schon nicht mehr völlig in den Bahnen unerläßlicher politischer Unterordnung unter den Reichsgedanken bewegte. Führerin auf diesem Wege war Köln. Der britisch-flandrische Handel gab der Stadt enge Beziehungen zum königlichen Hofe Englands; sie ward zur Vertreterin einer specifisch englisch-deutschen Politik, deren Forderungen wiederholt, schon gegen Ende der Regierung Friedrich's I., dann während des unglückseligen Streites zwischen den Königen Philipp und Otto, endlich in den zwanziger Jahren des 13. Jahrhunderts unter Friedrich II. störend in die Zirkel der äußeren Politik des Reiches eingriffen.

Inzwischen aber war auch im Innern die Macht des Bürgerthums den Fürsten schier unerträglich gestiegen. Schon suchten die Städte, das platte Land ihrem Einfluß zu unterwerfen; es war hohe Zeit, daß die Fürsten von ihrem Standpunkte aus dem entgegentraten. Dazu gewannen sie die Hülfe Kaiser Friedrich's II. und seines königlichen Sohnes. Die Reichsgesetzgebung der zwanziger und dreißiger Jahre des 13. Jahrhunderts verbot Bünde der Städte untereinander, untersagte die Entwickelung der Ratsverfassung wie überhaupt der städtischen Autonomie, versuchte, die finanzielle Ausnutzung des platten Landes seitens der Städte durch gesetzliche Aufhebung aller bäuerlichen Renten im Besitze der Bürger zu verhindern, wehrte der Einbeziehung der ländlichen Bevölkerung in der Umgebung der Stadt in die städtischen Interessen und suchte jeden Zuzug der ländlichen Bevölkerung in die Städte thunlichst, sogar durch stärkste Beschränkung der Freizügigkeit auf dem platten Lande selbst, zu vereiteln.

---

[1]) Kaiserchronik, herausg. von Maßmann, 2, 523, V. 17073 ff.

Die Folge war ein überall erneuter Kampf zwischen Städten und Stadtherren; dazu der Versuch städtischer Bündnisse trotz des Reiches. In beiden Richtungen siegte schließlich das Bürgerthum; es siegte bei dem jähen Verfall des Reiches doppelt rasch namentlich in der letzten Hinsicht. Um die Mitte des 13. Jahrhunderts entstand der Rheinische Bund; in ihm rissen die Städte auf kurze Zeit thatsächlich fast alle Reichsgewalt an sich; und es wird ein dauernder Ruhmestitel des deutschen Bürgerthums bleiben, daß es diese erste Fülle umfassender Gewalt in seinen Händen gebrauchte, um Ruhe zu schaffen, um den Mainzer Landfrieden des Jahres 1235, die wichtigste gesetzgeberische Leistung der letzten Stauferzeit, den späteren Jahrhunderten des Mittelalters zu vermitteln. —

Noch in den Sachsensagen Widukinds höhnt ein Held seinen Gegner: wie ein armseliges Thier in Bergesschlüften verberge er sich hinter den Mauerschranken seiner Stadt; nicht wage er, den freien Blick zum Himmel zu erheben. Jetzt, nur drei Jahrhunderte später, wohnt schon ein guter Theil der deutschen Bevölkerung hinter den einst verspotteten Mauern; selbstbewußt und trotzig blickt der Bürger von seinen Zinnen herab auf den zurückgebliebenen Bauer, den Helden einer vergangenen Zeit. Es ist ein jäher Wechsel; er bedeutet den Beginn rascherer Fortschritte, dessen neues Zeitmaß den Zeitgenossen des 13. Jahrhunderts ebenso unheimlich erschienen sein mag, wie uns Enkeln des 19. Jahrhunderts das immer schnellere Hasten der wirtschaftlichen und gesellschaftlichen Bewegung unserer Tage.

# Die Memoiren des Generals Cordoba.

Von

**Konrad Häbler.**

Wem die drei Bände der Erinnerungen des Generals Cordoba[1]) zum ersten Male in die Hände fallen, der wird kaum glauben, daß er es hier mit einer Quelle ersten Ranges für die neueste Geschichte Spaniens zu thun hat. Ein ungewöhnlich großes Format, ein luxuriöser Druck und eine verschwenderische Fülle von Holzschnitten, welche bald Allegorien, bald Schlachtbilder und Straßenszenen, besonders aber eine reiche Sammlung zeitgenössischer Porträts darstellen, erwecken den Anschein, als wollte diese Veröffentlichung weit eher von weiteren Kreisen zum Zeitvertreib gelesen werden, als der Gegenstand der ernsten Studien des Geschichtsforschers sein. Und dennoch ist in den letzten zwanzig Jahren wohl nicht ein einziges Buch erschienen, das in gleicher oder nur annähernder Weise geeignet wäre, für die einstmalige endgültige Darstellung der spanischen Geschichte in einer wichtigen Übergangszeit reiches Material zu liefern.

Die Familie der Fernandez de Cordoba ist mit der neueren Geschichte ihres Vaterlandes vielfach eng verwachsen. Ein Cordoba, der Großvater des Memoirenschreibers, befehligte die spanische

---

[1]) Mis memorias intimas por el teniente general Don Fernando Fernandez de Cordoba, marques de Mendigorria. I.—III. Madrid, suc. de Rivadeneyra. 1886—1889.

Flotte in der Schlacht am Cabo S. Vicente, ein Bruder des Verfassers war es, der durch seine Vertheidigung der Cortadura gegen Quiroga die Pläne Riego's und seiner Genossen vereitelte. Derselbe, Luis Fernandez de Cordoba, war die Seele des Aufstandes der Garde am 7. Juli 1822, war später der Oberbefehlshaber des Nordheers gegen Don Carlos, der Sieger von Mendigorria. Der Verfasser selbst, nachdem er lange Zeit die höchsten militärischen Würden bekleidet, kommandirte 1849 die spanische Expedition nach dem Kirchenstaate und legte zum letzten Male das Kriegsministerium, das er wiederholt innegehabt hatte, 1873 nieder bei der Ausrufung der föderativen Republik. Daß er dann seinen Lebensabend dazu benutzt hat, aus seinem vorzüglichen Gedächtnisse und auf Grund umfänglicher Korrespondenzen den Theil der Geschichte seines Vaterlandes darzustellen, in dem sein Bruder und er selbst eine so große Rolle gespielt haben, ist gewiß nicht das geringste unter seinen vielen Verdiensten. Er tritt aber keineswegs als Geschichtschreiber auf, er schildert nur das, was er selbst mit erlebte mit der größten Anspruchslosigkeit und einer außerordentlichen Liebenswürdigkeit. Seine lange politische Laufbahn hat ihn in manchen Kampf verwickelt, seine glänzende Karriere ihm manchen Feind bereitet, in seinen Erinnerungen aber bemüht er sich nicht nur, gegen alle gerecht zu sein, sondern vor allem die wirklichen Verdienste eines Jeden, auch seiner Feinde, zur Anerkennung zu bringen. Dabei ist er voll der äußersten Rücksichten. An manchem kritischen Punkte der Geschichte deutet er an, daß er seine Erinnerungen zu sensationellen Enthüllungen gestalten könnte, wenn er alles das verrathen wollte, was ihm in amtlicher oder gesellschaftlicher Stellung bekannt geworden ist, aber nie läßt er sich verleiten, in die chronique scandaleuse herabzusteigen. Ebenso rücksichtsvoll ist er, wo es gilt, das Ansehen noch lebender Staatsmänner oder die Behandlung noch ungelöster politischer Probleme zu schonen, ja, er geht so weit, die Veröffentlichung des letzten Theiles seiner Erinnerungen, welcher seinen Antheil an der revolutionären Epoche seit 1868 enthält, einer späteren Zukunft vorzubehalten, weil er fürchtet, damit zu erneuten Streitigkeiten.

Veranlassung zu geben. Aber trotz des Vielen, das er verschweigt, trotz der vielen Rücksichten, die er nimmt, bereichert er unsere Kenntnis von den politischen Vorgängen um ein ganz Bedeutendes.

Ehe ich zu dem Inhalt der Memoiren selbst übergehe, muß ich noch ein Wort über den politischen Standpunkt ihres Verfassers sagen. Mehr als bei irgend einem andern Volke ist bei den Spaniern die politische Seite der Geschichtschreibung in Betracht zu ziehen, da ihre Historiker fast ausnahmslos in der politischen Karriere die Veranlassung zu ihren geschichtlichen Produktionen gefunden haben. So Galiano, Lafuente, Pirala u. s. w. Die Einwirkung des politischen Glaubensbekenntnisses müßte eigentlich bei einem Memoirenwerk eine weit entschuldbarere sein, als bei einem Werke der Wissenschaft, desto mehr aber müssen wir uns beglückwünschen, daß der politische Standpunkt des Verfassers ein so eigenartiger war, daß er im Verein mit seiner oben erwähnten Liebenswürdigkeit uns eine ungewöhnliche Gewähr der Unparteilichkeit bietet. Der Verfasser verhehlt uns nicht, daß beim Tode Ferdinand's VII. seine persönlichen Neigungen ihn in das Lager des Don Carlos geführt haben würden. Was ihn davon abhielt und überhaupt für sein ganzes Leben bestimmend auf ihn einwirkte, war die grenzenlose Verehrung, mit der er zu seinem an Jahren nur wenig älteren Bruder Luis emporsah. Trotz der Vertheidigung der Cortadura, trotz des 7. Juli war Luis durchaus kein Gesinnungsgenosse der Servilen. An Ferdinand VII. fesselte ihn das Gefühl der Pflicht, fesselten ihn die Eide, die er im Gegensatz zu vielen seiner Standesgenossen auch auf dem Gebiete der Politik für heilig hielt. Über seine wahren Gesinnungen unterrichtet uns aber eine bisher unbekannte Episode gerade jenes Aufstandes vom 7. Juli 1822, dessen Anstifter zu sein Luis sich rühmt [1]). Während die Garden im Pardo den militärischen und politischen Angriffen ihrer Gegner standhielten, war Cordoba in das Schloß eingedrungen, um mit dem Könige über die weiteren Schritte

[1]) 1, 42 ff.

zu berathen. Das Programm, welches unter dem Namen Vinuesa's eine traurige Berühmtheit erlangt hatte, scheint, wenn wir eine Andeutung der Memoiren recht verstehen, dem Cordoba nicht ganz fremd gewesen zu sein. Allein für seine Durchführung stellte er dem Könige die eine Bedingung, daß er eine Konstitution erlassen und in derselben der Nation einen irgendwie gearteten Antheil an der Regierung einräumen solle. Für uns kann Ferdinand's Weigerung, seine Freiheit dieser Bedingung zu verdanken, nichts Befremdliches haben, sie war aber entscheidend für den Mißerfolg des Aufstandes. Ferdinand VII. hat trotzdem seinem jugendlichen Vertheidiger ein dauerndes Wohlwollen bewahrt, obgleich Luis aus seiner konstitutionellen Gesinnung auch in Zukunft kein Geheimnis, wohl aber dem Regimente eines Calomarde eine sachlich und persönlich heftige Opposition machte. Trennte ihn schon dies von Don Carlos, so erweiterte sich die Kluft, als Ferdinand in seinen letzten Tagen seiner letzten Gemahlin und ihren Kindern Cordoba als eine zuverlässige Stütze empfahl. So fesselte ihn wiederum, unabhängig von seinen Gesinnungen, die heilige Verbindlichkeit der Pflicht an eine Sache, der er bis an seinen Tod unerschütterlich getreu geblieben ist. Von seinem Bruder aber entnahm der Verfasser der Memoiren dieselbe Pflicht und brachte ihr das größere Opfer der politischen Gesinnung und der persönlichen Freundschaft, die beide ihn in das gegnerische Lager gezogen haben würden. Für sein Ideal von 1822, eine starke, aber streng verfassungsmäßige Monarchie hat Luis bis zu Ende gekämpft; die Liebe zu seinem Bruder, der Antheil, den er selbst an diesem Kampfe nahm, hat auch den jüngeren Cordoba für diese Fahne gewonnen, und wir werden weiterhin ihn oft für die Sache, die er voll und ganz zu der seinigen gemacht hatte, kämpfen sehen. Lange fühlte er sich in diesem Kampfe einig mit der Partei der Moderados, und in ihr hat er während dieser Zeit eine nicht unbedeutende Rolle gespielt. Als aber die Diktatorengelüste des alternden Narvaez die Moderado-Partei mehr und mehr zu einer reaktionären Politik drängten, da scheute er, obwohl er über das Alter der freiheitschwärmenden Jahre hinaus war, den Schritt nicht,

sich von seinen politischen Freunden politisch — persönlich bewahrte er ihnen unerschütterlich die alten Gesinnungen — loszusagen. Er hoffte die Verwirklichung der konstitutionellen Monarchie eine Zeit lang von der liberalen Union, er hat sie in den Revolutionsjahren auch noch mit vorgeschritteneren Elementen zu verwirklichen gesucht, aber er endete kurz und energisch seine politische Laufbahn, als er sah, daß die föderative Republik die Verneinung jeglicher festen Staatsgewalt zum Gesetz erhob.

Der Autor beginnt seine Erinnerungen natürlich mit einer kurzen Skizze seiner Familiengeschichte, ohne doch seinen Stammbaum weit zurück zu verfolgen. Er schildert dann, wie er seine Jugend in der Schule, im Kadettencorps und schließlich bei der Fahne verlebt hat. Von einer politischen Bedeutung dieses Theiles kann natürlich nicht die Rede sein. Ich möchte aber hier gleich einige Bemerkungen über eine ganze Reihe von mehr und minder lose eingefügten Kapiteln der Memoiren anbringen, die einen unpolitischen Charakter tragen. Der Verfasser hat offenbar immer viel und gern in der hohen spanischen Gesellschaft gelebt, er hat ihrer kulturellen Seite eine lebhafte Aufmerksamkeit geschenkt und ist den literarischen und künstlerischen Bestrebungen mehrerer Generationen nicht fremd geblieben. Alles dies hat er ebenfalls in seinen Erinnerungen niedergelegt, ohne ihm jedoch einen breiteren Platz darin einzuräumen.

Aus der Zeit bis zum Tode Ferdinand's VII. sind es nur Episoden, welche den Erinnerungen ein mehr als persönliches Interesse geben. Von den Enthüllungen zur Geschichte des 7. Juli war oben die Rede. In Verbindung damit ist ein Vorgang, der kurz zuvor gespielt hat, bezeichnend für die Charakteristik Ferdinand's. Nach Vinuesa's Ermordung, für dessen vollständige Unschuld der Verfasser sich verbürgen zu können meint, rief der König eines Tages das wachthabende Bataillon der Garde unter die Waffen, hielt eine Ansprache, in der er jene Mordthat schroff verurtheilte, und versicherte sich, fast von jedem Offizier persönlich, ihrer Treue. Man glaubte allgemein, es sei das Zeichen, daß er gegen die Exaltados einschreiten wolle; er aber begnügte sich, das Bataillon kompromittirt zu haben, und

blieb nach wie vor unthätig. Auf diese Weise nährte Ferdinand selbst den Geist, der Ereignisse wie die des 7. Juli zeitigen mußte. Cordoba hat längere Zeit in intimem Verkehr mit dem Grafen de España gestanden, als dieser General-Gouverneur von Katalonien war, d. h. also zu einer Zeit, die den liberalen Historikern als beliebter Tummelplatz ihrer Deklamationen gegen den „Bluthund" dient. Er sucht ihn keineswegs auf eine einseitige Weise reinzuwaschen, aber er gibt uns ein Charakterbild dieses Mannes, das denn doch sehr erheblich menschlicher und bis zu einem gewissen Grade achtunggebietender ausfällt, als das, was wir bisher von ihm kannten.

Die geschichtliche Bedeutung der Memoiren beginnt mit der Thronbesteigung Isabella's oder eigentlich mit dem ersten Auftreten des Generals Luis Fernandez de Cordoba bei dem Nordheere unter dem Oberbefehle Mina's. Fast der ganze erste Band und ein guter Theil des zweiten sind der Geschichte des Generals gewidmet, während der Verfasser selbst völlig hinter seinem Bruder verschwindet. Die Rechtfertigung seiner Handlungen, die der General in seiner Memoria justificativa begonnen, wird hier des weiteren ausgeführt und bis zu dem für Spanien viel zu früh erfolgten Tode dieser hervorragenden Persönlichkeit fortgesetzt. Was hier der Geschichtsforschung Neues geboten wird, ist ganz bedeutend und verdient, eingehender behandelt zu werden. Obwohl in den Erinnerungen die Ereignisse nur lose gruppirt und wesentlich der Zeitfolge nach geschildert werden, so lassen sie sich doch unschwer einem höheren Gesichtspunkte anpassen.

Da beide Brüder geschulte Militärs und bei den Operationen gegen Don Carlos wiederholt im Heere thätig waren, so ist es nicht zu verwundern, daß die strategische Seite jenes scheinbar aller Kriegswissenschaft spottenden Kampfes mehrfach berührt wird. Besondere Veranlassung fand der Verfasser wohl darin, daß Pirala[1]) in seinen Darstellungen etwas einseitig dem General

[1]) Historia de la guerra civil y de los partidos liberal y carlista. 2. ed. [Madrid 1868 ff.] 1, 406 ff.

Oraa gefolgt ist, der sich in einem beständigen Antagonismus mit Cordoba bewegte. Und Pirala's Darstellung ist bis jetzt für die nachfolgende Geschichtschreibung maßgebend gewesen. Diesem Umstande verdanken wir die ganz eingehenden, von Croquis ꝛc. begleiteten Schilderungen der Kämpfe von Mendaza (12. Dez. 1834) und Arquijas (15. Dez.), des Zuges, den Valdes in die Amescoas unternahm (19.—23. April 1835), der Schlacht von Mendigorria (16. Juli) und des letzten militärischen Spazierganges Cordoba's nach Arlaban (13. Jan. 1836). Um ihren Werth für die Geschichte des ersten Carlistenkrieges klar zu machen, müßte ich sehr in Details herabsteigen, was hier kaum am Platze sein dürfte. Dagegen kann ich einige allgemeinere Gesichtspunkte nicht übergehen, die sich daraus ergeben. Daß der Carlismus sein Dasein wesentlich aus politischen Gründen so lange fristete, ist bekannt. Daß diese politischen Gründe aber bis in die Einzelheiten strategischer Maßregeln nachwirkten, das lernen wir hier. Cordoba war bei Mendaza unbedingt, bei Arquijas wenigstens moralisch der Sieger; trotzdem verschwindet er danach aus dem Felde und geht nach Madrid. Der Verfasser sagt es uns nicht, wer aber das Material zur Geschichte dieses Feldzuges mit Hülfe des Neugebotenen sichtet, dem kann kein Zweifel darüber bleiben, daß der politische Gegensatz zwischen dem Oberbefehlshaber Mina und dem siegreichen Untergeneral dessen Entfernung herbeiführte.

Drei wichtige Ereignisse der politischen Geschichte fallen in die Zeit der wiederholten Kommandos Cordoba's bei dem Nordheere, der Vertrag Elliot, die Interventionsfrage und das Ministerium Mendizabal; für alle drei bringen die Erinnerungen Enthüllungen von der größten Tragweite.

Der Vertrag Elliot rief bekanntlich im Kongreß zu Madrid einen furchtbaren Sturm gegen das Ministerium herauf, weil man dahinter mehr vermuthete, als ein Interesse an der Vermenschlichung der Kriegführung. Martinez de la Rosa hat in zwei großen Parlamentsreden diesen Sturm mit den bündigsten Erklärungen beschwichtigt, daß eine politische Aktion der Elliot'schen Mission völlig fremd sei. Nach diesen Kundgebungen tappten

wir bisher über die eigentlichen Absichten der Urheber dieser Mission im Dunkeln. Dank den Briefen des englischen Botschafters, Villiers, an Cordoba, die in den Erinnerungen veröffentlicht werden, fallen nun endlich die verhüllenden Schleier.

Obwohl England in der Anerkennung der Königin Isabella sich hatte von Frankreich zuvorkommen lassen, so nahm es doch nach diesem Akte einen ganz anderen Antheil an der Entwickelung der spanischen Politik als das zurückhaltende Regiment Louis Philippe's. Lord Palmerston hatte in George Villiers, dem nachmaligen Lord Clarendon, eine ganz besonders geeignete Persönlichkeit gefunden, um die freisinnigen Anschauungen der Whiggistischen Politik am spanischen Hofe zur Geltung zu bringen, und Villiers, mit den Führern der verschiedenen liberalen Parteien Spaniens intim befreundet, fand ein Vergnügen darin, neben der Vertretung seines Mutterlandes noch etwas in hoher Politik in den inneren Angelegenheiten Spaniens zu machen. Seine Stellung schien ernstlich gefährdet, als die Tories im Herbst 1834 ans Ruder kamen. Aber Bulwer[1]) hat uns den diplomatisch geschickten Brief erhalten, mit dem er sich und seine Politik dem Herzog von Wellington aufzudrängen wußte, was immer auch die tieferen Gesinnungen des Tory-Ministeriums sein mochten. Aus dem Briefe geht hervor, daß die Idee des nachmaligen Elliot-Vertrages unter dem Whig-Ministerium noch nicht zur Sprache gekommen war. Den Tories die Initiative dafür zuzusprechen, strebt aller Wahrscheinlichkeit entgegen. Wir dürfen daher wohl in Villiers und in dem Kreise seiner spanischen Freunde die ersten Urheber des Gedankens sehen. Was Villiers bezweckte, war freilich ganz etwas anderes, als endlich zustande kam. Nach den Verhandlungen mit den spanischen Ministern hatte man nichts Geringeres vor, als auf Grund der Quadrupel-Allianz eine Intervention zu gunsten Isabella's herbeizuführen; allerdings nicht die nachmals so viel diskutirte bewaffnete, sondern eine diplomatische, aber nicht minder energische Intervention. England und Frank-

[1]) The life of Henry John Temple viscount Palmerston [London 1870] 2, 226.

reich sollten gemeinsam je einen Spezialgesandten zu Don Carlos senden, ihm ernstlich vorstellen, daß er nicht nur auf keine Unterstützung zu rechnen habe, sondern eventuell die Feindschaft der beiden Regierungen zu empfinden haben würde, wenn er nicht die ihm durch deren Vermittelung und unter deren Garantie gebotenen Bedingungen anzunehmen sich entschließen wolle. Dieser Plan war nicht nur im Einvernehmen mit den liberalen Parteiführern, sondern in direkten Verhandlungen mit dem Ministerpräsidenten Martinez de la Rosa entworfen. Da aber kein spanisches Ministerium öffentlich eine solche Transaktion in Angriff nehmen konnte, ohne sein sofortiges Todesurtheil damit zu unterzeichnen, so wurde der Vorwand ergriffen, eine Verständigung über die Behandlung der Gefangenen herbeizuführen. Villiers und seine Freunde versprachen sich einen besonderen Erfolg davon, das Tory-Ministerium dahin zu bringen, daß es dem Don Carlos die Alternative: Vergleich oder Feindschaft stellen sollte. Und sicherlich würde die Aktion die Hoffnungen der Carlisten auf den englischen Ministerwechsel wesentlich herabgestimmt haben. Es war ein erstes Mißgeschick, daß das Tory-Ministerium fiel, ehe die Sache zur Reife gediehen war. Wellington hatte die englischen Kommissare ernannt und ihnen Instruktionen ertheilt, wie der eifrigste Cristino sie nicht besser hätte wünschen können, aber ehe sie den spanischen Boden betraten, hatte er das Ministerium des Auswärtigen wieder an Palmerston abgetreten. Änderte dies auch äußerlich nichts an der Sache, so beraubte es dieselbe doch des gewichtigen Nachdrucks, den Wellington's Name für die Carlisten gehabt hätte. Ein zweites Mißgeschick folgte auf dem Fuße. Die Verhandlungen mit England waren durch die Hände von Villiers gegangen, hatten dort den Boden bereitet gefunden und sofort zu Resultaten geführt. Nicht so in Frankreich. Dort wiederholte sich, vielleicht nicht ganz gegen die Absicht von Villiers, obwohl er es in seinen Briefen scheinbar aufrichtig beklagt, das Schauspiel vom Abschluß der Quadrupel-Allianz, und Frankreich hätte abermals nichts weiter zu thun gehabt, als den Thatsachen das Gewicht seines Namens beizufügen. Martinez de la Rosa war dem spanischen Gesandten in Paris, dem

Herzog von Frias, gegenüber bei weitem nicht so offenherzig gewesen, als Villiers und Wellington erwarteten, und Frias mochte wohl ebenfalls die Sache nicht mit dem Eifer erfaßt haben, wie Villiers und Alava, der spanische Gesandte in London. So kam es, daß Frias noch nicht offiziell um die französische Mitwirkung nachgesucht hatte, ja nicht einmal in der Lage war, dies offiziell thun zu können, als die englischen Kommissare bereits unterwegs waren. Da der Schritt nun überhaupt wohl nicht ganz nach dem Geschmacke Louis Philippe's war, erklärte Broglie dem spanischen Gesandten, daß er die offizielle Aufforderung zur Mitwirkung abwarten müsse, ehe er die Angelegenheit in Betracht ziehen könne. Das war eine wenig verblümte Abweisung. Auf diese Weise erlangte die Elliot'sche Mission die Gestalt, in der sie uns bisher bekannt war. Noch immer war Elliot der Träger eines Vermittelungsprojektes, und wie dasselbe gelautet haben mag, können wir aus den Angaben von Bollaert[1]) schließen, der uns berichtet, daß in der Zeit, wo Elliot in Navarra weilte, wieder dem Don Carlos die Hand Isabella's für seinen Sohn angetragen wurde, wenn er vom Kampfe abstehen und seine Rechte auf den Herzog von Montemolin vererben wolle. Schon jetzt waren die vernünftigen Carlisten der bigotten Wirthschaft des Prätendenten so müde, daß sie diesen Vergleich sehr annehmbar fanden. Natürlich aber dachte Don Carlos anders, und die Elliot'sche Mission erreichte nur dasjenige Ziel, das ihr zum Vorwand gedient hatte: den Vertrag über die Schonung der Gefangenen. Aber selbst aus diesem Mißerfolge suchte der unermüdliche Villiers noch Kapital zu schlagen für seine Einmischung in die innere Politik Spaniens. Die Vorschläge, die Elliot im Namen Englands gemacht hatte, waren, wie das Zeugnis Bollaert's beweist, kein undurchdringliches Geheimnis geblieben; auch davon wird der englische Kommissar an geeigneten Punkten wohl Gebrauch gemacht haben, daß England die Fortdauer des Kampfes als casus foederis nach dem Art. 4 der Quadrupelallianz anzusehen geneigt sei, um damit Don Carlos

[1]) The wars of succession in Portugal and Spain 2, 132.

selbst und furchtsamere Gemüther in seiner Umgebung zu schrecken. Das hoffte Villiers noch auszunutzen, und dazu setzte er sich von neuem mit Cordoba in Verbindung, mit dem er schon über alle Phasen des ursprünglichen Planes in eifrigem Briefwechsel gestanden hatte. Cordoba hatte mittlerweile das Kommando über die Nordarmee übertragen erhalten, gerade in dem Augenblicke als Zumalacarregui der Wunde erlag, die er vor Bilbao empfangen. Niemand war für Unterhandlungen mit den Carlisten geeigneter als er. Don Carlos mag ihn wohl eine Zeit lang mit besonderem Hasse verfolgt haben, weil er seinen Übertritt mit Bestimmtheit, und doch vergeblich erwartet hatte. Auf der anderen Seite muß er ihm doch noch einen Rest der alten Zuneigung bewahrt haben, denn er trug ihm eben in diesen Tagen als Preis des Übertritts den Oberbefehl über die gesammten carlistischen Truppen an[1]). Überdies waren die Cordobas unter der Minorität der Gardeoffiziere, die zu dem neuen Regimente hielten, während die Mehrzahl ihrer alten Waffengefährten auf der Seite des Don Carlos fochten. Durch den Sieg von Mendigorria hatte Cordoba die Carlisten die Macht der Christinos so schwer fühlen lassen, wie es vielleicht während des ganzen Krieges noch nicht geschehen war: konnte es eine günstigere Gelegenheit geben, um die Künste der Diplomatie in Bewegung zu setzen? Wie dies geschehen, darein läßt uns wiederum ein Brief von Villiers an Cordoba einen Blick thun[2]). Es handelte sich um nichts anderes, als dem Carlismus schon im Jahre 1835 ein Vergara zu bereiten. Die inneren Mißlichkeiten, Zumalacarregui's Tod, der Sieg Cordoba's und das Ausbleiben aller fremden Hülfe hatte viele Verfechter des Carlistischen Thronrechtes ernüchtert, und Cordoba muß einen ziemlich bedeutenden Erfolg mit seinen Verführungsversuchen gehabt haben, denn er hielt es Anfang August an der Zeit, das Ministerium von den Anschlägen in Kenntnis zu setzen, die er bis dahin mit Villiers im geheimen betrieben hatte. Die Mine war wieder

[1]) Duncan, The English in Spain [London 1877] p. 58.
[2]) 1, 295.

mit großem Geschick angelegt. Die Erbitterung der Parteien gegen einander war zu groß, als daß man den carlistischen Offizieren und Truppen hätte zumuthen können, sich den Cristinos vertrauensvoll zu überliefern, noch weniger durfte man von ihnen erwarten, daß sie das Schicksal ihres Königs in die Hände seiner Gegner legen würden. Deshalb hatte Villiers sich bereit erklärt, sobald Cordoba den Boden genügend vorbereitet haben würde, sich zu ihm in das Feldlager zu begeben, um dort im Namen seiner Regierung die Abtrünnigen selbst und ihren verrathenen König unter den Schutz des Königs von England zu stellen, und in dessen Namen die Bedingungen des Übertritts zu garantiren. Daß man mit diesen nicht allzu geizig zu sein nöthig haben werde, darüber ließ Toreno die Unterhändler nicht im Zweifel. Er war so eingenommen für diesen Plan, daß er dem englischen Botschafter nur zwei Bedingungen für seine Unterstützung stellte: die Nichtanerkennung der Thronprätensionen Don Carlos' und den Ausschluß schriftlicher Zusicherungen.

Aber alle diese Aussichten wurden hinfällig durch die tumultuarischen Vorgänge des September (1835). Je mehr die Regierung in die Enge getrieben wurde, je weniger sie selbst zur Unterstützung der Kriegführung thun konnte, desto dringender verlangte sie von dem Heere Schlachten und Siege. Cordoba hatte aber nach dem Siege von Mendigorria die Eitelkeit dieser Triumphe eingesehen, und sein System befestigter Linien, um die Carlisten auszuhungern, war freilich durchaus nicht geeignet, dem Ministerium durch blendende Erfolge zu Hülfe zu kommen, obwohl zahlreiche Memoiren von Anhängern des Don Carlos die Richtigkeit seiner Berechnungen dadurch bezeugen, daß sie uns erkennen lassen, wie Mangel und Erschlaffung im carlistischen Heere einrissen, weil die Nahrungsmittel knapp wurden, und die Begeisterung des Kampfes wegfiel. Mehr als einmal hat Cordoba den Ministern den Gefallen gethan, strategische Operationen zu unternehmen, die sie dann als Siege ausposaunen mochten, so wenig er auch selbst einen dauernden Vortheil davon erwartete. Wenn er aber unter wesentlich günstigeren politischen Verhältnissen schon ein Anhänger des Interventionsgedankens gewesen

war, so glaubte er jetzt um so mehr den Zeitpunkt gekommen, die Unterstützung der Mächte anzurufen, welche die Quadrupelallianz unterzeichnet hatten. Die diplomatischen Verhandlungen, zu denen die Anrufung der französischen und englischen Intervention durch die verschiedenen spanischen Ministerien die Veranlassung gab, sind, wie zu erwarten, in den Erinnerungen nicht mit der Ausführlichkeit behandelt, wie dies schon an anderen Orten geschehen ist. Die Erinnerungen geben eigentlich nur eine Einzelheit, die für diese Frage allerdings von hohem Interesse und bisher noch nicht bekannt war. Über den persönlichen Standpunkt Louis Philippe's, an dem er im Gegensatze zu dem Ministerium Thiers zähe festhielt, ist schon viel geschrieben worden. Daß der Bürgerkönig ein entschiedener Gegner der Intervention war, ist bekannt, nicht minder seine starke Hinneigung zu legitimistischen Ansichten. Dagegen ist ihm wohl bis jetzt nur einmal, in einer tendenziös entstellenden Depesche von Villiers [1]) der Vorwurf gemacht worden, daß er geneigt sei, den Don Carlos als König von Spanien anzuerkennen. So weit mochte nun wohl Louis Philippe im Ernst nicht zu gehen beabsichtigen, selbst zu einer Zeit, wo er die drei Nordmächte mit allen erdenklichen Zuvorkommenheiten überhäufte. Daß ihn aber die Entfesselung der liberalen Leidenschaften in Spanien der Königin Isabella mehr und mehr entfremdete und ihn dem Don Carlos wirklich geneigter machte, dafür bringen die Erinnerungen einen interessanten Beleg bei. Nachdem Cordoba infolge der Ereignisse in La Granja, der Ausrufung der Verfassung von 1812, sein Kommando niedergelegt hatte, ging er nach Paris und hatte dort eine längere Unterredung mit Louis Philippe, in der natürlich die neuesten spanischen Ereignisse den Hauptgegenstand bildeten. Cordoba verfocht auch dem Könige gegenüber seinen Standpunkt zu gunsten der Intervention, und im Laufe dieses Gespräches soll dann der König erklärt haben, daß er vor dem Forum seines Gewissens die Rechte des Don Carlos an die spanische Krone für die besseren halten müsse. Wenn ihm Cordoba

[1]) Bulwer a. a. O. 2, 236.

darauf wirklich zu entgegnen gewagt hat, wie er behauptet, daß von diesem Standpunkte auch die Rechte des Herzogs von Bordeaux besser seien als die seinigen, so ist das jedenfalls eine sehr artige Anekdote zur Geschichte des Bürgerkönigs.

Aber kehren wir noch einmal zu der Zeit zurück, in welcher Cordoba an der Spitze des Nordheeres stand. Es bleibt uns noch ein höchst wichtiger Theil der Erinnerungen zu durchforschen, der sich mit dem Antheil Cordoba's an der inneren Politik beschäftigt. Obwohl die Verleihung des höchsten Kommandos gegen Don Carlos in Madrid eine Frage der Parteipolitik ebenso sehr zu sein pflegte, als eine Frage militärischen Werthes, so blieb doch in dem Heere selbst die Politik auf die Antipathien der höheren Führer unter einander beschränkt. Eine so desorganisirte Truppe, wie das 2. leichte Regiment von Aragon, welches am 18. Januar in Madrid den unseligen Aufstand versuchte, der Canterac das Leben und Llauder das Kriegsministerium kostete, konnte beim Nordheere einem so wenig freisinnigen Führer übergeben werden, als der jüngere Cordoba war, und that doch ihre Pflicht. Die straffe Disziplin, die völlige Beherrschung der Armee gab aber natürlich dem Politiker Cordoba ein ganz bedeutendes Gewicht. Daß er dieses mehr als einmal in die Wagschale warf, daß seine Persönlichkeit vom Sturze Martinez de la Rosa's bis zum Falle von Isturiz auf die Bildung aller Ministerien einen bedeutenden, manchmal vielleicht einen entscheidenden Einfluß ausgeübt hat, davon legt eine große Reihe von Briefen der einflußreichsten Personen Zeugnis ab, die in den Erinnerungen veröffentlicht werden.

Aus der Zeit des Ministeriums Martinez de la Rosa haben wir noch verhältnismäßig wenig Kunde von Cordoba's Einfluß. Es mag dies daran liegen, daß seine politischen Gesinnungen von denen des Ministerpräsidenten nicht unwesentlich abwichen. Überdies war er fast während der ganzen Zeit dieses Ministeriums in Madrid, und die Spuren des persönlichen Verkehrs sind natürlich bei weitem schwerer zu verfolgen, als die des brieflichen. Jedenfalls erfahren wir aus gelegentlichen späteren Andeutungen, daß er schon damals, wie bis an das Ende seines Lebens das

unbedingteste Vertrauen der Königin-Regentin genoß, von dieser in ihre intimsten Privatangelegenheiten eingeweiht wurde und ihr auch in Staatssachen beständig mit seinem Rathe zur Seite stand. Wie hoch die Königin diesen letzteren achtete, geht daraus hervor, daß sie in späterer Zeit, als Cordoba an der Spitze des Nordheeres stand, wiederholt ihm gegenüber ihr tiefes Bedauern ausspricht, daß seine lange Abwesenheit sie dieses Rathes beraubt. Dem Vertrauen der Königin zu dem General mögen wohl die Empfehlungen Ferdinand's VII. als Grundlage gedient haben. Weiter aber machte es ihn der Königin sympathisch, daß ihre politischen Ansichten sich in besonders intimer Übereinstimmung befanden. Cordoba war bekanntlich von Herzen überzeugungsvoller Liberaler. Die Regentin aber war nicht nur aus politischer Nothwendigkeit das Haupt der liberalen Partei, sondern sie war gleichfalls von ernsthaft freisinniger Überzeugung. Die Erinnerungen geben uns dafür einen überaus werthvollen Beleg. Als die liberalen Tumulte der Regierung eine Konzession nach der anderen entrissen, bis endlich Mendizabal an die Spitze des Ministeriums trat, schrieb Muñoz im Auftrage der Regentin an Cordoba[1]), die Königin habe sich seit lange nicht in Übereinstimmung mit den Ministern befunden. Sie habe den Grundsatz aufgestellt, man müsse dem Volke seine gerechten und von den Umständen gebotenen Forderungen freiwillig erfüllen, ehe die öffentliche Meinung dieselben gewaltsam dem Throne entrisse; denn unter solchen Umständen sei jede Konzession, wenn sie erfolge, werthlos. Die Minister aber hätten ihr niemals glauben wollen, daß der Moment für solche Konzessionen gekommen sei, und dadurch hätten sie die üble Lage geschaffen, in der sich die Regierung befand zur Zeit, als dieser Brief geschrieben wurde — Ende September 1835. Das Schreiben ist ein Beweis ebenso sehr für den politischen Scharfblick der Regentin, wie für die Übereinstimmung und das unbegrenzte Vertrauen zwischen ihr und dem General Cordoba. Einen einzigen Augenblick schien dasselbe erschüttert zu sein, als die liberalen Tumulte, die ganz

[1]) 1, 314.

Spanien durchtobten, auch im Heere einen Widerhall fanden in dem Aufstandsversuche von Puente Laraa, August 1835. Wir dürfen aber wohl nach den vielen Beweisen einer an Reizbarkeit grenzenden Empfindlichkeit, die der General wiederholt uns zeigt, auch hier annehmen, daß er selbst den Grad des Mißtrauens bei weitem übertreibt. Überdies bemüht sich die Regentin sofort, ihn in einem eigenhändigen Briefe zu beruhigen und ihres festen Zutrauens wiederholt zu versichern. Von diesem gibt denn nun die weitere Korrespondenz zwischen Cordoba und seinen Gesinnungsgenossen in Madrid zahllose Beweise. Da das Land im Herbste 1835 beständig durch die liberale Agitation in einer unnatürlichen Aufregung erhalten wurde, war mehr als einmal die Rede davon, den Hof und die Ministerien der Gewalt der Revolutionäre durch eine Verlegung der Residenz zu entziehen. Und obwohl der Krieg gegen Don Carlos nichts weniger als glänzend verlief, glaubte die Regentin dennoch keinen sichereren Punkt für ihren Aufenthalt wählen zu können, als eben das gegen die Carlisten kämpfende, von Cordoba befehligte Nordheer. Zuerst vorübergehend im August 1835, dann eingehender im Frühjahr 1836 wird über eine Verlegung der Residenz von Madrid nach Burgos verhandelt, von der man sich den doppelten Vortheil versprach, daß die Nähe der königlichen Personen die Begeisterung im Heere und für das Heer steigern, die Entfernung von dem Centrum der Agitation aber der Regierung freie Hand und am Heere einen Rückhalt zur energischen Bekämpfung der Tumultuanten schaffen werde. Natürlich wäre ein solcher Entschluß gleichbedeutend gewesen mit einem Bruche mit der Politik Toreno's und besonders Mendizabal's, und daß alle Berather der Königin den Moment für einen solchen noch nicht für gekommen erachteten, war wohl der Hauptgrund dafür, daß die Maßregel nicht zur Ausführung kam, bis die August-Ereignisse des Jahres 1836 die Scene völlig veränderten. Bis dahin aber genoß Cordoba ununterbrochen das unbedingte Vertrauen der Regentin. Als er im März 1836 wieder einmal den Oberbefehl des Nordheeres niederlegen wollte, verlangte die Regentin von

ihm, er selbst solle ihr seinen Nachfolger bezeichnen, denn die ihr von den Ministern vorgeschlagenen Personen genössen nicht in gleichem Maaße ihr Vertrauen [1]). In eben dieser Zeit, als Cordoba bedeutende Verstärkungen bedurfte und sie nur langsam erhalten konnte, begründete die Regentin für ihn das Regiment Reina Gobernadora und führte es unter der schmeichelhaftesten Rücksichtnahme seinem Bevollmächtigten in Madrid vor. Schon damals nannte sie im Kreise ihrer Vertrauten den General nicht mehr mit seinem Familiennamen, sondern mit seinem Rufnamen Luis und bezeugte für ihn und für seine Angehörigen eine fast schwesterliche Theilnahme [2]). Von seinem Abschiede, auf den Cordoba aus politischen Gründen wiederholt zurückkam, wollte sie absolut nichts wissen, kein anderer als er sollte das Nordheer befehligen, sollte ihr die Persönlichkeiten bezeichnen, die ihm als Kriegsminister, d. h. also als seine Vorgesetzten genehm sein würden, ja ein ganzes neues Ministerium sollte er ihr zusammensetzen [3]). Am letzten April 1836 schreibt der Bevollmächtigte Cordoba's über die Regentin: „Sie sieht Gott und die heilige Jungfrau nur noch in Luis, wie sie ihn nennt [4])", und am 15. Mai schreibt die Regentin selbst: nie könnte ich zu einem anderen ein solches Vertrauen haben als zu Dir [5]).

Daß unter diesen Umständen Cordoba ein Faktor war, mit dem auch die Ministerien rechnen mußten, ist nicht zu verkennen. Für Toreno mochte das nicht allzu schwierig sein. Wenn irgend jemand, so stand Toreno der politischen Gesinnung des Generals und seiner hohen Vertrauten nahe. Überdies saßen neben Toreno Verwandte und Freunde des Generals auf den Ministerbänken, die eine jeweilige Verständigung mit demselben sehr erleichterten. Es fehlt zwar an einem bestimmten Beweise dafür, daß auch über die Berufung Mendizabal's in dieses Ministerium das Urtheil Cordoba's zuvor eingeholt worden sei, aus späteren Vorgängen geht aber unzweifelhaft hervor, daß er mit diesem

[1]) 2, 61. [2]) 2, 62. [3]) 2, 63. [4]) 2, 36. [5]) 2, 75.

Experimente, denn als solches wurde die Berufung eines Mannes von so ganz anderer Vergangenheit und Gesinnung angesehen, einverstanden war. Wenn auch Toreno mit dem Klange dieses Namens nebenbei die liberale Opposition einzuschüchtern beabsichtigte, so war es doch in erster Linie nur der finanzielle Zauberkünstler, der soeben in Portugal eine glänzende Probe seiner Künste abgelegt hätte, den er für sein Ministerium gewinnen wollte. Man hat sich darüber verwundert, daß Mendizabal in der Zeit von seiner Einberufung bis zu seinem Eintritt in das Ministerium auffallend konservative Grundsätze zur Schau getragen hat, die mit seinen politischen Gesinnungen vorher und nachher wenig in Einklang zu stehen schienen. Die Erinnerungen geben uns für diese Erscheinung einen sehr einfachen Schlüssel an die Hand. Toreno war wohl nicht so unüberlegt gewesen, die Einheitlichkeit seines Ministeriums durch die Hereinziehung eines so heterogenen Elementes zu gefährden, sondern er hatte offenbar gewisse konservative Garantien von Mendizabal als Konzession für die Aufnahme in das Ministerium verlangt und erhalten. So wenigstens muß man annehmen, wenn man sieht, daß die spätere Berufung Mendizabal's an die Spitze der Geschäfte von ganz analogen Erscheinungen begleitet ist.

Daß Cordoba auf diese einen bestimmenden Einfluß ausübte, läßt sich ganz überzeugend nachweisen. Estebanez Calderon berichtet in einem Briefe an Borrego von einer Unterredung, welche er kurz vor diesem Ereignisse mit dem General Cordoba gehabt hatte, und dabei erklärte dieser, daß er der Regentin selbst zur Berufung eines Ministeriums Mendizabal zureden würde, wenn er die Überzeugung gewänne, daß dieser im Stande sei, das Staatsschiff sicher durch die schwierigen Zeitläufe hindurch zu steuern [1]). Die Korrespondenz des englischen Gesandten Villiers, der ein eifriger Unterstützer Mendizabal's auch jenseits seines gemäßigten Programms war, zeigt uns ebenfalls dessen eifrige Bemühungen, Cordoba für das Experiment zu gewinnen

[1]) Canovas del Castillo, El solitario y su tiempo [Madrid 1863] 1, 268.

und zwischen ihm und Mendizabal eine politische Verständigung herbeizuführen. Wie sehr das Geschick desselben von einer solchen abhängig war, das bewiesen die Ereignisse der Folgezeit. Zwar Mendizabal selbst hat sich wohl darüber nie volle Rechenschaft gegeben, dazu dünkte er sich zu groß auf seinem Präsidentensitze, es wurde aber, und am meisten in den ersten Tagen seines Ministeriums, dafür gesorgt, daß er es nicht ganz vergaß. Das sog. Septemberprogramm Mendizabal's war so gemäßigt, daß die Regentin mit gutem Gewissen die Zügel seinen Händen überlassen konnte, so lange er sich streng an die darin niedergelegten Grundsätze hielt. Sie machte es ihm aber noch ganz besonders zur Pflicht, auch innerhalb dieser Grenzen die Übereinstimmung mit Cordoba auf das gewissenhafteste inne zu halten. Zu diesem Zwecke las sie selbst dem Minister die Briefe vor, in welchen ihr Cordoba seine Ansichten über die politische Lage entwickelte — es ist kein geringerer, als Muñoz, dem wir diese Andeutung verdanken [1]) — ja sie nöthigte ihn höchst bezeichnenderweise, aus seiner Proklamation einen Satz über das Estatuto zu streichen mit der Motivirung, daß Cordoba in seiner Proklamation an das Heer mit klugem Takte vermieden habe, diesen Punkt zu berühren [2]). Schon längst ist von San Miguel in seiner Lebensgeschichte des Arguelles die Proklamation veröffentlicht worden, in welcher der General Cordoba die Eröffnung der ersten Cortes unter Mendizabal begrüßt [3]). Der auffallende Akt, daß der kommandirende General eines im Felde stehenden Heeres sich in so eigenthümlicher, meines Wissens durch kein früheres Beispiel gerechtfertigter Weise in die inneren Angelegenheiten des Landes einmischt, und, was nicht minder auffallend, daß diese Einmischung von der Krone, von dem Ministerium und von den gesetzgebenden Versammlungen selbst mit allen möglichen Feierlichkeiten angenommen, veröffentlicht und mit einer offiziellen Danksagung belohnt wird, ist bisher ziemlich

---

[1]) Memorias 1, 314.

[2]) Ebenda p. 313.

[3]) Vida de Don Agustin de Argüelles [Madrid 1851] 3, 436 ff.

unbemerkt geblieben oder doch jedenfalls nicht genügend gewürdigt worden. In Verbindung mit den oben angeführten Thatsachen erlangt derselbe aber eine ganz bezeichnende und nicht gering anzuschlagende Bedeutung. Dieser Parallelismus zwischen den öffentlichen Äußerungen des Ministerpräsidenten und des Obergenerals läßt sich während eines großen Theiles des Ministeriums Mendizabal Schritt für Schritt verfolgen. Wenn nun auch Cordoba entschieden sehr geneigt war, der spanischen Vorliebe für rednerische Ergüsse freien Lauf zu lassen, so dürfen wir doch wohl in dieser Gleichmäßigkeit mehr als den zufälligen Ausdruck einer politischen Übereinstimmung sehen, von der wir überdies wissen, daß sie nur eine sehr oberflächliche, künstlich zu Stande gebrachte war. Zweifellos hing die Sache vielmehr so zusammen, daß Cordoba in allen entscheidenden Fragen seine gleich- oder überwerthige Stimme gegen die Mendizabal's in die Wagschale legte, und, nachdem die Abwägung geschehen, deren Resultat von beiden Faktoren veröffentlicht wurde. Das hatte die vielfachen Vortheile, daß den Gegnern der Regierung beständig die vollkommene Übereinstimmung zwischen der Zivil- und Militärgewalt vor Augen geführt, ihnen jede Hoffnung benommen wurde, zwischen beiden Zwiespalt zu säen, und, was in den Augen der Regentin vielleicht am schwersten wog, daß Mendizabal in den Augen der liberalen Ultras seinen Nimbus verlor, indem alle seine Maßregeln die Gemeinsamkeit seiner und der Anschauungen des für mehr als gemäßigt geltenden Generals zur Schau trugen. Daß Mendizabal bei seinem Antritte die Nothwendigkeit dieser Politik erkannte, beweisen die Freundschaftsversicherungen, von denen seine Briefe an den General überfließen. Daß er bald seine konservativen Konzessionen bereute oder das Einhalten der übernommenen Verpflichtungen nicht mehr für nöthig hielt, davon ist die Entfremdung, die zwischen dem Minister und dem General eintrat, nur ein Beweis von vielen. Kaum im Besitze der Gewalt, begann Mendizabal sein falsches Spiel. Er hatte wohl schon auf dem Wege nach Madrid den liberalen Ultras ebenso gut Versprechungen gemacht wie den Konservativen, und wenn er sich auch zunächst den Schein zu

geben wußte, als wolle er aufrichtig im Sinne der letzteren arbeiten, so unterhielt er doch fortgesetzt Verbindungen mit den ersteren, von denen zuerst nur einzelne dunkle Gerüchte bis zu den Ohren seiner offenen Verbündeten drangen. Bald aber wurden die Forderungen der Extremen dringender, Mendizabal's Handlungen unzuverlässiger, und bereits in der zweiten Hälfte des Januar war die Königin über die wahren Gesinnungen ihres Ministers ziemlich enttäuscht und mit sich selbst über die Persönlichkeit seines Nachfolgers im Klaren.

Mendizabal brachte eigentlich zu seinem Ministerium nichts weiter mit als den Ruf eines geschickten Finanziers, ein kolossales Selbstvertrauen und die Absicht, es allen Parteien recht zu machen. Daß ihm selbst die oberflächlichsten Kenntnisse der Staatsverwaltung abgingen, gibt selbst sein eifriger Anhänger Villiers zu, wie nicht minder, daß er, in völligen Illusionen befangen, Berge versprach und sich einbildete, sie damit auch schon versetzt zu haben. Villiers war es auch, der den General darauf aufmerksam machte, wie rasch Mendizabal seine Gesinnungen änderte, nur daß ihm der englische Botschafter dies zum Verdienst anrechnet, was es in Cordoba's Augen gewiß nicht gewesen sein wird. Was Villiers verblendete, war Mendizabal's Hinneigung zu England und seine Bereitwilligkeit, den Einfluß dieses Landes an die Stelle des natürlicheren französischen Einflusses zu setzen und durch bedeutende Konzessionen zu erkaufen. Guizot[1]) hat in seinen Memoiren zuerst den Schleier gelüftet über die geheimen Unterhandlungen, in die Mendizabal sich mit England eingelassen hatte. Die Erinnerungen geben den überraschenden Beweis, daß es nicht nur der französische Gesandte war, hinter dessen Rücken diese Verhandlungen stattfanden, sondern daß die Regentin und ihre intimen Berather selbst in vollkommener Unkenntnis darüber gehalten worden waren. Die Regentin war so empört über diesen Vertrauensbruch, daß sie den Minister elf Tage lang nicht mehr zum Vortrag vor sich ließ und dem General auf vertrau-

[1]) Memoires pour servir à l'histoire de mon temps [Paris-Leipzig 1858 ff.] 4, 421.

lichem Wege Mittheilung davon machte, daß Mendizabal Santoña und San Sebastian den Engländern habe überlassen wollen, ohne ihn zu befragen, und daß er die englische Hülfe deshalb mit mißtrauischer Vorsicht beobachten solle[1]).

Seit er sich auf diese Weise die Königin entfremdet hatte, ging Mendizabal ziemlich offen zu den fortgeschrittenen liberalen Elementen über, und wenn diese davon nur wenig Vortheil zogen, lag das eben wieder daran, daß Mendizabal nach allen Seiten gebunden und an der Spitze des Ministeriums eigentlich ohnmächtig war. Daß hieran wiederum Cordoba schuld war, wagte er wohl nicht einzugestehen, im Lager der Ultras aber herrschte darüber kein Zweifel, und die Versuche, Cordoba zu beseitigen, erfreuten sich mindestens der Konnivenz des Ministerpräsidenten, der vor und nachher dem General die ausgesuchtesten Liebeserklärungen machte. Cordoba erleichterte ihm scheinbar die Arbeit, indem er selbst seinen Abschied verlangte. Aber es war vergeblich, daß Mendizabal der Königin vorstellte, die liberalen Elemente würden den Ersatz Cordoba's durch Mina oder wenigstens durch Rodil als ein werthvolles Zugeständnis ansehen: die Regentin wie die übrigen Minister wiesen entschlossen jeden Versuch zurück, diese festeste Stütze eines starken, wenn auch freisinnigen Königthums zu beseitigen. Mendizabal's Bewußtsein, seine Stellung mit seinem Doppelspiel nach beiden Seiten verscherzt zu haben, bildet die Erklärung für die Vorgänge in den letzten Wochen seines Ministeriums. Dazu kam, daß er mit seiner moralischen auch seine materielle Stellung in Spanien verspielt hatte. Mendizabal mag wohl schon in Portugal stark auf seine eigene ministerielle Stellung Geldspekulationen gemacht haben, wenigstens rechnete man ihm nach, daß ihm die finanzielle Rettung der Königin Maria da Gloria einige hübsche Millionen abgeworfen habe. Auch in Spanien war er so von seiner finanziellen Schöpferkraft überzeugt gewesen, daß er die gewonnenen Millionen dazu verwendet hatte, in Staatsrenten zu spekuliren, die er retten wollte. Das große Fiasko, was er trotz der gewalt-

[1]) 2, 31 f.

samen Maßregeln zur Belebung des Staatskredites in Spanien auch auf finanziellem Gebiete machte, brachte ihn selbst an den Rand des Ruines, und er selbst ist es, der uns höchst naiv von diesem Detail unterrichtet.

Hatte Mendizabal bei den eigentlichen Konservativen von jeher für einen Exaltado gegolten und sie deshalb zu Feinden gehabt, so hatte er sich, besonders nach dem Zusammentreten der zweiten Cortes, auch die gemäßigt liberalen Elemente vollständig entfremdet. Was er, um den Ministerposten zu erlangen, nur äußerlich gethan hatte, den Übergang von den Exaltados zu den Gemäßigten, das hatten einige der bedeutendsten unter seinen Genossen von 1820 mit mehr Überzeugung und ohne unmittelbare materielle Veranlassung bewerkstelligt. Alcala Galiano, Borrego und Isturiz, einst, wie Mendizabal, Vorkämpfer der Freiheit, bildeten jetzt eine Mittelgruppe zwischen den Exaltados und den Moderados, deren Zukunftsaussichten um so besser waren, da sie auf Cordoba und mit ihm auf die Regentin zählen konnten. Thatsächlich dachte die Regentin schon im Januar daran, Mendizabal durch Isturiz zu ersetzen. Die skandalösen Vorgänge der englischen Unterhandlungen bildeten wohl den Anlaß dazu, daß die Regentin sich mit diesem in Verbindung setzte, und Isturiz zeigte sich ihres Vertrauens würdig. Selbst Villiers hatte seine Amtsführung als Präsident der Deputados in Mendizabal's erstem Parlamente musterhaft gefunden, und Isturiz fuhr, auch nachdem Mendizabal in den zweiten Cortes seine Wahl zum Präsidenten hintertrieben hatte, fort, sich so zu benehmen, daß er sich möglich erhielt. Es war eine Kleinlichkeit des Premierministers, daß er Isturiz um den Präsidentenstuhl brachte, wohl ein Akt der Rache für dessen Verbindung mit der Regentin, die dem Minister nicht verborgen bleiben konnte, sie wurde aber zur Thorheit, als er die Gelegenheit vorübergehen ließ, durch Berufung eines Mannes aus der gemäßigten Gruppe seinem Ministerium das stark erschütterte Vertrauen der Konservativen zurück zu gewinnen. Als es zu spät war, sah er das selbst ein, aber, nachdem die Gruppe den Kampf aufgenommen, hatte sie zu viel Aussichten auf vollen Erfolg, um sich mit dem

halben eines Platzes im Ministerium Mendizabal zu begnügen. Ende März gab man Mendizabal verloren; die Königin war mit Isturiz einig, und Martinez de la Rosa eröffnete den Kampf gegen das Ministerium, das völlig in der Luft schwebte. Was ihn noch einmal rettete, war wieder das Dazwischentreten Cordoba's. Seinen Vertrauten in Madrid schien der Zeitpunkt noch nicht günstig, der Erfolg gegen die hochgespannte Erregung der Liberalen nicht sicher, und so erhielt er von Madrid aus dringende Aufforderung, die Regentin zum Abwarten zu vermögen. Trotz des taktlosen Auftretens Mendizabal's in den Fragen der Presse und des Senats, trotz seines Liebäugelns mit Mina fand eine Annäherung zwischen ihm und Cordoba statt, die ihn noch einen Monat länger auf seinem schwankenden Stuhle hielt, von dem er dann fast klanglos und ganz würdelos herabsank.

Nach langen Unterhandlungen war das neue Ministerium zusammengetreten aus lauter Elementen der in der Bildung begriffenen liberalen Mittelpartei. Daß Cordoba wiederum auch darauf einen entscheidenden Einfluß gehabt hatte, dafür liegen zahlreiche Beweise in den veröffentlichten Briefen vor. Die in den Erinnerungen eingehend ventilirte Frage, ob Cordoba selbst ein Ministerium hätte bilden können, erscheint mir ziemlich müßig. Canovas del Castillo[1]) hat mit Recht darauf hingewiesen, daß er nach seiner Vergangenheit nicht die geeignete Person sein konnte, ein freisinniges Ministerium zu repräsentiren, so sehr auch gerade dies seinen innersten persönlichen Überzeugungen entsprochen hätte. Die Regentin sah ihn jedenfalls lieber an der Spitze des Heeres, wo ihr niemand annähernde Garantien für ihre Sicherheit bieten konnte. Er selbst konnte bei dem Tausche nur verlieren, denn thatsächlich war sein Einfluß auf die Regierung unbeschränkt.

Ehe das Ministerium Isturiz Zeit fand, viel für seine Unsterblichkeit zu leisten, wurde es durch die Augustereignisse von La Granja in die Luft geblasen, und die Ausrufung der Verfassung

[1]) El solitario 1, 262 ff.

von 1812 bewog Cordoba, nach Frankreich auszuwandern. Sein Bruder, der Verfasser der Erinnerungen, blieb zwar in Madrid zurück, da er aber in jener Zeit eine selbständige politische Rolle noch nicht spielte, tritt in der historischen Bedeutsamkeit der Memoiren eine Pause ein, die ungefähr den Zeitraum eines Jahres umfaßt, jenes Jahres, während dessen die Progressisten im Besitze der Macht blieben, und die konstituirenden Cortes die Verfassung von 1837 schufen.

Aber ehe noch volle zwölf Monate über den Ereignissen von La Granja hingegangen waren, begann der General Cordoba wieder in der spanischen Politik eine Rolle zu spielen, von der die Erinnerungen uns berichten. Mehr noch als die Ausrufung der Verfassung von 1812 hatte sich wohl Cordoba dadurch zum Auswandern veranlaßt gefühlt, daß die Königin-Regentin so weit den Muth verlor, sich an Don Carlos ausliefern zu wollen. Allein die konservative Wendung, welche die Sieger von La Granja auf politischem Gebiete machten, gab nicht nur ihr selbst den Muth wieder, sondern ermuthigte auch ihre Anhänger, noch einmal den Kampf für eine starke Regierung aufzunehmen. Seit die Regentin mehr für ihre persönlichen Neigungen lebte als für die Politik, war ihr Bedürfnis nach einem verläßlichen Stützpunkte für die letztere bei weitem stärker geworden. Ohne von ihren liberalen Gesinnungen sich abzuwenden, verlangte sie doch jetzt dringender als je ein energisches, starkes Regiment und die Garantie, daß ein solches bei der bewaffneten Macht Unterstützung finden werde. Das Ministerium Calatrava hatte diese Stütze in Espartero zu besitzen geglaubt, wie seine Vorgänger sie in Cordoba besessen hatten. Allein zwischen beiden war doch ein gewaltiger Unterschied. Zwar hatten sie beide verstanden, sich eine gewisse Unabhängigkeit von den jeweiligen Machthabern zu sichern, indem sie es vermieden, sich einer bestimmten Partei anzuschließen, aber Espartero's Hinneigung zu den geheimen Gesellschaften war nicht weniger bekannt, als Cordoba's Intimität mit der Camarilla der Regentin. Und während letzterer der Regentin und ihren Berathern ein steter, aber respektvoller Helfer mit Rath

und That gewesen, der für sich selbst keine andere Belohnung als den Erfolg begehrte, verrieth Espartero fast von dem Augenblicke an, wo er mit dem Oberbefehl über die Nordarmee eine Macht erlangte, dem Ministerium gegenüber bedenklich diktatorische Neigungen und einen weit hinaus strebenden Ehrgeiz. Unter diesen Umständen wandte das Ministerium seine Blicke wieder auf Cordoba. Einige Freundschaftsdienste, die er demselben in Paris durch seine intimen Beziehungen zu den französischen Regierungskreisen geleistet hatte, gaben die Anknüpfung, und Mitte Juli bereits konnte das Ministerium dem General das Portefeuille des Krieges anbieten. Cordoba war keineswegs im Principe abgeneigt, eine solche Stellung in einem progressistischen Ministerium anzunehmen, aber er verlangte Garantien, und ehe die Verhandlungen darüber zu einem Resultate gelangt waren, machte das Ministerium Calatrava einem andern Platz. Nichts kann bezeichnender sein für das, was die Regentin verlangte als die Verhandlungen über die Ministerfrage. Soeben hatte sie versucht, in Cordoba ihren alten Freund und Berather zurückzugewinnen. Als die Unterhandlungen hier zu keinem Ziele führen, greift sie nach dem andern General und überträgt Espartero die Bildung eines Ministeriums. Die weitere Darstellung wird zeigen, daß dieses Heranziehen eines Generals von unbestreitbarer Bedeutung nicht das Werk des Zufalls, sondern eine bewußte Tendenz der Regentin war, zu der sie trotz wiederholter Mißerfolge immer wieder zurückkehrte, bis sie sich damit selbst entthronte. Espartero lehnte zunächst, wie Cordoba, ab, es wurden vorübergehend zwei wenig bedeutungsvolle Ministerien unter Bardaji gebildet, die Wahlen nach der neuen Verfassung vorgenommen und die Cortes berufen, die den Wünschen der Regentin entgegen kamen, indem sie eine konservative Majorität in beiden Häusern aufwiesen. Das Alles ist bekannt, die Erinnerungen bringen hier nichts Neues. Unterdessen war aber auch der General Cordoba nach Madrid zurückgekommen und hatte nicht nur bei Hofe, sondern auch in den politischen Kreisen eine glänzende Aufnahme gefunden. Es konnte kein Zweifel darüber sein, daß mehr noch als vor den Ereignissen von La Granja

sein Einfluß entscheidend für die Fortentwickelung der Politik sein werde. Wie sehr er es war, das bewiesen die unmittelbar folgenden Ereignisse, aber weder zu seinem noch zu des Landes Besten. Die Regentin hatte keinen dringenderen Wunsch, als nach der Konstatirung der konservativen Majorität ein Ministerium aus der Partei der Moderados zu bilden, wofern nur diese ihr einen Ersatz für Espartero gewähren könnten, und diesen erwarte sie, wie die Moderados selbst, von Cordoba. Daß Espartero ebenso wenig einem Ministerium der Moderados als einem Ministerium Cordoba würde dienen wollen, darüber konnte kein Zweifel sein nach der Art und Weise, wie er sich über die Eventualität eines Eintrittes des Generals in das Ministerium Calatrava und über die Bildung eines Ministeriums Martinez oder Toreno ausgelassen hatte. Aber wenn er auch schon drohte, auf eine solche Maßregel mit dem Marsche auf Madrid zu antworten, so glaubten doch die Regentin und die Moderados, mit Cordoba auch diesem trotzen zu können. Da war es nun ein Unglück, daß Cordoba seine Unterstützung einer solchen Kombination verweigerte. Die Erinnerungen zeigen uns, daß der General schon in Paris ganz andere Pläne für seine Rückkehr nach Spanien entworfen hatte. Er hatte von jeher liberaleren Grundsätzen gehuldigt, als sie die Moderadopartei zur Schau trug, als deren Haupt noch immer Martinez de la Rosa galt. Eben erst hatten die Progressisten ihn zu dem ihren machen wollen — sie haben diese Bemühungen bis zu seinem Tode fortgesetzt —, Cordoba selbst aber hatte sich das Ideal einer Vereinigung beider liberalen Parteien zum Ziele gesetzt, und schon vor seiner Rückkehr arbeitete er mit Eifer daran, die Führer derselben zu einer Aussöhnung zu bewegen. Unter diesen Umständen konnte ihm nichts weniger erwünscht sein als die Aufforderung, die militärische Stütze eines Moderadoministeriums abzugeben. Die Erinnerungen berichten von einem Staatsrathe über die Änderung eines Ministeriums, in dem diese Gegensätze sich scharf auseinandersetzten[1]). Narvaez, der damals noch so

[1]) 2, 239 f.

wenig einer politischen Partei zugehörte als Espartero und Cordoba, trat dennoch eifrig für die Bildung eines Ministeriums nach dem Wunsche der Regentin ein. Aber es gibt keinen überzeugenderen Beweis von dem überwiegenden Einflusse, den Cordoba noch immer oder wieder ausübte, als daß die Regentin sowohl wie Martinez de la Rosa ihre Absichten seinem wenig mehr als utopischen Plane unterordneten. Vielleicht war es die Selbstlosigkeit des Generals, die ihm diese Anerkennung verschaffte, denn er hatte für sich selbst in dem Versöhnungsministerium keinen Platz beansprucht, wohl aber durchgesetzt, daß dem General Espartero, seinem Rivalen, das Kriegsministerium angeboten werde. So entstand das Ministerium Ofalia. Aber freilich die öffentliche Meinung konnte so wenig die moralische Hoheit des Gedankens, der in ihm sich ausdrückte, fassen, als die Parteien sich dadurch in ihrem Wettbewerbe um die Vormacht stören ließen. Bald genug zeigte es sich, daß das Ministerium Ofalia es keinem recht machen konnte. In einem Punkte stimmte Cordoba vollkommen mit der Regentin überein, daß man nämlich der Regierung eine Stärke verschaffen müsse, die sie gegen Pressionen von außen widerstandsfähig machte und sie in den Stand setzte, sich Anerkennung und Gehorsam nöthigenfalls zu erzwingen. Das war aber undenkbar, so lange die ganze bewaffnete Macht Spaniens in den Nordprovinzen in einer Hand konzentrirt, das übrige Land aber jedem kühnen Streifzuge carlistischer Parteigänger wehrlos überliefert war. Dieser Auffassung entsprang der Gedanke, eine Armee der Reserve zu schaffen, und in Narvaez war nicht nur der rechte Mann für deren Organisation gefunden, sondern er war auch, da Cordoba selbst es nicht sein wollte, die geeignetste Persönlichkeit, um dem immer maßloser auftretenden Espartero die Wagschale zu halten. Man darf nicht vergessen, daß damals keiner von den drei Generalen in der Politik der Parteien noch die Rolle spielte, welche die Ereignisse ihnen später zugedacht haben. Espartero war wohl schon infolge seines zügellosen Ehrgeizes der persönliche Gegner der beiden anderen, und die Mißhelligkeiten, die er und sein unbedingter Anhänger Alaix mit Narvaez gehabt hatten,

machten wenigstens diesen ebenfalls zu einem persönlichen Gegner in einer Weise, in der es Cordoba vielleicht nie, unbedingt aber damals noch nicht gewesen ist. Die Erinnerungen bringen aber die überzeugenden Beweise dafür bei, daß die Bemühungen beider Parteien um jeden der drei Generale ununterbrochen fortdauerten, und besonders dafür, daß Narvaez keineswegs sich in den Dienst der Moderados stellte, auch dann nicht, als er vielleicht durch sie schon 1838 zur Militärdiktatur hätte erhoben werden können. Während nun die Erfolge, die Narvaez mit der Armee der Reserve in Andalusien und der Mancha erlangte, Espartero mehr und mehr zum Feinde der Regierung machten, setzten die Parteien den geheimen Kampf in der herkömmlichen Weise durch Tumulte fort, so daß das Ministerium Ofalia endlich ermattete. War schon das, was uns die Erinnerungen über das Zustandekommen desselben berichteten, werthvoll und bezeichnend, so gestalten sich die Nachrichten über die Bildung eines neuen Kabinets wieder einmal zu sensationellen Enthüllungen[1]). Die Regentin betrachtete im August 1838 den Versuch Cordoba's als gescheitert, durch die Versöhnung der Parteien der Regierung Stärke zu verschaffen, und als das Ministerium Ofalia seine Entlassung einreichte, kehrte sie zu ihrem Plane zurück, durch ein Ministerium der Moderados sich die Unterstützung wenigstens einer Partei zu sichern, die zudem sich auf eine geschlossene Majorität in beiden Kammern stützen konnte. Die Verhandlungen mit den Führern der Partei führten denn auch bald zu Resultaten. Die Moderados erklärten sich bereit, das Erbe Ofalia's anzutreten, aber sie verlangten von der Regentin, daß sie ihnen die thatkräftige Unterstützung Cordoba's verschaffte und im voraus in die Errichtung einer Diktatur willigte, falls der Widerstand Espartero's oder der Progressisten eine Suspension der Verfassung nöthig machen würde. Die Regentin ging nach zweitägiger Bedenkzeit auf die Bedingungen ein, sie berief Cordoba zu sich, um sich auch seiner Unterstützung zu vergewissern, allein hier stieß sie auf unerwarteten Widerstand. Cordoba war einerseits von seinem

[1]) 2, 273.

Versöhnungstraum noch nicht völlig geheilt, andrerseits aber traute er unter den gegenwärtigen Verhältnissen einer Regierung der Moderados nicht die Kraft zu, die beabsichtigte Situation der Gewalt durchzuführen, glaubte vielmehr, daß sie nur die Revolution entfesseln werde, um ihr zu unterliegen. Offenbar erfolgte diese Auseinandersetzung, die noch einmal die Wünsche der Regentin zum Scheitern brachte, überdies in einer Weise, die einem Zerwürfnis nicht unähnlich sah; denn Cordoba verließ danach plötzlich Madrid, und die Regentin bewies von diesem Augenblicke an gegen seine weiteren Schicksale eine Theilnahmlosigkeit, die auffallend absticht gegen die freundschaftlichen Beziehungen, welche bis dahin zwischen ihr und ihrem getreuen Berather bestanden hatten. Sein Einfluß aber überdauerte noch die persönliche Freundschaft. Die Königin wagte es nicht, die Regierung ganz in die Hände der Moderados zu legen. Ein neues Versöhnungsministerium unter der Leitung des Herzogs von Frias schob den Kampf noch einmal hinaus. Wenn man auch Espartero nicht an Cordoba's Stelle in die früheren Pläne aufnahm, so suchte man doch ihn zu gewinnen, indem man Alaix das Ministerium des Krieges übertrug. Von dem Ministerium Ofalia unterschied sich aber das neue doch nicht unwesentlich. Die Pläne einer Moderado-Diktatur waren unvergessen, denn während Espartero durch Alaix' Aufnahme mit den Moderados verbündet erschien und damit den Progressisten verdächtig gemacht wurde, suchte das Ministerium mit Hülfe von Narvaez dennoch jenen zu verdrängen, sobald sich die geringste Aussicht bot, diesen zu gewinnen. Die in den Erinnerungen abgedruckten Briefe sind einem andern Zwecke, von dem gleich weiter die Rede sein wird, untergeordnet. Die Nachrichten über diese Vorgänge sind deshalb zerstreut, und der Verfasser hat es unterlassen, selbst aus ihnen mit voller Klarheit die Konsequenzen zu ziehen, sie lassen aber trotzdem kaum einen Zweifel daran übrig, daß das Ministerium Frias entschlossen war, den oben erwähnten Staatsstreich auszuführen, nur mit dem Unterschiede, daß Narvaez die Rolle spielen sollte, die dem General Cordoba zugedacht war. Deshalb die Konzentration von Narvaez' Truppen in der

Nähe von Madrid unter dem Vorwande, sie nach Valladolid zu schicken, einem doppelt geschickten Vorwande, da er Espartero hoffen ließ, den Narvaez zu beseitigen, wenn er unter ihm kämpfen mußte. Allein der Mißerfolg konnte nicht ausbleiben. So sympathisch der Natur des Narvaez der Staatsstreich sein mochte, er war doch noch zu wenig in den Ansichten der Moderados heimisch, stand zu sehr noch unter dem Einfluß Cordoba's, als daß er sich zum blinden Werkzeug ihrer Politik gemacht hätte. Espartero zu verdrängen, die Regierung gegen ihn zu beschützen, war er unbedingt bereit, wie nicht minder davon überzeugt, daß er an Espartero's Stelle auch den Carlisten gewachsen sein werde. Und die Erreichung dieses Zieles muß ihm nahe vorgeschwebt haben, denn wir hören, daß auf seine dringenden Aufforderungen Cordoba schon bereit war, nach Madrid zurückzukehren, ja seine Versöhnungsideen einen Augenblick hintan zu setzen, um dem Freunde zu Hülfe zu kommen, um die von diesem beherrschte politische Situation zu unterstützen[1]). Aber weder Narvaez noch Cordoba wollten sich blindlings von den Moderados in eine Lage führen lassen, die sie in offenen Kampf mit einem großen Theile des Landes verwickelt hätte. Bei welcher Detailfrage — im Princip war man offenbar übereingekommen — dieser Gegensatz dann doch so mächtig hervortrat, daß im letzten Augenblick der Plan scheiterte, lassen leider die Korrespondenzen nicht ergründen, wir müssen sie aber zweifellos auf dem Gebiete der Parteipolitik suchen, wofür die folgenden Ereignisse einen weiteren Beweis geben.

In den Erinnerungen sind alle Briefe über die obigen Ereignisse in die Schilderung des Pronunciamentos von Sevilla eingeflochten, durch welches der General Cordoba und neben ihm Narvaez an die Spitze einer revolutionären Junta erhoben wurden. Der Verfasser der Erinnerungen betrachtet es als Ehrensache, seinen Bruder von dem Vorwurfe reinzuwaschen, daß er an diesem Pronunciamento irgend einen Antheil gehabt, daß er den Vorsitz der Junta aus einem anderen Motive als dem

[1]) 2, 288.

angenommen, die aufrührerische Stadt in die Bahnen der Gesetzlichkeit zurück zu lenken. Er ergreift diese Sache mit einem um so größeren Eifer, als in dem fast gleichzeitig veröffentlichten Buche von Canovas del Castillo, El solitario y su tiempo, die Ansicht ausgesprochen und verfochten wird, daß Cordoba, obwohl an dem Zustandekommen des Pronunciamento unschuldig, dennoch beabsichtigt habe, es zum Kampfe gegen Espartero auszunutzen. Es konnte natürlich der Sache selbst nur zum Vortheile gereichen, daß zwei so tief in die Geheimnisse der Politik eingeweihte Personen wie Canovas und der Verfasser der Erinnerungen, wenn auch nicht ganz nach übereinstimmenden Auffassungen, dieselbe zu erklären sich bemühen. Daß ich mich trotzdem keiner dieser beiden Darstellungen bedingungslos anzuschließen vermag, hat seinen Grund darin, daß keiner der beiden Politiker den Gang der Ereignisse ohne alle Widersprüche lösen kann, während doch die von ihnen beigebrachten zahlreichen Briefe und Aktenstücke eine befriedigendere Erklärung ermöglichen.

Der Verfasser der Erinnerungen bemüht sich vergeblich, den Ursprung des Pronunciamentos auf Espartero zurückzuführen. Dessen Hinneigung zu den geheimen Gesellschaften ist ja bekannt, und daß diese an dem Pronunciamento den Hauptantheil hatten, ist unverkennbar. Den weiteren Zusammenhang vermag aber der Verfasser nicht darzuthun. Ich glaube auch, daß ein solcher nicht existirt hat. Im Gegentheil erscheint mir der Zusammenhang so, als ob die Progressisten wieder einmal verzweifelt hätten, Espartero zu gewinnen, da dieser trotz der Ministerien der Moderados fortwährend in den scheinbar besten Beziehungen zur Regierung blieb. Sie wandten daher ihre Augen wieder einmal auf Cordoba, um den sich ihre Partei seit seiner Rückkehr beständig beworben hatte und den sie jetzt um so leichter zu gewinnen hofften, als sie wußten, daß er sich geweigert hatte, einem Moderadokabinet anzugehören, und dadurch bei Hofe in Ungnade gefallen war. Deshalb wurde seine Anwesenheit in Sevilla zu einem Tumulte benutzt, und die Art und Weise, wie man ihn kompromittirte, ehe er nur eine Ahnung davon hatte, was man beabsichtigte, war ohne Zweifel eine mit großem

Geschick durchgeführte Intrigue. Ich denke, auf diese Weise läßt sich auch am besten das Verhalten Cleonard's, des Generalkapitäns von Andalusien erklären, den der Verfasser der Erinnerungen gern zu einem halb willenlosen Werkzeug Espartero's stempeln möchte, obwohl Cleonard weder in politischer noch in persönlicher Beziehung jemals dem Siegesherzog nahegestanden hat. Cleonard gehörte zu der Gruppe der Moderados oder doch ihrer Freunde, die zwar die bestehende liberale Verfassung bedingungslos anerkannten, sich auch einer noch liberaleren Regierung fügten, aber mit Eifer bemüht waren, das Ansehen der Regierung hoch zu halten, und müßte es mit Maßregeln der äußersten Gewalt geschehen. Der Putsch von Sevilla erschien ihm anfangs bedeutungslos, selbst Cordoba's Einmischung anfangs nicht bedenklich; erst als ihm klar wurde, daß die progressistische Partei sich auf diese Weise eines der bedeutendsten Generale des Landes zu bemächtigen trachtete oder doch ihn gewonnen zu haben schien, erst dann hielt er die Sache für ernst und schritt mit jener verletzenden Strenge gegen Cordoba ein. Diese Auffassung, die allerdings weder von Canovas del Castillo noch vom Verfasser der Erinnerungen getheilt wird, findet eine Bestätigung in dem Verhalten der Progressisten sowohl wie Cleonard's während des Prozesses der Generale. Cleonard suchte von Anfang an die Sache des Narvaez von der Cordoba's zu trennen, meiner Ansicht nach deshalb, weil Narvaez in den Ereignissen, die dem Tumult unmittelbar vorangingen, den Moderados, wenn auch keinen Parteigehorsam, so doch eine unverkennbare Freundschaft bewiesen hatte. Die Progressisten aber, und vor allem Cortina, dessen Einfluß auf den Putsch von Sevilla wahrscheinlich noch weit größer war, als bisher nachgewiesen ist, gaben den Kampf um Cordoba keineswegs auf. Im Gegentheil, trotzdem er in Sevilla ihre Hoffnungen nicht erfüllt hatte, glaubten sie ihn in ihrem Interesse kompromittirt und boten ihm mehr als einmal an, bei den Wahlen für ihn einzutreten, wenn er die Führung ihrer Partei annehmen wolle.

Es bleibt nur noch zu erklären, wie Cordoba aus solchen Händen den Vorsitz der Junta annehmen konnte. Die Situation

hatte sich, das geht aus den Korrespondenzen von Cordoba und Narvaez hervor, so zugespitzt, daß die Moderados und die ihnen nahestehenden Unabhängigen stündlich einen Systemwechsel der Regierung fürchteten. Man erwartete die Entlassung der Moderados und die Bildung eines Ministeriums, dessen Mitglieder absolut von Espartero abhingen und zu den Progressisten schon deshalb hinneigen mußten, weil die Moderados zuletzt zu offenkundig die Beseitigung desselben angestrebt hatten. Schon war in Isturiz die Persönlichkeit gefunden, die auch der Regentin den Übergang annehmbar machen sollte. Die Auflösung der Cortes mit ihrer Mehrheit für die Moderados wäre die erste Folge gewesen, es galt nur noch den äußeren Anlaß für den Sturz des Ministeriums Frias zu finden, und dazu sollten die Tumulte den Anlaß geben. Cordoba aber mochte diese Gefahr erkennen, und wenn er sich auch kurz zuvor geweigert hatte, dem Moderado-Kabinet anzugehören, so war er doch entschlossen, dessen ungesetzliche Beseitigung hindern zu helfen. Indem er sich also an die Spitze der Junta von Sevilla stellte, wollte er deren Ministerfeindlichkeit beseitigen und zur Wiederherstellung der Ordnung, zum Respekt vor der Staatsgewalt beitragen, um dadurch der bestehenden Regierung einen Rückhalt zu gewähren, der sie davor bewahren sollte, vor einem Gewaltstreiche des Diktators des Nordheeres zusammenzubrechen. Indem er auch den Plan der Bildung eines starken Reserveheeres in Andalusien wieder aufgriff, wollte er die politische Situation wieder in das Gleichgewicht zurückbringen, das sie verloren hatte, seit die Regierung, von Espartero bedroht, die Entlassung des Narvaez angenommen hatte. Ob er, trotz seines persönlichen Mißerfolges, wirklich die Tage des Kabinets Frias verlängert hat, ob dieses sein Fortbestehen nur der Gefügigkeit gegen Espartero verdankte, ist nicht ersichtlich; die politische Rolle des Generals war aber ausgespielt, seit die Moderados die Macht verloren, die Progressisten aber an seinem persönlichen Feinde die militärische Stütze gefunden hatten, die ihnen zur Erreichung der Gewalt unentbehrlich war. Selbstverständlich bedeutete Espartero's Regiment für den General Cordoba die Verbannung, in der er

bald darauf einem chronischen Leiden erlag. Aber auch der Verfasser der Erinnerungen konnte sich mit dieser Wendung der Politik nicht aussöhnen. Ohne eigentliche Antheilnahme in den Versuch verwickelt, die Person der Königin aus dem Schloß zu entführen, 7. Oktober 1841, wurde er zum Tode verurtheilt und mußte gleichfalls in der Flucht in's Ausland seine Rettung suchen.

Mit diesen Ereignissen schließt der zweite Band der Erinnerungen, die bis dahin, wie man sieht, weit mehr dem älteren Cordoba gewidmet sind. Erst der dritte Theil enthält das, was man im engeren Sinne des Wortes die Erinnerungen des Fernando Fernandez de Cordoba nennen kann. Es zeigt sich dies auch schon in der äußeren Form des Werkes. In den beiden ersten Theilen berichtet der Verfasser nur selten Thatsachen, die ihm lediglich aus Erinnerung bekannt sind. Sie bilden eigentlich einen allerdings persönlichen Gesichtspunkten untergeordneten Beitrag zur Zeitgeschichte, dessen hervorragender Werth darin besteht, daß der Verfasser die Thatsachen stets aus öffentlichen Aktenstücken oder aus den hier zuerst veröffentlichten Privatbriefen der am meisten betheiligten Persönlichkeiten folgert oder die Richtigkeit seiner Erinnerungen damit belegt. Diese Art der Beweisführung gleicht vollkommen den scheinbar anhaftenden Nachtheil aus, daß der Verfasser während der Ereignisse noch eine sehr bescheidene Rolle spielte und, wie er uns selbst des öfteren gesteht, damals in die Geheimnisse nicht eingeweiht war, die er uns jetzt zu enthüllen vermag.

Das ändert sich vollkommen, sobald uns der Verfasser im dritten Theile wieder auf die Bühne des politischen Lebens zurückführt. An der Bildung der Christinischen Verschwörung gegen Espartero hatte Cordoba einen hervorragenden Antheil gehabt. Wenn wir seinen Worten glauben dürfen, war der Gedanke, das Heer nach Art der Freimaurer zu korrumpiren, von ihm angeregt, nach dem Vorbild der portugiesischen Militär-Verschwörung von Costa Cabral, und nicht, wie Pirala behauptet, von Narvaez. Dennoch zeigt uns Cordoba gerade Narvaez als den unbedingten Lenker. Er bestätigt auch, daß die beiden Jour-

nale der Moderados, die seit 1842 in Madrid erschienen, mit dem Gelde der Königin Christine begründet und von Paris aus dirigirt wurden. Im übrigen stimmt seine Schilderung der politischen Ereignisse bis zur Erhebung Prim's vollkommen mit dem überein, was Pirala erzählt. Überraschend sind die Notizen über das Bündnis, welches in den ersten Monaten des Jahres 1843 zwischen der progressistischen Opposition und den Emigrirten geschlossen wurde. Prim selbst kam als Botschafter der ersteren nach Paris, und wenn sich auch zwischen ihm und Narvaez kein erträgliches Verhältnis herstellen ließ, so wußte sich der zukünftige Graf von Reus doch in so hohem Grade die Freundschaft der anderen Emigrirten und vor allen die des Gemahls der Regentin, Muñoz, zu erwerben, daß der Zweck seiner Sendung vollkommen erreicht wurde. So war man denn in Paris auf das Pronunciamento von Reus vollkommen vorbereitet, und die Verschworenen hatten den Befehl erhalten, dasselbe überall mit allen Kräften zu unterstützen. Cordoba vermag uns, zum Theil noch im Originaltexte, die Befehle mitzutheilen, in welchen das oberste Komitee der Sociedad Militar, dem er selbst angehörte, seinen Mitgliedern ihre Rollen zutheilt. Danach war er selbst für Catalonien bestimmt, wohl mit Rücksicht auf seine Freundschaft mit Prim; O'Donnell sollte an die Spitze der baskischen Provinzen treten, die Conchas nach Valenzia, Narvaez aber nach Cadiz gehen. Die Ereignisse ließen aber keine Zeit zur Ausführung der wohldurchdachten Pläne, und besonders Narvaez konnte seine Mission nicht erfüllen. Dadurch ereignete sich ein Zwischenfall, welcher, bisher unbekannt, schlagend zeigt, wie wenig oft die Menschen ihr eigenes Bestes vorherzusehen wissen. Narvaez muß vom Schicksal zu seiner Rolle prädestinirt gewesen sein, denn immer, wenn seine persönlichen Wünsche weitab lagen vom Wege des Glückes, vereitelte der Zufall deren Erfüllung. Als Oberst im Nordheere wollte er die militärische Laufbahn aufgeben, um Postmeister in Bilbao zu werden, aber der General Cordoba verweigerte ihm den Abschied[1]). Nach dem Pronunciamento von Sevilla bemühte er

[1]) 1, 349 Anm.

sich, die Erlaubnis zur Rückkehr nach Spanien zu erlangen, um sich nach Loja zurückzuziehen und sich ausschließlich der Bewirthschaftung seines Grundbesitzes zu widmen. Daß sie ihm verweigert wurde, trieb ihn nach Paris, wo er die Seele der Christinischen Agitation wurde. Als er sich jetzt der Überzeugung nicht verschließen konnte, daß er Cadiz nicht rechtzeitig erreichen könne, um das Pronunciamento in Andalusien zu leiten, sandte er noch im letzten Augenblicke an Cordoba den Befehl, dahin zu arbeiten, daß er in Catalonien den Oberbefehl übernehmen könne. Cordoba verhehlte ihm keinen Augenblick das Unzweckmäßige dieses Planes, da das Pronunciamento Cataloniens einen ausschließlich progressistischen Charakter trug und der bisherige Führer, Prim, voraussichtlich wenig geneigt war, für ihn zurückzutreten. Wirklich fand denn auch schon Cordoba eine mißtrauische Aufnahme, und in Barcelona rettete ihn nur Prim's persönliches Eingreifen davor, daß dies Mißtrauen sich in Thaten ausdrückte. Auf die Andeutung aber, daß Narvaez den catalonischen Aufstand leiten wollte, erklärte Prim: lieber Espartero als Narvaez[1]). So mußte letzterer nach Valencia gehen, von wo er den Triumphzug nach Madrid antrat, der bei Torrejon de Ardoz ihn zum Helden der Revolution machte. Trotzdem führte der Zwischenfall zu einer zeitweisen Entfremdung zwischen ihm und Cordoba, die sonst durch die innigste Freundschaft verbunden waren.

Noch eine wichtige Berichtigung der bisherigen Auffassung der Ereignisse jener Tage geben uns die Erinnerungen an die Hand. Pirala hat die Sache so dargestellt, als ob die Majorenn-Erklärung der Königin Isabella ein Schritt der provisorischen Regierung Serrano's gewesen sei, durch den er den zu berufenden Cortes vorgegriffen habe. Thatsächlich ist aber der Gedanke, die Königin nach dem Sturze Espartero's für volljährig zu erklären, ein Punkt, der, wenn nicht von der Emigration ausgegangen, doch unzweifelhaft schon in den Pakt aufgenommen worden ist, durch welchen sich Progressisten und Moderados zum Sturze

[1]) 3, 51.

Espartero's vereinigten. Er findet sich daher auch in allen den Instruktionen, die das Centralkomitee von Paris nach dem Pronunciamento von Reus erließ, und Serrano that nichts weiter, als daß er diesem Artikel eine halb offizielle Anerkennung und Veröffentlichung zu Theil werden ließ.

Auch die Schilderung vom Sturze Olozaga's ist geeignet, die Thatsachen in etwas anderem Lichte erscheinen zu lassen, als die progressistischen Historiker bisher zu verbreiten für gut befunden haben. Daß die Auflösung der Cortes mit ihrer gemäßigt liberalen Majorität eine empfindliche Niederlage der Moderados gewesen wäre, darüber konnte kein Zweifel herrschen, und die Partei war entschlossen, alles aufzubieten, um dies zu hintertreiben. Darüber große Berathung der Parteihäupter im Palaste, als deren Resultat die Legende von der gewaltsamen Entwindung des Auflösungsdekretes hervorging. Als es aber galt, die Verantwortung für die so geschaffene Lage zu übernehmen, da waren alle die Kapazitäten der Partei doch zu stolz, wissentlich einer Unwahrheit die Ministerpräsidentschaft zu verdanken. Allein ebenso mißlang der Versuch, einem progressistischen Ministerium die heikle Aufgabe aufzubürden. Erst nachdem diese Versuche gescheitert, suchte man danach, nur irgend jemanden zu finden, der den unvermeidlichen Sturm über sich ergehen ließ, und so kam das Ministerium Gonzalez Bravo zustande.

Während der Zeit der Moderado-Herrschaft war Cordoba fortwährend in hohen militärischen Ämtern beschäftigt, und seine versöhnliche politische Gesinnung trug überdies dazu bei, ihn den Kämpfen der Parteien fern zu halten. Er berichtet daher aus dieser Zeit wesentlich nur über Fachgegenstände, über Hebung des Geistes im Heere und materielle Verbesserungen. Natürlich muß er auch der mehrfachen Putsche gedenken, zu denen die ununterbrochenen Verschwörungsarbeiten der progressistischen Partei Anlaß gaben; über die treibenden Faktoren der inneren Politik in der Frage der Vermählung der Königin, bei den wiederholten Ministerwechseln, erfahren wir zwar eine Menge neuer Details, aber dieselben sind nicht ausreichend, um ein vollständiges Bild der Ereignisse zu erlangen. Eine der

gefährlichsten Verschwörungen hatte Cordoba 1848 in Barcelona niederzuhalten, als er das Generalkapitanat von Catalonien übernommen hatte, aber auch hier würde eine Verwerthung des hochinteressanten Materials ein zu tiefes Eingehen auf diesen Gegenstand nöthig machen. Dagegen ist eine Berichtigung über das Ende dieses Kommandos wohl am Platze. Hubbard[1]) erklärt, die Regierung habe erkannt, daß Cordoba für die Bewältigung der doppelten Aufgabe, die Revolution und die Carlisten in Catalonien zu unterdrücken, nicht befähigt sei, und ihn deshalb abberufen. Wir wollen dahingestellt sein lassen, ob das System der Indultos, durch deren Gewährung unter Cordoba und seinem Nachfolger Concha der carlistische Aufstand seine Führer, einen nach dem andern, verlor, ein vorwiegendes Verdienst des Generals gewesen ist, jedenfalls ist die Schilderung der von ihm eingeleiteten Unterhandlungen höchst interessant für die Geschichte dieses Carlisten-Krieges. Es genügt aber, nur den Brief von Narvaez, dem damaligen Haupte der Regierung, vom 28. November 1848 zu lesen, um sich zu überzeugen, wie willkürlich diese und viele andere Behauptungen des republikanischen Geschichtschreibers gewesen sind[2]).

Der Verfasser kommt natürlich in seinen Erinnerungen noch einmal eingehend auf die Geschichte der spanischen Expedition nach dem Kirchenstaate während des Jahres 1849 zurück, obwohl er sie früher schon zum Gegenstande einer besonderen Veröffentlichung gemacht hatte. Da sie aber in keiner Hinsicht hervorragende Resultate zu Tage gefördert hat, am wenigsten aber für die Geschichte Spaniens bedeutend gewesen ist, glaube ich mich mit dem Hinweis auf die Besprechung der oben erwähnten Schrift begnügen zu können[3]). Für den Verfasser war diese Episode insofern von ganz besonderem Interesse, als sie für die Gestaltung seines weiteren Lebens von großem Einfluß wurde.

---

[1]) Histoire contemporaine de l'Espagne 5 (Ser. III tom. I) [Paris 1882], 112.

[2]) 3, 205.

[3]) La revolucion de Roma y la expedicion española a Italia en 1849. Madrid 1882. (Vgl. H. Z. 53, 174.)

Nachdem die stürmischen Ereignisse des Jahres 1854 den Aufenthalt in Spanien unmöglich gemacht hatten, ist er fast zehn Jahre lang im Kirchenstaate als Direktor der Eisenbahnbauten thätig gewesen, eine Stellung, welche er den intimen persönlichen Beziehungen verdankte, die sich 1849 zwischen ihm und dem Papst Pius IX. gebildet hatten. Auf die Ereignisse aber, die diese neue Verbannung herbeiführten, müssen wir an der Hand der Erinnerungen noch etwas näher eingehen. Seit die Partei der Moderados in den Cortes keine Opposition mehr fand, d. h. seit dem Jahre 1844, begann sie zu zerfallen. Unter den sich neu bildenden Gruppen dienten die meisten allerdings nur dem Ehrgeize ihrer Führer, um mit diesen die Früchte des Sieges zu genießen. Nur eine Gruppe, die von Pachcco geführte der Puritanos, entstand auf Grund eines politischen Programms, und nicht nur auf Grund persönlicher Differenzen. Ihre Spitze war gegen den Einfluß der Exregentin Christine und ihres Gemahls, des Herzogs von Rianzares, gerichtet, welche ihre außerordentliche Gewalt über die Königin nur zu gunsten solcher Personen verwandten, die ihren habsüchtigen Spekulationen das Ansehen und die Geldmittel des Staates dienstbar machten. Überdies nahm die Gruppe in ihr Programm den Schemen jener idealen Verbrüderung aller liberalen Elemente auf, für welche beide Cordobas so eifrig gekämpft hatten. Die Undurchführbarkeit der Vereinigung war doppelt einleuchtend, seit es keinen gemeinsamen Gegner mehr zu bekämpfen gab, und so beschränkten sich denn auch die Puritaner darauf, der Regierung unbedingte Parteilosigkeit und strenges Festhalten an den bestehenden Gesetzen vorzuschreiben, um damit allen Parteien die Aussicht auf gesetzliche Verfechtung ihrer Ideen und auf den gesetzlichen Triumph derselben zu gewähren. Daß Cordoba sich dieser Gruppe anschloß, braucht kaum erwähnt zu werden. Aber auch Narvaez versicherte diese Gruppe seiner Unterstützung, als das Ministerium Isturiz, welches den Sieg der Königin Mutter über alle anderen Einflüsse am unbedingtesten darstellte, ihn zu erneuter Auswanderung nach Paris nöthigte. Er blieb der Partei treu, während der beiden Ministerien Pacheco und Goyena,

welche diese Grundsätze praktisch auszugestalten versuchten, und als er selbst in das Kabinet trat, geschah es mit dem Vorsatze, die Politik der Puritaner fortzusetzen, soweit immer dies mit Unterstützung aller Fraktionen der Moderado-Partei möglich war. Aber einmal im Besitze der Macht und im Kampfe mit den revolutionären Strömungen der Jahre 1848 und 1849 wurde Narvaez mehr und mehr nach rechts gedrängt, bald stützte er sich ausschließlich auf die streng moderirt gesinnten Gruppen, und 1850 ging er so weit, die meisten Puritaner zu verbannen. Aber auch sein Sturz im Jahre 1851 bedeutete keine Änderung der Politik; Bravo Murillo, Roncali, Lersundi regierten in demselben Sinne wie ihr Vorgänger, so daß man in die Zeiten des aufgeklärten Despotismus eines Zea Bermudez zurückversetzt zu sein wähnen konnte. Selbstverständlich befand sich Cordoba während der ganzen Zeit in den Reihen der Opposition; erst als Sartorius, obwohl ganz den Palasteinflüssen ergeben, wieder ein parlamentarischeres Regiment einführte und die berüchtigte Verfassungsänderung Bravo Murillo's aufgab, gab auch Cordoba seine bedingungslose Opposition auf. Er war schon damals der erklärte Präsidentschaftskandidat für ein neues Puritaner-Kabinet, und nur der Umstand, daß er neben Sartorius aushielt, als auch diesen die maßlose Opposition auf die gewaltsamen Bahnen eines Narvaez zurückdrängte, hat ihn den Rückhalt seiner Parteigenossen in dem Augenblicke verlieren lassen, wo er ihre Sache vielleicht mit besserer Unterstützung hätte zum Siege führen können.

Auch Cordoba war von den Verschworenen zum Beitritt aufgefordert worden. Was ihn hinderte, seine Übereinstimmung mit ihren Gesinnungen zu bethätigen, war das Gefühl, daß seine Pflicht höher stehe als seine Neigung, ein Gefühl, das zu Spaniens Unglück unter seinen Offizieren und Staatsmännern überaus selten war. Obwohl so in die intimsten Geheimnisse nicht eingeweiht, enthüllt uns Cordoba doch eine Eigenthümlichkeit der Verschwörung, die bis jetzt, wohl mit Absicht, von den progressistischen Historikern verschwiegen worden ist. Obwohl das ganze Komplot notorisch nur von einer in der

Opposition befindlichen Gruppe der Moderado-Partei ausging, haben es die Progessisten sich zu eigen gemacht, weil allerdings eine Wendung eintrat, die ihnen die Früchte der Revolution in den Schoß warf. Wenn es noch eines Beweises für diesen Gang der Ereignisse bedarf, so erbringt ihn die Enthüllung Cordoba's, daß Narvaez, der erbittertste Gegner der Progressisten, von Anfang an von dem Komplot unterrichtet war und nicht wenige Anhänger demselben durch persönliches Eingreifen werben half [1]). Freilich haben die Ereignisse dann der Revolution einen so verschiedenen Lauf gegeben, daß er nicht Theil nehmen konnte, die Sieger aber auch keine Veranlassung fanden, sich seines Antheils zu rühmen. So sehr sich also auch die Progressisten Mühe geben, Dulce als einen der ihrigen darzustellen, so sehr sie den Antheil ihrer Parteiführer in den Vordergrund drängen, der doch über ein thatenloses Mitwisserthum vor dem 16. Juli kaum hinausging, so bleibt die Bewegung in ihren Anfängen, bei der Aktion von Vicalvaro und den folgenden Ereignissen, doch ein reines Unternehmen der Moderados. Das erklärt, daß die Königin wiederholt durch ihr persönliches Eingreifen den Frieden herstellen zu können hoffte und daß sie unter Mitwissen sowohl des Kabinets als anderer Häupter der Partei wiederholt Verhandlungen mit O'Donnell und den Vicalvaristen anknüpfte. Hubbard hat die Stirn, den Rückzug O'Donnell's nach der Schlacht von Vicalvaro als einen Triumphzug darzustellen, bei dem er, überall begeistert von den Scharen des Volkes begrüßt, im Triumph in Sevilla eingezogen sei [2]). Auch hier berichtigt Cordoba die parteilich entstellten Thatsachen, indem er nachweist, daß O'Donnell, obwohl schwach verfolgt, doch nicht nur Sevilla, sondern auch kleinere Städte wie Ciudad Real meiden mußte, weil die Bevölkerung loyal blieb und sich ihm widersetzte. Der Putsch der Moderados gegen das Ministerium Sartorius war völlig fehlgeschlagen, O'Donnell suchte bereits die portugiesische Grenze zu gewinnen, als endlich das nach den ersten Mißerfolgen

[1]) 3, 354.

[2]) A. a. O. 5, 205.

eingegangene Bündnis mit den Progressisten Früchte trug, dem Moderado-Putsch ein progressistischer Aufstand von ganz anderer Tragweite folgte, und nun beide gemeinsam siegten. Das Zustandekommen des Bundes, die Entstehung seines Programms, die Proklamation, die O'Donnell in Manzanares erließ, ist in den Hauptzügen schon bekannt gewesen. Dagegen berichtet uns Cordoba wesentlich Neues über die Politik, welche die Königin in jenen Tagen befolgte. Cordoba's Hinneigung zu den Vicalvaristen war dem Hofe kein Geheimnis, um so höher achtete man seine Pflichttreue. Es ist daher kein Wunder, daß die Königin ihn schon am 3. Juli, d. h. drei Tage nach der Schlacht von Vicalvaro, zu sich beschied, um mit ihm über die nothwendigen Schritte zu berathen. Die Königin wollte um jeden Preis weiteres Blutvergießen vermeiden; sie war bereit, einer Aussöhnung mit den Empörern das Ministerium Sartorius zu opfern, es galt nur die Würde des Thrones dabei zu wahren und sich des Erfolges zu vergewissern. Was Cordoba ihr damals rieth, ist ungefähr dasselbe, was er 14 Tage später bei Bildung des sog. Ministeriums metralla in Scene setzte: Die Bildung eines Kabinets mit hervorragenden Persönlichkeiten aller Parteien, die Beseitigung gewisser besonders mißliebiger Maßregeln von zweifelhafter Gesetzmäßigkeit, durch welche Sartorius die Presse zum Schweigen gebracht und Geld in den leeren Staatssäckel zu schaffen versucht hatte, und eine allgemeine Amnestie. Aber, und hierin kann man ihm nur unbedingt beistimmen, er erklärte der Königin, daß sie, um ihre Würde zu wahren, das Ministerium Sartorius nicht eher entlassen dürfe, als bis einige Erfolge gegen die Empörer diesen und dem Lande die Gewißheit gäben, daß ihr Entschluß ein freiwilliger und nicht eine Kapitulation vor der Militär-Revolte sei. Cordoba vermuthet, daß dies Programm dem Präsidenten des Kabinets nicht verborgen geblieben und vielleicht die Ursache gewesen sei, daß er die Verfolgung der Aufrührer gar so lässig betrieben habe; doch wohl mit Unrecht. Jedenfalls hätte aber die Königin schon vor dem 17. Juli das Programm zur Ausführung bringen können — denn O'Donnell war so gut wie vernichtet — und sollen, damit sie zeigte, daß

es ihr Ernst sei mit der gesetzlicheren Absicht und daß sie nicht die einfache Rückkehr zu dem Gewaltregimente Sartorius vorzog. Ihr Schwanken gab den Verfolgten Zeit zum Bunde mit den Progressisten, und diesen, noch vor deren völliger Vernichtung einen neuen Aufstand zu entflammen. Die Kunde von den Pronunciamentos von Valladolid und Barcelona bewog Sartorius zur Abdankung, und Cordoba wurde mit der Bildung des neuen Ministeriums am Abende des 17. Juli beauftragt. Seinem Programm getreu, warb er zu seinen Kollegen zwei Anhänger O'Donnell's und drei Progressisten, während außer ihm nur ein Moderado im Kabinet saß, der der Aktionsgruppe nicht angehört hatte. Die Progressisten suchen mit einem gerechten Gefühle der Scham den Eintritt von drei der ihrigen in ein Ministerium, welches sie drei Tage im Straßenkampfe verfolgt haben, soviel als möglich als einen persönlichen Akt der Betheiligten darzustellen, den sie im Widerspruch mit der Partei getroffen hätten. Trotzdem vermögen sie die Thatsache nicht abzuleugnen, daß Verhandlungen mit dem leitenden Komitee der Partei der Annahme der drei Portefeuilles durch ihre Parteigenossen vorangegangen waren. Überdies theilt uns Cordoba mit, daß Olozaga, das eigentliche Haupt der Progressisten, ihm schon vorher die Unterstützung seiner Partei bestimmt in Aussicht gestellt habe, wenn er Cantero und Laserna in sein Koalitionsministerium aufnähme [1]); eben diese Männer aber nahmen in der Nacht vom 17. zum 18. Juli gleichzeitig mit ihrem Parteigenossen Roda die Portefeuilles der Justiz der Finanzen und des Handels in dem Kabinet Rivas an, denn an diesen hatte Cordoba das Präsidium abgetreten. Unter diesen Umständen wird es den Progressisten, aus deren Reihen übrigens noch eine Anzahl angesehener Männer das Ministerium im dreitägigen Kampfe gegen die Revolution unterstützten, recht schwer werden, sich darüber zu rechtfertigen, daß sie gleichzeitig im Rathhause sich an der Konstitution der Revolutions-Junta hervorragend betheiligten, die eben dieses Ministerium bekämpfte, und daß Männer von dem Ansehen eines San Miguel den Empörern

[1]) 3, 379.

im Kampfe gegen die Staatsgewalt behülflich waren. Es charakterisirt dies auf merkwürdige Weise die Moralität einer Partei, die sich durch die Unmoralität ihrer Gegner zum Kampfe berechtigt erklärte. Die Erinnerungen des Generals Cordoba berichtigen in zahllosen Einzelnheiten die Geschichte jenes dreitägigen Barrikadenkampfes, aus dem die Revolution als Siegerin hervorging, aber es ist nicht möglich, hier ein so eingehendes Bild der Kämpfe zu entwerfen, um dies zur Geltung zu bringen. Auch sind diese Notizen thatsächlich minderwerthig im Vergleiche zu den oben erwähnten charakteristischen Schlüssen, die sich aus seiner Darstellung ergeben. Der Sturz des Ministeriums, der Sieg der Revolution nöthigten ihn abermals, Spanien zu verlassen, und ich erwähnte schon oben, daß sich Cordoba im Kirchenstaate einen allerdings sehr anders gearteten Wirkungskreis schuf.

Erst im Herbst des Jahres 1863 kehrte er abermals nach Spanien zurück auf die dringenden Bitten seiner Parteigenossen, die das Ende der liberalen Union stündlich erwarteten und mit Bestimmtheit darauf rechneten, ihre Erbschaft unverweilt anzutreten. Die Moderados traten wieder einmal mit den besten Absichten, mit dem ausgesuchtesten Programm den Feldzug an. Dasselbe Programm hatte O'Donnell 1854 auf seine Fahnen geschrieben: strengste Moralität der Verwaltung, volle Freiheit der Wahlen, unverbrüchliche Treue in der Beobachtung der Konstitution; aber weder er noch ein anderer Staats- oder Parteimann, dem diese Folie zu einer großartigen Opposition gedient hatte, war im Stande, das Programm von der Ministerbank aus durchzuführen. Die Einflüsse, mit welchen der Minister im Besitze der Gewalt zu rechnen hatte, waren ganz andere als die, welche die Haltung einer Oppositionspartei bedingten. Wenn die Regentin aus Überzeugung liberal gesinnt gewesen war — und sie blieb es bis an ihr Ende, obwohl ihre anderweitigen Ansprüche sie fast immer in die Reihen der Feinde aller liberalen Parteien trieben — so war dagegen Isabella, die in ihren jüngeren Jahren gewiß die Gesinnungen ihrer Mutter theilte, nach und nach wenigstens in dieser einen Beziehung in die Gewalt ihres wenig geliebten Gatten gekommen. Die neukatholisch-absolutistischen

Neigungen desselben stießen bei ihr auch dann nicht mehr auf ernstlichen Widerstand, wenn sie auf politischem Gebiete den Kampf mit allen freisinnigen Elementen der Bevölkerung herausforderten. Deshalb mußte ein Ministerpräsident vor allem ein gewandter Hofmann sein, der, den Einflüssen der Camarilla scheinbar nachgebend, doch seinem Programme so weit treu zu bleiben wußte, daß ihm die Opposition nicht über den Kopf wuchs. O'Donnell hatte das besser verstanden als irgend einer vor ihm, aber auf die Dauer konnte es doch nicht ausbleiben, daß weder der Hof noch seine Gesinnungsgenossen mit ihm ihre Rechnung fanden, und die Moderados rechneten ganz richtig, daß der Hof ihnen am liebsten die Gewalt in die Hände geben würde. Daß Narvaez in der Opposition ein liberales Programm unterstützte, war gewiß kein Grund, ihn nicht zu berufen, denn man wußte zu genau, daß ihn, einmal im Besitze der Macht, jeder Widerstand unfehlbar zu den Absolutisten drängte; aber Narvaez war kein kühler, glatter Höfling, sondern eine Natur voll urwüchsiger Kraft, die er nur zu oft nicht nur gegen Einflüsse von unten, sondern auch gegen solche von oben geltend machte. So kam es, daß nach O'Donnell's Sturz die eigentlichen Moderados nicht berufen wurden. Man versuchte, mit Miraflores diese Partei zu entwaffnen, mit Arrazola und Mon eine Fusion derselben mit der liberalen Union zu Stande zu bringen, und erst als alles dies der Regierung kein Ansehen und keine Macht zu geben vermochte, wurde Narvaez und mit ihm die Blüthe der alten Moderado-Partei zur Regierung berufen, wobei Cordoba das Ministerium des Krieges übernahm. Die liberalen Vorsätze hielten zwar diesmal etwas ernstlicher vor als sonst, aber die Partei zerfiel bald in sich gefährlicher als je. Gerade Cordoba war es, der dazu die Veranlassung gab. Der Begeisterung für die Vereinigung aller liberalen Parteien glaubte er jetzt ein weiteres Feld eröffnen zu können; er behielt in den höheren Militärposten nicht nur Männer der liberalen Union, selbst pflichttreue Offiziere der progressistischen Partei bei und wehrte sich, durch deren Entfernung Platz zu schaffen für die Streber, die in ihrer moderirten Gesinnung Anwartschaft auf

Avancement zu finden glaubten. Aber das Streberthum war stärker als Cordoba, er mußte aus dem Ministerium ausscheiden, und dieses, von neuem zur Reaktion gedrängt, fiel ebenfalls (Juni 1865), um wieder O'Donnell Platz zu machen. Cordoba erfuhr an sich selbst, daß sein Beispiel der Attraktion aller Parteien bei O'Donnell auf fruchtbaren Boden gefallen war. Die freien Wahlen des Ministeriums Narvaez hatten nur für einen Moment die Verschwörungen der Progressisten zum Stillstand gebracht. Als Narvaez sich zur Gewalt entschloß, nahmen sie ihre Arbeiten wieder auf, und Cordoba erzählt uns, daß diese drohende Gefahr O'Donnell bewog, ihn an sich zu ziehen und mit ihm den Theil der Moderado-Partei, der dem strengen Konstitutionalismus huldigte. Er wußte freilich nicht, daß O'Donnell zu derselben Zeit auch mit den Progressisten Fühlung suchte, um sich auf sie gegen die Moderados zu stützen. Von diesen höchst eigenthümlichen Verhandlungen setzt uns das Buch von Muñiz über die Revolution von 1868 in Kenntnis, das überhaupt für die letzten Kapitel der Erinnerungen Cordoba's eine vorzügliche Kontrolle und eine werthvolle Ergänzung ist [1]). Auch Cordoba hatte von diesen Unterhandlungen reden hören, die mit dem Namen Lersundi eng verknüpft sind, aber er bezweifelt die Wahrheit der verbreiteten Gerüchte [2]). Muñiz dagegen beweist durch Briefe von Prim selbst, daß dieselben doch nicht unbegründet waren. Die Königin war persönlich dem General Prim nicht abgeneigt und hatte ihn wiederholt heranzuziehen versucht. Allein Prim hatte fest zu den Progressisten gehalten, und daran waren die Unterhandlungen gescheitert. Aber auch der Hof konnte sich das Anwachsen der Bewegung nicht verhehlen, Prim's verunglückte Erhebung in Villarejo enthüllte doch die großen Kräfte, die, wenn auch noch ungenügend verbunden, nach dem Ziele größerer Freiheit strebte. So wollte man, wie einst O'Donnell, so jetzt Prim ungefährlich machen,

---

[1]) 3, 493.

[2]) Apuntes historicos sobre la revolucion de 1868 tom. I. II. [Madrid 1884. 1885.]

indem man sich scheinbar in seine Arme warf. Direkte Verhandlungen führten zu der Abmachung, daß O'Donnell durch Lersundi ersetzt, dieser aber nur als Macher freier oder den Progressisten günstiger Wahlen benutzt werden sollte, auf Grund deren dann Prim die Gewalt in die Hände nehmen sollte[1]). Sei es nun, daß O'Donnell zu zeitig Wind bekam, sei es, daß Lersundi mit der ihm zugetheilten Rolle nicht zufrieden war, dessen erneute Vereinigung mit O'Donnell machte jedenfalls den Plan zu nichte. Die Verschwörungsarbeit setzte wieder ein, und der Aufstand vom 22. Juni 1866 brachte abermals Narvaez an's Ruder, diesmal aber wohl nur, um mit seiner gewaltthätigen Herrschaft die Revolution zu erdrücken. Daß seine Kraft dazu doch nicht ausreichte, auch wohl nicht ausgereicht hätte, wenn ihn nicht ein plötzlicher Tod noch vor dem Ausbruche des Kampfes hinweggerafft hätte, haben die Ereignisse bewiesen. Gonzalez Bravo setzte mit denselben Personen dasselbe System fort, und doch brach alles den Revolutionären selbst überraschend schnell zusammen. Zwei Punkte noch aus der unmittelbaren Vorgeschichte der Revolution werden von Cordoba in ein neues Licht gestellt. Der eine betrifft die Stellung O'Donnell's, d. h. nach Cordoba's Ansicht die der liberalen Union, zu den Umsturz-Bestrebungen der vereinigten Progressisten und Demokraten. Bekanntlich starb O'Donnell noch vor Narvaez, aber schon in der Periode der werdenden Revolution. Aus einem Briefe desselben, der nur wenige Wochen vor seinem Tode geschrieben ist (26. Okt. 1867), sucht Cordoba zu beweisen, daß O'Donnell ein Gegner der Verbindung zwischen Unionisten und Progressisten gewesen sei[2]). Dagegen legt Muñiz unwiderleglich dar, daß die prinzipielle Entscheidung über das Zusammengehen der beiden Parteien schon mehrere Wochen früher gefallen und von Prim und Dulce die Basis dazu ausgearbeitet worden war[3]). Die Ansicht Cordoba's ist unzweifelhaft die verbreitetere, auch

---

[1]) Muñiz a. a. O. 1, 107 ff.
[2]) 3, 510 ff.
[3]) Muñiz a. a. O. 1, 193 ff.

Lauser[1]) hat die Sache ungefähr so aufgefaßt, allein die weiteren Phasen der Verschwörung, wie sie uns Cordoba selbst erzählt, lassen keinen Zweifel darüber, daß die Angaben von Muñiz korrekt sind. Entweder war O'Donnell nicht aufrichtig gegen Cordoba, und das halte ich in Anbetracht der früheren Vorgänge zwischen beiden für das Wahrscheinlichere, oder die Führung der liberalen Union war schon vor O'Donnell's Tode an Dulce übergegangen, denn dieser schloß im Namen der Partei mit Prim ab.

Der zweite Punkt betrifft die Betheiligung des Herzogs von Montpensier. Daß dieser der Thronkandidat der Unionisten, und besonders Serrano's war, ist ja längst bekannt, dagegen war man über die Art der gegenseitigen Verpflichtungen mehr oder weniger auf Vermuthungen angewiesen. Cordoba theilt uns nun mit, auf welchem Wege die erste Annäherung zustande kam[2]). Keinem anderen als ihm selbst wurde der Auftrag von Serrano und Dulce übermittelt, den Herzog über die Mittel und Pläne der Revolution in Kenntnis zu setzen. Merkwürdigerweise sagt Muñiz kein Wort über diesen Schritt, obwohl er wie Dulce zu dem leitenden Komitee gehörte, und wenn auch der Schritt bei dem Herzog von der liberalen Union ausging, so beweist doch Dulce's Mitwirkung, daß die Angelegenheit nicht gegen den Willen des Komitees in Angriff genommen wurde. Es zeugt von großem Geschick, daß man gerade Cordoba zu dieser Sendung verwandte, ihn, der bis vor kurzem der konservativen Partei angehört hatte und jedenfalls weniger als revolutionär gelten konnte als irgend ein Unionist oder Progressist. Übrigens war die Form des Auftrages so vorsichtig und schonend für die dynastischen Ideen als möglich, denn man setzte den Herzog nur davon in Kenntnis, daß eine überwältigende Verschwörung gegen das bestehende Regiment auszubrechen im Begriff stehe, und fragte an, ob man auf ihn zählen dürfe, wenn der Thron dabei

---

[1]) Geschichte Spaniens vom Sturz Isabella's bis zur Thronbesteigung Alfonso's (Leipzig 1877) 1, 23 ff.

[2]) 3, 513 ff.

frei werden sollte. Die erste Audienz Cordoba's in dieser Angelegenheit fand am 17. Januar 1868 statt und führte unmittelbar zu einer Verständigung, die aber, soweit Cordoba's Andeutungen reichen, den Herzog bei weitem nicht so tief in die Verschwörung verwickelt erscheinen lassen, als dies von anderer Seite behauptet wird. Auch Muñiz weiß nichts davon, daß der Herzog mit großen Summen die revolutionäre Propaganda unterstützt habe, sondern erzählt nur, daß derselbe am 20. August direkt bei dem Komitee anfragte, wie die progressistische Partei sich zu seiner Thronkandidatur zu stellen gedenke. Die Antwort wird kaum sehr günstig gelautet haben, da Prim die Möglichkeit, sich der Revolution zur Verfügung zu stellen, von Napoleon III. damit erkaufte, daß er sich gegen die Kandidatur Montpensier verpflichtete.

Mit den bekannten Ereignissen des September schließt Cordoba seine Erinnerungen. Wir sehen mit Spannung dem Momente entgegen, wo die Erben des Generals den Zeitpunkt für gekommen erachten werden, den späteren Theil seiner Erinnerungen der Öffentlichkeit zu übergeben.

# Miscellen.

## Friedrich der Große und die Prädestination.

Ranke hat zuerst betont, daß der Konflikt zwischen Friedrich Wilhelm I. und seinem ältesten Sohne verschärft wurde durch ein religiöses Moment. Der Kronprinz zeigte, ehe er sich der französischen Aufklärung zuwandte, eine Neigung für die Prädestinationslehre, der König verabscheute sie. Die Stärke des Gegensatzes erhellt aus den Urkunden und Urkundenauszügen, die im folgenden veröffentlicht werden. Das erste Stück, betreffend den angeblichen Übertritt des Kronprinzen zur römischen Kirche, gehört insofern hierher, als es das Mißtrauen des Vaters in einer besonders drastischen Weise zum Ausdrucke bringt. M. L.

1. Bericht des Geheimen Raths Christian v. Brandt, Gesandten am kaiserlichen Hofe. Wien 27. September 1730.

„Daß der gemeine Mann nicht allein hier, sondern auch im ganzen Reiche sich mit unterschiedene Zeitungen schleppet, als wann des Kronprinzen K. H. die Religion hätte changiren, nachgehends die älteste Erzherzogin heirathen und sodann römischer König werden sollen, solches habe zwar auch hin und her anhören müssen, aber so übel gegründet und wegen der daher zu besorgenden Jalousie so schwer und fast impracticable gefunden, daß ich mich gescheuet, mit diesem leeren Geschwätze E. K. M. zu behelligen und verdrießlich zu fallen: maaßen ohnedem bekannt ist, daß die katholische Geistliche und der gemeine Mann dasjenige leicht glauben, was sie wohl wünschen und ohne allen Zweifel gerne sehen würden."

Rand-Verfügung des Königs: „Der schelm der zu Kustrin sitzet hat es ausgebracht. F. W."

2. „Instruction vor den Geheimten Rath v. Wolden und die Kammer-Junkere v. Natzmer und v. Rohwedel, welche Sr. K. M. Dero Kronprinzen Hoheit vorgesetzt, um zu Küstrin bei ihm zu sein und auf ihn Achtung zu geben." Wusterhausen 14. November 1730.

. . . „Insonderheit soll der v. Wolden mit dem Kronprinz fleißig aus Gottes Wort discouriren und ihm die irrige Lehre des Particularismi aus dem Sinn bringen und ihm aus der heiligen Schrift beweisen, daß Gott nicht Schuld ist an der Menschen Bosheit, sondern daß die Menschen selber Schuld sind an ihrer Bosheit und Verdammniß. Derowegen soll aller Umgang und Correspondenz des Kronprinzen mit dem reformirten Prediger Classen zu Cüstrin vermieden werden. Es soll auch der Geheimte Rath v. Wolden dem Prediger Classen in Sr. K. M. Namen anbefehlen, daß, woferne er eine Predigt thäte in Gegenwart des Kronprinzen oder so lange derselbe in Cüstrin wäre, darinnen er directe oder indirecte den Particularismum anführete, so würden S. K. M. ihn von seinem Dienste absetzen und aus dem Lande jagen. Dahero der v. Wolden fleißig hierauf Acht haben soll und Sr. K. M. berichten, ob auch hierinnen Dero Wille erfüllet werde". . .

3. Eigenhändiges Schreiben des Königs an den Geheimen Rath Wolden. Mackenau 29. November 1730.

„Ich habe Eueren Brief wohl erhalten und darin gesehen, daß der Bösewicht von seiner falschen Prädestination nicht abgehen will. Will er zum Deufel fahren, so fahre er hin; indessen habe das Meinige gethan, Ich habe mir nichts zu reprochiren. Wollte Gott, Ich wäre vor Gott in allen Stücken so weiß, als in diese alle Sachen, die Ich mit diesem Bösewicht gehat. Indessen sollen sie drei[1]) nicht unterlassen, allemal vorzustellen seinen Irrthum und dieses durch Anführung der heiligen Schrift, die ich solider halte als das Dordrechtsche Concilium". . .

4. Immediat-Bericht des Geheimen Raths Wolden. Küstrin 30. November 1730.

Antwort auf den Befehl vom 29. November.

„Anlangend die Praedestination glaubet der Kronprinze, daß er besser gethan habe, seine Herzensmeinung klar und deutlich zu ent-

[1]) Wolden, Natzmer und Rohwedel.

decken, als durch Heuchelei und verstelltes Wesen Gott und E. K. M. suchen zu hintergehen, und das um so viel mehr, da in Religion- und Glaubenssachen man alle Complaisance zu detestiren habe. Indeß versichere, daß sowohl die beiden Kammer-Junkere als ich alles anwenden werden, den Kronprinzen zu desabusiren, auch der Instruction ferner, so wie bishero geschehen, auf das punctuelleste nachleben"...

5. Cabinets-Befehl an den Geheimen Rath und General-Auditeur Mylius. Potsdam 4. December 1730.

„S. K. M. p. befehlen Dero Geh. Rath und General-Auditeur Mylius in Gnaden, den Hofprediger Andreae scharf zu verhören, wer dem Kronprinzen, dessen Unterweisung im Christenthum ihm anvertraut gewesen, die Principia des verteufelten und seelengefährlichen Particularismi inspiriret habe, weil S. K. M. nicht sehen können, auf was Art solches geschehen mögen, wenn gedachter Hofprediger seiner Pflicht und denen königlichen oftmalig wiederholten Befehlen zufolge den Prinzen die allgemeine Gnade Gottes in Christo beigebracht hätte. Dahero der p. Mylius ihm solches rechtschaffen und ernstlich vorzuhalten und ihm desfalls wegen Unterlassung dieses nöthigen Stückes seiner Schuldigkeit zur schweren Verantwortung zu ziehen beordert wäre. Überdem wollen hochgedachte S. K. M., daß der Mylius die hiebei folgende zwei Schreiben[1]) an den General von der Infanterie Graf v. Finckenstein und Obristen v. Kalckstein selbst in Dero königlichen Namen einliefern und übergeben soll."

6. Protokoll über die Vernehmung des Hofpredigers Andreae. Berlin 6. December 1730.

... „Der Hof-Prediger Andreae antwortet: Er könnte eidlich behaupten, wie er bis diese Stunde nicht wisse, daß der Kronprinz dergleichen Principia hege, also daß er sich darüber jetzo verwundere. Was aber die von ihm beschehene Information des Kronprinzen anlangete, so habe er den Kronprinz nicht anders unterrichtet, als die heilige Schrift und alle Glaubensbekentnisse der reformirten Kirche, insonderheit auch des Kurfürstens Johannis Sigismundi (welches Deponent gleich allen Hofpredigern nach Sr. K. M. Befehl zwei Mal unterschrieben habe) es erforderten. Es habe Deponent seinen Unterricht des Kronprinzens in Christenthum von Anfang her und

[1]) Vgl. Nr. 7 u. 8.

allezeit, ohne Streitfragen zu berühren, dahin gerichtet, daß er Ihro Hoheit auf die rechte Erkenntniß unsres Heilandes Jesu Christi und sein theures Verdienst, auch desselben Gnade in liebreicher Einladung an alle arme Sünder zu sich, und also auf den wahren Glauben an denselben, auch auf ein gottseliges Leben geführet. Und gleichwie er, Deponent, dafür hielte, daß die Materie von denen ewigen Rathschlüssen Gottes auch in öffentlichen Predigten mit der größesten Behutsamkeit verhandelt werden müsse, weil sie so voll Geheimnisse wäre, also habe er insonderheit wegen des Kronprinzens Jugend und damaligen Alter abstrahiret, davon zu tractiren, sondern er habe nur den Kronprinz gesaget, daß diese Materie von denen Rathschlüssen Gottes vor Ihro Hoheit noch zu hoch wäre, also daß der Kronprinz von dem Particularismo keine Principia von ihm (Deponenten) gefasset habe, noch fassen können. Und da er nun schon einige Jahre nicht mehr den Kronprinz in Christenthum unterrichtet, sondern nach ihm der Hofprediger Noldenius, so würde derselbe wissen, ob er an den Kronprinz nachhero dergleichen Principia gemerket habe. Diesem füget Herr Deponent noch hinzu, daß wie er durch obiges Betragen seiner Pflicht zuförderst gegen Gott und dann auch Sr. K. M. allergnädigsten Intention gemäß gehandelt zu haben vermeinet, also hoffe er auch hierbei außer aller Verantwortung gesetzet zu sein."

7. Immediat-Bericht des Generals Grafen v. Finckenstein. Berlin 7. December 1730.

. . . V. M. me permettra cependant gracieusement de toucher ici pour ma justification, qu'ayant toujours été présent alternativement avec le colonel de Kalkstein, quand le prince a été informé dans la religion, moi ni ledit colonel, tout Luthérien qu'il est, ne nous sommes jamais aperçu des insinuations, qui puissent tendre au *particularismum* ou des principes contraires aux articles mentionnés de l'instruction[1]) . . .

8. Immediat-Schreiben des Obersten v. Kalckstein. Berlin 9. December 1730.

„E. K. M. allergnädigstem Befehl gemäß hat mir der Geheimte Rath Mylius sowohl E. K. M. gnädiges Schreiben[2]) als auch meine

[1]) Vgl. Nr. 8.

[2]) Vom 3. December 1730; bei Cramer, zur Geschichte Friedrich Wilhelm's I. und Friedrich's II S. 36.

ehemalige Instruction[1]) selber eingehändiget. Es lässet meine Devotion und Pflicht nicht zu, daß der Knecht gegen seinen Herren und also gegen E. K. M. ich mich verantworte. Sollte aber sonst jemand mich beschuldigen wollen, ich hätte im geringsten an meiner Pflicht vorsätzlich gefehlet, so wollte ich mit Freuden mit ihm vor das schärfste Gericht treten und niemand anders als E. K. M. allerhöchste Person selbst zum Richter über mich in der allervollkommensten Gelassenheit allerunterthänigst ausbitten und alsdann erweisen, daß ich so wenig bei Zeit als Unzeit kein Blatt vor's Maul genommen, sondern frei die Wahrheit geredet und über Allem, so mir laut meinem Eide obgelegen, mit dem größten Eifer gehalten. Woher nun oder von wem der Kronprinz die von mir alle mein Leben lang vor verflucht und verdammlich gehaltene Principia des Particularismi genommen oder gelernet, kann ich ohnmöglich ergründen. Dann E. K. M. höchst wissend, daß ich evangelisch-lutherisch bin, und von unserm Augsburgischen Glaubensbekenntniß gehe ich auch im gringsten Punct nicht ab; in diesen Principiis lasse ich auch meine Kinder informiren: also hat es der Kronprinz von mir nicht gelernet. In denen Stunden, da er von denen Hofpredigers informiret worden, bin ich wechselsweise mit dem General Graf v. Finckenstein allezeit gegenwärtig gewesen, bezeuge auch mit Gott und an Eides Statt, daß in allen denen besagten Informations-Stunden, welchen ich beigewohnet, niemals von dieser teufelischen Lehre mit meinem Wissen mit einem Wort gedacht worden. Ich habe auch gleich bei Anfang gedachter Information dem Hofprediger Andreae den Articul, der die Religion angehet, wohlbedächtig in meiner Instruction selber lesen und es also an keiner Präcaution fehlen lassen; gegen mich hat der Kronprinz niemals dergleichen Sentiments nur zu hegen spüren lassen, widrigen Falls ich nicht würde ermanglet haben, E. K. M. davon ohngesäumt und pflichtmäßig zu rapportiren. Was den Hochmuth oder Stolz angehet, so habe ich von diesem schändlichen Laster ihm jederzeit die Abscheulichkeit vorgestellet. Von der Oeconomie ist bei allen Gelegenheiten geredet und dieselbe aufs beste recommandiret, auch die Realität dieses Puncti mit sattsamen und in die Augen leuchtenden Gründen erwiesen worden. Meine Lebensart hat auch dem Kronprinzen zu keiner bösen Folge dienen können; dann da ich niemals viel in der Welt gehabt, so habe ich auch jederzeit mich be-

[1]) Ebenda S. 3 ff.

flissen, meine Ausgaben nach der Einnahme zu richten. In Summa, ich wünschete von Grund der Seelen meinem Gott mit so viel Liebe, Treue und Eifer gedienet zu haben, als E. K. M. zu dienen ich mich jederzeit beflissen. Daß aber alle meine Arbeit nicht nach Wunsch gerathen, bedaure ich von Grund der Seelen und wünsche gleichmäßig, daß der Allerhöchste es also schicke, damit der Kronprinz die recht Vatertreue erkennen und dadurch E. K. M. (wie ich dann die Hoffnung nicht ganz schwinden lasse) in vollkommene Ruhe setzen möge."

9. Eigenhändiges Schreiben des Königs an den Geheimen Rath Wolden. Potsdam 12. December 1730.

„Daß Euer Untergebener ihm in Küstrin die Zeit lang wird, thut Mir von Herzen leid, es ist Meine Schuld nit. Sage Er ihm, Ich hätte ihm wohl tausend Mal vorgestellet süße und sauer; er hätte das Saure erwählet, also wäre es nun an ihm, es standhaftig auszuhalten. Er sollte denken, wie hundertfältig er sich an seinen Vater versündiget hätte, daß er an alle Leute geklaget hätte, was er bei Mir so ein elende Leben führen müsse und es nicht auszuhalten wäre, in Wusterhausen absonderlich. Also wäre Cüstrin besser als den Vater gehorsamen; er wäre von Gott dazu prädestiniret, Mir ungehorsam zu sein, dieses wäre seine verdammliche Lehre, also sollte er nur feste dabei bleiben, seinen Vater nit glauben in diesen Punct, so wie er vor diesen seinen Vater auch nit glauben wollen. Also kann er sich gewiß Staat machen, nach den Teufel zu fahren, wo er die Lehre nit changirete. Alles, was sein Vater saget, glaubet er nit; er hat itzo den Glauben Cüstrin in die Hand, ist Bagatelle; aber ewig, ewig, ewig zum Teufel verdammet, da ist kein Perdon! Also der v. Wolde, lese Er dieses vor!"

10. Cabinets-Befehl an den Geheimen Rath Wolden. Oranienburg 13. December 1730.

„Da der Kronprinz sich bei einen und andern so viel herausgelassen, er wäre auf den Particularismum gerathen, weil er davon einige Discourse bei der Tafel gehöret, daß solches eine schädliche Lehre sei, welches ihn veranlasset, allerhand Controversien und dergleichen Bücher sich anzuschaffen und selbige zu lesen, so will Ich, daß Ihr denselben in Meinen Namen ernstlich befragen sollet, wen er denn über diese Materie um Rath gefraget und wer ihm gesaget, was vor Autores wären, woraus man die Sätze des Particularismi

lernen könne. Ihr müsset Mir von seiner Antwort Bericht abstatten."

P. S. „Denn seine Hofmeister und Andreä wollen zu Gott schwören, sein Tage nicht[1]) die Materie touchiret zu[1]) haben, weil Ich es so scharf verboten hätte."

11. Immediat-Bericht des Geheimen Raths Wolden. Küstrin 16. December 1730.

„E. K. M. allergnädigsten Ordre vom 12. und 13. curr. zu unterthänigster Folge habe den Kronprinzen befraget, wie er auf den Particularismum zuerst gerathen, was er vor Autores über diese Materie gelesen und wer diejenigen wären, so ihm die Bücher, woraus man die Lehrsätze des Particularismi lernen könne, in die Hände gespielt hätten.

„Darauf mir der Kronprinz zur Antwort gegeben, daß er die Grundsätze dieser Lehre hauptsächlich gefasset hätte aus der Epistel Pauli an die Römer im 9. Capitel. Hiernächst wäre er von ohngefähr auf ein gewisses Buch eines katholischen Scribenten namens Mons. Bossuet, so Bischof zu Meaux gewesen, gerathen, welcher einen Tractat geschrieben, so er L'histoire des variations de l'Église réformée nennet, worin obgedachter Bossuet die Lehrsätze der reformirten Religion auf das heftigste impugnirt und selbige seiner Meinung nach vieler Irrthümer überführen und beschuldigen will. Dieses Buch zu refutiren hat der bekannte Basnage einen Tractat herausgegeben unter dem Titul: L'histoire de l'Église réformée, worinnen er die Wahrheiten der reformirten Religion aufs beste mit sehr soliden Argumentis behauptet, auch unter andern Controversien die Lehre vom absoluten Decreto abhandelt und defendiret. Dieses Buch wäre ihm von ohngefähr in die Hände gefallen, wodurch er immer mehr und mehr in seiner Opinion wäre gestärket worden.

„Dieses ist, was ich von dem Kronprinzen auf dieses Chapitre habe zur Antwort erhalten und E. K. M. so hinterbringe, wie ich es aus seinem Munde gehöret.

„Dabei er denn versichert, daß so wenig der Hofprediger als auch seine gewesene Hofemeistere diese Sache niemals touchirt haben, er auch keinen Menschen darüber um Rath gefraget, weilen er die Frage vom Particularismo vor speculativ und mehr vor philosophisch

[1]) „nicht" und „zu" fehlen in der Handschrift.

als theologisch hielte, auch noch halte, folglich der aus dieser Opinion gefolgerten gefährlich scheinenden Consequenzen sich gar nicht theilhaftig gemacht, noch weniger geglaubet, daß solche auf das praktische Christenthum die geringste Influence habe. Es detestiret also der Kronprinz die denen Reformirten fälschlich imputirte Lehre, welche Gott zum Urheber der Sünde machet und daß alles Böse durch einen unveränderlichen Rathschluß desselben geschehen müsse.

„Dieses sind die Sentiments des Kronprinzen überhaupt von der Praedestination. Wobei denn E. K. M. allerunterthänigst versichern kann, daß diese Materie gar öfters aufs Tapet kommt und darüber raisonnirt werde, jedoch so, daß man alle Mal trachte, den Kronprinzen zu gewinnen und ihm bessere Fundamenta beizubringen“...

Rand-Verfügung des Königs: „er soll und muss sagen wer ihn die Bücher verschaffet.“

12. Cabinets-Befehl an den Geheimen Rath Wolden. Schönebeck 20. December 1730.

„Ich habe Euer Schreiben wohl erhalten, und bin Ich dadurch leider mehr und mehr in der Meinung gestärket worden, daß Euer Untergebene noch eben das böse und falsche Herz habe, welches er vorhin gehabt, ehe er die bekannte Lâcheté begangen, und daß es mit seiner Bekehrung nichts als Heuchelei sei. Es wird sich Euer Untergebener wohl zu besinnen wissen, was Ich ihm tausend Mal auf das Sujet seines malhonneten Herzens sowohl alleine als in Présence vieler Officiers und noch zuletzt im sächsischen Lager gesaget hätte: daß Ich für seine Person nichts so sehr besorgete und befürchtete, als daß er zwar seine andern Unartigkeiten und Untugenden mit der Zeit und den Alter verlieren würde, aber daß sein Herz ganz und gar nicht gut sei und er also kein honnête homme jemals werden würde; denn ein ehrlicher Mann müsse aufrichtig in der Welt wandeln, nicht lügen, nicht betrügen und kein falsch Zeugniß reden. Denn wenn ihm seine Landes-Obrigkeit, sein Herr und Vater oder derjenige, unter dessen Subordination er stehet, über etwas befehlsweise befraget und er die Wahrheit nicht heraussaget, sondern sich mit Ausflüchten durchzuhelfen vermeinet, so zeiget er dadurch, daß er ein Lügener und malhonnête homme sei. Also kann ich hierdurch sehen, daß er schlechte Reflexion auf die treue Vermahnungen, welche Ich ihm so oft und vielmal gegeben, gemacht hätte, da doch,

wie Ich ihm öfters gesaget, nichts so klein gesponnen wäre, es käme doch alles an der Sonnen. Dahero er Mich fast auf den Gedanken bringen sollte, als wenn der liebe Gott ihm prädestiniret hätte, daß sein Herz nicht geändert werden und er also zur Verdammniß fahren sollte. Denn Euer Untergebener wird ja wohl glauben, daß die Bücher, woraus er den Particularismum geschöpfet haben will und welche seinen Sagen nach ihm so von ohngefähr in die Hände gerathen, keine Flügel noch Füße haben und also sich ihm nicht selbst zum Lesen offeriret, sondern es ist handgreiflich, daß ihm jemand dergleichen Schriften benannt und ein ander ihm selbige gekauft und gebracht haben müßte. Daß ihm ferner diese gottlose Lehre weder von dem Prediger Andreae noch von seinen Hofmeistern oder andern Praeceptoren beigebracht worden, solches ist auch allen Ansehen nach der Wahrheit nicht gemäß; denn da er diese teuflische Lehre nicht von Mir oder in Meiner Gegenwart hören und lernen können, indem niemals in Meiner Gegenwart davon gesprochen worden, so fället die Praesumption und der Verdacht nothwendig auf diejenigen, so stets um und bei ihm gewesen. Also wiederhole Ich hierdurch nochmals Meinen vorigen ernstlichen Befehl, daß Euer Untergebener die Wahrheit rein heraus sagen soll, wie und auf was Art er diese schädliche Meinung gelernet und wer ihm die Bücher recommendiret auch gebracht habe.

„Sonsten habt Ihr auch vor den Prinzen um Permission angehalten, diesen oder jenen zu Gaste zu bitten oder zu Gaste zu gehen. Ich befehle Euch aber alles Ernstes, auf das schärfeste auf Eure beschworne Instructions in allen Stücken zu halten und nichts davon zu relachiren. Denn es weiß der Kronprinz sehr wohl, was Ich ihm tausend Mal gesaget, daß, wenn er Meinen Willen sich gehorsamlich unterwerfen und selbigen mit lachenden Muthe thun würde, Ich ihm alles dasjenige, was er nur bitten und verlangen möchte, mit Plaisir accordiren wolle; aber woferne er auch das Gegentheil thun und ein malhonnet Herz, worinnen Falschheit nnd Betrügen, auch weder Ehre noch Scham wäre, behalten würde, so wolle und würde Ich alle Mittel gebrauchen, ihm das Leben bitter und sauer zu machen.

„Weil er nun dieses nicht glauben wollen und darüber in seine itzige ihm unangenehme Umstände gerathen, so ist itzo nichts anders vor ihm zu thun, als daß er entweder ein rechter honnête homme werden oder succumbiren müsse. Dannenhero wäre Mein noch-

maliger Wille und wohlgemeinter Rath, daß er alle Verstellung, Heuchelei, Falschheit und Unwahrheit aus seinem Herzen mit Ernst verbannen, sich aufrichtig zu den lieben Gott, der nicht sein Verderben, sondern sein wahres Beste suchet, bekehren und die schädliche Lehre des Particularismi ablegen und nicht durch Caprice und eigene Hochachtung wider besser Wissen und Gewissen soutiniren, auch in allen Vorfällen und Versuchungen zu diesen oder jenen Bösen sich herzlich im Gebet zu Jesu unsern allgemeinen Heiland wenden und bei denselben Hülfe und Gnade suchen solle, daß er nicht ewig verloren gehe. Ihr sollet ihm nun dieses Schreiben in Gegenwart derer beiden Kammer-Junker v. Natzmer und v. Rohwedel von Wort zu Wort vorlesen und sodenn weiter von seiner Erklärung Euren Bericht abstatten."

13. Immediat-Bericht des Geheimen Raths Wolden. Küstrin 26. December 1730.

... „Hiernächst kann nicht unberührt lassen, wie daß der Kronprinz durch E. K. M. zwei letztere Schreiben abermals in die größeste Consternation gesetzet und auf das heftigste mortificiret worden, zumal da E. K. M. Sich noch immer von ihm defiiren und ihn im Verdacht haben, als wäre sein Herz weder gegen Gott noch seinen allergnädigsten König und Vater aufrichtig, sondern es bestünde bei ihm alles in Heuchelei, Falschheit und verstellten Wesen. Dahero der Kronprinz mir befohlen, E. K. M. in unterthänigsten Respect zu versichern, daß er hinführer Gott und sein heiliges Wort niemals aus den Augen setzen, sondern denselben inbrünstig anrufen wolle, daß er mit seinem heiligen Geiste ihn regieren und zu allen Zeiten leiten möge und sich also Gottes und E. K. M. beständigen Gnade versichern könne. Anlangend die Praedestination, so declarirt der Kronprinz, daß, da er sehe, daß seine bisherige Sentiments E. K. M. gänzlich zuwider und verhaßt wären, so wollte er aus unterthänigen Respect gegen E. K. M. und aus wahrer Intention, die er hätte, in allen Stücken sich zu submittiren und alles dasjenige, was die völlige Retour Dero königlichen und väterlichen Gnade auf einige Weise verhindern könnte, gänzlich aus dem Wege zu räumen, diese Meinung gerne fahren lassen und sich solcher Gedanken gänzlich entschlagen. Die Bücher versichert er auf's theuerste in einem Catalogo gesehen und darauf bei Naudé gekaufet zu haben, als von welchem er alle Mal Bücher, wenn er welche gebrauchet, hätte holen lassen, daß also weder der

Hof-Prediger Andreae noch seine Hofmeistere daran nicht den geringsten Theil hätten. Dieses ist, was ich in Gegenwart der beiden Kammer-Junker zur Antwort erhalten."

14. Cabinets-Befehl an den Geheimen Rath Wolden. Berlin 28. December 1730.

„Ich ersehe aus Euren Schreiben vom 26. dieses, daß es sich mit den Kronprinzen gebessert. Anlangend seine Entschuldigung wegen derjenigen, so ihm die Lehre vom Particularismo beigebracht, so sehe Ich wohl, daß er die Wahrheit nicht sagen werde, als bis sie ihm durch scharfe Mittel abgepresset wird. Aus den Catalogis hat er nicht sehen können, welches Buch dem absoluten Decreto patrociniret, weil diese Meinung eine Zeit lang ganz verdecket und nicht so offenbar, daß man sie aus den Titel eines Buches hätte sehen können, der Welt vorgeleget worden."

# Literaturbericht.

Geschichtsel. Mißverstandenes und Mißverständliches aus der Geschichte. Gesammelt und erklärt von **Simon Widmann.** Paderborn, F. Schöningh. 1891.

Das Wort, das den Titel dieses Buches bildet, rührt von dem Turnvater Jahn her, welcher darunter „Dichtgeschichten und Falschgeschichten" verstand. Widmann faßt unter dem Worte zusammen „die in die Geschichte gedrungenen! und noch dringenden Fabeln, die auf unrichtiger Herleitung eines Wortes beruhenden Erdichtungen, die an geschichtliche Begriffe und Namen sich knüpfenden Mißverständnisse und Verwechselungen". Die Einteilung des Buches folgt der Geschichte, indem mit Ägypten begonnen, mit den modernen Völkern geschlossen wird; ein Wörterverzeichnis erleichtert die Benutzung sehr wesentlich. Die Belesenheit des Vf. ist ebenso groß wie sein Fleiß; mit unermüdlichem Eifer hat er eine Masse von Stoff zusammengetragen, und wir erfahren ebenso, daß Labyrinth ursprünglich ägyptisch lope-ro-hunt lautete und „Tempel am Eingang zum See" bedeutete, wie daß Benedetti 1870 in Ems sich persönlich durchaus untadelhaft betragen und nur die — allerdings herausfordernden — Weisungen seines Ministers ausgeführt habe. Manchmal freilich schüttelt man über die Behauptungen des Vf. den Kopf, und in kirchlicher Hinsicht erweist er sich als strammer Ultramontaner, welcher im Stil der „Geschichtslügen" die Jesuiten als die unschuldigsten der Menschen darzustellen sich bemüht. Für Pascal's Provinzialbriefe bleibt unter solchen Umständen nur die Bezeichnung „berüchtigt" übrig, und das Te Deum, das der Papst nach der Bartholomäusnacht abhalten ließ, sowie die Münze mit der Umschrift strages Hugonotorum werden wieder damit entschuldigt, daß der Papst an ein vereiteltes Attentat gegen Karl IX. geglaubt habe.

G. Egelhaaf.

Die Flutsagen. Ethnographisch betrachtet von **R. Andree.** Braunschweig, F. Vieweg u. Sohn. 1891.

Vf. will dem Völkergedanken in den Flutsagen, der namentlich durch die theologische Betrachtung der hebräisch-chaldäischen Flutsage verdunkelt ist, zu seinem Rechte zu verhelfen. Er hält deshalb Umschau über die ganze Erdoberfläche, sammelt nach Möglichkeit Flutsagen, ist bestrebt, in denselben Ursprüngliches und Entlehntes zu unterscheiden, und gibt auch Gründe für die Entstehung derselben an. Er weist nach, daß die Flutsagen weder universell sind — sie sind in gewaltigen Erdräumen unbekannt — noch ausschließlich aus dem biblischen Berichte abgeleitet sind, noch auf Ein Ereignis zurückgeführt werden können, sondern verschiedene, zum Theil lokale Ursachen haben. — Der kritische Apparat mag wohl etwas dürftig erscheinen, doch ist die Methode in der Behandlung der schwierigen Frage sachgemäß und maßvoll; auch der Historiker wird Belehrung aus dem anspruchslosen Büchlein schöpfen. F. B.

Römische Geschichte. Von **Wilhelm Ihne.** VII. Die Bürgerkriege bis zum Triumvirat. VIII. Das Triumvirat bis zum Kaiserthum. Leipzig, Engelmann. 1890.

Vorzüge und Mängel des Ihne'schen Geschichtswerkes sind aus den bisher erschienenen Bänden sattsam bekannt. Läßt es sich auch nicht verkennen, daß J. in die Aufgabe, an die er vor mehr als 20 Jahren ohne ausreichende Kenntnis der Schwierigkeiten sowohl wie der zu ihrer Beseitigung verfügbaren Mittel herangetreten war, bis zu einem gewissen Grade hineingewachsen ist, so hat er es doch zu voller Beherrschung des Gegenstandes auch jetzt nicht gebracht. Die Ungleichmäßigkeit und mit jedem Bande wachsende Breite der Darstellung zeigt, daß er ganz von der Menge des ihm zufließenden Stoffes abhängig und nicht im Stande ist, ihn innerhalb der durch die Rücksicht auf die Gesamtaufgabe gebotenen Grenzen zu behandeln: daß die vorliegenden beiden Bände auf zusammen über 900 Seiten nur einen Zeitraum von 18 Jahren (vom Beginne des Bürgerkrieges zwischen Cäsar und Pompeius bis zur Schlacht bei Actium) umfassen, wird auch durch die große historische Bedeutung dieser Periode nicht ausreichend gerechtfertigt. Allerdings trifft die Schuld nicht J. allein, insofern vom Texte dieser beiden Bände nur etwa ein Viertel (7, 1—236) von ihm herrührt, während der weitaus größere Theil den am 22. April 1877 verstorbenen A. W. Zumpt zum Verfasser hat: ein von

diesem hinterlassenes Manuskript einer römischen Geschichte von Cäsar's Tod bis zur Alleinherrschaft des Augustus fand J. in Erzählung, Auffassung und Urtheil mit seiner eigenen Art so übereinstimmend, daß er die Arbeit seines Freundes mit den nöthigen redaktionellen Änderungen in sein Werk aufnahm. Natürlich war das nicht möglich, ohne daß von der inneren Geschlossenheit und Gleichartigkeit der Darstellung ein gut Theil geopfert wurde: obwohl J. betont, daß, wenn er diese Bände geschrieben hätte, ohne Zumpt's Arbeit zu kennen, das Ergebnis von dem jetzt vorliegenden kaum erkennbar verschieden gewesen sein würde, so würde es doch einer sondernden Kritik nicht schwer fallen, auch ohne J.'s Angaben nicht nur nach stilistischen, sondern auch nach sachlichen Verschiedenheiten die Antheile beider Mitarbeiter zu scheiden. Gemeinsam aber ist ihrer Auffassung und Darstellung das Epigonenhafte gegenüber Mommsen: man hat auf Schritt und Tritt den Eindruck der Unfreiheit, in der die Vf. der bahnbrechenden Leistung Mommsen's gegenüberstehen, nur daß sich die Abhängigkeit nicht in der Entlehnung, sondern im Gegensatze zeigt, in dem Streben, auf jeden Fall zu anderer Auffassung zu kommen als der große Vorgänger: z. B. das ewige Kritteln und Deuteln an Cäsar's Charakter und Handlungsweise und die selbst in der Würdigung der literarischen Verdienste weit über das Ziel hinausschießenden Versuche zur Rettung Cicero's finden nur so ihre Erklärung und, wenn man will, ihre Entschuldigung. In den fachmännischen Kreisen der Philologen und Historiker dürften auch diese Bände nicht allzugroßen Sympathien begegnen, eher werden sie unter dem „gebildeten Publikum", soweit dasselbe an einer guten Portion Nüchternheit keinen Anstoß nimmt, Leser finden: weder dem einen noch dem andern Kreise aber hat J. durch den Abdruck einer Reihe Zumpt'scher Exkurse (7, 472—483; 8, 432—439) einen Dienst geleistet; der Laie wird sie ungelesen lassen, weil sie ihn nicht interessiren, und der Fachmann wird das Gleiche thun, sobald er sieht, daß hier zum größten Theile Fragen erörtert werden, die inzwischen endgültig entschieden oder doch erheblich über den von Zumpt noch vertretenen Standpunkt hinaus gefördert sind. G. Wissowa.

De forma Urbis Romae deque Orbis antiqui facie dissertatio I et II. Scripsit **A. Elter.** Progr. univ. Bonn, C. Georgi. 1891.

Diese gelehrte und gedankenreiche Arbeit liefert einen sehr wichtigen Beitrag zur Geschichte der antiken und zum Theil auch der

mittelalterlichen Kartographie, indem die Frage nach der Orientirung der Stadtpläne und Weltkarten in eindringender und durchaus selbständiger Weise erörtert wird. Ausgehend von der neuerdings durch eine Entdeckung Chr. Hülsen's gesicherten Südostorientirung des kapitolinischen Stadtplanes, für welche Elter auf Grund genauer Beobachtung der Gepflogenheiten des Anfertigers noch eine Reihe auch für die Einzelheiten der römischen Topographie wichtiger Bestätigungen beibringt, unternimmt E. den Nachweis, daß im Gegensatze zu dieser Urkunde die Kartenbilder der Römer durchweg die Orientirung nach Süden hatten, und erläutert dies insbesondere durch die Reihenfolge der Zählung bei offiziellen Eintheilungen (augusteische Regionen von Rom und Italien, diocletianische Reichseintheilung) und durch eine lehrreiche Zusammenstellung derjenigen Zeugnisse, in denen alte Schriftsteller einzelne Örtlichkeiten mit Bezugnahme auf ein ihnen vorschwebendes Kartenbild als links oder rechts, oben oder unten liegend bezeichnen; auch die abweichende Richtung der griechischen (nach Norden) und der meisten mittelalterlichen Karten (nach Osten) und die Ursachen der verschiedenen Orientirung kommen zu ausführlicher Besprechung. Obwohl der Vf. zuweilen den Zeugnissen zu viel entlocken will und die Neigung zeigt, feste Normen zu finden, auch wo individuelle Willkür oder praktische Rücksichten ihren Einfluß geübt haben, so scheint mir doch der Beweis für die Südorientirung der römischen Land- und Weltkarten erbracht. Aber in einem wichtigen Punkte hat mich E. nicht überzeugt, wenn er nämlich annimmt, daß auch der Stadtplan von Rom in republikanischer Zeit sowohl wie namentlich in der offiziellen augusteischen Form nach Süden gerichtet gewesen sei und daß Septimius Severus für den auf uns gekommenen Plan aus bestimmten Gründen eine abweichende Orientirung gewählt habe. Meines Erachtens beweist weder die Zählung der servianischen Tribus noch die der augusteischen Regionen noch eines der sonstigen von E. angeführten Zeugnisse etwas anderes, als daß weder Norden noch Osten oben lag: mit der Annahme einer Südostorientirung vertragen sie sich dagegen zum mindesten ebenso gut wie mit der einer südlichen, und in der augusteischen Eintheilung bildet doch, wie E. selbst zugibt (2, 6), die Richtung der via Appia ganz ebenso die Axe wie in der severischen. Ich kann daher an eine Abweichung zwischen beiden Plänen nicht glauben und meine, daß wir vielmehr die Erklärung dafür suchen müssen, warum der Stadtplan von Rom eine andere Orientirung hatte als die sonstigen römischen

Kartenbilder. Die äußere Rücksichtnahme auf die Unterbringung des Planes auf einer rechteckigen Wand reicht zur Erklärung nicht aus, wohl aber kann die von O. Richter aufgestellte Ansicht, daß die Orientirung des Templum der palatinischen Roma quadrata für die aller römischen Stadtpläne maßgebend geblieben ist, nicht so leichthin abgewiesen werden, wie es 2, 28 geschieht. Auf den sonstigen reichen Inhalt der Abhandlung, in der E. noch eine Menge wichtiger Fragen, wie z. B. die nach der Tempelorientirung und nach den Arten der Limitation streift, und in anregender Weise behandelt, kann hier nicht eingegangen werden: für die Erörterung über die bald nach Süden, bald nach Osten gerichtete Orientirung der auguralen templa hätten die Ausführungen von P. Regell, Jahrb. f. Philol. 123 (1881), 607 ff. und J. M. J. Valeton, Mnemosyne 17, 275 ff. Berücksichtigung verdient. G. Wissowa.

De annalibus Romanis quaestiones. Scripsit **A. Volkmar.** (Dissertation.) Marburg, Hamel. 1890.

Seit dem Erscheinen von Mommsen's bekannter Abhandlung über Sp. Cassius, M. Manlius und Sp. Mälius besteht kein Zweifel darüber, daß bei der Ausmalung der inneren Geschichte der römischen Republik während der ersten Jahrhunderte, wie sie uns von Livius und Dionys geschildert wird, viele einzelne Züge von den im Zeitalter der Gracchen und Sulla's geführten Parteikämpfen entlehnt worden sind. Als Hauptquellen jener beiden Geschichtschreiber betrachtet man demgemäß die am Ende dieses Zeitraums lebenden Autoren, unter denen Claudius Quadrigarius, Valerius Antias und Licinius Macer die erste Stelle einnehmen. Neuerdings haben jedoch Mommsen und Niese an verschiedenen Beispielen gezeigt, daß die Berichte des Livius und Dionys auch Bestandtheile enthalten, die erst unter Cäsar's Alleinherrschaft hinzugekommen sein können. In dem ersten Theil der vorliegenden Schrift wird dies für die Geschichte des Decemvirats, deren Ausschmückung in Cicero's Zeit bereits Niese in einer vor fünf Jahren veröffentlichten Abhandlung als wahrscheinlich bezeichnen konnte, durch eine Vergleichung der Angaben Diodor's und Cicero's einerseits und des Livius und Dionys andrerseits überzeugend nachgewiesen. Von besonderem Interesse ist die von dem Vf. festgestellte Thatsache, daß der Decemvir Appius Claudius, nachdem er im zweiten Jahre seiner Amtsführung die populäre Maske abgeworfen, in mehrfacher Hinsicht als eine getreue Nachbildung des in Rom zur Alleinherrschaft

gelangten Cäsar erscheint. Über die Quelle, aus welcher diese tendenziöse Darstellung stammt, äußert sich Volkmar nicht, und es dürfte auch schwer sein, hierüber eine einigermaßen plausible Vermuthung aufzustellen.

Der zweite Theil der Untersuchung beschäftigt sich mit dem Verhältnis des Dionys zu Livius. Durch eine genaue Vergleichung der beiderseitigen Berichte über das Decemvirat, die erste secessio plebis und anderweitige Begebenheiten gelangt der Vf. zu dem Resultat, daß beide Autoren häufig sogar bis auf den Wortlaut übereinstimmen, und glaubt hieraus die Benutzung des Livius durch Dionys folgern zu müssen. Die daneben bestehenden nicht unerheblichen Abweichungen erklärt er dadurch, daß Dionys die Darstellung des Livius in pragmatischer Manier überarbeitet und durch Heranziehung anderer Quellen vervollständigt habe. Für den Ref. hat die bisherige, von V. keineswegs widerlegte Annahme, daß Livius und Dionys da, wo sie übereinstimmen, dem nämlichen Autor folgten, immer noch die größere Wahrscheinlichkeit. L. Holzapfel.

Die Allia-Schlacht. Eine topographische Studie von **Ch. Hülsen** und **P. Lindner**. Rom, Löscher & Co. 1890.

Die kleine, aus der gemeinsamen Arbeit eines Philologen und eines Offiziers hervorgegangene Schrift ist eine dem Grafen v. Moltke bei Gelegenheit seines 90. Geburtstages überreichte Festgabe, an der der Gefeierte seine Freude gehabt haben wird: denn die hier angewendete methodische Verwerthung topographischer Forschung zur Lösung historischer Fragen ist so recht im Geiste von Moltke's prächtigen Campagna-Wanderungen. Die Frage nach der Örtlichkeit der Alliaschlacht scheint mir durch die Vf. entschieden. Lehrte die historische Quellenkritik, daß wie überall so auch hier der Bericht Diodor's, der die Schlacht auf dem rechten Tiberufer stattfinden läßt, vor der bei Livius vorliegenden Version der jüngeren Annalistik den Vorzug verdiene, so zeigt eine genaue Untersuchung des Terrains, daß am linken Tiberufer für eine Schlacht von der Art der geschilderten durchaus kein Platz ist und bei dieser Annahme ein Verständnis der dem Zusammenstoße vorangehenden und folgenden Ereignisse auf keine Weise erzielt werden kann: dagegen wird alles völlig klar, sobald wir mit den Verfassern das Schlachtfeld auf das rechte Tiberufer der Mündung des Allia-Baches gegenüber verlegen. Die verkehrte Ansicht der späteren Geschichtsschreibung findet ihre ausreichende Erklärung dadurch,

daß man eine als pugna Alliensis bezeichnete Schlacht unmittelbar an die Allia, nicht auf die andere Seite des Stromes verlegen zu müssen glaubte. Nicht glücklich ist es, wenn die Vf. hier das uralte, an der via Salaria (also am linken Tiberufer) gefeierte Hainfest der Lucaria (19. 21. Juli) hereinziehen; denn die Überlieferung, die dieses Fest mit der Bergung der Flüchtlinge aus der Alliaschlacht zusammenbringt, ist allem Anscheine nach jünger als die von Livius wiedergegebene Annalistenerzählung und knüpft an diese an, und die Annahme, daß nach 390 der früheren Feier ein Erinnerungs- und Sühnopfer für die Niederlage hinzugefügt sein könne, möchte ich nicht einmal als möglich anerkennen. G. Wissowa.

Mithridate Eupator roi de Pont. Par **Théodore Reinach.** Paris, F. Didot & Co. 1890.

A. u. d. T.: Bibliothèque d'archéologie, d'art et d'histoire ancienne.

Eine ausführliche Darstellung der Kämpfe des Mithridates gegen die Römer und der gesammten römisch-orientalischen Beziehungen in der ersten Hälfte des letzten vorchristlichen Jahrhunderts ist eine dankbare Aufgabe, welcher sich der Vf. vorliegenden Buches mit Geschick und Glück unterzogen hat. Gestützt auf eine gründliche Kenntnis der Quellen und eine sehr ausgedehnte Bekanntschaft mit der neueren Literatur entwirft er in geschmackvoller Darstellung ein in der Hauptsache durchaus zutreffendes Bild von der Vorgeschichte des pontischen Königreiches und von den Plänen und der Politik des Mithridates bis zum Zusammenstoße mit den Römern und dem schließlichen Untergange des Königs. Räumlich nimmt naturgemäß die Schilderung der Kämpfe gegen die römischen Heere den meisten Platz ein, wenn auch auf diesem vieldurchforschten Gebiete neue und sichere Ergebnisse nur spärlich gewonnen werden konnten. Als eine der gelungensten Partien des Buches aber darf das 4. Buch L'empire de Mithridate (p. 213—300) gelten, in welchem eine Schilderung der inneren Zustände im Reiche und am Hofe des Mithridates in der Zeit zwischen den beiden Kriegen unternommen wird. In der Gesammtauffassung der Verhältnisse und der Beurtheilung der führenden Persönlichkeiten wird man Reinach meist zustimmen können, während im einzelnen natürlich vieles streitig bleibt, und es auch an Irrthümern und Mißverständnissen nicht fehlt. Ein besonderer Vorzug des Buches liegt in der erschöpfenden

Verwerthung des epigraphischen und namentlich des numismatischen Materiales, um dessen Sichtung und Ordnung sich der Vf. schon vorher in seinem Buche Trois royaumes de l'Asie Mineure (Cappadoce, Bithynie, Pont) 1888 wirkliche Verdienste erworben hatte; dagegen bietet die Behandlung der literarischen Überlieferung, der ein ausführlicher Anhang gewidmet ist, zu manchen Ausstellungen Anlaß; insbesondere ist sich Vf. über das Verhältnis der beiden wichtigsten Quellenschriftsteller, Appian und Plutarch, nicht völlig klar geworden (vgl. P. Otto in den Leipziger Studien 11 [Suppl.], 290 ff.). Unter den mehr als dekoratives Beiwerk dienenden Illustrationen, auf die im Texte meist gar kein Bezug genommen wird, hebe ich die auf Pl. 4 gegebene Heliogravure einer meines Wissens bisher unedirten Pompeiusbüste der Sammlung Jacobsen in Kopenhagen hervor. G. Wissowa.

Mythologische Beiträge. Von **W. Drexler.** Heft 1. Der Kultus der ägyptischen Gottheiten in den Donauländern. Leipzig, Teubner. 1890.

Das Buch ist eine bibliographische und katalogisirende Arbeit, ein lokal geordnetes Verzeichnis sämmtlicher in den Donauländern (Rätien, Noricum, Pannonien, Dalmatien, Dacien, Mösien, Thrakien, Makedonien) gefundenen Inschriften und Kunstdenkmäler, die sich auf den Kult von Isis, Sarapis und den verwandten Gottheiten beziehen. Es steckt ein gut Stück Arbeit darin; ob dieselbe gut angelegt ist, kann man billig bezweifeln: der Vf. selbst geht über die bloße Zusammenstellung nirgends hinaus, und historische Resultate werden sich auch in so engem Rahmen nicht leicht festlegen lassen. Daß die genannten Provinzen von der Verehrung der ägyptischen Gottheiten durchaus durchdrungen waren, konnte jedermann aus dem Corpus inscriptionum latinarum und sonstigen allgemein zugänglichen Quellen übersehen: sollte diese Thatsache wirklich durch eine vollzählige Statistik aller in jenen Gegenden gefundenen Isisfigürchen und Sarapisgemmen an Bedeutung gewinnen? G. Wissowa.

Kirchengeschichte auf der Grundlage akademischer Vorlesungen. Von **K. v. Hase.** II, 2. Mittlere Kirchengeschichte. Vierte Periode: Von Innocentius bis Luther. Leipzig, Breitkopf & Härtel. 1891.

Ein neuer Halbband des in dieser Zeitschrift 66, 290 ff. charakterisirten Werkes vom alten Hase ist erschienen; da auch hier der Herausgeber pietätvoll sich eigener Zuthat enthalten hat, außer wo

stilistische Verbindung der Sätze und Gedanken nothwendig war, gilt das gleiche Urtheil wie über die früheren. Das Gelungenste sind immer die Abschnitte, wo der Künstler den gelehrten Stoff zu kleinen Bildchen von Personen oder Zuständen lebensvoll gestaltet, hier z. B. in § 141 über die letzten Päpste der vorreformatorischen Zeit, § 146 über den hl. Franziskus oder § 148 die Blüte der bildenden Kunst in der Kirche. Viel feine Urtheile und schlagende Bemerkungen neben einigem Anfechtbaren enthält der umfangreiche § 159 über den Humanismus, wo Roger Baco, Dante und Petrarca mit ihrem Gefolge bis zu Copernicus, Reuchlin und Erasmus hin an uns vorüberziehen. Das Buch bleibt in allen Theilen eine erfreuliche Lektüre. Ad. Jülicher.

Die christliche Liebesthätigkeit. Von **G. Uhlhorn.** III. Die Liebesthätigkeit seit der Reformation. Stuttgart, Gundert. 1890.[1])

Mit diesem dritten Bande hat das großangelegte Werk über die Geschichte der christlichen Liebesthätigkeit seinen Abschluß gefunden (der erste, welcher die Liebesthätigkeit der alten Kirche umfaßt, ist 1882, der zweite, die mittelalterliche Liebesarbeit der Kirche schildernd, ist 1884 erschienen). Die vollständige Beherrschung des Stoffes und die in dem „Kampf des Christenthums mit dem Heidenthum" seiner Zeit so glänzend bethätigte Gabe des Vf., klar und anschaulich zu schildern, sind Vorzüge auch dieses Werkes. Je mehr die Gegenwart unter das Zeichen der sozialen Frage rückt, und die Wahrheit des Wortes offenbar wird: „An der sozialen Frage werden sich auch die Geschicke der Kirchen entscheiden; diejenige Kirche wird den Sieg behalten, welche zur Lösung der sozialen Frage am meisten beiträgt" — in demselben Maße wird Uhlhorn's Geschichte der christlichen Liebesthätigkeit, und zumal dieser letzte Band, als sicherer Führer zu geschichtlichem Verständnis der gegenwärtigen Verhältnisse zu Rathe zu ziehen sein. Die U.'sche Art, seinen Gegenstand nie als isolirte Erscheinung zu betrachten, sondern stets in dem Zusammenwirken aller einschlägigen geistigen, politischen, sozialen, kulturellen Faktoren, ist hier durch Reichhaltigkeit und Dankbarkeit des Stoffes unterstützt worden. Es wird uns gezeigt, wie das charitative Leben bald durch große religiöse Bewegungen Impulse empfängt, so zur Zeit der Reformation, des Pietismus, der Erweckung am Anfang

[1]) Vgl. H. Z. 56, 254

unseres Jahrhunderts; bald durch politische Ereignisse hemmende oder fördernde Einflüsse erfährt, so zur Zeit des Bauern-, des Dreißigjährigen, des Freiheitskrieges; bald durch Bewegungen auf dem Gebiete des Geistes, wie zur Zeit der Aufklärung, angeregt wird. In der Schilderung der jeweiligen sozialen Nothstände, welche stets der Kirche die besonderen Aufgaben stellen, kommt deren individuelle Eigenart in den verschiedenen Perioden und Ländern stets zur Geltung. Die Weite des Blicks, welche in dieser Erfassung der Aufgabe sich ausspricht, wirkt noch in anderer Richtung auf die Darstellung ein. Am Schluß (S. 481) macht der Vf. die Bemerkung, daß die Geschichte der christlichen Liebesthätigkeit zur allerkräftigsten unwiderlegbaren Apologie des Christenthums wird. So spricht U. am Ende und sagt damit nur das, was wohl die meisten Leser seines Werkes empfinden werden. Im Verlaufe der Geschichtserzählung ist es aber nicht der Apologet, der das Wort führt, sondern der Kritiker. Offen deckt er die Mängel der evangelischen Liebesthätigkeit auf, sei es im 16., sei es im 19. Jahrhundert. Unumwunden zollt er der Überlegenheit der römisch-katholischen Liebesthätigkeit Anerkennung, wo und wann immer sie zu finden ist, z. B. der französischen des 17. Jahrhunderts, und gesteht es beispielsweise offen ein, daß das Vorbild der barmherzigen Schwestern zu der Entstehung des Diakonissenwesens neben dem Gedanken an die Diakonissen der apostolischen Kirche die Anregung geboten hat (S. 369). Auch das Verdienst der Mennoniten daran wird von ihm schön hervorgehoben (S. 374). Diese Objektivität sichert ihm dafür Vertrauen auch in den Abschnitten, wo er vom Standpunkt der protestantischen Ethik aus die Liebesarbeit der anderen Konfession beurtheilt.

Ein Querdurchschnitt durch das Leben am Anfang des 16. Jahrhunderts zeigt die Bettelplage als europäische Kalamität, in wirtschaftlichen Verhältnissen wurzelnd, aber unter Mitschuld der Kirche. Luther stellt die Liebesthätigkeit auf eine principiell neue Basis in direkter Folgerung aus seiner Rechtfertigungslehre (S. 1—32). Die nächste Wirkung der Reformation auf das charitative Wirken ist freilich verhängnisvoll, indem die bestehenden Institutionen hinfallen, ehe noch die durch die Reformation erschlossenen neuen sittlichen Mächte wirksam werden (S. 33—51). Aber schon 1522 beginnen die reformatorischen Gedanken in den Kirchen- und Kastenordnungen, welche der gesammten kirchlich-bürgerlichen Gemeinde die Armenpflege übertragen, Gestalt zu gewinnen (S. 52—101), allerdings in ihrer

Durchführung gelähmt durch den Mangel an äußeren Mitteln und den Zustand der Gemeinden, welche die ideale Höhe nicht so rasch erklommen, als man ihnen zugedacht hatte (S. 102—140). Frühere und reichere Erfolge als die lutherische Kirche zeigt die reformirte, doch nicht unter ihren ersten Begründern, sondern in den Fremdlingsgemeinden, wo die Kirche im Gegensatz zu dem Staat sich konstituirte. Schon hier gibt Vf. eine Rundschau über die verschiedenen Länder (S. 141—168). — Neben diesen Anfängen protestantischer Liebesthätigkeit hält die römische Kirche an den mittelalterlichen Traditionen fest, tritt allen Bestrebungen zu geordneter Armenpflege feindlich entgegen (z. B. Niederlande) und proklamirt auf dem Tridentinum die Armenpflege als ausschließlich kirchliches Arbeitsgebiet, jedoch ohne praktischen Erfolg. Aber die Regeneration, welche der Katholizismus unter dem Einfluß der Reformation erfährt, weist auch ihrer Liebesthätigkeit neue Wege: in Spanien wird der Orden der barmherzigen Brüder gestiftet; die stärkere Betonung des aktiven Lebens gegenüber dem kontemplativen, welche ihn wie seine Nachfolger auszeichnet; die Hervorkehrung der Ehre der Kirche, welcher man dienen will, während früher das eigene Seelenheil als Zweck vorschwebte; die antiprotestantische Tendenz der Liebesthätigkeit, welche gerade in den führenden Geistern (Karl Borromeo, Franz von Sales, Vincenz von Paula) offenbar wird — auch die römische Liebesthätigkeit wird eine andere (S. 169—186).

Das 17. Jahrhundert bezeichnet den Tiefpunkt protestantischer Liebesthätigkeit. Das namenlose Elend des Dreißigjährigen Krieges ertödtete alles Mitgefühl, stumpfte ab, statt die Liebe wachzurufen (S. 189—209). Wirkungsvoll erhebt sich daneben gerade damals die römisch-katholische Kirche. Frankreich übernimmt die Führung durch Vincenz von Paula, den bahnbrechenden Schöpfer der barmherzigen Schwestern und Begründer neuer Arbeitsgebiete (S. 210 — 235). Aber inzwischen beginnt auch in der lutherischen Kirche Deutschlands neues Leben. Im Pietismus vollzieht der Protestantismus die entscheidende Wendung zum praktischen Christenthum: A. H. Francke mit seinem Halle'schen Waisenhaus steht am Anfang einer neuen Zeit (S. 236—261). Als zweite Wurzel der reichen Liebesthätigkeit unseres Jahrhunderts stellt sich dar die Aufklärung mit ihrer Wiederentdeckung des Christenthums als Religion der Menschenliebe und ihren enthusiastischen Versuchen, alles Elend im Sturm zu beseitigen. Die Revolutionszeit schneidet in diese Bestrebungen tief ein, aber sie

ist doch nicht mehr als eine Episode gewesen. Größer als vorher entfaltet sich römische und protestantische Liebesarbeit, zunächst sogar, als schönstes Erbe der Aufklärung, in Toleranz zusammenwirkend (S. 262—312). Unter den Einflüssen des würtembergischen und herrnhutischen Pietismus, der lebendig gebliebenen Humanitätsidee, den nachwirkenden Eindrücken der Freiheitskriege und unter englischen Anregungen erwachsen die Grundlagen der modernen weitverzweigten Liebesthätigkeit der evangelischen Kirche Deutschlands (S. 305—346). Epochemachend waren die Gründung des Rauhen Hauses in Horn bei Hamburg (1833) und die Gründung des ersten Diakonissenhauses in Kaiserswerth (1836). Ihre Bedeutung liegt darin, daß sie den Anfang der Ausbildung von berufsmäßigen Arbeitern und Arbeiterinnen für die Werke der Barmherzigkeit bezeichnen. Damit wurde der Hauptmangel beseitigt, welcher der bisherigen Liebesthätigkeit der protestantischen Kirche anhaftete, und der Vorsprung eingeholt, den die römische Kirche in ihren Orden voraus hatte (S. 347—391). In eine Übersicht über das staunenswerthe Wachsthum evangelischer Liebesarbeit in den letzten 50 Jahren (S. 392—414) und die Riesenwerke der katholischen Kirche, in welchen übrigens Frankreich seine führende Stelle behauptet hat (S. 415—448) mündet U.'s Darstellung aus.

Karl Mirbt.

Repertorium Hymnologicum. Catalogue des chants, hymnes, proses, séquences, tropes en usage dans l'église latine depuis les origines jusqu'à nos jours par le chanoine **Ulysse Chevalier.** I. Louvain, Imprimerie Lefever. 1889.

Die Hymnologie, welche eben erst J. Zahn mit einem in erfreulichem Fortschreiten begriffenen Quellenwerk ersten Ranges für die Kenntnis des deutschen evangelischen Kirchenliedes beschenkt hat, in seinen „Melodien des deutschen evangelischen Kirchenliedes, aus den Quellen geschöpft" (einem Werke, auf welches die deutsche, insbesondere die evangelische Hymnologie stolz zu sein alle Ursache hat, weil es ein hervorragendes Zeugnis nicht bloß deutschen Fleißes und deutscher Gründlichkeit, sondern auch des in der deutsch-evangelischen Kirche lebendigen, vielfach durch sie erst entbundenen musikalisch-schöpferischen Triebes ist), darf in dem vorliegenden Werke des französischen Kanonikus Chevalier, der dem um die liturgische und hymnologische Forschung seit lange hochverdienten Benediktiner-Orden angehört, ein Hilfsmittel begrüßen, welches ihr für die Forschungen auf dem Gebiete

des lateinischen Kirchenliedes hervorragende Dienste zu leisten verspricht. In alphabetischer, durch die Textanfänge bestimmter Ordnung registrirt der Vf. sämmtliche in den Gebrauch der Kirche lateinischer Zunge gekommenen Kirchengesänge, die Hymnen, Prosen, Sequenzen, Tropen, unter Bezeichnung der Stelle, welche sie innerhalb der Liturgie einnehmen, unter Angabe der Zahl der Strophen und Verse, aus welchen sie bestehen, des Urhebers, dem sie nachgewiesenermaßen oder muthmaßlich angehören, oder doch des Jahrhunderts, in welches ihr Ursprung zu setzen ist, unter Nachweis der nicht gedruckten oder gedruckten Quellen und Fundorte und, soweit möglich, der Herausgeber. Bedenkt man, daß z. B. Daniel's codex hymnologicus ca. 1500, Mone's lateinische Hymnen des Mittelalters etwas über 1200 Lieder gibt, während Ch. allein in der ersten, die Buchstaben A — D (erste Hälfte) umfassenden Lieferung deren 4539 darbietet; daß Koch (Gesch. des Kirchenliedes u. ff.) die Gesammtzahl der Hymnen, Sequenzen, Tropen auf 4000 beziffert, während Ch. gegen 25000 zu verzeichnen verspricht, so erhellt schon hieraus, welche Bereicherung unsere Kenntnis durch diesen hymnologischen Katalog erfährt, selbst wenn man in Rechnung nimmt, daß unter der großen Anzahl sich zahlreiche Umbildungen Eines Stammes und Grundstockes befinden (vgl. z. B. A solis ortus sidere u. a.). Für den Hymnologen dürfte das Buch schon als Nachschlagebuch demnächst ein unentbehrliches Hülfsmittel bilden. Bedenkt man weiter, welche Mühe es gekostet haben mag, diesen Stoff auch nur zusammenzutragen, so wird man dem französischen Gelehrten mindestens nicht das Zeugnis unermüdeten Sammelfleißes versagen dürfen. Ob und inwieweit die Daten von absoluter Zuverlässigkeit sind, darüber ein Urtheil abzugeben, fühle ich mich außer Stande und demgemäß nicht berechtigt. Einzelne Stichproben, die ich bei mir bekannteren Texten vorgenommen habe, haben in mir großes Vertrauen auf die Zuverlässigkeit des Vf. namentlich in Bezug auf die Angaben über den liturgischen und literarischen Fundort erweckt. Bei der großen Bedeutung, welche die Kenntnis des lateinischen Liedes für die Kenntnis des inneren Lebens und Empfindens der alten und mittelalterlichen Kirche hat, welches im Liede unendlich viel reiner und kräftiger pulsirt und zu Tage tritt, als in den abschließenden Dogmen, darf auch die Geschichtsforschung dem Vf. für das Werk langjährigen Fleißes den verdienten Dank nicht vorenthalten, selbst dann nicht, wenn es späterhin der ergänzenden und nachbessernden Hand an einzelnen Punkten bedürfen sollte. H. A. Köstlin.

Konziliengeschichte. Nach den Quellen bearbeitet von **Karl Joseph v. Hefele.** VI. Zweite vermehrte und verbesserte Auflage, besorgt von **Alois Knöpfler.** Freiburg i. Br., Herder. 1890.

Unter den auf die Kirchengeschichte des Mittelalters bezüglichen zusammenfassenden Werken nimmt Hefele's Konziliengeschichte den ersten Platz ein. Denselben verdankt sie nicht zum wenigsten dem Umstand, daß hier mehr geboten wird, als der Titel anzeigt. Die Geschichte der Konzilien und Synoden ist erweitert zu einer Kirchengeschichte. Sogar die Gruppirung folgt allgemeinen Gesichtspunkten; in selbständigen ausgedehnten Paragraphen erhalten wir eine zusammenhängende Papstgeschichte. Nur bei den sog. ökumenischen Synoden wird, meistens mit Durchbrechung des historischen Zusammenhangs, ein Abschnitt gemacht. Die Unklarheit, welche so von vornherein über dem Werke schwebt, — von seinen Verdiensten schweige ich in diesem Zusammenhange absichtlich — hat ihre Folgen gehabt. Man erwartet der Anlage des Werkes gemäß eine die Faktoren der allgemeinen kirchengeschichtlichen Entwickelung zeichnende, die großen Persönlichkeiten würdigende Darstellung, und doch findet man nur eine Zusammenstellung der Ereignisse, wie sie in knapperer Form als Einleitung zu den einzelnen Konzilien und Synoden am Platz gewesen wäre. Nicht Geschichte, sondern Chronik wird uns hier geboten, hie und da mit der Moral pragmatischer Geschichtschreibung versetzt. Bei einer neuen Auflage des Werkes hätte man entweder die chronikartige Darstellung Hefele's zu einer Geschichte erheben sollen — eine völlige Umarbeitung wäre in diesem Falle allerdings nicht zu umgehen gewesen —, oder der Gesichtspunkt einer Konziliengeschichte hätte schon in der äußerlichen Anordnung des Stoffes zum Ausdruck gelangen, der Charakter eines Hilfsbuches durch vollständige Literaturangaben und zureichende Orientirung über die Quellen gesichert werden müssen. Keines von beiden ist geschehen. Der Herausgeber der vorliegenden zweiten Auflage des 6. Bandes hat sich vielmehr zum Princip gemacht, den Hefele'schen Text möglichst unverändert stehen zu lassen; er ändert nur da, wo derselbe geradezu mit neueren Forschungen im Konflikt steht. Wie weit er durch ein Abkommen dazu verpflichtet war, weiß ich nicht; vielleicht war auch die Einheitlichkeit des Werkes — Hefele selbst hat ja noch die zweite Auflage der ersten vier Bände besorgt — bestimmend. Wie dem aber auch sein mag, es geht doch nicht an, den Fortschritt einfach zu verleugnen, welchen inzwischen die Wissenschaft in der Erkenntnis von

Männern wie Bonifazius VIII., Clemens V., Johann XXII., Philipp dem Schönen, Kaiser Heinrich VII., Ludwig von Baiern oder des Templerprozesses, der Beziehungen Frankreichs zum Avignonesischen Papstthum, der Unions- und Reformbewegung, der Wiclifie und des Hussitismus gemacht hat. Wer den Text dieser zweiten vermehrten und verbesserten Auflage liest, bleibt über jene Fortschritte völlig ahnungslos. Ich sage ausdrücklich den Text, denn in den Anmerkungen hat Knöpfler zum Theil die neuere Literatur nachgetragen. Hie und da hat er sich auch mit ihr auseinandergesetzt; dabei beschränkt er sich aber auf untergeordnete Fragen, abweichende Auffassungen größeren Stils werden noch nicht einmal erwähnt. — In Anbetracht der Schwierigkeiten, welche die Neubearbeitung eines fremden Werkes darbietet, könnte man sich mit dieser Methode immerhin zufrieden geben, wenn nur die gemachten Verbesserungen wirkliche Verbesserungen sind, und die wichtigsten Erscheinungen der neueren Literatur wenigstens angeführt werden. Allein gerade in diesen beiden Beziehungen habe ich Bedenken gegen diese neue Auflage zu erheben. Ich habe mich bei meiner Kontrolle auf die Partien beschränkt, welche Knöpfler selbst in der Vorrede als verbesserte bezeichnet. —

Die Literaturangabe über Bonifazius VIII., S. 281 Anm. 3, ist um zwei Nummern vermehrt worden. Wie dürftig dieselbe ist, zeigt schon ein Blick auf die Zusammenstellung, welche R. Zöpffel am Schlusse seines gründlichen Artikels „Bonifazius VIII." der Real-Encyklopädie für protestantische Theologie und Kirche geliefert hat. Von neuerer Literatur wird nur die französische Registerausgabe erwähnt. Ich vermisse besonders Souchon, die Papstwahlen 2c. Eine Änderung des Textes hat sich Knöpfler hier nur gelegentlich der Bulle Unam sanctam erlaubt. Hefele hatte sich auf ein strengsachliches Referat beschränkt. Knöpfler findet, daß V. Verlaque, der die Bulle für apokryph hält, des Guten doch zu viel gethan habe; er beschränkt sich auf eine kurze dogmatische Würdigung derselben. Sie ist „vorherrschend raisonnirend und demonstrirend, nicht aber definirend". Das letztere gilt nur von dem Schlußsatz Porro etc. „Nur dieser kann dogmatisches Ansehen für sich beanspruchen." Mit anderen Worten: nur dieser Schlußsatz ist ex cathedra gesprochen. Da porro durchaus zur Einführung des letzten Gliedes eines Syllogismus gebraucht wird und auch in dieser Bulle keine andere Bedeutung haben kann, so ist es mir völlig unbegreiflich, wie man durch jene Unter-

scheidung den Schlußsatz von der vorhergehenden Erörterung, die er vielmehr zusammenfaßt, abtrennen kann. Was soll aber überhaupt in einer historischen Darstellung diese dogmatische Spitzfindigkeit, zumal Knöpfler hier höchst eigne Weisheit auszukramen scheint? Ein Hinweis auf die kanonische und dogmatische Literatur hätte genügt. Freilich hätte dabei die jüngste Würdigung der Bulle von Berchtold nicht unerwähnt bleiben dürfen. —

Die S. 379 Anm. erwähnte Monographie über Benedikt XI. hat Leon Gautier (nicht Gautier Leon) zum Verfasser. Ebenso heißt der Verfasser der trefflichen Monographie „Clemens V. und Heinrich VII." nicht O., sondern Karl Wenck. S. 384 Anm. 4 polemisirt Knöpfler gegen seine Beurtheilung des Attentats von Anagni. Die Stelle aus der, wie Knöpfler plötzlich sicher weiß, von „einem Nogaret" verfaßten Denkschrift beweist noch nichts, denn der Verfasser versetzt sich hier in die Seele der Gegner; und von dem aus Ptolem. Luc. hist. eccl. hergeholten Beleg läßt Knöpfler den Anfang weg, welcher dem Urtheil Wenck's (a. a. O. S. 5 Anm. 1) zu Grunde liegt. Die Thatsache aber, daß vor wie nach die französischen Generalstände unentwegt den König gegen den Papst unterstützen, redet besser als vorübergehende Stimmungen einzelner Kreise. Weder die treffende Charakteristik Bonifazius' VIII. bei Wenck, noch seine überzeugenden Darlegungen der Beziehungen Clemens' V. zu Philipp und die daraus resultirende neue Beurtheilung des Papstes finden bei Knöpfler genügende Verwerthung. Wie kühl er im einzelnen den sachlichen Schwierigkeiten gegenübersteht, zeigt Anm. 1 S. 393, wo er einfach auf Grund von Wenck registrirt, daß nach den Brevi annali di Perugia die Kardinäle schon drei Tage nach dem Tode Bonifazius' VIII. zur Wahl zusammentraten, während sie nach dem Text erst den vorschriftsmäßigen Zeitpunkt abwarteten. Die Darstellung der Wahl Clemens' V. ist unverändert aus der ersten Auflage übernommen. § 696 über den Templerprozeß ist zum Teil umgearbeitet. Allein hier ist Klarheit sehr zu vermissen; z. B. wird bei Besprechung der Pamphlete Dubois' S. 423 ganz verschwiegen, daß die hier erhobenen Forderungen schon von dem König an den Papst gestellt waren. Wie unzureichend Neues und Altes zusammengearbeitet ist, zeigen zwei mir gerade vorliegende Beispiele: S. 434 ist die Bulle Faciens miserecordiam nach der ersten Auflage vom 12. August datirt, S. 425 vom 8. August; S. 419 f. wird wörtlich gleichlautend erzählt, was S. 465 nach der ersten Auflage wiederholt wird. § 698 „Das Verhör

der Templer vom Jahre 1309—1311" ist bis auf den letzten Absatz unverändert aus der ersten Auflage übernommen. Prutz, Entwickelung und Untergang des Tempelherrnordens, wird nur einmal gelegentlich einer ganz untergeordneten Frage citirt, Schottmüller dagegen sehr häufig. Die neuen Anmerkungen, welche sich in diesem Abschnitt finden, sind zum Theil wörtlich aus Wenck oder Schottmüller genommen. Der Gegensatz zwischen Schottmüller und Prutz wird noch nicht einmal gestreift. Weder die gründliche Recension Wenck's in den Göttinger Gel. Anz. 1888, Nr. 12. 13, noch Lea's Geschichte der Inquisition hält Knöpfler für nöthig zu erwähnen. In den Paragraphen, welche die Geschichte Ludwig's des Baiern berühren, sind die Forschungen Karl Müller's und Preger's, soweit sie Feststellung einzelner Thatsachen betreffen, verwerthet. Ich vermisse aber nicht weniger als zwölf theils selbständige, theils in Zeitschriften erschienene Darstellungen und Untersuchungen, welche wohl hätten berücksichtigt werden müssen. S. 575 Anm. 2 findet sich Knöpfler ein für alle Male mit Souchon ab, indem er hinzusetzt: „Die Konstruktion der Wahlkapitulationen von 1294 — 1342 scheint mir doch manchmal etwas gewagt!" S. 595 heißt Peter von Corvara (Nikolaus V.), nach der ersten Auflage ein übelbeleumundeter und schismatischer Franziskaner; dazu Anm. 5: „Chroust und Altmann treten für Peter's Unbescholtenheit ein."

Der Wahl Urban's VI. sind 50 Seiten gewidmet gegen 30 Seiten der ersten Auflage. Das läßt ein besonderes Interesse und dementsprechenden Erfolg erwarten. Allein die Erweiterung beruht lediglich auf Einschiebung mehrerer von Gayet veröffentlichter Berichte; sonst hat nur in dem letzten zusammenfassenden Theil des Paragraphen von Nr. 4 bis 6 eine Änderung stattgefunden, auf die ich noch näher eingehen werde. Es fragt sich zunächst: war eine vollständige Neubearbeitung dieses Paragraphen nothwendig? — Wer Souchon's erstmaligen kritischen Versuch einer Quellensichtung kennnt, wer dann die von Gayet veröffentlichten neuen Quellen sich näher angesehen hat, dem kann über die Nothwendigkeit einer Umgestaltung kein Zweifel bestehen. Wie steht es zunächst mit der declaratio der elf französischen Kardinäle vom 2. August? Hat sie einen Anspruch darauf, als unabhängige Hauptquelle den Reigen zu eröffnen? — Knöpfler bewegt sich in den wunderbarsten Vorstellungen über dieses Aktenstück und sein Verhältnis zu den anderen Berichten. Die von Döllinger, Beiträge 3, 354 ff. veröffentlichte Darstellung der Wahl

aus dem Werke des Onuphrius Panvinius soll „eine Art Neuredaktion" der declaratio sein, S. 729 Anm. 2. Das factum der drei italienischen Kardinäle (Gayet, P. J. S. 1 ff.) stimmt in allen Hauptpunkten mit jener Relation überein, wird aber als selbständige Quelle (S. 737) eingeführt. Andrerseits soll nun aber das factum des Johannes von Lignano (Gayet, P. J. S. 26 ff., Bul. 4, 482 ff.) ein Auszug aus der declaratio sein, den dann Kardinal Luna wieder auf Grund des Originals ergänzte. Diesen Behauptungen gegenüber muß ich es dahingestellt sein lassen, ob Knöpfler überhaupt diese Aktenstücke gelesen habe. Zunächst hätte ihm dabei doch die Verwandtschaft der beiden von Gayet, 2. P. J. Nr. 27 und 28 veröffentlichten Berichte auffallen müssen; er hätte bei näherer Vergleichung finden müssen, daß das factum der drei italienischen Kardinäle und das factum Lignano's nur zwei Redaktionen desselben Berichtes sind. Dann mußte ihm auffallen, daß dieses factum wörtlich mit jener „Art von Neuredaktion" bei Döllinger übereinstimmt, daß der Abdruck bei Döllinger und der bei Bulaeus (4. 482 ff.) noch die ursprüngliche Überschrift haben. Sie mußte auf die Herkunft dieses factums aufmerksam machen. Das factum Lignano's ist nichts anderes, als der Bericht, welchen die drei italienischen Kardinäle im Juli 1378 zu Tivoli abgefaßt und dann an die beiden Juristen Baldus und Lignano mit der Bitte um Begutachtung gesandt haben. Eine wahrscheinlich ältere Redaktion desselben, welche im Besitz des Kardinals von Florenz blieb, ist das Stück 27 bei Gayet, 2. P. J. Wie verhält sich nun zu dieser Quelle die declaratio? Auf den ersten Blick ist einzusehen, daß der declaratio jene Quelle zu Grunde liegt. Die Zusätze Luna's bei Gayet, 2 P. J. Nr. 28 machen das Verhältnis beider deutlich, denn sie sind allerdings zum größten Theil wörtlich der declaratio entlehnt. Allein vor einer genauen Untersuchung kann auch das nicht zu Recht bestehen, daß Luna nur auf Grund der declaratio ergänzte (vgl. S. 759 Anm. 1). Die Zusätze bieten manches darüber hinaus. Der Weg zu diesen Resultaten wäre Knöpfler erleichtert worden, wenn er sich zunächst einmal durch Souchon hätte belehren lassen, allein dies hat er verschmäht. Nicht mit der declaratio, sondern mit dem casus trium cardinalium italicum hätte also begonnen werden müssen. Allein Knöpfler lehnt sich hier sklavisch an den Text der ersten Auflage an. So dehnt er S. 737 ohne weiteres das Urtheil, welches Hefele über das Verhältnis der declaratio zu den vitae bei Baluze gefällt hatte,

auf den casus aus. Nach der ersten Auflage folgt nun das factum Urban's, dann werden S. 746—758 Quellen aus Gayet eingeschoben, und erst hierauf kommt, mit den Worten der 1. Auflage eingeleitet, der Bericht über das factum Seve's, welcher in der ersten Auflage sich unmittelbar an das factum Urban's anschloß. Unverständlich ist mir, wie Knöpfler den Beweis Hefele's, daß dieses factum nicht von Lignano herrührt, wörtlich übernehmen kann, da schon die entgegengesetzte Parteinahme jenes factum und der Traktate Lignano's den Gedanken an einen Verfasser abweisen mußte. Knöpfler ist es auch entgangen, daß das factum Urban's nichts anderes ist, als eine abkürzende Redaktion des Seve'schen. Nicht jenes, sondern dieses hätte also als zweite Hauptquelle zu Grunde gelegt werden müssen. Abgesehen von diesen auffallenden Irrthümern leidet aber die ganze Darstellung an einer Unklarheit, die es geradezu unmöglich macht, sich über den Thatbestand zu orientiren. S. 730 Anm. 3 ist die Rede von einem Bericht der drei italienischen Kardinäle, ohne daß wir bisher etwas über ihn erfahren haben; S. 737 erst folgen sehr ungenügende Angaben. Hier tritt ebenso unvorbereitet das factum Urban's auf. S. 759 ist von Zugaben des Kardinals de Luna die Rede. Niemand, der nicht Gayet vor sich gehabt hat, wird sich danach eine richtige Vorstellung von der Sachlage machen können. Wie die Berichte der Konklavewächter, des Thomas von Acerno und die Aussagen der einzelnen Kardinäle, von denen nur die des Kardinals von Florenz in den Anmerkungen verwerthet wird, entstanden sind, darüber wird der Leser mit keinem Wort aufgeklärt, und doch ist dies nicht unwichtig für ihre Beurtheilung. Was nun endlich das Facit anlangt, welches aus diesem Quellenverhör gezogen wird, so hatte Hefele die Unsicherheit der Wahl noch voll anerkannt, auch die Thatsache der reelectio am Nachmittag des Wahltages zugegeben. Knöpfler leugnet diese auf Grund des Briefes eines Dieners Luna's und der erst 1386 gemachten Aussagen des Kardinals Orsini gegen die übereinstimmenden Berichte des italienischen casus, der declaratio, des factum Seve's und der meisten Kardinäle. Die Absicht einer reelectio soll in verschiedenem Interesse von beiden Theilen gleichzeitig nachher erfunden sein! Knöpfler führt zur Begründung an: „Bezeichnend ist die Erklärung des Kardinals von Florenz, daß er sich nicht mehr entsinnen könne, warum zu Tivoli, als die italienischen Kardinäle über ihre Denkschrift beriethen, von einer reelectio die Rede gewesen sei". Die Stelle lautet bei Gayet, 2. P. J. S. 16:

nec recordor, nec unquam potui recordari, quod tunc (sc. bei der Papstwahl) de reelectione mentio facta fuit, licet essem presens inter eos. —

Bei Darstellung des weiteren Verlaufes des Schismas sind die inneren französischen Parteiverhältnisse so gut wie gar nicht berücksichtigt worden. Man ist darüber jetzt einig, daß fast allein aus ihnen heraus die ganze Unionsbewegung, die ihren Herd bis zum Pisanum noch in Frankreich hatte, verständlich wird. Aber Knöpfler scheint die einschlagende Literatur gar nicht zu kennen. Der Abschnitt über Wiclif hat keine Änderung erfahren; nur in den Anmerkungen sind einzelne Belege aus der neueren Literatur hinzugefügt worden. R. Buddensieg, Johann Wiclif und seine Zeit, wird aber noch nicht einmal citirt. —

Gegenüber diesen Thatsachen hat es m. E. wenig zu bedeuten, daß 76 neue Synoden eingefügt worden sind. Die Art, wie Knöpfler in den von mir kontrollirten Partien gearbeitet hat, muß mindestens kritisch gegen das ganze Buch stimmen. Soweit ich eben nachgeprüft habe, konnte ich mich nicht davon überzeugen, daß er, wie Vorrede S. 12 versichert wird, wirklich ernstlich bestrebt war, die Wissenschaft zu fördern. Bernhard Bess.

Konziliengeschichte. Nach den Quellen bearbeitet von **Karl Joseph v. Hefele**. Fortgesetzt von dem Kardinal **Hergenröther**. IX. Freiburg i. B., Herder. 1890.

Der inzwischen verstorbene Kardinal Hergenröther hatte (vgl. Vorrede zum 8. Bande) für den 9. Band die Vorgeschichte des Tridentinums und auch die erste Epoche desselben unter Paul III. in Aussicht gestellt. Derselbe enthält jedoch nur, wenn auch in fast übergroßer Ausführlichkeit, im wesentlichen eine Geschichte des Protestantismus bis in die ersten Regierungsjahre Paul's III. Die vielfach gehegte Hoffnung, daß wir durch den deutschen Gelehrten, dem es unvergessen sein soll, daß er der Wissenschaft die päpstlichen Archive in liberalster Weise zugänglich gemacht, vor allen Dingen durch neues Aktenmaterial belehrt werden würden, hat sich leider nicht erfüllt. Abgesehen von drei nicht übermäßig belangreichen, am Ende mitgetheilten Schriftstücken und einigen kleinen, in den Anmerkungen verstreuten archivalischen Notizen, hat der Vf., soweit ich sehe, mit dem bekannten Material gearbeitet und leider nicht immer „nach den Quellen", wie der Titel angibt. Nun ist es ja gewiß fast unmöglich,

ein so großes Gebiet wie die gesammte Reformationsgeschichte, quellenmäßig zu beherrschen, und wozu werden Einzelforschungen gemacht und Monographien geschrieben, wenn man sie für eine zusammenfassende Bearbeitung nicht benutzen soll; und ich bin dem Vf. dankbar, daß er meine Geschichte der deutschen Augustinerkongregation für die Anfänge seines Werkes so ausgiebig verwerthet hat, aber in der Auswahl der von ihm benutzten Literatur ist er im ganzen mit wenig Kritik zu Werke gegangen. In der ersten Anmerkung wird in der Luther-Literatur Köstlin zwar genannt, aber nur an wenigen Stellen wird dieses Werk zu Rathe gezogen. Dafür beruft er sich aus der protestantischen Literatur, von einigen älteren Sachen abgesehen, mit Vorliebe auf „Herzog's Abriß der Kirchengeschichte". Auch bei seinen katholischen Lesern wird es schwerlich ein gutes Vorurtheil erwecken, neben Cochlaeus des Ulenberg Vitae haereticorum, die Hefele übrigens auch nur aus Raynald zu kennen scheint, als Quelle für Luther's Leben benutzt zu sehen. Die hie und da in den Anmerkungen sich findenden Stellen aus den Werken Luther's und anderer Gegner des Papstthums scheinen fast durchweg älteren Autoren entnommen zu sein oder lassen zum wenigsten erkennen, daß dem Vf., was die Benutzung sehr erschwert, die neueren Lutherausgaben nicht zugänglich waren: er citirt die Wittenberger und Jenenser Ausgabe, hin und wieder auch Walch. — Von Synoden weiß dieser Band der Konziliengeschichte natürlich nur sehr wenig zu berichten; die eine oder die andere, wie die Diöcesansynode von Speier vom Jahre 1529 (vgl. Ney S. 270) scheint dem Vf. auch entgangen zu sein. Das Werk ist vielmehr, wie schon erwähnt, wesentlich Reformationsgeschichte in schlichter, freilich auch trockener Aneinanderreihung der einzelnen Begebenheiten, wobei die verhältnismäßig ruhige Sprache und die Absicht, das Material in möglichster Reichhaltigkeit zusammenzutragen, anerkannt sein soll. Aus vielen einzelnen Notizen, namentlich den theologischen Anmerkungen zu manchen Schriftstücken, wie den Tetzel'schen Thesen, den Zensuren der Fakultäten ꝛc. wird der Leser manches schöpfen können, aber im ganzen bedauert Ref., sagen zu müssen, daß der wissenschaftliche Ertrag der großen Arbeit, der man den Fleiß ihres Vf. auf jeder Seite anmerkt, doch ein recht geringer ist. Wer z. B. etwa glaubte, in dieser so umfassend angelegten katholischen Reformationsgeschichte endlich einmal eine gründliche Würdigung der römischen Gegner Luther's zu finden, wird erstaunt sein, daß der ihnen eigens gewidmete Paragraph fast nur

zusammengelesene Notizen bietet (vgl. S. 843 ff.), die der Bedeutung der Männer in keiner Weise gerecht werden. Nicht minder bedauerlich ist, daß der Vf. seinen Gewährsmännern Janssen, Ehses 2c. blindlings folgt und es an nicht wenigen Stellen, eben da, wo ihm diese Quellen vorlagen, es auch nicht verschmäht, in den Ton dieser Herren zu verfallen. Man lese z. B. das Kapitel über Luther's Heirat S. 436 und folgenden Satz: „Bereits 40 Jahre alt, nahm er am 13. Juni 1525 die entlaufene Nonne Katharina von Bora, die schon längst bei ihm aufgenommen (!!) und Geliebte des Hieronymus Baumgärtner gewesen war, zur Frau 2c." Man lese das Kapitel „Luther im Bauernkriege" oder was nach Ehses über die Pack'schen Händel berichtet wird! Dieser Autor ist auch die Quelle für die englischen Händel, während die Arbeiten von W. Busch dem Vf. unbekannt zu sein scheinen. Bedauerlich ist, daß der römische Kardinal, dessen Werk natürlich jetzt das Normalhandbuch der Reformationsgeschichte werden wird, die bekannte, in den letzten Jahren viel besprochene, angeblich jesuitische Stelle in Luther's Briefen (De Wette 1, 479) ebenso falsch und gehässig übersetzt als Janssen und Majunke, wobei noch in die Wagschale fällt, daß er sie nicht wörtlich nach Janssen wiedergibt, also wohl selbständig übersetzt hat (vgl. S. 125). Ganz nach Janssen werden wir belehrt, daß Luther Hutten's Anschläge auf das Leben Aleander's billigte (S. 176), wie er auch nach dem Vf. im Jahre 1520 „von der Anwendung materieller Gewalt zur Verbreitung seines Evangeliums nicht zurückschreckte". Daß Hergenröther es nicht vermochte, sich in den Ideengang Luther's, dessen Kampf er nach Cochlaeus wesentlich als einen Kampf gegen die Dominikaner auffaßt (S. 68 ff.), hineinzufinden, kann man verstehen, weniger, daß er als Historiker nicht den leisesten Versuch dazu macht, und man möchte in der That glauben, daß er Luther's Schriften nur aus den üblichen Citaten kennt, eine ganze Schrift aber von ihm nie gelesen hat, wenn er auf S. 134 Anm. schreiben kann: „Die Sakramente haben in Luther's System bei dem allein rechtfertigenden Glauben nur eine untergeordnete Bedeutung; sie sind bloß Zeichen des Glaubens und der Verheißung." Da kann es nicht Wunder nehmen, wenn man von den Gründen und der inneren Entwickelung des Abendmahlstreites ein völlig unrichtiges Bild erhält, wie auch das Verhältnis Luther's zu Carlstadt ganz falsch dargestellt ist (S. 189). Wie kühn die Gruppirung sein kann, kann man auf S. 419 lesen. Nachdem vorher von Wiklifiten und Pikarden gesprochen, der Name Zwingli's überhaupt

noch nicht genannt worden war, heißt es auf einmal: „Neben dem Schweizer Ulrich Zwingli trat auch Thomas Münzer als selbständiger Reformator auf.“ Höchst auffallend ist, daß H. auf S. 418 den Joh. Wessel in Erfurt falsche Lehren ausstreuen läßt. Man könnte lediglich an eine Verwechselung mit Wesel denken, wie der „Kanoniker“ Schwenkfeld“ (S. 490) wohl auf den Kanoniker Krautwald zurückzuführen sein wird, wenn nicht der Vf. das Todesjahr Wessel's richtig anführte und dabei auf Friedrich, Joh. Wessel (Regensburg 1862) verwiese, woraus hervorgeht, daß ihm Wessel wie die citirte Schrift unbekannt war. Aber auf die vielen positiven Unrichtigkeiten soll hier nicht eingegangen werden, sie sind sehr zahlreich und vermehren den Eindruck der Enttäuschung, den das Ganze bei dem kritischen Leser hervorrufen muß. Th. Kolde.

Der päpstliche Schutz im Mittelalter. Von **Alfred Blumenstok.** Innsbruck, Wagner. 1890.

Die Bedeutung dieser Institution ist bisher nur wenig gewürdigt worden; auch in den Darstellungen und Lehrbüchern des Kirchenrechts hat der päpstliche Schutz bisher nicht die ihm im Rechtsleben der Kirche gebührende Stelle erhalten. Erst jetzt ist durch das vorliegende Buch ein erster Versuch gemacht, diese Lücke der rechtshistorischen Forschung auszufüllen.

Die Entstehung des päpstlichen Schutzes sucht Vf. in der Anarchie des 9. Jahrhunderts, in dem die Autorität des Königtums und mit ihm der Königsschutz, die bis dahin herrschende Form des Schutzverbandes, mehr und mehr verfiel und dem durch die Bedürfnisse der geistlichen Institute begünstigten päpstlichen Schutze Platz machte. Das Wesen aber und die rechtliche Bedeutung des päpstlichen Schutzverbandes kennzeichnet Vf. als ein gegenseitiges Rechtsverhältnis: der Schützling kommendirt sich und tradirt zugleich seine Güter dem Schutzherrn, der so, wenn auch kein volles, vielmehr nur ein getheiltes Eigenthum an ihnen erlangt, das zumeist durch einen unbedeutenden Rekognitionszins zum Ausdruck gelangt; der Schutzherr seinerseits bezeugt durch seine Urkunde diese Tradition und nimmt die ihm tradirte Anstalt oder die ihm kommendirte Person in seinen Schutz. Die Hauptsache aber sind die rechtlichen Wirkungen dieses Schutzes. So wird einerseits der Vorsteher des betreffenden geistlichen Instituts in seinem freien Verfügungsrecht über die Güter desselben gebunden,

andrerseits aber auch vor den Forderungen geistlicher und weltlicher Personen geschützt.

Aus diesem älteren päpstlichen Schutzverbande aber entwickelte sich allmählich eine einseitige Herrschaft des Papstes. Schon in dem großen Streite des 11. Jahrhunderts lernte der römische Stuhl die große Bedeutung des Schutzes schätzen und verwerthen: der durch ihn gewonnene Einfluß auf die kommendirten Klöster war eines der wichtigsten Kampfmittel der Kurie. Seitdem war es ein Hauptbestreben Roms, den Kreis der ihm affiliirten Klöster auszudehnen, den kirchenpolitisch so wirksamen Schutzverband zu erweitern. Deshalb erleichterte man die Aufnahme in denselben, man verlieh Schutzbriefe, ohne daß noch Kommendation und Tradition stattfand, man verband damit in immer ausgedehnterer Weise andere Privilegien, besonders die Exemtion. So verlor der päpstliche Schutz seinen ursprünglichen Charakter: aus einem gegenseitigen Rechtsverhältnisse, das beide Parteien verpflichtete und ihnen vortheilhaft war, wurde ein einseitiger päpstlicher Gnadenakt; der päpstliche Schutz selbst nahm zugleich eine Ausdehnung an, welche zum kirchlichen Feudalismus zu führen drohte, und er hatte Mißbräuche der schwersten Art im Gefolge, gegen welche sich endlich eine lebhafte Reaktion erhob, die zuerst zu einer Einschränkung der Bedeutung der päpstlichen Schutzbriefe und dann zum Verfalle des Schutzverbandes überhaupt führte.

Auch für den Diplomatiker sind diese Untersuchungen lehrreich, beruhen sie doch zum Theil auf den betreffenden Urkunden.

Die Lektüre des anregenden Buches, das aus einer Abhandlung des Vf. in polnischer Sprache hervorgegangen ist, ist nicht ganz leicht; die Sprache ist oft schwerfällig, zuweilen auch von Unklarheiten nicht frei. Kehr.

Ein Beitrag zur Lösung der Felicitas-Frage. Von **Joseph Führer.** Leipzig, G. Fock. 1890.

Allzu bescheiden hat der Vf. seine gelehrte und scharfsinnige Arbeit einen „Beitrag zur Lösung" genannt, während er die Lösung, d. i. die endgültige Erledigung der viel gequälten Frage selbst bietet. Dieselbe wurde, wie so manche andere in neuerer Zeit, auf die Tagesordnung gebracht durch die berühmten Katakomben-Forschungen de Rossi's. Eine alte Passionsgeschichte der hl. Felicitas und ihrer sieben Söhne, welche mit richtigem Blick von den älteren Kirchenhistorikern als fabelhaft beiseite geschoben worden, sollte auf einmal

durch unterirdische Funde zu Ehren gebracht werden. De Rossi und alle, die ihm blindlings zu folgen pflegen, wußten nun genau sogar das Jahr 162 als die Zeit des berühmten Martyriums anzugeben. Die „römische Überlieferung" feierte einmal wieder einen ihrer zahlreichen Triumphe über die „ungläubige Kritik" namentlich der deutschen Gelehrten. Jedem Sehenden fiel allerdings die Nachbildung der makkabäischen Mutter mit ihren sieben Söhnen in der römischen Legende sofort auf; aber durch die Siegesgewißheit des kombinationsreichen und gelehrten Meisters in der Katakomben-Forschung wurde, wie in so vielen anderen Fragen tendenziösen Inhaltes, große Verwirrung angerichtet. Der Vf. vorliegender Schrift, welche wir als ein Muster methodischer und sorgfältiger Untersuchung bezeichnen müssen, hat sich das Verdienst erworben, die alte Literatur, die sich mit der Geschichte der Felicitas beschäftigt, sowie die von de Rossi in's Feld geführten archäologischen Momente bis auf den Grund zu zergliedern und das ganze Spinnengewebe der modernen kirchlichen Archäologie in dieser Frage zu zerstören. Dies verdient umsomehr Anerkennung, als der Vf. sichtlich mit einem gewissen Bedauern dies Zerstörungswerk vollführte. Wir müssen uns damit begnügen, hier seine Hauptresultate mitzutheilen. Die Passionsgeschichte gehört sicher erst dem 6. Jahrhundert an und bildet eine völlig unglaubwürdige Neubearbeitung einer früheren Legende, deren Angaben auch für die Bestimmung des Martyriums auf das Jahr 162 in keiner Weise zu verwenden sind. Die sieben Namen, welche man als die der Söhne der Felicitas ermittelt zu haben glaubte, sind Namen anderer Martyrer, die mit der Felicitas nicht das Mindeste zu thun haben. Wichtiger noch als diese Nachweise des legendarischen Charakters jener Passionsgeschichte ist die daraus folgende gänzliche Niederlage der durch de Rossi aufgebrachten Datirungen der Katakomben des Maximus (der 1885 aufgedeckten Grabstätte der Felicitas), der Jordani, der Priscilla, des Prätextatus und der sog. Crypta quadrata. Die Schlußworte des so umsichtigen und bescheidenen Vf. sind von solcher Tragweite, daß wir sie selbst mitzutheilen uns veranlaßt sehen: „Bei der hervorragenden Bedeutung, welche der Grabkammer des hl. Januarius (Crypta quadrata) in archäologischer Hinsicht zukommt, ist durch die Erkenntnis, daß die von de Rossi gegebene Fixirung der Entstehungszeit dieses Kunstdenkmals der sicheren Basis entbehrt, ein für die gesammte Entwickelungsgeschichte der altchristlichen Kunst beachtenswerther Eck- und Markstein beseitigt."

Wir sprechen nur den Wunsch aus, der gelehrte Vf. möge bald in ähnlicher Weise andere, auch manche deutsche Gelehrte durch ihre Geistreichigkeit blendende, aber nur in päpstlicher Tendenz ersonnene Phantasiebilder de Rossi's auf ihren wahren Werth zurückführen. Eine ganze Liste dankbarer Themata ließe sich aufstellen. L.

Die Clemens-Romane, ihre Entstehung und ihre Tendenzen. Auf's neue untersucht von **Joseph Langen.** Gotha, F. A. Perthes. 1890.

Eine sichere Erkenntnis der Genesis und des Wesens der Clementinen glaubt der Vf. dadurch zu gewinnen, daß er diese eigenartige, mit noch so vielen Räthseln behaftete Literatur in Zusammenhang mit von ihm vorausgesetzten Primatsbestrebungen zu verstehen sucht. In diesem Sinne sei die als clementinische Grundschrift anzusehende „Predigt des Petrus" aus dem Streben hervorgegangen, dem nach der Eroberung Jerusalems zerfahrenen Judenchristenthum eine Annäherung an das Heidenchristenthum anzubieten, welches in Rom sein Schwergewicht hatte. Mit anderen Worten: der Primat der jerusalemitischen Kirche wurde auf Rom hinübergezogen. In diesen Zusammenhang gehört der Clemens-Roman. Diesem Bestreben bzw. der dadurch herbeigeführten Thatsache stellte die palästinensisch-judenchristliche Partei die „Homilien" gegenüber, eine tendenziöse Umarbeitung der römischen Grundschrift, welche den Primat Petri auf Cäsarea, den Ausgang der heidenchristlichen Mission Petri, fixirte. In der Gegenwirkung dieser beiden Primatsansprüche wiesen die „Rekognitionen" den Weg der Vermittelung, indem sie Antiochien als den berechtigten Stuhl prädizirten und einem wenig judenchristlich gefärbten Heidenchristenthum das Wort redeten. Dennoch drangen die Ansprüche Roms durch. „Der Lebende hat recht. Was waren Cäsarea und Antiochien, die Hauptstädte von Provinzen, gegen die Herrin des ganzen Reiches?" — Dieses in kurzer Skizzirung das Bild, welches der Vf. sich von diesen Dingen macht. In bewunderswerther Konsequenz führt er seine Idee von Anfang bis Ende durch. Indes, trotz mancher richtiger Beobachtungen und neuer Einblicke in diese verworrene Literatur, muß der Versuch, diese Frage so zu lösen, als nicht gelungen bezeichnet werden. Die Schuld tragen offenbar die Voraussetzungen, mit welchen der gelehrte Vf. an seine Untersuchungen gegangen ist, nämlich die judenchristlich-heidenchristliche Schematisirung, die fast genau in den Bahnen der Tübinger Schule sich bewegt, und die Meinung, daß hierarchische Interessen in der

Kirche des 2. Jahrhunderts eine maßgebende Rolle gespielt. Denn das darf doch als fester Gewinn der dogmengeschichtlichen Arbeit der letzten zwanzig Jahre angesehen werden, daß die geschichtliche Entwickelung und die treibenden Kräfte im 2. Jahrhundert anders geordnete waren, als diese geschlossene Konstruktion sie formt.

Viktor Schulze.

Das neu entdeckte vierte Buch des Daniel-Kommentars von Hippolytus. Von **Ed. Bratke.** Bonn, Fr. Cohen. 1891.

In Nr. 2 der Theol. Literaturzeitung vom 24. Januar 1891 machte Harnack zum ersten Male in Deutschland darauf aufmerksam, daß ein Gelehrter der griechischen Kirche, Dr. Georgiades, in einer Bibliothek auf Chalke das ganze vierte — und letzte — Buch des bisher nur in einigen Fragmenten bekannten Kommentars von Hippolytus Romanus (c. 220) zum Buche Daniel entdeckt und in der zu Konstantinopel erscheinenden Zeitschrift *Ἐκκλησιαστικὴ Ἀλήθεια* 1885. 1886, mit einer kurzen Einleitung versehen, publizirt habe. Harnack's Referat bewies zur Genüge, wie werthvoll der Fund sei für die Geschichte der altchristlichen Literatur nicht bloß, sondern auch der innerkirchlichen Bewegungen, Strömungen, Stimmungen in jener Zeit, ganz abgesehen von mehreren höchst interessanten Einzelheiten, die wir aus dem Kommentar lernen.

Nun bedürfen wir kaum etwas nothwendiger, als eine neue Ausgabe der Werke des Bischofs Hippolytus von Rom, und solche Ausgabe muß trotz ihrer Schwierigkeiten — denn in allen möglichen Ländern und Sprachen sind die Reste seines Fleißes verzettelt — bald unternommen werden; gleichwohl ist es erfreulich, daß wir behufs genauerer Bekanntschaft mit dem jüngsten Hippolytus-Funde nicht erst auf jene Ausgabe zu warten brauchen, noch auch lediglich auf eine in Deutschland leider kaum irgendwo zugängliche Zeitschrift angewiesen bleiben: es war ein löblicher Gedanke Bratke's, das Fragment nach dem Originaltext des Entdeckers zum ersten Male vollständig herauszugeben. Daß er sich wesentlich auf einen Abdruck von Georgiades' Text beschränkt hat, ist nicht zu tadeln, ebenso wenig die Ausnahme hiervon, nämlich stillschweigende Verbesserung einfacher Druckfehler; wenigstens ich will nicht darüber debattiren, ob die Einleitung, die bald an B.'s Studenten, bald an ihn, bald an Sachverständige adressirt scheint und durchweg mit dem bekannten Kultus der Umstandswörter geschrieben ist, nicht besser fehlte und Platz für

Georgiades' Einleitung in Ἐκκλ. Ἀλ. (Mai 1885) p. 10—21 gelassen hätte: wenn nur im übrigen B. sich als zuverlässiger Arbeiter erwiese.

Das Gegentheil ist der Fall. Abgesehen von ein paar Zusätzen zu den Noten Georgiades' unter dem Texte, meist Verweisungen auf Harnack's Anzeige, sind eigene Leistungen B.'s ein Verzeichnis der im Kommentar citirten oder anklingenden Bibelstellen S. 46 f. und ein Namen- und Sachregister S. 47—50. Im ersteren ist mindestens seltsam die Anordnung der biblischen Bücher, Koheleth vor Psalter und Propheten, I. und II. Thess. zwischen I. Petr. und Gal.; weit ärgerlicher in beiden die häufige Verletzung der auf Zahl und Buchstaben beruhenden Reihenfolge, wie wenn Jes. 49, 9 vor Jes. 42, 7 zu stehen kommt, *διαθήκη* zwischen *δέησις* und *δεύτερος*, drei Zeilen zu hoch, *δόξα* hinter *δοῦλοι*, *κοιμητήρια* acht Zeilen zu tief hinter *κόσμος*, *Συρία* vor *συντέλεια* u. s. w. Das Fehlen gewisser Artikel, wie *οἰκονομία*, *πατρικός*, *πιστός*, *ψυχή* fällt wenig in's Gewicht gegenüber der Unvollständigkeit der Quellenangabe bei vielen Artikeln, z. B. bei *βασιλεία*, *βασιλεύς*, *βδέλυγμα*, *ἅγιοι*. Das Stellenregister ist fast ganz aus Georgiades' Noten zusammengeschrieben; die wenigen Zuthaten B.'s, wie Hebr. 1, 14 und 3, 11, sind recht zweifelhaft. Eine Nachprüfung der Angaben des Griechen scheint B. für überflüssig gehalten zu haben, sonst hätte er nicht Eph. 2, 14 Kol. 2, 14 für S. 26, 1—4 vermerkt, statt Eph. 2, 14. 15 für S. 26, 1—4 und Kol. 2, 14 für S. 26, 4. 5, und würde nicht für S. 40, 12—18 II Thess. 1, 6 hinter V. 7—12 übersehen haben, wie er denn auch S. 40 N. 6 statt des gravitätischen 'c (sic.)' den augenscheinlichen Druckfehler bei Georgiades „26" in „6" stillschweigend verbessert hätte. Für S. 38, 13—15 hätte er ruhig des Georgiades Jer. 4, 11 statt seines ? bieten sollen. Wichtige Stellen fehlen, wie II Joh. V. 7 . . . 6, 29, II Petr. 3, 8 . . . 19, 13, Phil. 2, 10 . . . 40, 13; die meisten aus den Evangelien. Die Identifizirung des Citats S. 44, 15 ff. mit Joh. 14, 22—24 ist eine unglückliche, und bei dieser Gelegenheit macht B. eine Bemerkung von solcher Naivetät, daß ihm dadurch allein das Recht zum Ediren alter Texte genommen ist. Er glaube mit Grund Joh. 14, 22 ff. „mit dem Text aus Hippolytus zusammenzustellen, zumal derselbe durch das Fehlen der sonst üblichen Anführungsstriche in der Handschrift anzeigt, daß er nicht als eigentliches Citat verstanden sein will". Schlimm genug, daß wir erst hier statt in der Einleitung von dem in der Handschrift Üblichen erfahren,

aber beluſtigend, daß die Manieren einer ſpäten Handſchrift entſcheiden ſollen, als was eine Stelle 1000 Jahre früher verſtanden ſein wollte.

Kommen dazu nun noch eine Menge von offenbaren Druckfehlern aller Art (z. B. S. 22, 11 *κάσης* ſtatt *πάσης*, S. 34, 18 *αὐτοῖς* ſtatt *αὐτῆς*, S. 31, 18 und S. 32, 17 *ἀνέστην* ſtatt *ἀντέστην*), ſo weiß man bei bedenklichen Stellen (z. B. S. 38, 10 *ἑαυτοῖς*, S. 39, 23 *κρύβεσθαι*, S. 40, 12 *πόσον μᾶλλον*) nie, ob man es mit B., mit Georgiades oder mit der Handſchrift zu thun hat, und ein Weiterarbeiten auf ſo ſchwankender Grundlage iſt unthunlich.

Ad. Jülicher.

A history of the later Roman Empire from Arcadius to Irene. (395 AD to 800 AD.) By **J. B. Bury.** I. II. London and New York, Macmillan and Co. 1889.

Es muß als ein glücklicher Gedanke bezeichnet werden, daß der Vf. die erſten vier Jahrhunderte der oſtrömiſchen Kaiſergeſchichte zum erſten Male ſeit Finlay und Hopf wieder zum Gegenſtande einer zuſammenhängenden Darſtellung gemacht hat. Das Werk zeichnet ſich gleichmäßig durch eine enge Vertrautheit mit den Quellen, wie durch eine ſorgfältige Heranziehung der neueren Literatur aus, und wo man auch in der Beurtheilung mit dem Vf. nicht übereinſtimmen kann, wird man ſelten ohne Anregung das Buch benutzen.

Der Vf. betont mit großer Energie ſchon in der Vorrede die ununterbrochene Kontinuität des römiſchen Reiches von Auguſtus bis auf Konſtantin den Paläologen. Er betrachtet deshalb alle Unterſcheidungen zwiſchen einem römiſchen und einem byzantiniſchen Kaiſerthum, deren Grenzmarke bald unter Konſtantin dem Großen, bald unter Theodoſius, von anderen unter Juſtinian oder Leo, dem Iſaurier angeſetzt wird, als purely arbitrary. So rein willkürlich ſind doch einige dieſer Trennungslinien keineswegs. Juſtinian's Zeit oder die ſeiner Nachfolger iſt als ſolche bezeichnet worden, weil das Lateiniſche als amtliche Sprache damals dem Griechiſchen zu weichen begann, und ſo das Staatsweſen auch äußerlich eine neue Phyſiognomie empfing, eine Auffaſſung, welcher die italiſchen wie die ſyriſchen Chroniſten in ihrer Weiſe Ausdruck geben, indem ſie mit Tiberius oder Mauricius die Reihe der griechiſchen Kaiſer anheben. Immerhin iſt dieſe Epoche noch ſo ſehr ein Theil der antiken Zeit, daß man von einem völlig neuen Zeitalter eigentlich nicht ſprechen kann. Viel

besser begründet erscheint der Einschnitt unter den isaurischen Kaisern, wo nach dem mehr als hundertjährigen geistigen Stillstande und nach der siegreichen Erledigung des ungeheuern Kampfes um die Existenz mit dem Islam in der That eine völlig neue Zeit beginnt. Doch auch der Vf. (z. B. Buch IV Kap. 6 the great plague und sonst) hebt hervor, daß durch Justinian, durch Heraklios und ebenso durch die Isaurier große weltgeschichtliche Wendepunkte markirt wurden; er spricht geradezu von historischen „Wasserscheiden" und bringt sie in etwas eigenthümlicher Weise mit den damaligen großen Epidemien in Verbindung. Niemand leugnet die Kontinuität zwischen Alt- und Neukorn, und doch ist dieses vielfach ein völlig neues. In der Hauptsache läuft die Erörterung mehr auf einen Wortstreit hinaus.

Ein anderer von dem Vf. nachdrücklich hervorgehobener Grundgedanke ist, daß wir von einem oströmischen und einem weströmischen Kaiserthum vor Karl dem Großen nicht zu sprechen hätten, sondern nur von einem einheitlichen, zeitweise in eine östliche und eine westliche Hälfte zerfallenden Römerreiche. Folgerichtig hat denn auch der Vf. im 1. Bande die Geschicke der Kaiser des Westens genau mit derselben Ausführlichkeit, wie die des Ostens dargestellt, und demgemäß nehmen hier den verhältnismäßig größten Raum die äußeren Ereignisse ein, die Berichte über die oft recht ephemeren Einzelregierungen und die sich ablösenden leitenden Generale und Staatsmänner. Während im 2. Bande von Justinian an das innere Leben des Staates, die Entwickelung der einzelnen Institute der Staatsverwaltung, die Lage der verschiedenen Klassen der Bevölkerung, das Verhältnis von Staat und Kirche u. ähnl. ebenso eingehend, als verständnisvoll klargelegt werden, sind die kulturgeschichtlichen Abschnitte des 1. Bandes (Buch II Kap. 9, 10 und Buch III Kap. 8) mehr skizzenhaft gehalten. Bisweilen geht der Vf. näherer Darstellung kirchlicher Vorgänge aus dem Wege und verweist auf die Kirchengeschichte, als ob sich Kirchliches und Politisches gerade in den damaligen Jahrhunderten so reinlich trennen ließe. So weicht er einer Besprechung des Streits über Origenes aus, weil lediglich kirchengeschichtlichen Interesses, und doch handelt es sich hier im Grunde um eine Frage von tiefgreifendster Bedeutung, über das Verhältnis der christlichen Gemeinschaft zur wissenschaftlichen Forschung überhaupt, eine Frage, die doch kaum nur of purely ecclesiastical interest ist. Andrerseits handelt sein interessantes 9. Kapitel des zweiten Buches in der Hauptsache von den christologischen Streitigkeiten des 4. und 5. Jahrhunderts, also von rein

dogmengeschichtlichen Gegenständen; gewiß mit vollem Recht; denn diese Fragen standen während jener Epoche im Vordergrunde des allgemeinen Interesses. Daneben hätten wir aber gewünscht, daß die Ausführungen desselben Kapitels über das Verhältnis von Staat und Kirche, von Kaiser und Patriarch sich nicht so sehr im allgemeinen gehalten hätten. Eine eingehende Würdigung der Kirchenpolitik Marcian's und Leo's, andrerseits Zeno's und des Patriarchen Akakios und endlich des Kaisers Anastasius, welch letztere verschiedenartige Phasen durchlief, hätte über eine Reihe dunkler oder bisher mißverstandener Punkte Licht verbreiten können. Auch das Henotikon als kirchenpolitische Maßregel beurtheilt der Vf. zu ungünstig; es hat in der That für ein Menschenalter im Osten relative Ruhe geschaffen. Im wesentlichen richtig ist Justinian's Kirchenpolitik gezeichnet; zu bemerken wäre übrigens gewesen, daß der spätere Umschwung in seiner kirchlichen Politik, welcher die Beschlüsse des V. Konzils veranlaßt hat, ein einfaches Zurückgehen auf die Postulate der gemäßigt monophysitischen Henotiker war, welche sich unter Anastasius um Flavian geschart hatten. Anastasius' Schwäche ließ es zu, daß mit Severus die Extremen im Osten zur Herrschaft kamen; dadurch und durch die schroffe Reaktion beim Regierungswechsel wurden die Gegensätze so geschärft, daß, als vierzig Jahre später Justinian in die von den alten Henotikern vorgezeichneten Bahnen wieder einlenken wollte, der Riß bereits viel zu tief, und jede Verständigung unmöglich war.

Um anderes zu übergehen, so hätte jedenfalls das Mönchthum dieser Jahrhunderte eine eingehendere Berücksichtigung verdient, als ihm in der Einleitung zu Theil wird und dann erst wieder im 2. Bande bei Anlaß des Bilderstreites. Palladius wird nur einmal gelegentlich, und Johannes Moschos gar nicht citirt, und doch sind gerade diese Werke nicht nur für die Anschauungen jener Jahrhunderte überaus charakteristisch, sondern sie haben auch den weitgehendsten Einfluß auf die gesammte byzantinische Geistesentwickelung der späteren Zeit ausgeübt.

Der Vf. geht 1, 212 zu weit, wenn er dem Antiochien des 5. Jahrhunderts einen fast ganz christlichen Charakter zuschreibt; im Gegentheil, gerade Antiochien erlebte noch in der zweiten Hälfte des 6. Jahrhunderts Untersuchungen gegen angebliche Heiden, ein Beweis, wie zähe sich hier der alte Glaube erhalten hat. Unrichtig ist es auch, wenn gesagt wird, daß der Eutychianismus, wie in Alexandrien und Armenien, so auch in Palästina geherrscht habe; der Klerus und

die zahlreichen Mönchsscharen des heiligen Landes hatten ausgeprägt chalcedonensische Gesinnung; ebensowenig kommt dem Nestorianismus im 7. Jahrhundert für Syrien und Mesopotamien, soweit letzteres wenigstens römische Provinz war, irgendwelche Bedeutung zu (2, 249). Die Schule von Edessa (richtiger: die Schule der Perser zu Edessa = *διδασκαλεῖον χριστιανικὸν Περσικῆς διατριβῆς*), welche Zeno weniger aus Engherzigkeit als aus wohlverständlichen kirchenpolitischen Rücksichten geschlossen hat, kann niemals a vast influence in diffusing Hellenism in those regions ausgeübt haben. Edessa war das Centrum hochgesteigerter syrischer, kaum griechischer Kultur, und gerade die Lehrer jener Schule haben syrisch unterrichtet und die Werke griechischer Väter in dieses Idiom übersetzt. Wenn 1, 290 Anastasius' Mutter zu einer Arianerin und sein Onkel zu einem Manichäer gemacht werden, so haben hier die beiden Kirchenparteien ihre Plätze vertauscht. Gegen die Ansicht he held unorthodox opinions hätte der Kaiser feierlich protestirt; denn als eifriger Monophysit hielt er sich für vorzugsweise orthodox. Beiläufig ist diese Neigung auf Familientradition zurückzuführen; denn das angebliche Manichäerthum ist nichts als Monophysitismus. Wie aus den Konzilsakten und den gleichzeitigen Schriftstellern hervorgeht, ist „Manichäer" der regelmäßige Spottname, mit welchem die monophysitische Kirchenpartei von den Synoditen beehrt wurde; umgekehrt wurden diese von ihren Gegnern Nestorianer oder auch Juden genannt.

Unverkennbar hat der Vf. der späteren Periode von Justinian an ein eingehenderes Interesse geschenkt und sie mit mehr Liebe, als die vorangehende, geschildert; ich verweise auf die geistvolle Beurtheilung Justinian's 1, 351 ff. Eine gewisse Ungleichheit entsteht dadurch, daß er die italienischen Kriege, weil ausführlich in Hodgkin's Italy and her Invaders geschildert, sehr kurz, dagegen die persischen und besonders den lazischen Krieg mit um so größerer Ausführlichkeit behandelt. Um so auffälliger ist es, daß der Vf. bei der Beschreibung von Anastasius' Perserkrieg die Chronik des Styliten Josua weder erwähnt noch benutzt; er hätte z. B. daraus ersehen, daß die Verwandlung von Dârâ in eine große Reichsfestung nicht erst im Jahre 507, sondern bereits 505/6 in Angriff genommen wurde. Über die Anekdota adoptirt er Ranke's u. A. Ansicht über ihren nicht prokopianischen Ursprung und sucht dieselbe durch weitere Gründe in einem besonderen Appendix zu stützen, ohne jedoch auf die werth-

vollen sprachlichen Gründe Dahn's für die gegentheilige Ansicht einzugehen.

Der 2. Band beginnt mit einer vortrefflichen Würdigung von Justinian's Zeit, welche dem inneren Leben des Reichs in sechs ausführlichen Kapiteln gerecht wird. So wird die in der Provinzialverwaltung eingetretene Umwandlung ausführlich erörtert, welche der Vf. gut als einen Übergang von der alten diokletianisch-konstantinischen Ordnung, welche Zivil- und Militärverwaltung streng trennt, zu dem späteren Themensystem charakterisirt. Dabei kommt er auch auf die wichtige Neuorganisation der armenischen Provinz 535 zu sprechen; hier wären die vorbereitenden Maßregeln von 528 zu erwähnen gewesen, deren 1, 422 nur beiläufig in einer Anmerkung gedacht worden ist. S. 34 wird unter den der Präfektur Afrika zugetheilten Provinzen auch die Tingitana statt der Zengitana aufgezählt. Nicht beizustimmen vermag Ref. den Anschauungen des Vf. über die Entstehung des Exarchats in Italien und Afrika. Narses' Stellung entsprach allerdings der des späteren Exarchen, er selbst war aber schon darum nicht der erste Exarch, weil der Titel nachjustinianeisch ist. Auch Longinus hätte nicht in alter Weise zum Exarchen gemacht werden sollen. Verkehrt ist auch die Behauptung, daß das afrikanische Exarchat aus der Präfektur hervorgegangen sei; beide bestehen neben einander noch unter Mauricius (2, 34. Richtigere Angaben S. 347). Endlich die Vermuthung, daß Sardinien nach dem Langobardeneinbruch zu Italien geschlagen worden sei, steht im Widerspruch mit den Quellen, welche seine Zugehörigkeit zu Afrika noch für Mauricius und vielleicht für den Ausgang des 7. Jahrhunderts darthun.

Die Angabe des Johannes von Ephesus (3, 14) genügt in keiner Weise, um deshalb, wie der Vf. geneigt ist, den christlichen Eifer des jüngeren Justin in Zweifel zu ziehen. Die damalige monophysitische Volksanschauung und Mönchspolemik war Synoditen gegenüber mit dem Vorwurfe des Heidenthums oder heidnischer Gebräuche außerordentlich freigebig. Es ist auch nicht richtig, daß damals der Patriarch der Residenz die Diöcesen des Ostens in ein ähnliches Abhängigkeitsverhältnis gebracht habe, wie es Ravenna und Thessalonike Altrom gegenüber einnahmen. Gerade unter Justin und seinen Nachfolgern haben Männer wie Anastasios von Antiochien und Eulogios von Alexandrien eine bemerkenswerthe Unabhängigkeit behauptet. Auch wird man nicht sagen können, daß erst in der damaligen Epoche die Kirchenpolitik der Kaiser durch die Patriarchen sei bestimmt worden.

Nur der Zufall, daß wir über diese Verhältnisse an Johannes von Ephesus einen so wohlunterrichteten und ausführlichen Zeugen besitzen, läßt uns klarer in dieselben hineinblicken. Hundert Jahre früher hat Akakios genau in derselben Weise die Kirchenpolitik Kaiser Zeno's gemacht. In dem längst eingebürgerten Titel „ökumenischer Patriarch" kann kein Versuch Johannes des Fasters erblickt werden, Konstantinopel zur Rivalin von Altrom zu erheben. Nur aus Mißverständnis hat eigentlich Gregor I. den Streit begonnen und fand darum bei den ganz unparteiisch sich haltenden Prälaten von Antiochien und Alexandrien absolut keinen Anklang. Man kann deshalb auch die Anfänge der Spannung zwischen Griechen und Lateinern, welche 1054 mit dem Schisma endigten, nicht schon unter Mauricius ansetzen.

Außerordentlich lebendig ist das fünfte Buch geschrieben; der Vf. verweilt offenbar mit großer Sympathie bei der Persönlichkeit des Heraklius, Heraclius the man of genius, wie er auch nicht müde wird, die Verdienste des von ihm begründeten Regentenhauses als des Vorkämpfers gegen Islam und Araberthum in's helle Licht zu stellen. Leider hat er weder für Phokas' Regierung und Sturz, noch für die Eroberung Ägyptens durch die Araber das reiche Material der Chronik des Johannes von Nikiu herangezogen, obschon er das Werk einmal gelegentlich citirt. Auffällig ist, daß der Vf. an mehreren Stellen von dem alexandrinischen Ursprung der Osterchronik spricht; diese haltlose, längst von Du Cange widerlegte Ansicht steht für ihn so fest, daß er daran die weitere Hypothese knüpft, das Chronikon habe im 7. Jahrhundert in Alexandria eine Fortsetzung (griechisch unter den Arabern?) gefunden, und diese sei eine der Quellen des Theophanes für die damalige Zeit gewesen. Geistreich, obschon nur theilweise richtig, ist des Vf. Charakteristik von Constans' (Konstantin's) Politik als der eines Mannes der alten Zeit, welcher die kirchlichen Fragen noch lediglich vom politischen Standpunkt aus beurtheilte und ganz im Gegensatze zu seiner Zeit in ihnen keine Lebensfragen erkennen, und welcher endlich noch einmal den Schwerpunkt des Reichs vom Osten nach dem Westen verlegen wollte.

In dem reichhaltigen Kapitel über den Ursprung des Themensystems, welches übrigens Rambaud's Untersuchungen gar nicht zu berücksichtigen scheint, verweise ich auf die scharfsinnige Vermuthung über die Entstehung des Thema Anatolikon und den damit verbundenen Bedeutungsübergang des Wortes Anatole. Bei Sicilien hätte bemerkt werden müssen, daß die Einrichtung als selbständige Provinz

durch Justinian nur eine ephemere war und von seinen Nachfolgern aufgehoben ward. Mit Recht stellt er die Exarchate Italien und Afrika den Themen an die Seite; warum er aber dem afrikanischen Statthalter den Exarchentitel abspricht oder ihn für unoffiziell erklärt (vgl. 2, 345, 34), ist nicht einzusehen. Bei der Spärlichkeit der Zeugnisse des 7. Jahrhunderts hätte auch Justinian's zweiter Brief an Papst Johann mit seinen erlesenen Angaben über die Repräsentanten der einzelnen Heereskörper Verwendung verdient.

Das letzte Buch des 2. Bandes beschäftigt sich in eingehendster Weise mit den isaurischen Kaisern. Das Verwaltungssystem der großen Ikonoklasten empfängt viel neues Licht durch die eingehende Verwerthung des von diesen Fürsten kodifizirten Rechts, der *Ἐκλογή* und namentlich auch des *νόμος γεωργικός*, wobei der Vf. auch die Forschungen russischer Gelehrter, so Skabalanovič', verwerthet hat. Um die Bilderstürmer in ein möglichst helles Licht zu stellen, läßt er ein Kapitel über den sozialen und religiösen Verfall im 7. Jahrhundert vorangehen. Indessen hier wird insofern in's Schwarze gemalt, als er vielfach diesem Jahrhundert als Eigenthümlichkeit zuschreibt, was wir genau so oder ähnlich in den früheren und späteren treffen. Die Bilderverehrung und Wundergläubigkeit werden im 6. Jahrhundert auch unter den Gebildeten und Geistlichen gewiß nicht geringer, als im 7. Jahrhunderte gewesen sein. Die Mönche vollends als Zukunftspropheten und namentlich als Verkündiger von Kaiserorakeln sind einfach die Nachfolger der alten Druidinnen und pannonischen Weissager und durch alle Jahrhunderte nachweisbar; auch hier ist nichts Neues zu finden. Der Vf. sieht überhaupt in dem Christenthume der damaligen Zeit nur Aberglaube oder Korruption einer reineren Religionsauffassung und vergißt zu sehr, daß dasselbe vielfach nur äußerlich in anderem Gewand auftretendes antikes Heidenthum war. Daraus erklärt sich wenigstens theilweise die Zähigkeit, mit der gerade die Bewohner von Hellas für den Bilderkult eintraten; ihr alter Götterglaube lag unter dieser Hülle verborgen, und sie sahen in dem kaiserlichen Verbot ein Attentat auf den altererbten Väterglauben. Dem Vf. paßt das freilich nicht recht, und er möchte den griechischen Aufstand lieber dem Steuerdruck zuschreiben, wovon jedoch die Quellen nichts wissen. Wenn Theodoros, der Metropolit von Melitene, auf dem VI. Konzil sich *χωρικός* nennt, so kann das nicht ernsthaft als Beweis für die Unwissenheit der Zeit verwerthet werden. Der schlaue Prälat will dadurch nur jeder Verantwortung

für das auch von ihm unterzeichnete monotheletische Schriftstück entgehen. Gut legt der Vf. den Zusammenhang der ikonoklastischen Bewegung mit den Paulicianern dar, er hätte noch die Montanisten und ähnliche kleinasiatische Dissenters anführen können, auf die neuerdings mit Recht ist hingewiesen worden.

Dagegen bedenklicher ist die Annahme monophysitischen Einflusses, welchen er nach Stoke's Vorgange in scharfsinniger, aber wenig wahrscheinlicher Weise darzulegen versucht. Bei den älteren Monophysiten ist allerdings Bilderfeindschaft nachweisbar, z. B. bei Xenaïas; das hört aber später völlig auf. Allerdings berichtet Michael der Syrer, daß Konstantin V. im geheimen „orthodox" war und seinem Konzil, „dem VII. Konzil", anbefahl, die Beschlüsse von Chalcedon und den Bilderkult abzuschaffen; indessen der Haß dieser Leute gegen die griechische Orthodoxie war ein so gründlicher, daß jeder Gegner der Griechen ihres Lobes sicher sein konnte, Araber und Kreuzfahrer, warum also auch nicht die Ikonoklasten? Ganz unverständlich ist jedoch, wie Vf. aus monophysitischer Quelle auch den Haß gegen den Marienkult herleiten will. Man möchte annehmen, daß eine Verwechselung mit den Nestorianern vorliege, wenn der Vf. nicht mehrfach auf diesen Gegenstand zurückkäme. Übrigens ist es zu weit gegangen, wenn der Ikonoklastenpartei als solcher eine Opposition gegen den Mariendienst zugeschrieben wird. Die 2, 428 N. 1 angeführte Stelle aus Theophanes beweist das durchaus nicht. Soviel ich sehe, sprechen die Quellen nur von einer Privatansicht des mit Recht vom Vf. als Freidenker charakterisirten Kaisers Konstantin V. Ganz anders dachte der bilderfeindliche Klerus, wie aus den Konzilsakten und den Äußerungen der bilderfeindlichen Patriarchen hervorgeht. Es fällt in's Gewicht, daß der kirchliche Gegner Theophanes dieses für die von ihm verabscheuten Prälaten so günstige Zeugnis ablegt. H. Gelzer.

**S. Chrodegangi,** Metensis episcopi (742 — 766), Regula Canonicorum. Aus dem Leidener Codex Vossianus latinus 94 mit Umschrift der Tironischen Noten herausgegeben von **Wilhelm Schmitz.** Hannover, Hahn. 1889.

Der unermüdliche Erforscher der Tironischen Noten bietet in dem vorliegenden Werk eine Ergänzung zu seinen Monumenta tachygraphica, indem er auf den dort. publizirten codex Paris. latinus 2718 jetzt einen Abdruck des nicht weniger lehrreichen Leidener codex

Vossianus latinus 94 folgen läßt. Diese schon von Pertz erwähnte (Archiv 7, 136), aber ihrem Inhalt nach unrichtig bestimmte Handschrift saec. IX—X (eine nähere Bestimmung des Alters des Codex scheint Ref. der Schrift nach wohl möglich zu sein, wie er auch eine genauere Angabe über Herkunft der Handschrift vermißt) enthält die Regula Canonicorum des Bischofs Chrodegang von Metz, die in einer lauteren und in einer überarbeiteten und interpolirten Gestalt auf uns gekommen ist (vgl. auch die Bemerkungen von Ph. Labbe in der Ausgabe der Regula Canonicorum bei Lukas Holste, Cod. Regularum 2, 94). Insofern hat diese Publikation auch für den Kirchenhistoriker und den Kanonisten große Bedeutung, weil sie die ursprüngliche Form der Regula nach Handschriften bietet, welche die zahlreichen älteren Ausgaben, die meist auf den Cod. Palatinus 555 (vgl. Bethmann im Archiv 12, 337) zurückgehen, nicht berücksichtigt haben. Sie ist ein genauer und unveränderter Abdruck des Textes des Cod. Vossianus 94; den hier fehlenden Prolog bietet der Herausgeber nach dem Druck bei Migne und dem Leidener codex bibl. publ. lat. 81 saec. X (vgl. Pertz im Archiv 7, 134); auch im weiteren sind in Fußnoten die Varianten der letzteren Handschrift verzeichnet.

Wichtig vor allem aber ist diese Publikation für den Paläographen. Denn der Hauptwerth der Handschrift liegt in den Tironischen Noten, welche mit den ausgeschriebenen Worten des Textes bunt gemischt sind und welche nach der Versicherung des erfahrenen Herausgebers durch die Besonderheit der Schreibweise und durch die eigenthümliche Gestaltung einiger titulae merkwürdig sind.

Die genaue Transskription des Textes bietet diese Noten in kursiven Lettern. Doch ist leider bei der Korrektur nicht mit der nöthigen Sorgfalt verfahren; zahlreiche in der Handschrift ausgeschriebene Worte sind in der Transskription kursiv, und zahlreiche Umschriften der Noten sind nicht kursiv gedruckt worden[1]). Kehr.

---

[1]) So hätte S. 3 Z. 35 in, S. 4 Z. 10 ut fiat quod scriptum est, S. 5 Z. 4 vel, S. 6 Z. 13 aut, Z. 14 nocte, Z. 33 vel, S. 7 Z. 1 et qui, S. 8 Z. 4 et, S. 11 Z. 22 de ipsa peccata, Z. 16 iusserit, Z. 19 poenitentiam i. e., Z. 21 ubi prior iusserit, Z. 29 a, S. 12 Z. 5 aut, S. 13 Z. 1 et, S. 14 Z. 9 vel quibus episcopus iusserit, Z. 11 qui, Z. 19 in, Z. 25 in refectorium, S. 15 Z. 10 et, S. 16 Z. 12 officium nisi, S. 20 Z. 12. 21. 22 et, Z. 40 ut, S. 21 Z. 6 erat, Z. 17 loco, S. 22 Z. 37 quam quilibet u. a. kursiv gedruckt werden müssen, da alle diese Worte in Noten geschrieben sind. Umgekehrt sind S. 4 Z. 14 foras, Z. 35 displiciant, S. 6

Papst Silvester II. (Gerbert) als Lehrer und Staatsmann. Von **Karl Schultèß.** 1891. (Wissenschaftliche Beilage zum Osterprogramm des Wilhelm-Gymnasiums in Hamburg.)

Vorliegende sehr fleißige, aber auch sehr breite Schrift bietet nicht viel Neues; sie schließt sich überdies unbedingt an die Ergebnisse der Untersuchungen von Havet an, während diese neuerdings von Sickel in den Mittheilungen des Instituts für österr. Geschichtsforschung 12, 234 ff. 414 ff. in mehreren Punkten angegriffen sind. Vor allem aber ist zu bedauern, daß Vf. das Werk des russischen Professors Boubnov über Gerbert nicht hat benutzen können; es kann ihm allerdings daraus kein Vorwurf gemacht werden, da nicht er allein diesem russisch geschriebenen Werke rathlos gegenübersteht. Kehr.

**Abälard's** 1121 zu Soissons verurtheilter Tractatus de unitate et trinitate divina. Aufgefunden und erstmals herausgegeben von **Rem. Stölzle.** Freiburg i. Br., Herder. 1891.

Der Würzburger Professor der Philosophie Stölzle hat das Glück gehabt, in einem aus dem 12. Jahrhundert stammenden Miszellancodex der Erlanger Universitätsbibliothek an zweiter Stelle ein Werk Petri adbaiolardi zu entdecken, das mit keiner der bisher bekannten theologischen Arbeiten Abälard's, „des Troubadours unter den Scholastikern", zu identifiziren war. Er überzeugte sich bald, es mit der Schrift zu thun zu haben, auf Grund deren Abälard 1121

---

Z. 19 subiaceatur, Z. 25 subiaceat, Z. 28 digesti, Z. 29 et, S. 7 Z. 5 cogente, Z. 32 devocione, S. 8 Z. 26 clero, S. 9 Z. 34 Revela domino, S. 10 Z. 11 suadente, S. 15 Z. 24 ad, S. 20 Z. 40 sua, S. 21 Z. 28 ad(vivent), S. 22 Z. 15 (super)posito, Z. 31 contigerit, S. 23 Z. 16 solis, Z. 27 in, S. 24 Z. 27ora, Z. 29 matri(cularii) kursiv gedruckt, während sie in der Handschrift ausgeschrieben sind. Auch sonst sind Inkorrektheiten in der Transskription zu verzeichnen. So muß S. 4 Z. 10 honorem statt honore, S. 5 Z. 7 refetionis statt refectionis, S. 6 Z. 20 completorium statt conpletorium, Z. 22 consideracionem statt considerationem (auch sonst ist c häufig als t gelesen), S. 7 Z. 34 iudicavit statt indicavit, S. 13 Z. 25 und 27 navitatem und navitate (!) statt nativitatem und nativitate, S. 20 Z. 38 utiquam statt antiquam, S. 24 Z. 38 und S. 25 Z. 15 excomunicetur statt excommunicetur gelesen werden. Auch die Korrekturen sind nicht alle berücksichtigt. Zu S. 13 Z. 31 wäre zu bemerken gewesen, daß nach ipso die Note für autem getilgt ist; ebenso ist S. 24 Z. 14 nach dei die Note für a (?) ungültig erklärt.

zum ersten Male von einer Synode — zu Soissons — verdammt worden ist, einer Schrift, die mit der Theologia christiana streckenweise wörtlich übereinstimmt, aber erheblich kürzer als jene ist, und der nur die Annahme gerecht wird, daß sie, früher als die Th. christ. niedergeschrieben, dort unter veränderten Zeitumständen und mit neuen Interessen eine verbesserte und erweiterte Auflage erfahren hat.

Die Herausgabe des Textes ist mit Dankbarkeit zu begrüßen. Orthographische Kleinigkeiten ausgenommen, hält sich St. streng an die handschriftliche Vorlage; theils durch Fußnoten, theils durch gut gewählte Abzeichen im Text gibt er genau zu erkennen, wo und in welcher Art dieser Traktat und die Theol. christ. von einander abweichen: die ganze Arbeit macht den Eindruck größter Sorgfalt; soweit ich kontroliren konnte, sind selbst geringfügige Fehler ungewöhnlich selten. Schade nur, daß nicht die Zeilenzählung am Rande durchgeführt worden ist, die das Bestimmen und Aufsuchen einzelner Stellen sehr erleichtern würde. Die bloß ein wenig schwerfällig geschriebene Einleitung führt den m. E. unanfechtbaren Beweis, daß aus inneren und äußeren Gründen die Theol. christ. als spätere Bearbeitung des neuen Traktats anzusehen ist, und daß letzterer die zu Soissons verurteilte Schrift Abälard's sein muß, denn auf ihn passen die Angaben des hl. Bernhard und Otto's von Freisingen, die Angaben Abälard's selber; die letzten Zweifel beseitigt die feindselige Stellung zu Roscellin, die den Traktat charakterisirt. Es ist das Werk Abälard's, welches den bitterbösen Brief Roscellin's an den Bischof von Paris (etwa vom Jahre 1120) veranlaßt hatte.

In einem Schlußkapitel gibt St. eine Beschreibung des Erlanger Manuskripts und Rechenschaft über seine Edition: eine Handschrift, die den Zeiten Abälard's so nahe steht, muß in jedem Falle von Werth sein, selbst wenn die sonstigen Thesen über ihren Inhalt sich als irrig erwiesen. In einem Anhang S. 98—101 kann denn auch der Herausgeber in den Parthieen, welche sein Manuskript mit der Theol. christ. gemein hat, 75 Stellen zeigen, in denen der Text der Theol. nun erst berichtigt, meistens überhaupt erst verständlich wird. Vorher, S. 93—97, zählt er die Zusätze der Theol. christ. zu dem Wortlaut des Traktats, soweit sie sich nicht nur auf ein paar Worte erstrecken, auf; daß die Handschrift nicht ganz vollständig ist — es dürfte am Schluß ein Blatt oder zwei fehlen —, erschwert das Urtheil über das Verhältnis beider parallelen Arbeiten nicht erheblich.

Soviel ich sehe, wird durch den Fund, den der treue Fleiß des Würzburger Gelehrten uns zugänglich gemacht hat, unsere Erkenntnis der scholastischen Theologie oder der Abälard'schen Gedanken nicht wesentlich gefördert, aber von großem Interesse ist es, durch fortwährende Vergleichung der vielleicht um acht Jahre auseinanderliegenden Schriften Abälard's Blicke in seine Entwickelung zu thun und den Motiven nachzuspüren, aus denen er bald streicht, bald hinzufügt, bald verbessert. Wir wünschen der Geschichte der christlichen Literatur recht viele solche Entdeckungen und solche Editionen.

Ad. Jülicher.

Indices eorum quae Monumentorum Germaniae historicorum tomis hucusque editis continentur. Scripserunt **O. Holder-Egger** et **K. Zeumer.** Hannoverae, impensis bibliopolii Hahniani; Berolini apud Weidmannos. 1890.

Zum dritten Mal bietet die Leitung der Monumenta Germaniae den Benutzern ein ausführliches Inhaltsverzeichnis. Im Jahre 1848 gab Wattenbach ein Verzeichnis der in den Scriptores-Bänden 1—8 enthaltenen Geschichtsschreiber und Pertz ein Inhaltsverzeichnis der beiden Leges-Bände 1 und 2 (im Archiv der Gesellschaft für ältere deutsche Geschichtskunde 10, 1—74). Im Jahre 1866 schickte Pertz dem 19. Bande der Scriptores ein Verzeichnis aller bis dahin publizirten Geschichtschreiber voraus (p. VII — XXXIV). Schon damals eine stattliche Reihe. Aber wie weit bleiben diese älteren Verzeichnisse hinter dem ansehnlichen Bande zurück, der jetzt vorliegt und gleichsam Rechenschaft darüber abgibt, was die Monumenta in der Edition der Denkmale der deutschen Vorzeit bis auf den heutigen Tag geleistet haben. Er ist gewissermaßen das Hauptbuch der Monumenta-Direktion, ein geschäftsmäßiger Abschluß, welcher dem gelehrten Publikum vorgelegt wird, um diesem zu zeigen, welche Fülle von Materialien bis jetzt herausgegeben ist, aber auch zugleich zu übersehen ermöglicht, wie viel noch fehlt, ehe das große nationale Unternehmen dem Abschlusse nahe kommt.

Wohl haben die Monumenta in weiteren, ja selbst in gelehrten Kreisen ohne Zweifel viel von ihrer früheren Popularität eingebüßt. Die Begeisterung, welche einst das patriotische Unternehmen in's Leben rief, ist längst verraucht, die Freude, mit welcher die Bände begrüßt wurden, welche die ersehnten und lange entbehrten Denkmale zum ersten Male in ihrer lauteren Überlieferung darboten, ist einer

nüchternen und kritischen Beurtheilung gewichen, die Theilnahme, mit welcher auch die nichtgelehrte Welt dem Fortschreiten des großen Werkes folgte, ist allmählich erkaltet. Scheint man doch sogar in Regierungskreisen eine Zeit lang daran gedacht zu haben, das Arbeitsgebiet der Monumenta und vor allem die ihnen bewilligte geringe Geldsumme einzuschränken. Auch an persönlichen Irrungen und an Mißgriffen aller Art hat es nicht gefehlt, manche tüchtige Kraft hat dem großen Unternehmen unmuthig den Rücken gewandt, und scharfe Worte sind zuweilen gefallen. Nicht immer ist es gelungen, den hohen Forderungen zu genügen, welche die heutige Wissenschaft an kritische Ausgaben stellt. Dergestalt ist das Fortschreiten und die gesunde Entwickelung des Unternehmens durch mehr als eine Krise gefährdet gewesen. Umsomehr wird jeder Historiker mit gerechtem Stolze die stattliche Zahl der bisher erschienenen Bände überblicken. Wie viele Namen sind hier verzeichnet, deren wir heute noch in dankbarer Verehrung gedenken. Zwei Gelehrtengenerationen sind bereits mit diesem Unternehmen für immer verknüpft. Wohl sind die meisten der älteren, ein Pertz, Bethmann, Lappenberg, Giesebrecht, Jaffé, Köpke, Wilmans, Abel, ein Merkel, Bluhme und andere, vor allen aber der unvergeßliche Waitz, dahingegangen, aber ihr Gedächtnis lebt unter den Jüngeren weiter, welche das Glück haben, die kräftige Weiterentwickelung ihres Werkes zu sehen.

Überblicken wir die Indices, so läßt sich leicht scheiden, was unter G. H. Pertz' Alleinherrschaft und was seit der Konstituirung der heutigen Centraldirektion geleistet ist. Den 25 Foliobänden, welche unter dem Namen G. H. Pertz von 1826 bis 1874 erschienen sind, stehen 10 Foliobände und 32 Quartbände aus den Jahren 1875 bis 1890 gegenüber.. Die ganze Serie der Auctores antiquissimi, die Scriptores rerum Merovingicarum, die Scriptores rerum Langobardicarum et Italicarum, ein libellus de lite imperatorum et pontificum, die deutschen Chroniken, die Quartserie der Leges, die Diplomata regum et imperatorum Germaniae, die Epistolae, die Poetae latini, ein liber confraternitatum, die Necrologia Germaniae sind hinzugekommen. Daneben sind die Schulausgaben der Scriptores rerum Germanicarum weiter gefördert worden, und zu den 12 Bänden des Archivs der Gesellschaft für ältere deutsche Geschichtskunde haben sich bisher 15 Bände des Neuen Archivs hinzugesellt. Es sind ferner die Merovingischen Heiligenleben, die fränkischen Konzilien, die fränkischen und italienischen Gerichtsurkunden,

die deutschen Stadtrechte in Angriff genommen. Nach dem diesjährigen Jahresbericht befinden sich sogar 15 Bände unter der Presse. In Summa ist also in den letzten 15 Jahren nicht nur eine sehr stattliche Vermehrung der älteren Serien zu verzeichnen, sondern vor allem eine bedeutende Erweiterung und Ausdehnung des ursprünglichen Planes. So sind die Aufgaben größer, die Grundlagen, auf denen unser nationales Quellenwerk sich aufbaut, breiter geworden, die Anforderungen an die einzelnen Mitarbeiter, wie an die Leitung gewachsen. Dieser, insbesondere aber den Manen von G. Waitz, schuldet die deutsche Wissenschaft für die eifrige und umsichtige Förderung all' dieser zahlreichen und vielgestaltigen Aufgaben allezeit Dank.

Am meisten fortgeschritten ist die große Serie der Scriptores, am weitesten zurückgeblieben die der Diplomata und Epistolae. Hängt dies damit zusammen, daß diese beiden Abtheilungen verhältnismäßig spät in Angriff genommen sind und daß die Überlieferung dieses Quellenmateriales weit umfassendere Vorarbeiten und Untersuchungen als die der anderen nothwendig macht, so ist nun umsomehr zu wünschen, daß diese Abtheilungen fortan besonders berücksichtigt werden. Vor allem ist sehr zu beklagen, daß auch diesmal wieder die langersehnte und schmerzlich vermißte Edition der Karolingerdiplome hinausgeschoben ist und weit weniger dringenden Aufgaben hat weichen müssen. Und nicht ohne Beschämung liest man in dem neuesten Jahresbericht der Centraldirektion, daß diese und andere wichtige Aufgaben wegen Geldmangels haben zurückgestellt werden müssen.

Durch die mühsame und zeitraubende Zusammenstellung der Indices haben sich die Herren Holder-Egger und Zeumer den Dank aller Benutzer erworben. Stichproben ergaben eine vollkommene Zuverlässigkeit der Angaben. An die Inhaltsangaben der einzelnen Bände schließen sich alphabetisch geordnete Verzeichnisse der Schriftsteller, Personen und Orte an. Nur ein Verzeichnis vermißt Ref. So löblich es auch ist, daß bei dem großen Unternehmen die einzelnen Herausgeber und Mitarbeiter zurücktreten, so wäre doch ein Verzeichnis aller seit der Begründung der Monumenta an ihnen betheiligten Mitarbeiter eine werthvolle Erinnerung für diejenigen gewesen, welche dem großen Unternehmen ihre Theilnahme schenken.

Kehr.

Waldenserthum und Inquisition im südöstlichen Deutschland. Von **Herman Haupt.** (Sonderabdruck aus der Deutschen Zeitschrift für Geschichtswissenschaft. I. III.) Freiburg i. B., J. C. B. Mohr (P. Siebeck). 1890.

Auf 124 Seiten gibt uns der rühmlichst bekannte Erforscher mittelalterlicher Sektengeschichte eine Übersicht über die Verbreitung der Waldenser in Österreich, Böhmen und den angrenzenden Gauen von Beginn des 13. bis zum Ende des 15. Jahrhunderts, vorzugsweise an der Hand der Inquisitionsberichte. Hie und da hätte die Übersicht über die Fülle der Details, welche der Vf. aneinander reiht, erleichtert werden können. Dafür sprechen aber hier die Thatsachen selbst zu uns, und das ist bei der Zerstreutheit der Quellen viel werth für den, welcher sich orientiren und ein Urtheil über die noch nicht erledigten Streitfragen sich bilden will.

Anfang des 13. Jahrhunderts beginnt auch im Südosten Deutschlands die waldensische Mission, getrieben nur von dem lombardischen Zweig. Das Religionsgespräch zu Bergamo 1218 setzt schon eine Organisation derselben voraus, wenn auch die Nachricht Daniel Specklin's von einem böhmischen Sektenhaupt „Birkhardus" um 1212 auf späterer Kombination beruht. Der Boden ist vorbereitet durch die Katharer. Im Laufe der ersten Hälfte des 13. Jahrhunderts werden diese aber von den Waldensern aufgesogen. Der Passauer Anonymus beschränkt sie schon auf die Lombardei. — Spätere Spuren katharischer Lehranschauung in den Berichten beruhen auf verleumderischer Vermischung alter Erinnerungen mit den durch die Folter erpreßten Geständnissen. Dem großen Verfolgungssturm, welcher 1230—1233 über die deutschen Sekten ergeht, fallen vorzugsweise Waldenser zum Opfer. Die grenzenlose Verwirrung, welche dann aber die Ermordung Konrad's von Marburg, ferner der Streit Friedrich's II. mit der Kurie im Gefolge haben, kommt den Ketzern zu gute. In Böhmen und dem Herzogthum Österreich beginnt die Verfolgung erst wieder dank der Initiative Otakar's, der 1253 den kirchlichen Treueid schwört. Sie erreicht 1266 ihren Höhepunkt und verbreitet sich auch über die benachbarten deutschen Lande. In diese Zeit gehört der Passauer Anonymus, dessen Ortsliste die ursprüngliche ist; die damit identische des Kremser Berichtes ist nur in umgekehrter Ordnung angelegt. Der anfänglich lockere Verband zwischen den „Gläubigen" und den „Vollkommenen" erscheint um diese Zeit schon zu einer engen kirchlichen Gemeinschaft umgestaltet, welche die Keime wirklicher Gemeindebildung in sich schließt. — Der Zusammenbruch der Macht Otakar's

bringt wieder für einige Zeit Ruhe. Aber Anfang des 14. Jahrhunderts beginnt abermals ein heftiger Sturm, der besonders in Österreich wüthet. Seit 1327 ergreift er auch die jüngst germanisirten, anstoßenden Landestheile von Böhmen, Mähren und Ungarn, endlich auch Schlesien und die angrenzenden polnischen Gebiete. Der Prager Bischof Arnest von Pardubic errichtet für Böhmen ein ständiges Inquisitionsgericht, dessen Thätigkeit sich ausschließlich auf den südlichsten Theil des Landes erstreckt — gegen die „Deutschen und Fremdlinge"; Pisek und Neuhaus sind die Hauptsitze des Ketzerthums. Dieses trägt in allen Berichten übereinstimmende Züge; Satansdienst und grauenhafte Unsittlichkeit sind stehende Anklagen. Sie verrathen nur die Leidenschaftlichkeit der Verfolger; einen bestimmten Anhaltspunkt zur Bestimmung der Ketzer bieten erst die Angaben des Kremser Berichtes über ihre Organisation, verbunden mit der Nachricht eines päpstlichen Schreibens vom 6. März 1340, daß sie ihre Meister Apostel nennen. Dem Kremser Bericht ist irrthümlich jene Ortsliste des Passauer Anonymus nebst einer Notiz über die Inquisition des Jahres 1266 angehängt. — Seit Karl IV. sind Böhmen und Mähren die Ausgangspunkte der Ketzerverfolgung. Aus Mähren wird um 1360—1370 der Inquisitor Heinrich von Olmütz nach Österreich berufen. Die beiden böhmischen Inquisitoren, Petrus Zwicker und Martinus von Prag, haben während der letzten zwei Jahrzehnte des 14. Jahrhunderts bis in den Anfang des 15. ihre Thätigkeit weit über die Grenzen Böhmens bis nach Franken und Sachsen einerseits, bis Ungarn und Steyermark andrerseits ausgedehnt; ihre Ausläufer sind durch Schlesien und Polen hindurch bis in das preußische Ordensland zu verfolgen. In Österreich wird die Verfolgung im großen Stil erst wieder eröffnet durch den Passauer Bischof Georg von Hohenlohe. Mit Unterbrechungen setzt sie sich hier fort, bis überhaupt die Ketzerprozesse von den Hexenprozessen abgelöst werden. Als Sektenname verschwindet nun der Name „Waldenser" fast vollständig. „Vauderie" ist in der zweiten Hälfte des 15. Jahrhunderts der technische Ausdruck für die Anklage auf Zauberei und Teufelsbuhlschaft.

In dem Streite, ob waldensische oder wiklifitische Beeinflussung des Taboritenthums anzunehmen ist, dürften diese Nachweise Haupt's entscheidend sein. Der beinahe zwei Jahrhunderte lange Bestand des Waldenserthums gerade in dem Theile Böhmens, von welchem aus das radikale Husitenthum zuerst sich ausbreitete, macht es m. E. nothwendig, dem ersteren neben dem Wiclifismus einen bedeutsamen

Antheil an der Herausbildung der Taboritenpartei beizumessen. Zwar hat Loserth, Gött. G. A. 1891, Nr. 4, die Übereinstimmung des taboritischen Programms mit Wiclif auch in den Punkten behauptet, welchen H. lediglich waldensischen Charakter vindizirt, — ich meine die Verwerfung des Fegefeuers und des Eides[1]); allein Angesichts der engen Übereinstimmung der Wiclifisch-Lollardischen Lehren mit denen des Waldenserthums verliert diese Entgegnung ihre Beweiskraft. Andrerseits sind die blutigen Bauernaufstände und Gewaltthaten der österreichisch-böhmischen Waldenser ein zu frappantes Gegenstück zu den revolutionären Szenen aus der ersten Entwickelungsphase des Taboritenthums. In dem Breslauer Prozeß gegen Stephanus tritt uns schon dieselbe Vermischung beider Lehren entgegen, welche später zu dem taboritischen Programm geführt hat.

In der ersten Periode des Taboritenthums hat ein bedeutender Anschluß deutscher Elemente in Böhmen an diese Partei stattgefunden. Die Bewegung ist in dieser Zeit noch eine überwiegend religiöse gewesen. Ohne Konflikte ist indessen diese Verschmelzung nicht vor sich gegangen; und in der Zeit der Hussitenkriege mögen die Beziehungen zu dem deutschen Waldenserthum an Innigkeit verloren haben. Allein die Thatsache ist bedeutsam, daß auch die höchste Steigerung des kriegerischen Fanatismus der Böhmen die Propaganda nicht unterbrochen hat, welche die Radikalen in Deutschland trieben. Seit 1430 ist dann wieder eine enge Allianz zwischen dem deutschen Waldenserthum und den Taboriten zu Stande gekommen. Träger dieser Beziehung sind auf der einen Seite der Schwabe Friedrich Reiser und sein Schüler, der Wiener Waldenserbischof Stephan, auf der andern Seite Rokyczana und Peter von Cheltschic, der Gründer der Brüder-Unität, welche sogar mit der Centralleitung der waldensischen Sekte in der Romagna sich um 1498 in Verbindung setzte.

Bernhard Bess.

---

[1]) H. ist geneigt, auch hinsichtlich der Anschauung, daß unwürdige Priester die Macht, die Sakramente wirksam zu spenden, verlieren, Preger's Berufung auf waldensischen Ursprung beizustimmen. Loserth a. a. O. macht auch hier die Übereinstimmung mit Wiclif wahrscheinlich.

**Thomas Ebendorfer's** Chronica regum Romanorum. Kritisch erörtert und herausgegeben von **Alfred Francis Pribram.** (Aus dem III. Ergänzungsbande der Mittheilungen des Instituts für österreichische Geschichtsforschung.) Innsbruck, Wagner. 1890.

Eine zusammenfassende Darstellung der politischen und literarischen Wirksamkeit Ebendorfer's findet sich schon in Lorenz' Geschichtsquellen. Lorenz konnte, wie wir einer Note daselbst (S. 275) entnehmen, die Ergebnisse der vorliegenden Schrift schon vor fünf Jahren für seine Zwecke ausnutzen. Die Arbeit war bestimmt, in den Schriften der Wiener Akademie publizirt zu werden, was indes aus Gründen, die sich unserer Kenntnis entziehen, nicht geschehen ist. Die vorliegende Chronica regum Romanorum war bisher unter dem Titel Liber Augustalis bekannt, der aber, wie Pribram nachweist, nicht von Thomas Ebendorfer herrührt. P. wählte den oben stehenden Titel, der im siebenten Buche des Werkes beiläufig erwähnt wird. Wenn man die Chronica auch gerade nicht, wie es oft geschehen ist, als die hervorragendste Leistung Ebendorfer's ansehen darf, so gehört sie doch nach Inhalt und Form zu dessen reifsten Leistungen und ist in vielen Punkten bedeutender als das im Pez'schen Abdruck vorliegende Chronicon Austriacum. In fünf Kapiteln handelt P. von der Überlieferung des Textes, der Abfassungszeit der Kaiserchronik, ihrer Anlage, Einleitung und ihrem Verhältnis zum Chronicon Austriacum, ihren Quellen und den moralischen Reflexionen, die Ebendorfer an wichtigen Stellen seines Werkes einschiebt. Ebendorfer schrieb, wie P. nachweist, im Auftrage des Kaisers die Chronik in einem Zuge nieder und fügte dann hie und da zu der im Texte gegebenen Schilderung Randnoten hinzu. Nachdem das Werk vollendet war, unterzog er es einer neuen, für den Kaiser bestimmten Bearbeitung, die uns in der Londoner Abschrift vorliegt. Dem ursprünglichen Werke fügte er später weitere Notizen hinzu, die der Wiener Handschrift jene Gestalt gaben, die sie nunmehr besitzt (S. 14). Der weitaus größte Theil ist 1449 ausgearbeitet worden. Das Werk sollte sechs Bücher fassen: das erste die Monarchien bis auf Christi Geburt, das zweite die Zeit von Augustus bis Konstantin, das dritte die übrigen Kaiser in West- und Ostrom bis zum Übergang der Herrschaft an die Franken, das vierte das Karolingerreich bis auf Heinrich I. von Deutschland, das fünfte die Zeiten bis zum Interregnum und das sechste die Geschichte bis Friedrich III. und dessen Regierung selbst. Zum sechsten

Buche wurde dann noch ein siebentes hinzugefügt, welches eigentlich einen gedrängten Auszug aus den ersten sechs Büchern und verschiedene wünschenswerthe Zusätze enthalten sollte. Ebendorfer selbst hatte wohl den Plan, im siebenten Buche vorwiegend die österreichische Geschichte zu behandeln, gab ihn aber auf und widmete dieser ein eigenes Werk — das Chronicon Austriacum. Was die von Ebendorfer ausgeschriebenen Quellen betrifft, so weist P. die Ausnutzung der Werke des Otto von Freising, Hugo von Fleury, Martin von Troppau, Sigebert von Gembloux, der Weltchronik des Ekkehard, des Martinus Minorita, Vinzentius von Beauvais, Hermann von Altaich und seiner Fortsetzer, der Melker, Salzburger, Heiligenkreuzer und Klosterneuburger Annalen, des Andreas von Regensburg, Johann von Victring, der Chronik Sefner's und Heinrich von Rebdorf's nach. Im fünften Abschnitt gibt P. eine Charakteristik Ebendorfer's als Historiker, die freilich nicht sehr befriedigen kann.

So dankenswerth nun auch die Mittheilungen P's. über alle diese Punkte sind, und so sehr wir seinen Fleiß, den er auf diese zum Theil recht schwierigen und wenig lohnenden Materien verwendet hat, anerkennen, so vermögen wir doch die Ausgabe als solche nicht als eine gelungene zu bezeichnen. Ich will hier von der Orthographie, der Interpunktion, Anwendung anderer Typen bei Citaten, Kennzeichnung der Verse als solche nichts sagen: in dieser Hinsicht finden sich viele Fehler und Inkonsequenzen; was man in der äußeren Einrichtung am meisten vermißt, sind die genauen chronologischen, auf unsere Zeitrechnung reduzirten Daten, die überall am Rande verzeichnet sein sollten, wie sie ja bei keiner besseren Edition in unseren Tagen mehr fehlen. Auch der sachliche Kommentar befriedigt nicht. Es ist ja bekannt, daß Ebendorfer namentlich in den älteren Partien zahlreiche Fehler macht: hier mußte der Herausgeber entweder alle Fehler als solche bezeichnen oder gar keine, und sich mit dem bloßen Abdruck der Handschrift begnügen; wie die Dinge hier liegen, sind einzelne Fehler verbessert, andere nicht. Auch das Register ist nicht mit der nöthigen Sorgfalt ausgearbeitet. S. 71 (108) wird z. B. von Johannes Huß de Husnitz gesprochen und derselbe Name auf SS. 79 (116) und 81 (118) noch viermal genannt, im Personenregister sucht man ihn vergebens. Woher Ebendorfer die Geschichte der Zerstörung des Karthäuserklosters in Prag, die er S. 81 (freilich falsch) erzählt, geschöpft hat, ist nicht schwer nachzuweisen. Es wäre nicht bloß die

Thatsache, daß die Notiz aus Andreas von Regensburg stammt, zu verzeichnen, sondern auch der von Ebendorfer gemachte Fehler zu verbessern gewesen. J. Loserth.

Dritte Nachlese zu Weller's deutschen Zeitungen. Von **A. Heyer.** Mit Anhang: Deutsche Zeitungen des 17. Jahrhunderts aus der kgl. Universitäts-Bibliothek und der Stadt-Bibliothek zu Breslau. Leipzig, O. Harrassowitz. 1889.

A. u. d. T.: Centralblatt für Bibliothekswesen, Beiheft 5.

Um Mißdeutungen vorzubeugen, muß vorausgeschickt werden, daß diese Zusammenstellung keine Übersicht über periodische Zeitungen der älteren Zeit enthält und also auch unser Wissen von diesem Zweige der publicistischen Literatur nicht erweitert. Die Sammlung enthält im Ganzen 147 mit bibliographischer Genauigkeit verzeichnete Titel von kleinen Schriften des 16. u. 17. Jahrhunderts, welche unter dieser beliebten Überschrift in die Welt gegangen sind. Forscher auf dem immer noch allzusehr vernachlässigten Gebiete der deutschen Kulturgeschichte werden nicht ohne Gewinn von ihr Kenntnis nehmen. Die Nummer 36: „Newe Zeittngen (!) Von vnterschiedlichen Orten u. s. w." scheint ein Nachdruck der ersten Ausgabe der auch von Dahlmann so hoch geschätzten Flugschrift zu sein, deren spätere Ausgabe als Druckort die Parnassische Druckerei aufweisen. Vgl. die von mir herrührenden Ausführungen über diese Druckerei in Opel u. Cohn: der Dreißigjährige Krieg S. 416 ff. Opel.

Ignaz v. Döllinger. Erinnerungen von **Luise v. Kobell.** München, Beck. 1891.

„Hätte ich auch einstmals eine Angehörige, die mich und mein Thun so liebevoll beurtheilte", sagte Döllinger der Herausgeberin des vorliegenden Bandes, Frau v. Kobell, als er die von ihr geschriebene Biographie ihres Vaters gelesen. Dieses Wort hat sie ermuntert, den reichen Schatz von Erinnerungen an Döllinger, den langjähriger intimer Verkehr ihr verschafft, nun auch dem weiten Kreis von Verehrern des großen Todten zu öffnen. Döllinger's Persönlichkeit macht uns auch sein häusliches Leben werth, die Art seines Verkehrs mit Freunden, überhaupt den ganzen Menschen. Die Verfasserin, welche so liebenswürdig zu erzählen versteht, zeigt uns den Stiftspropst auf den Freitags-Promenaden im Münchener Englischen Garten, in seinem Arbeitszimmer, als splendiden Gastgeber,

in der Tegernseer Villeggiatur. Ich sollte meinen, daß jeder, auch der von Döllinger nichts Wissende, durch diese Schilderungen den alten Herrn liebgewinnen muß, der so geistreiche Unterhaltung führt, so freundlich alle Fragen beantwortet, so harmlos sich freuen kann über den erwachenden Frühling, liebevoll für seine Nichten sorgt und einen jungen Franzosen, der in seinem Hause wohnte, nicht in's Hospital schaffen lassen will, als ihn der Typhus befällt. Man erfährt manches interessante Detail, durch welches das Bild Döllinger's für die, welche ihn nur aus seinen Schriften kennen, lebensvoller wird und mehr Farbe erhält. Wir werden mit dem kleinen Kreis von Bevorzugten bekannt, welche ihm näher standen, mit Lord Acton, mit Gladstone, ebenso wie wir die Hochachtung verstehen lernen, welche Döllinger vor der Verfasserin hatte, die so geschickt Fragen zu stellen wußte. Im Lenbach'schen Atelier sehen wir Döllinger mit der Kaiserin Friedrich zusammentreffen — vor dem Porträt Bismarck's, das der Künstler im Auftrage des Papstes für die vatikanische Galerie gemalt hatte. Wir erfahren, daß Döllinger's Aufsätze über die Inquisition (1867) das Kaulbach'sche Gemälde, welches Petrus Arbues darstellt, hervorgerufen haben. Aber das kleine Werk bietet doch noch mehr als bloße Personalia! Es ist für die Geschichte des vatikanischen Konzils von hohem Interesse, daß Döllinger noch März 1870 zuversichtlich hoffte, das Unfehlbarkeitsdogma werde trotz der Bemühungen der Jesuiten nicht zu Stande kommen (S. 7). Und wenn wir lesen: „Ich empfinde oft im tiefsten Innern einen Gewissensskrupel, denn ich habe zwar als Theologe viel gut geheißen, viel in meinen Büchern im schönsten Licht gezeigt, von dem ehrlichen Wunsche beseelt, die Religion und die Kirche zu heben, und manchen Fehler verschwieg ich. Dadurch habe ich auch dazu beigetragen, den Klerus zu bilden, der später das Unfehlbarkeitsdogma befürwortet und angenommen hat" (S. 9): so haben wir es nicht nur mit einem Bekenntnis Döllinger's zu thun, sondern stehen vor einer typischen Erscheinung, die als Voraussetzung der vatikanischen Beschlüsse nicht hoch genug veranschlagt werden kann. Das Urtheil, daß die Unterdrückung des Protestantismus in Frankreich das geistige Niveau des römischen Klerus herabgemindert hat (S. 83), ist aus diesem Munde von nicht geringer Bedeutung. In anderer Richtung werthvoll sind die Eindrücke, welche Döllinger bei einer Romreise empfangen (S. 71), und der Bericht über die Zustellung des Palliums an den Münchener Erzbischof Scherr durch einen vornehmen — Juden in einer „ganz gewöhn-

lichen Schachtel" (S. 73). Daß dieser (Banquier Hirsch) zugleich die Rechnung überreichte, wird nicht hinzugefügt. Eine Zurückhaltung Döllinger's, die sich auch bethätigte anläßlich der Schulte'schen Publikation der Briefe, welche König Ludwig II. nach der Erklärung Döllinger's gegen das Unfehlbarkeitsdogma an diesen gerichtet hatte (S. 102). — Auch diese Schrift bringt uns wieder Kunde von einem unausgeführten literarischen Projekt Döllinger's. Er trug sich noch zuletzt mit der Absicht einer Geschichte der östlichen und westlichen Kirchentrennung (S. 24). — Jede der Publikationen, welche die Freunde Döllinger's aus seinem Nachlaß wie zu seinen Ehren in jüngster Zeit haben ausgehen lassen, steigert das Verlangen nach einer umfassenden Biographie des wunderbaren Mannes. Möchte die Wartezeit nicht zu lang ausfallen. Karl Mirbt.

Von und aus Schwaben. Geschichte, Biographie, Literatur. Heft 6 und 7. Von **Wilhelm Lang.** Stuttgart, Kohlhammer. 1890.

Mit diesen beiden Heften ist die Reihe der Essays „Von und aus Schwaben" zum Abschlusse gelangt. Wir erhalten zuerst ein Lebensbild Max Schneckenburger's, des Dichters der Wacht am Rhein; dann eins von Julius Hölder, dem unvergeßlichen Führer der nationalen („deutschen") Partei Württembergs, in welchem sich die ganze Entwickelung, welche die süddeutschen Liberalen von 1848 bis 1866 und wieder 1870 durchlaufen haben, in typischer Weise wiederspiegelt. Daran reiht sich ein Aufsatz über Gustav Kolb, den Leiter der „Allgemeinen Zeitung", und einer über Friedrich Theodor Vischer, den berühmten Ästhetiker und Dichter. Das ganze siebente Heft ist Gottlob David Hartmann (1752—1775) gewidmet, welcher zu den Stürmern und Drängern gehörte und, so kurz sein Leben währte — er starb 23jährig, als er eben, in Mitau Professor geworden, anfangen wollte, zu wirken — die Richtung jener originellen Zeit in besonders origineller, man möchte sagen, konzentrirter Weise zur Anschauung bringt. „Nichts von seinen Plänen und Versuchen ist zur Reife gelangt; zu dem bleibenden Besitzthümern unserer Nationalliteratur hat er nichts beigesteuert. Eine merkwürdige und lehrreiche Erscheinung ist er gleichwohl. Stark und nicht ohne Eigenthümlichkeit prägen sich gewisse Richtungen, welche die Zeit beherrschen, in seinem Wesen aus; von ihnen erfüllt, wirft er sich kopfüber in das schriftstellerische Treiben jener Tage, er drängt sich vor, überall knüpft er an, überall spricht er mit, und, so rasch er vorübergegangen ist, seine Bahn berührt

sich näher oder entfernter mit den führenden Geistern, unter denen für sich einen Platz zu erobern sein Ehrgeiz ist. Bodmer und Lavater, Schubart und Wieland, Goethe und Herder sehen wir in seinen kurzen Lauf eingreifen. Er gehört zu denjenigen, welche, als Vorläufer Größerer, den schönen Wissenschaften in Schwaben die Bahn gebrochen haben." Das letzte Stück in der Reihe von W. Lang's Essays ist eins der werthvollsten der ganzen Sammlung, aus welcher uns ein vornehmer, vielseitig gebildeter, ebenso politisch als ästhetisch geschulter Schriftsteller entgegentritt; wir möchten sagen, daß L., der ja auch den Lesern dieser Zeitschrift kein Fremder mehr ist, den ganzen schwäbischen Typus auf geistigem Gebiete vortrefflich veranschaulicht.

G. Egelhaaf.

Kunstleben der Stauferzeit in Schwaben. Von **Eugen Gradmann.** Stuttgart, D. Gundert. 1891.

A. u. d. T.: Würtembergische Neujahrsblätter. Achtes Blatt.

Das heurige „Blatt" bringt eine sehr gut geschriebene, verständnisvolle Darstellung des Kunstlebens der Stauferzeit in Schwaben aus der Feder des Diakonus Eugen Gradmann. Leider haben ja Ritterfehden, Bauernkrieg, Verunstaltung durch den Barock- oder Jesuitenstil, Gleichgültigkeit des Aufklärungszeitalters, französische Mordbrennerei und die verheerende Weisheit des rheinbündischen Schreiberregiments nur wenige von den Bauten jener Kaiserzeit übrig gelassen; das einzige Maulbronn gibt uns noch eine volle Vorstellung davon, wie ein Kloster im Mittelalter eigentlich ausgesehen hat; nicht bloß in Schwaben, sondern in ganz Deutschland steht dieses Bauwerk einzig da. Aber so dürftig vielfach sonst die Reste sind, so gestatten sie es doch, daß die Phantasie sie zusammenfügt und ein Bild schafft, wie es bei uns in den Tagen ausgesehen hat, da die Stammburg der Staufen noch den heute verwittweten Berg krönte und der Name des Geschlechts die Erde erfüllte. Freilich hat Schwaben um 1200 nicht ebenso die künstlerische Führung der Nation gehabt wie es die politische hatte; Franken und Sachsen haben ihm in der Kunst (abgesehen von der Poesie) damals die Palme abgewonnen. Gleichwohl entrollt sich vor unseren Augen ein interessantes und farbenreiches Bild, das geeignet sein wird, die Vorstellung von dem „finstern und rohen" Mittelalter in solchen Köpfen zu zerstören, in welchen sie — und dies ist ja vielfach in weiteren Kreisen der Fall — immer noch zäh fortlebt.

G. Egelhaaf.

Die Reichenauer Urkundenfälschungen. Untersucht von **Karl Brandi**. Heidelberg, C. Winter. 1890.

A. u. d. T.: Quellen und Forschungen zur Geschichte der Abtei Reichenau. I. Herausgegeben von der badischen historischen Kommission.

Es gibt zwei Ausgangspunkte und zwei Wege urkundlicher Forschung. Man kann ausgehen von dem Standpunkte des Ausstellers der Urkunden oder andrerseits von dem Standpunkte ihres Empfängers. Was auf dem ersteren Wege bisher geleistet worden, ist hinlänglich bekannt. Er ist überall da, wo eine Kanzlei, aus der die Urkunden hervorgegangen sind, wo ein einheitlich organisirtes Bureau vorhanden gewesen ist, der gewissere: in den meisten Fällen wird nur er zu jenen sicheren Ergebnissen und Aussprüchen gelangen, welche die heutige diplomatische Forschung kennzeichnen. Der andere Weg ist dagegen bisher noch wenig beschritten worden, obwohl auch er bedeutende Ergebnisse verspricht und die spezialdiplomatische Forschung wesentlich und nothwendig ergänzt. Denn die ganze Reihe der Urkunden eines Klosters oder eines Stiftes ist doch nichts anderes als der Niederschlag des Rechtszustandes derselben, einer organischen Entwickelung, in welcher jede Urkunde eine bestimmte Phase bezeichnet. Überblickt man den Verlauf einer solchen Entwickelung, so ergibt sich nicht allein eine gewisse Gesetzmäßigkeit derselben, in den meisten Fällen wird sich auch zeigen, daß die dieser Entwickelung widersprechenden oder außer ihr stehenden urkundlichen Zeugnisse dieselben sind, welche der Spezialdiplomatiker schon aus anderen, formalen Gründen verworfen hat. Gerade diese Fälschungen aber sind es, zu deren Erkenntnis die eigentliche diplomatische Untersuchung auf Schritt und Tritt der Ergänzung durch die lokale Forschung bedarf. Denn von seinem Standpunkte aus kann der Diplomatiker wohl entscheiden, ob eine Urkunde echt oder unecht, ob sie in ihrer Totalität oder nur in einzelnen Teilen falsch ist, aber nur auf dem andern Wege ist es möglich, was nicht minder wichtig ist, festzustellen, wie und wann die Fälschung entstanden, aus welchen Zuständen und Tendenzen sie hervorgegangen ist. So betrachtet, ist auch sie ein werthvolles Zeugnis, nicht der Zeit und der Zustände, deren Produkt sie sein will, sondern der Zeit und der Zustände, denen sie thatsächlich entsprungen ist.

Einen Versuch, den Urkundenvorrath eines Klosters von diesem Standpunkte zu prüfen, die Fälschungen desselben nach ihrer Entstehung und Tendenz zu verfolgen, macht das vorliegende Buch, das

aus einer Straßburger Dissertation hervorgegangen ist. Wohl ist der Urkundenschatz der alten Reichenau heute nur noch ein geringer. Ein Theil des Klosterarchivs ist planmäßig vernichtet, ein anderer verschleudert worden; was übrig geblieben ist, kann sich nicht entfernt mit den Schätzen des Nachbarklosters St. Gallen messen. Trotzdem sind die Reichenauer Urkunden für die Geschichte der Fälschungen von hohem Interesse. Reichenau reiht sich in dieser Hinsicht ebenbürtig den anderen, durch den Reichthum ihrer Fälschungen berüchtigten Klöstern St. Maximin, Ottobeuern, Ebersheimmünster, Neustadt, Reinhardsbrunn u. a. an. Ist doch auch die berühmte Constitutio de expeditione Romana, wie neuerdings P. Scheffer-Boichorst dargethan hat, eine Reichenauer Fälschung, und daß auch die lange Zeit für echt gehaltene Urkunde des Abtes Walahfrid eine solche ist, hat A. Schulte erwiesen.

Vf. stellt zuerst die Reichenauer Urkunden nach ihren verschiedenen Überlieferungsformen zusammen, untersucht dann die Fälschungen nach ihren äußeren und inneren Merkmalen, geht ihrem Zusammenhange und ihrer Entstehungszeit nach und kommt (S. 68 ff.) zu dem Ergebnisse, daß die Reichenauer zu verschiedenen Zeiten gefälscht haben, zuerst, aber noch in mäßigem Umfange und nicht ohne Geschick, im 11. Jahrhundert, dann zu Anfang des 12. Jahrhunderts. Die Hauptmasse der Fälschungen aber stammt erst aus der Mitte des 12. Jahrhunderts und umfaßt das ganze Gebiet der klösterlichen Interessen, während die älteren Fälschungen sich auf Besitzungen bezogen. Als den Fälscher entlarvt Vf. auf Grund seiner ausgedehnten Schrift- und Diktatvergleichung den Kustos und Scholastikus Odalrich, der urkundlich zwischen 1142 und 1166 nachweisbar ist. Der Inhalt der Fälschungen führt dann den Vf. zu eingehenden Erörterungen der rechtlichen und wirthschaftlichen Verhältnisse der Reichenau, ihrer staats- nnd kirchenrechtlichen Stellung und der inneren Verfassung und Verwaltung des Klosters, aus dessen Bedürfnissen eben jene Machwerke des Odalrich hervorgegangen sind.

In zwei Exkursen handelt dann Vf. über den Stiftungsbrief Karl Martell's und die Gründung der Reichenau, ferner über die Verbreitung der die Klostervögte betreffenden Reichenauer Fälschung und über die Heimat der Constitutio de expeditione Romana, im Anschluß an die bekannte Untersuchung von Scheffer-Boichorst. In den Beilagen folgt ein Verzeichnis der Reichenauer Urkunden des 8. bis 12. Jahrhunderts und mehrere bisher ungedruckte oder

unvollständig gedruckte Fälschungen. Beigefügt sind endlich 17 Tafeln mit Schriftproben, leider nur sehr unvollständigen und unvollkommenen Bruchstücken, welche eine genaue Nachprüfung der vom Vf. gebotenen Schriftbestimmungen nicht ermöglichen.

Die fleißige, allerdings sehr breite Abhandlung ist eine Vorarbeit zu einer Geschichte der alten Reichenau, im Auftrage der badischen historischen Kommission unternommen. Diese beabsichtigt, zunächst eine kritische Ausgabe der Chronik des Gallus Öheim, dann eine Feststellung des Reichenauer Grundbesitzes folgen zu lassen. Auf diese Vorarbeiten soll sich die Geschichte der Reichenau im Mittelalter aufbauen. Es bedarf keiner besonderen Hervorhebung, wie dankenswerth ein solches Unternehmen ist, welchem die Theilnahme aller Fachgenossen auch außerhalb Badens gewiß ist. Kehr.

**Fürstenbergisches Urkundenbuch.** Herausgegeben von dem fürstlichen Archive zu Donaueschingen. VII. Tübingen, in Kommission bei H. Laupp. 1891.

Mit diesem Band ist, wie der Herausgeber Dr. Franz Ludwig Baumann im Vorwort hervorhebt, der landesgeschichtliche Theil des Fürstenbergischen Urkundenbuches zum Abschlusse gelangt und damit die auf Befehl des Fürsten Karl Egon in Angriff genommene Sammlung der mittelalterlichen Quellen zur Geschichte des Hauses Fürstenberg und seiner Lande in Schwaben überhaupt vollendet. Der 7. Band enthält 239 Urkunden der Jahre 1470—1509 und einen Nachtrag von 107 Urkunden zu den sämmtlichen sieben Bänden, sowie eine Anzahl von Berichtigungen, ein chronologisches Verzeichnis der in den Anmerkungen enthaltenen Stücke, ein Orts- und Personenregister und Siegelabbildungen. Dem Lobe, das wir bei früheren Gelegenheiten dem Fleiß und der Sorgfalt des Herausgebers und seiner Mitarbeiter gezollt haben, wissen wir nichts mehr beizufügen, als den Ausdruck der Freude, daß das weitschichtige Werk ebenso schön, wie es begonnen ward, auch hinausgeführt worden ist. Die hohe Politik tritt bei diesem Bande noch mehr zurück als bei dem 6. Bande. Doch finden sich wenigstens auf S. 331—337 neue Berichte zur Geschichte des Schweizerkrieges von 1499. Um so ausgiebiger ist die Belehrung über Kultur- und Rechtsgeschichte, welche wir empfangen. Wir weisen u. a. hin auf das Wolfacher Stadtbuch (S. 1—16), das Urbar des Grafen Wolfgang aus dem Jahre 1493 (S. 281—308), das Bruchstück der Heiligenberger Landgerichtsordnung

(S. 313—316). Was die Justiz der Grafen von Fürstenberg in diesen Jahrzehnten anbetrifft, so scheint sie verhältnismäßig milde gewesen zu sein und möglichst den Abschub der Schuldigen außer Landes ins Auge gefaßt zu haben. Ein Bauer, welcher 13 junge Bäume gestohlen hat, wird am 6. Oktober 1497 „aus Mitleid mit seiner schwachen (d. h. kranken) Hausfrau" losgelassen, nachdem er seine That gestanden hat; einer, welcher den Nachbarn Leder, Sohlen, Eisen, Kalb, Fell (Kalbfelle?), Fische, Brod und Häringe entwendet hat, wird am 5. Juli 1501 wegen seines schwangeren Weibes und seiner kleinen Kinder frei gegeben, aber unter der Bedingung, daß er in 14 Tagen über den Rhein gehe und nie wieder komme; ein Weib, das einer anderen ihren Ehemann abspenstig gemacht und ihn in ungeordneter Liebe im Lande herumgeführt hat, kommt am 15. Dezember 1502 ebenfalls mit der Auflage los, daß sie die Schweizer mit ihrer Gegenwart beglücke und nie wieder den Fürstenbergerinnen lästig falle. Besonders reiches Material ist in dem Bande über die Zinsverhältnisse der Höfe zu finden; von einer Einwirkung des Bundschuhes haben wir nichts wahrgenommen. Unter den Berichten zum Schweizer Krieg ragt die einer Constanzer Handschrift entnommene Erzählung eines Zürichers, Felix Mays, durch Anschaulichkeit hervor. Den Verlust der Deutschen am 22. Juli gibt er an Todten auf 3000 an (gegen 100 Eidgenossen), ferner auf elf Stück Büchsen (darunter ein Hauptstück von 55 Centner Gewicht), fünf Halbschlangen, vier Steinbüchsen und neun „ringere Schlangen aus Straßburg". „Also war", sagt Mays, „dem römischen König und schwäbischen Bund ihr Anschlag gar zerbrochen; sie ließen den Blast und Hochmuth wohl halber fallen". G. Egelhaaf.

Herzog Magnus von Würtemberg. Ein Lebensbild aus dem Anfang des 17. Jahrhunderts. Von Oberst **A. v. Pfister.** Stuttgart, W. Kohlhammer. 1891.

Herzog Magnus von Würtemberg ist am 2. Dezember 1594 in Kirchheim unter Teck als fünfter Sohn des Herzogs Friedrich I. von Würtemberg geboren worden, studierte auf der Hochschule zu Tübingen, unternahm zu seiner Ausbildung Reisen nach Berlin und Frankreich, wo er ohne allen Zweifel auch Paris besucht hat — obschon sich ein positives Zeugnis dafür nach S. 40 nicht beibringen läßt — und ward 1618 von seinem Bruder, Herzog Johann Friedrich, an die Signoria von Venedig abgesandt, um in deren Kriegsdienste zu treten und

vielleicht auch die politischen Beziehungen der Union zu der Republik zu kräftigen. Später schloß sich Herzog Magnus an den Markgrafen Georg Friedrich von Baden an, in dessen Heer er 5 Compagnieen Reiter und 8 Fähnlein Fußvolk anführte, und fiel in der Schlacht bei Wimpfen am 6. Mai 1622, erst 27 Jahre alt, in tapferem Kampfe. „Ihre F. Gn. wagte sich zu weit unter die Bayerischen, empfing über 16 Wunden an seinem fürstlichen Leib und Kopf von Schüß, Stich und Hieben, begehrte nimmermehr Quartier, sondern wollte lieber-Tods verbleichen", wie W. von Sitzingen berichtet. Die Leiche des tapfern Recken ward nach Stuttgart übergeführt, hier am 11. Mai in's Gewölbe des herzoglichen Schlosses verbracht und am 3. Juni in der Stiftskirche bestattet, wo so viele Angehörige des Hauses Würtemberg ruhen. Oberst v. Pfister hat das Leben des jungen Fürsten durch eine Anzahl von Urkunden des kgl. Staatsarchivs in Stuttgart in helleres Licht gesetzt, im übrigen sich vielfach an die Einzelschrift Dr. Moriz Gmelin's (Beiträge zur Gesch. der Schlacht bei Wimpfen, 1880) gehalten, aber doch ein lebendiges Zeitbild entworfen, dem es an dankbaren Lesern nicht fehlen wird. Daß er manchen Vorgängern und den Beamten des Archivs viele Hülfe verdankt, gesteht P. selbst offenherzig und bescheiden zu. So wollen wir es ihm nicht verargen, wenn er die einschlägige Literatur nur unvollständig kennt — z. B. war S. 91 vor allem das Werk Simonsfeld's über den fondaco dei Tedeschi zu nennen — und wenn wir an manchen Punkten mehr im Dunkeln bleiben, als wohl unumgänglich nothwendig war. So wird man z. B. bei der Frage nach dem Zweck der venetianischen Reise nicht recht klar darüber, ob die Sendung des Herzogs in erster Linie einem persönlichen Anliegen (Erlangung eines Kommandos) oder einem diplomatischen galt; P. nimmt beides an; aber es fehlt an einer bestimmten Stellungnahme, wie überhaupt öfters die Berichte mehr mitgetheilt als kritisch verarbeitet sind.

G. Egelhaaf.

Die religiöse Bewegung in Oberösterreich und Salzburg beim Beginne des 19. Jahrhunderts. Dargestellt von **Theodor Wiedemann.** Innsbruck, Wagner. 1890.

Die Mordthaten, welche am Palmsonntag des Jahres 1817 im Dorfe Ampfelwang in Oberösterreich verübt wurden, sind als schaurige Ausläufer einer schwärmerischen religiösen Bewegung zunächst ein dunkles Stück Kirchengeschichte, aber sie haben mit Recht ein nicht

geringeres Interesse unter kulturgeschichtlichem wie pathologischem Gesichtspunkte gefunden. Je größer der Sagenkreis war, den ein solches Ereignis naturgemäß bald umgab, um so dankbarer ist das vorliegende Werk zu begrüßen, welches (S. 1—252) eine aus amtlichen Quellen schöpfende Geschichte Pöschl's und seiner zu trauriger Berühmtheit gelangten Sekte bietet. Der Vf. hat die Akten des fürstbischöflichen Konsistorialarchives Wien, der Registratur der oberösterreichischen k. k. Statthalterei Linz, des Archives der k. k. Landesregierung Salzburg benutzen können, ebenso eine Reihe von Bearbeitungen des Pöschlianismus, welche, in den auf die Katastrophe folgenden Jahren entstanden, im städtischen Museum in Salzburg als Manuskript sich befinden. In der wörtlichen Wiedergabe seiner Quellen ist Vf. nicht sparsam. Hat er vielleicht darin des Guten zu viel gethan, so ermöglicht er uns doch damit, den Fortgang der 1812 ausbrechenden Verwickelungen genau zu verfolgen. Das Verfahren der zuständigen politischen und kirchlichen Behörden kann der Leser genau kontrolliren und auf Grund der abgedruckten Entscheidungen und Gutachten über die Schuldfrage sich selbst ein Urtheil bilden. Die Anfänge des religiösen Wahnsinns Pöschl's lagen offenbar in den Gemüthsbewegungen, welche ihm die Begleitung Palm's zur Richtstätte (1806) verursachte. Seitdem stand für ihn als Dogma fest, daß Napoleon der echt lebendige Teufel sei, und die Welt, weil sie ihm anhing, unter der Herrschaft des Teufels stehe. Er folgert daraus die Nothwendigkeit einer Erneuerung der Kirche und später, mit Rücksicht auf das Widerstreben der Christenheit, die Verwerfung der Christen und die Bekehrung der — Juden. Für die Entwickelung des Pöschlianismus ist von grundlegender Bedeutung, daß im Lande ob der Enns schon vor dem Auftreten Pöschl's eine schwärmerische Bewegung bestand, welche zuweilen eine protestantisirende Richtung einschlug, aber durch rechtzeitiges Einwirken gleichgesinnter Priester der römischen Kirche erhalten blieb. Diese „Brüder und Schwestern zu Zion", von chiliastischen Hoffnungen erfüllt und durch die Offenbarungen ekstatischer Frauen geleitet, hatten schon lange in Pöschl ihren Führer gesehen. Die Weiterentwickelung der Sekte und besonders die moralische Verantwortung Pöschl's für die erwähnten entsetzlichen Greuel tritt in ein neues Licht durch den von dem Vf. gelieferten Nachweis einer Spaltung unter den Zionsbrüdern, während Pöschl 1815 im Salzburger Polizeihause saß (S. 95). Das Gros derselben löste sich mit Beibehaltung ihres Namens von den „Kindern

des neuen Wortes Gottes" ab, den Anhängern Pöschl's. Die letzteren betonten weiter die Judenbekehrung als nächste Pflicht. Die Zionsbrüder dagegen verirrten sich in den Gedanken, daß die Menschen einer Reinigung bedürfen. Diese Reinigung war zuerst eine Reinigung von bösen Gedanken und Begierden. Daraus wurde eine Reinigung von dem Teufel, der von dem Menschen Besitz ergriffen habe, und schließlich eine Reinigung durch Ermordung der Unreinen, eine Sühne — durch Menschenopfer (S. 175). Die Ausführung dieses Gedankens durch den Bauer Haas ist also nicht ein Exzeß der Pöschlianer gewesen, sondern der von ihnen separirten Zionsbrüder. Das Gericht sprach die Exzedenten wegen Unzurechnungsfähigkeit frei. Durch die erschütternde Katastrophe ernüchtert, haben die Reste dieser Gruppe mit den Protestanten Oberösterreichs sich vereinigt (S. 212).

Die Pöschlianer haben auch nach dem Scheitern des Versuches, in Prag die neue christlich-jüdische Kirche zu gründen, an ihren Offenbarungen festgehalten. Erst der Tod hat die Sekte aussterben lassen. Von der populären und wuchtigen Schreibweise Pöschl's gibt eine ausgezeichnete Probe die auf die Nachricht von der Schlacht bei Leipzig verfaßte Franzosenlitanei S. 58. 59. — In dem Leben des Pfarrers Langmayr (S. 253—292) in Kirchberg in der Augsburger Diöcese zeigt Vf. die bedenklichen Wirkungen des Mystizismus auf sittlichem Gebiete. An dritter Stelle wird dem Wirken des bekannten Martin Boos in Gallneukirchen bei Linz ein Denkmal gesetzt (S. 293 bis 397). Karl Mirbt.

**Quellen zur Geschichte der Stadt Kronstadt** in Siebenbürgen. II. Kronstadt, in Kommission bei Albrecht & Zillich. 1889.

A. u. d. T.: Rechnungen aus dem Archiv der Stadt Kronstadt. II. Rechnungen aus 1526—1540.

Dem Eifer einiger Freunde der Geschichte des sächsischen Volksstammes in Siebenbürgen, namentlich des Archivars Stenner, der Professoren Groß, Herfurth und Seraphin, des Pfarrers Türk, der Prediger Nußbächer und Tontsch ist es zu danken, daß schon drei Jahre nach dem Erscheinen des ersten Bandes der Quellen zur Geschichte der Stadt Kronstadt, der zweite — ein stattlicher Band von 885 Seiten — nachzufolgen vermag, der im wesentlichen nach denselben soliden Grundsätzen ausgearbeitet ist, wie der erste, und welcher seiner Hauptsache nach das im städtischen Rathhause zu Kronstadt vorfindliche Rechnungsmaterial aus den Jahren 1527—1540 enthält.

Einige erst nachträglich aufgefundene Stücke aus den Jahren 1513 und 1526 gehen ihnen voran.

Im ganzen werden 47 Stück Rechnungen mitgetheilt: Universitätsrechnungen, Schaffner- und Stadthannen-Rechnungen, Kriegsausgaben, aus dem registrum debitorum, Kirchenrechnungen u. dgl., die für die Geschichte der wirthschaftlichen Verhältnisse von Kronstadt in Siebenbürgen im Allgemeinen von großer Wichtigkeit sind. Unter Nr. 4 wird die Volkszählung im Burzenland aus dem Jahre 1526 — die älteste bisher bekannte Volkszählung aus dieser Landschaft — mitgetheilt. Hie und da finden sich auch historische Notizen allgemeinerer Art eingeschoben. Für die Lokal- und Landesgeschichte von Siebenbürgen haben alle diese Aufzeichnungen einen um so größeren Werth, als sich derlei Rechnungen nicht in allen Städten des Landes erhalten haben.

Was die Edition betrifft, so tritt dem ersten Bande gegenüber an vielen Stellen eine wesentliche Vereinfachung in der äußeren Einrichtung zu Tage. Vieles ist mit Recht nicht in der Ausführlichkeit der Urschrift wiedergegeben; Wiederholungen sind weggelassen und das Wesentliche unter umfassende Gesichtspunkte geordnet worden. Im Anhange findet sich ein sehr sorgsam ausgearbeitetes Personen- und Ortsverzeichnis, das von Stenner und Seraphin, und ein ausführliches (lateinisches und deutsches) Glossar, das von dem letzteren allein ausgearbeitet ist. J. Loserth.

Glarean. Sein Leben und seine Schriften. Von **Otto Fridolin Fritzsche.** Frauenfeld, J. Huber. 1890.

Das Leben des Heinrich Loriti aus Mollis im Kanton Glarus (1488—1563), welcher sich humanistischer Sitte gemäß von seiner Heimat Glareanus nannte, bietet eigentlich nichts besonders Bemerkenswerthes dar, ist aber eben darum, weil es alle Hauptmomente des humanistischen Lebens- und Entwickelungsganges ohne auffallende Besonderheiten veranschaulicht, von typischer Bedeutung. Alles tritt in ihm hervor: die Verbindung mit der Theologie wie der Gegensatz zu derselben; der Wandertrieb; die Vielseitigkeit der Beziehungen; die Schmeichelei und Eitelkeit; die Bedürftigkeit; die begeisterte Parteinahme für Reuchlin; die anfängliche Hinneigung zu Luther und Zwingli, nicht minder aber die spätere Abkehr von der Reformation, wie die Sache gefährlich und den „Studien" hinderlich wird. Loriti ist namentlich in Köln, Paris, Basel, Freiburg gewesen; in letzterer

Stadt (wohin er übersiedelte, als Basel die alten Bräuche abthat) war er der angesehenste Lehrer an der Universität, dessen gehaltvolle, oft joviale, manchmal scharf polemische Vorträge eine große Anziehungskraft auf die Studenten ausübten. Loriti's persönlicher Charakter war sanguinisch, leidenschaftlich, Überspanntheiten zugänglich; Vadian tadelt seine „groben Sitten und sein frevles Gemüt"; doch begegnen auch Züge edlerer Sinnesart. Erasmus, welcher gelegentlich dem decus Helvetiae einen fetten literarischen Bissen weggeschnappt zu haben scheint (S. 24), wird von Glareanus, obwohl der große Gelehrte ihn gegen den Schluß seines Lebens nicht mehr leiden konnte und ihm — horribile dictu! — in seinem Testament gar nichts vermachte, doch stets mit Pietät erwähnt (S. 56). Von besonderen Interesse ist etwa, daß Glarean 1537 von den fünf alten Orten eingeladen wurde, das Unterrichtswesen bei ihnen zu organisiren, weil der Vorsprung der Ketzer auf diesem Gebiete allzu fühlbar war, daß er aber sich nicht entschließen konnte, Freiburg zu verlassen, und daß am Ende, weil einheimische Kräfte nicht vorhanden waren, 1574 die Jesuiten berufen wurden. Fritzsche hat zu Schreiber's Arbeit über Glareanus aus dem Jahre 1837 mannigfache Ergänzungen beigebracht; namentlich gibt er ein sorgfältiges Verzeichnis (S. 83—126) von Glareanus' Schriften; im Anhang sind einige handschriftliche Stücke mitgetheilt. Das Buch F.'s ist eine tüchtige, gewissenhafte Leistung; der Ton freilich ist trocken, und das Gesammtbild des bedeutendsten schweizerischen Humanisten muß sich der Leser aus den zahlreichen einzelnen Zügen selbst zusammenfügen. G. Egelhaaf.

Cartularium der abdij Marienweerd, uitgegeven door **James de Fremery.** 's Gravenhage, Martinus Nyhoff. 1890.

Weit rascher, als wir zu hoffen wagten, hat der Herausgeber den Wünschen der Geschichtsforscher entsprochen, welche Ref. kaum zu erwähnen sich getraute, als er im vorigen Jahre in dieser Zeitschrift (63, 146) die Nomina abbatum u. s. w., eine Vorarbeit zu dieser Ausgabe, anzeigte. Denn die Herausgabe eines Cartulariums ist in vieler Hinsicht eine äußerst undankbare Arbeit. Fast niemanden gibt es, auch in dem an sich schon sehr beschränkten Kreis, welcher für sie einiges Interesse haben kann, der nicht einen sehr beträchtlichen Theil derselben als völlig überflüssig ansieht. Besteht doch der Inhalt dieses Cartulars überwiegend aus Akten über Kauf, Verkauf, Tausch, Schenkung von größeren oder geringeren Güterkomplexen, und solche

haben durchgehend bloß einen geringeren Werth für Geographie und Genealogie, dann und wann, aber selten, auch für Wirthschaftsgeschichte. Hier war die Masse solcher Akten, meistens Schöffenbriefe der umliegenden Städte und größeren Dörfer, welche sich eines Schöffengerichts erfreuten, so überwiegend, daß der Herausgeber sich entschlossen hat, dieselbe großentheils nur im Auszuge wiederzugeben. Sie stammen namentlich aus der ersten Hälfte des 14. Jahrhunderts, dem Zeitraum, als die bereits im Jahre 1129 gegründete Prämonstratenser-Stiftung sich ihrer größten Blüte erfreut zu haben scheint. Von früheren Akten enthält das Cartularium einige hundert Stücke, von welchen mehrere bereits in den Urkundenbüchern von van den Bergh und Sloet abgedruckt sind; diese werden hier, wenn die alten Abdrücke fehlerfrei sind, übergangen. So weit man, ohne das Original zu vergleichen, zu urtheilen berechtigt ist, scheinen die Akten hier mit der äußersten Sorgfalt gedruckt zu sein, wie auch sonst der Herausgeber alles Lob verdient für das, was er gethan hat, um die Benutzung seiner Arbeit leichter zu machen, durch Inhaltsnotizen, Mittheilungen über Transfixen u. s. w. Für die Geschichte des Klosters und der Gegend um Maas, Waal und Lek bringt uns das Cartularium, dessen Werth für die Geschichte des Klosters natürlich nicht hoch genug anzuschlagen ist, sehr vieles, wie auch sonst in manchen Punkten die Geschichte der benachbarten Landestheile von Brabant, Gelderland, Utrecht und Holland dadurch beleuchtet wird. Eine ebenso wie das Cartularium in der kgl. Bibliothek von Brüssel aufbewahrte Karte der Umgegend des Klosters in der Mitte des 16. Jahrhunderts, außerdem sehr sauber gearbeitete Abbildungen des Klosters und Abtsiegel zieren den stattlichen Band, der durch den Abdruck einer höchst werthvollen Güterliste aus dem 14. Jahrhundert vervollständigt wird. Vergessen wir nicht das sehr sorgfältige Register zu erwähnen.

So wie der Band vorliegt, bringt er uns einen höchst werthvollen Beitrag zur niederländischen Geschichte im Mittelalter.

P. L. M.

Das Bundesrecht der Republik der Vereinigten Niederlande (1579—1795). Von **J. B. Westerkamp.** Marburg, N. G. Elwert. 1890.

In der Einleitung dieser, wenn auch nur 52 Seiten umfassenden, doch inhaltreichen Schrift wird an die Worte erinnert, in welchen im Jahre 1869 Fürst Bismarck die Analogie betonte, welche zwischen

den jetzigen staatsrechtlichen Zuständen Deutschlands und jenen der niederländischen Republik bestanden, und den Wunsch aussprach, eine Vergleichung dieser Zustände solle einmal von einem Fachmanne ausgearbeitet werden. Dieser Wunsch wird erfüllt, indem der mit der niederländischen Sprache und Geschichte sowie mit der einschlägigen Fachliteratur hinlänglich vertraute Vf. hier eine kurze Darstellung des Bundesrechts der niederländischen Republik, namentlich wie es in der Zeit ihrer höchsten Blüthe, der Mitte des 17. Jahrhunderts, beschaffen war, gibt. Nachdem er in einer nur wenige Seiten umfassenden Einleitung hauptsächlich den Charakter der Utrechter Union, als der einzigen geschriebenen Verfassungsurkunde der Republik, beleuchtet hat, behandelt er in vier Kapiteln, welche 1) die materiellen Befugnisse, 2) die Organisation der Bundesgewalt, 3) die Funktionen der Bundesregierung und 4) die Garantien und Abänderung der Verfassung überschrieben sind, die Bundesverfassung der Republik und die Wirkung derselben, um zuletzt in ein paar Schlußworten hervorzuheben, wie zwar viele Analogien zwischen der jetzigen deutschen und der alten niederländischen Verfassung bestehen, jedoch noch weit mehr Verschiedenheiten, und wie weit letztere hinter der deutschen Reichsverfassung zurücksteht.

Einer solchen Arbeit standen manche Schwierigkeiten entgegen, von welchen vielleicht die lästigste ist die Abwesenheit irgend einer Gesammtdarstellung der niederländischen Bundesverfassung in der sonst ausgiebigen und an alten und neuen Spezialforschungen reichen Fachliteratur. Denn leider sind die Commentarii de Republica Batava von Pestel nie fertig geworden. So ist der Vf. gezwungen gewesen, sich gleich mit Spezialstudien zu befassen und namentlich zahlreiche Werke zu studieren, welche entweder nur Bruchstücke seiner Aufgabe behandelten oder letztere nur in einigen Punkten berührten. Und wenn er dazu auch mit löblichem Fleiße viele im Ausland wenig bekannte Werke durchgearbeitet hat, Vieles ist ihm natürlich entgangen, was ihm vielleicht von Nutzen gewesen wäre. Freilich wäre das Mißverhältnis zwischen der Summe der geleisteten Arbeit und der Größe der gewonnenen Frucht, was jetzt schon etwas auffällt, denn es steckt eine respektable Masse schwerer Arbeit in diesem Halbhundert Seiten, sonst noch gewachsen. Kaum geringer ist vielleicht die Schwierigkeit zu achten, welche ihm daraus erwuchs, daß über manchen Punkt der niederländischen Verfassung die Parteien nie einig geworden sind, und die verschiedenen Meinungen

noch immer in der historischen Literatur vertreten werden. Und dann fehlte es bei dieser Arbeit an irgend einem Leitfaden; denn die Utrechter Union, welche als Verfassungsurkunde der Republik gilt, befaßt sich mit mehreren wichtigen Punkten gar nicht und ist ohne irgend welche Methode abgefaßt, so daß oft die verschiedenen hinter einander gestellten Artikel in gar keiner Beziehung zu einander stehen.

Es würde natürlich viel zu weit führen, wenn wir hier dem Vf. nachgehen wollten, um seine verschiedenen Ausführungen näher zu besprechen. Natürlich kann ich mich nicht immer mit denselben einverstanden erklären, und die Auseinandersetzung des Vf. hat mich nicht immer befriedigt. Am wenigsten wohl der Abschnitt über die Generalstaaten im zweiten Kapitel, namentlich die (S. 23) eingeschaltete Stelle über die Befugnisse der Staaten vor der Revolution und über die Stellung Wilhelm's von Oranien, während ich einige Mittheilungen über die Zustände der Jahre 1576 — 1588 ungern vermisse. Freilich mag die allzugroße Gedrängtheit der Darstellung mit Schuld haben, dem Raum ist hier die Klarheit und Vollständigkeit der Darstellung wohl etwas geopfert. Andere Ausstellungen möchte ich bei dem Abschnitt über die Statthalter (S. 34 ff.) machen. Es geht nicht an, zu sagen: „Von der Generalität erhielten sie" (die Statthalter) „das Amt eines Generalkapitäns u. s. w." Das kann doch höchstens von den Erbstatthaltern Wilhelm IV. und Wilhelm V. gesagt werden, von den sonstigen Statthaltern haben nur drei jene Generalitätsämter besessen. Allein ich will hier durchaus nicht mit dem Vf. in's Gericht gehen. Nur ausnahmsweise muß ich auf eine Unrichtigkeit hinweisen; wo ich sonst nicht mit ihm einverstanden bin, liegt dies wohl theilweise an der verschiedenen Auffassung von noch immer streitigen Punkten und theilweise an der allzu knappen Darstellung. Überdies können manche jener Punkte eigentlich nur historisch besprochen, ich wage nicht zu sagen, gelöst werden, und der Vf. ist bei aller historischen Kenntnis und Belesenheit immer Jurist, bewegt sich also auf einem ihm nicht völlig zusagenden Boden. Lieber als auf eine Besprechung jener Differenzpunkte einzugehen, möchte ich ihm danken, daß er sich einer so schwierigen Arbeit mit so vielem Geschick unterzogen hat. Selbst mancher Niederländer wird seine Schrift mit Nutzen und Erfolg studieren; fehlt es doch in Holland bis jetzt sowohl an einer populären Darstellung der Verfassung der Republik (das Buch von Bassecour Caan ist völlig

veraltet), als an einer wissenschaftlichen Bearbeitung dieses Themas. Und die Deutschen, namentlich die deutschen Historiker, welche sich mit Geschichte oder Zuständen der Niederlande zu befassen haben, werden viel leichter einen richtigen Begriff ihrer Verfassung aus dieser kurzen Schrift erhalten, als aus Büchern wie Wenzelburger's niederländische Geschichte. Für jeden, der ohne einiges spezielles Vorstudium der niederländischen Zustände u. s. w. es wagt, niederländische Geschichte zu behandeln, oder der versucht, sich mit Hilfe niederländisch geschriebener Facharbeiten die nothwendige Vorkenntnis derselben zu erwerben, liegt die Gefahr nahe, in Mißverständnisse zu gerathen. Hat doch selber Motley in Bezug auf staatsrechtliche Fragen die größten Irrthümer begangen. Nicht jedem gelingt es wie Treitschke in seinem musterhaften Aufsatz alle Schwierigkeiten so glänzend zu besiegen, welche sich dem Ausländer dabei darbieten. Diesem Mangel ist jetzt in vielen Beziehungen abgeholfen. Hoffen wir, daß es dem Vf. vergönnt sein wird, sein Thema später noch mehr in die Breite und die Tiefe auszuarbeiten. P. L. M.

De sleutels van Sont. Het aandeel van de Republiek in den Deensch-Zweedschen oorlog van 1644—1645. Van **G. W. Kernkamp.** 's Gravenhage, Martinus Nyhoff. 1890.

Die Geschichte der auswärtigen Politik der niederländischen Republik im 17. Jahrhundert behält noch immer ihre Anziehungskraft für junge Historiker, namentlich für solche, welche einen passenden Stoff für ihre Doktordissertationen suchen. Neben einer ausgiebigen älteren und neueren historischen Literatur finden sie immer neues archivalisches Material in der reichen Fundgrube des Haager Reichsarchivs. Und wenn dieses mit dem Fleiß und der Geschicklichkeit verwerthet wird, womit der Vf. der vorliegenden stattlichen, auch als Utrechter Doktordissertation gedruckten Monographie gearbeitet hat, ist der Erfolg immer ein lohnender. Namentlich dort, wo neben den immer trockenen diplomatischen Verhandlungen auch andere Ereignisse geschildert werden, so wie es hier geschehen ist, wo der Vf. die Gelegenheit ergriffen hat, ein Stück Handelsgeschichte zugleich auszuarbeiten, welches ein ganz eigenes Interesse darbietet.

Das vorliegende Buch enthält nicht allein einen Beitrag zur Geschichte der niederländischen Politik in Beziehung zu jener baltischen Frage, welche im 17. Jahrhundert eine nicht weniger brennende war, wie heute die orientalische, sondern gestattet daneben, einen Blick

in die Geschichte des niederländisch-baltischen Handels zu werfen in der Zeit, als Holland noch ganz unbestritten den Vorrang besaß über alle anderen Handelsvölker.

Es waren denn auch ausschließlich Handelsinteressen, welche in dieser Periode der baltischen Frage die niederländische Politik bestimmten; wenn sich schon einzelne andere Motive fühlbar machen, so sind sie doch noch viel zu schwach, irgendwelchen maßgebenden Einfluß zu üben. Zehn Jahre später ist das schon anders. Außer Schweden und Dänemark hat in den vierziger Jahren nur die Republik eine wichtige Stimme; auch Frankreich scheint einigen Einfluß geübt zu haben. England ist lahmgelegt durch den Bürgerkrieg; die sonstigen, in der folgenden Periode so interessirten Mächte, Österreich, Polen, Brandenburg, sprechen hier nicht mit. So ist die Aufgabe, eine Darstellung des Kampfes der vierziger Jahre zu liefern, eine bei weitem einfachere, als die, welche allein der Antheil der Republik am nordischen Kriege der fünfziger Jahre erheischen würde. Nur eines ist hier vielleicht zu beklagen. Der Vf. hat bloß niederländische Archivalien benutzt. Ich kann mich nicht des Gedankens erwehren, seine Darstellung würde bei aller angestrebten Unparteilichkeit doch sehr gewonnen haben, wenn er auch die in den schwedischen, dänischen und französischen Archiven aufzufindenden Akten verwerthet hätte. So gelungen die Arbeit ist, wir können ihr nur den Werth einer einseitigen Untersuchung beilegen; man bleibt immer auf dem niederländischen Standpunkt, so sehr der Vf. auch versucht, die Aktenstücke der Schweden und Dänen, welche sich in niederländischen Archiven vorfinden, zu verwerthen. Und was gewiß mehr zu rügen ist, er macht es nicht anders mit der Literatur. Ist abgesehen von Bruun und Garde bloß in Holberg's Reichshistorie und Slange's Geschichte Christian's IV. etwas dänischerseits über diesen Zeitraum zu finden? Und hat außer Geijer kein Schwede sich mit jenen Kämpfen beschäftigt? Ich glaube, der Vf. hat sich die Aufgabe etwas zu leicht gemacht; den heutigen Anforderungen zu entsprechen, sind breitere Studien nothwendig. Hätte er nur die Worte „Nach den niederländischen Quellen" auf den Titel gestellt, so könnte man sich zufrieden geben; doch so wie das Buch jetzt dasteht: eine Darstellung des Antheils der Republik am nordischen Krieg der Jahre 1644—1645, erweckt es andere Erwartungen.

Davon jedoch abgesehen, verdient das Buch unsere Anerkennung. Die Beilagen, sowohl die Sundschifffahrtsstatistik des Jahres 1645

als die Mittheilungen über den Seekrieg der Dänen und Schweden sind auch für Andere als Jene, die sich für seine Aufgabe speziell interessiren, von Wichtigkeit. Nicht allein die Arbeit der Diplomatie, auch die Kriegsereignisse und was dieselben beeinflußte, sind hier dargestellt, die Arbeit wird dann und wann zur Geschichte des nordischen Krieges. P. L. M.

Herman Willem Daendels, voor zyne benoeming tot gouverneur-generaal van Oost-Indie (1762—1807). Academisch proefschrift van **J. Mendels.** 's Gravenhage, Martinus Nyhoff. 1890.

Der Mann, von dessen Lebensschicksalen die erste und am wenigsten bekannte Periode in der vorliegenden 300 Seiten Text, 200 Seiten Beilagen und ein gelungenes Bild enthaltenden Doktordissertation geschildert wird, gehört zu den am meisten bekannten Persönlichkeiten der niederländischen Revolutionszeit. Aus einer Regentenfamilie der kleinen geldrischen Stadt Hattem entsprossen, wurde er schon in jungen Jahren der Führer der Patriotenpartei seiner Vaterstadt, welche 1786 sich gegen Statthalter und Staaten der Provinz auflehnte und so veranlaßte, daß der politische Kampf zu einer Art Bürgerkrieg wurde, der nur durch die preußische Intervention im nächsten Jahre beendet ward. Daendels wanderte, wie die meisten seiner Parteigenossen, nach Frankreich aus, wo er 1792 als Oberstlieutenant der Fremdenlegion seine militärische Laufbahn antrat und an den Feldzügen in Belgien mit solcher Auszeichnung Theil nahm, daß er schon im Jahre 1794 als Brigadegeneral ohne Zweifel die höchste Stelle unter den niederländischen Emigranten ausfüllte und bei der „Befreiung" des Landes durch die Franzosen im folgenden Winter eine hervorragende Rolle spielte. Unbedingt kam ihm denn auch die ihm angetragene Stelle eines Höchstommandierenden der Armee der batavischen Republik zu. In dieser Eigenschaft hat er zweimal im Januar und im Juni des Jahres 1798 durch einen Staatsstreich die Regierung des Landes in andere Hände gebracht, ohne jedoch selber weiter eine politische Rolle zu spielen, während er im folgenden Jahre als Haupt der batavischen Armee mitwirkte zur Abwehr der anglo-russischen Invasion in Nordholland. Als dann die Reaktion hereinbrach, nahm er 1802 seine Entlassung; als jedoch 1806 mit dem Regierungsantritt des Königs Ludwig Bonaparte eine neue Ära anzubrechen schien, trat er wieder in den Dienst und wurde 1807 als Generalgouverneur nach Java geschickt. Drei Jahre später

zurückgerufen, nahm er als Divisionsgeneral am russischen Feldzug Theil und vertheidigte dann die polnische Festung Modlin, bis die Schlacht bei Leipzig alle Aussicht auf Entsatz raubte. Als er dann, wie fast alle seiner Genossen, dem neuen souveränen Fürsten der Niederlande, dem Prinzen von Oranien, seinen Dienst anbot, war er einer der wenigen, dem das abgeschlagen wurde; erst 1814 ward er zum Gouverneur der afrikanischen Besitzungen ernannt, wo er 1818 dem mörderischen Klima erlag.

Ein reiches wechselvolles Leben allerdings, das aber bis jetzt nur in Umrissen bekannt war. Freilich, die Verwaltung Javas hatte Daendels' Namen einen eigenthümlichen Klang erworben. Denn, wenn er dort auch Großes geleistet, er hatte die Verwaltung mit solcher rücksichtsloser Härte geführt, daß Europäer und Eingeborne vor ihm zitterten. Das war man freilich in Holland bei aller Willkür in der indischen Wirthschaft nicht gewohnt, und so blieb das Urtheil über sein Wirken ein sehr verschiedenes, man stand dem Manne fremd gegenüber. Und das scheinen überhaupt seine Landsleute, auch die eigenen Gesinnungsgenossen immer gethan zu haben. Umsomehr war es der Mühe werth, ihn näher kennen zu lernen. Dieser Aufgabe hat sich der Vf. mit unermüdlichem Eifer und nicht ohne Erfolg unterzogen. Daß er das Leben Daendels' nur bis zum Anfang seiner indischen Laufbahn zu schildern unternommen, lag auf der Hand. Erstens war letztere schon von Herrn Mackay (dem heutigen Lord Reay) bearbeitet, und zweitens erforderte sie ein ganz spezielles Studium, wie es hier nicht am Orte war. Schade nur, daß wir darum uns auch für die späteren Schicksale von Daendels mit ein paar mageren Notizen und Beilagen behelfen müssen. Jedoch ist das Buch an sich schon umfangreich genug. Dies liegt theilweise an der Art und Weise, wie der Vf. große Bruchstücke von Reden, Briefe und Akten in den Text einschaltete, andrerseits an seiner Ausführlichkeit. Wenn man der Mühe gedenkt, welche er sich genommen, um seinen Stoff zu vervollständigen, so läßt es sich erklären, daß er ungern einen Theil seines Materials so gut wie unverwerthet ließ. Nicht allein haben die niederländischen Archive und Bibliotheken, sondern auch Privatsammluugen und Familienarchive ihm ihre Beiträge geliefert, in Paris hat er nicht nur im Nationalarchiv, sondern in den Ministerialarchiven des Krieges und des Auswärtigen gearbeitet. Die Beilagen enthalten dann auch eine Reihe höchst interessanter Stücke, welche nicht bloß für die Schicksale Daendels', sondern auch für die Geschichte der

batavischen und sogar der französischen Republik von großer Wichtigkeit sind.

Im großen Ganzen hat das überlieferte Bild seines Helden (denn dem Vf. gilt Daendels als ein Held, der sich verirrt hat unter eine Gesellschaft politisirender Krämer, als der einzige Ritter aus einer prosaischen Periode) wenig Änderung erfahren, die meisten Züge sind dieselben geblieben, wie wir sie uns dachten. Und wenn wir nicht mit dem Vf. einen Helden in Daendels erblicken können, so wollen wir diese Verschiedenheit der Ansicht doch auf Rechnung der Verschiedenheit des Standpunktes stellen. Ist doch, wie ein Franzose es ausdrückt, die Bewunderung le péché mignon des biographes, wovon sich auch die am meisten nach Unparteilichkeit strebenden schwerlich frei zu machen wissen. Und davon abgesehen, erkennen wir gern den höheren Platz an, welchen Daendels unter seinen Zeitgenossen einnimmt. Daß er keine geringen militärischen Anlagen besaß, dafür zeugt seine Kriegführung in der französischen Armee, und sein Mißgeschick in Nordholland zeugt nicht vom Gegentheil; denn daß ein General, der nie eine ordentliche Vorbildung genossen hatte, bei einer so schwierigen Aufgabe, wie sie ihm bei der anglorussischen Landung zufiel, mit so geringen Mitteln nicht immer glücklich war, ist gewiß gar nichts Unerhörtes. Der Vf. steht nicht allein in der Vertheidigung seines Verhaltens. Seine Mittheilungen über den Feldzug sind höchst interessant, sowie überhaupt sein Buch ein so werthvoller Beitrag zur Geschichte der batavischen Republik ist, wie wenig bisher erschienene Werke. Wie Daendels bei der Besetzung oder „Befreiung" der Republik durch die Franzosen es versuchte, seinen Parteigenossen die Gelegenheit zu bieten, das Joch des Statthalters und der alten Regenten selber abzuschütteln und sich nicht von den Franzosen befreien zu lassen, zeugt von seiner politischen Einsicht, wie er denn auch überhaupt bald einsah, mit den einseitigen Parteiansichten der niederländischen Revolutionäre, welche sich bald in allerhand Fraktionen zersplitterten, sei nichts Gutes fertig zu bringen, und es komme überhaupt darauf an, eine auch den französischen Bundesgenossen Achtung gebietende Stellung zu gewinnen. Mit der Rücksichtslosigkeit, die ihm eigen war und ihm so viel Feinde erweckte, vertrieb er im Juni des Jahres 1798 die Regierung, die er im Januar aufzustellen am meisten beigetragen hatte, weil sie durchaus nichts zu stande zu bringen fähig schien. Er hat es leider nur zu bald einsehen lernen, daß es überhaupt unter den obwaltenden

Verhältnissen unmöglich war, etwas zu leisten, daß man vollständig von Frankreich abhängig war. Schon 1799 scheint er völlig enttäuscht zu sein, aber er war ein zu guter Bürger, um sich entweder den französischen Interessen zuzuwenden oder zu versuchen, mit jedem Wind zu segeln. Er nahm lieber seine Entlassung und gab sich mit einer sehr mäßigen Belohnung zufrieden. Ein Staatsmann freilich ist Daendels nie gewesen; er hat auch keinen Anspruch gemacht, als solcher zu gelten, er hat nicht versucht, für sich selber die gelungenen Staatsstreiche auszunutzen, und sich für kürzer oder länger zur Hauptperson des Staates zu machen. Er hat gewiß immer nur das Wohl seines Vaterlandes, so wie er es verstand, bezweckt. Das gilt freilich von vielen seiner Zeit- und Parteigenossen. Aber er überragte sie alle, wenn nicht an Fähigkeit, so doch gewiß an Thatkraft, an Frische, an Charakter. Es muß ihm oft eine wahre Marter gewesen sein, mit solchen Männern zusammenarbeiten zu müssen, von ihnen abhängig zu sein. Das erklärt seine Heftigkeit, welche vor nichts zurückschreckte; jene Kleinlichkeit und Selbstsucht, jener Hang zum Intriguiren, welche so vielen seiner Parteigenossen eigen waren, blieben ihm fern. So ist er immer gewesen; bei allem Poltern und Großsprechen, das dem Patrioten von 86 und dem Revolutionär von 95 nun einmal eigenthümlich war, wurde er nie lächerlich. So ist er auch später geblieben, er hat dem König Ludwig Bonaparte treu gedient, wie später dem Kaiser, doch hat er nie, wie z. B. Dirk van Hogendorp, dabei in erster Reihe an die eigene Stellung gedacht; er hat versucht, seine Pflicht zu thun, wie er sie auffaßte. Bei allem, was er that, ist er rasch, roh, hart, rücksichtslos verfahren, doch blieb er immer ein ganzer Mann, der nicht anders war, als er sich gab, ein Mann, dessen Gedächtnis bei der Nachwelt in Ehren gehalten zu werden verdient. Dazu hat der Vf. redlich das Seine gethan. Seine Arbeit wird von dauerndem Werth bleiben für jeden, der die Geschichte der batavischen Republik kennen lernen will. P. L. M.

Coleccion de documentos inéditos para la historia de España por el **Marques de la Fuensanta del Valle, D. José Sancho Rayón** y **D. Francisco de Zabálburu.** XCIII — C. Madrid, R. Marco. 1889—1891.

Über die Coleccion de documentos ineditos ist in dieser Zeitschrift zuletzt berichtet worden[1]), als mit dem 92. Bande die Korrespon-

[1]) 60, 59.

denz Philipps II. mit seinen Gesandten in England ihren Abschluß erreicht hatte. Seitdem ist mit der Veröffentlichung ungedruckten Quellenmaterials unermüdlich fortgeschritten worden, so daß die Herausgeber in diesem Jahre mit dem 100. Bande vor die Öffentlichkeit treten konnten. Es ist ein gewaltiges Urkundenmaterial, welches auf diesen ca. 50000 Seiten der forschenden Welt zugänglich gemacht worden ist, und die Hochachtung vor dieser wissenschaftlichen Leistung muß um so größer sein, als weder die Regierung noch eine gelehrte Korporation dieses Resultat zuwege gebracht hat, sondern da es anfangs ausschließlich und auch neuerdings noch hauptsächlich die Opferwilligkeit weniger für die Geschichte ihres Vaterlandes begeisterter Männer gewesen ist, der die wissenschaftliche Welt dieses Werk verdankt. Im Jahre 1842 gaben die Herren Martin Fernandez de Navarrete, Miguel de Salva und Pedro Sainz de Baranda den 1. Band der Sammlung heraus; wenn der Tod den einen abrief, so fand sich immer wieder ein neuer Förderer des Unternehmens, und es sind nur Namen von gutem Klange, die sich diesen ersten Forschern im Laufe der Zeit beigesellten: die Marqueses von Pidal und von Miraflores, de la Fuensanta, Sancho Rayon und Zabalburu. Bis zu seinem Tode im Jahre 1873 war Miguel de Salva die Seele des Unternehmens, und fast schien es, als sollte das Ganze durch sein Ableben ins Stocken kommen, bis Salva's Mitarbeiter an den letzten Bänden, der Marques de la Fuensanta del Valle, die Fortführung der Sammlung in die Hand nahm, die seitdem nicht nur keine Störung mehr erfahren, sondern vielmehr an Umfang und Bedeutung der Aufgaben, die sich die Herausgeber gestellt, und an Eifer und an Opfern, die sie der Erfüllung derselben gebracht, nur zugenommen hat. Während bis zum Jahre 1885 ziemlich regelmäßig zwei Bände jährlich der Öffentlichkeit übergeben wurden, sind seitdem wiederholt, zuletzt regelmäßig jährlich drei Bände von je über 500 Seiten zu dem außerordentlich billigen Preise von 12 Franken für den Band herausgegeben worden.

Nach diesem historischen Rückblick kehre ich zu der Besprechung des Inhalts der oben genannten Bände zurück.

Die Schwierigkeit, mit denen die mittelalterliche Forschung zu kämpfen hat, die verhältnismäßige Dürftigkeit der Quellen in diesem Zeitraume hat es mit sich gebracht, daß die Sammlung nur ausnahmsweise Beiträge zur Geschichte des Mittelalters gebracht. Neuerdings haben aber die Herausgeber begonnen, den Chroniken des

Mittelalters ihre Aufmerksamkeit zuzuwenden, da die unzähligen Varianten der Handschriften einer und derselben Chronik oft den ursprünglichen Kern des Werkes ganz verdunkelt haben. Eine solche Restitution ist die Veröffentlichung der Chronik des Königs Johann II. von Castilien von Alvar Garcia de Santa Maria.

Ein Blick auf die Eintheilung der Bücher und Kapitel genügt, um den engen Zusammenhang mit der offiziellen Chronik Johanns II. festzustellen, die dem Fernan Perez de Guzman zugeschrieben wird; ebenso deutlich aber zeigt es sich, daß dieser sehr willkürlich mit dem Original verfahren ist, da zugesetzt, dort gestrichen hat, so daß man erst auf Grund dieser Ausgabe, die zwar auch nicht nach dem Autograph des Verf., sondern nach einer Kopie gedruckt ist, den Werth der Angaben beurtheilen kann, besonders da kein geringerer als Zurita die Abschrift mit dem Original verglichen hat[1]).

Chronologisch reiht sich dem ein kleiner Beitrag zur Geschichte Karl's V. an. Im 14. Bande derselben Sammlung ist der Briefwechsel zwischen Carl V. und dem Bischof von Osma aus dem Jahre 1530 abgedruckt, aber, wie wir nunmehr erfahren, nicht vollständig. Was die Herausgeber vermocht haben mag, die stattliche Anzahl von Briefen zu unterdrücken, die nun erst gedruckt worden sind, ist nicht recht ersichtlich. Sie entbehren keineswegs des Interesses und handeln, wie die andern, von den gesammten politischen Interessen des Kaisers, unter denen natürlich die Beziehungen zum Papste und zu Italien im Vordergrunde stehen. Die Ergänzung ist in jeder Beziehung dankenswerth[2]).

Seit der Marques de la Fuensanta an der Spitze des Unternehmens steht, ist die Geschichte Philipp's II. der bevorzugte Gegenstand der Sammlung geworden. Ich habe bei einer früheren Veranlassung mittheilen können, daß derselbe den Plan verfolgt, die ganze Korrespondenz Philipp's II. mit seinen Gesandten an allen Höfen, so weit dieselbe in Simancas zugänglich ist, in der Col. de doc. ined. zu veröffentlichen. Eine erste Probe davon waren die englischen Gesandtschaftsbriefe, die in fünf Bänden zum Abschluß

---

[1]) Cronica de Don Juan II de Castilla por Alvar Garcia de Santa Maria (1420—1434). Col. de doc. ined. 99, 79—495; 100, 1—409.

[2]) Correspondencia del cardenal de Osma con Carlos V y con su secretario D. Francisco de los Cobos 97, 213—284.

kamen. Nunmehr soll die Korrespondenz mit Deutschland an die Reihe kommen, und wenn davon bisher nur ein Band erschienen ist, so liegt dem nur die dankenswerthe Veranlassung zu Grunde, daß die Herausgeber sich nicht damit begnügen wollen, die betreffenden Aktenfaszikel der offiziellen Korrespondenz abzudrucken, wie sie sind, sondern daß zwischen die Gesandtschaftsbriefe die Familienkorrespondenz der spanischen und deutschen Habsburger eingeschaltet werden soll. Ich beschränke mich hier darauf mitzutheilen, daß der 1. Band die Jahre 1558—63 umfaßt, und hoffe, wenn die Sammlung abgeschlossen sein wird, eingehender darauf zurückzukommen[1]). Daneben sind auch einige kleinere Beiträge zur Geschichte derselben Zeit zu verzeichnen. Zwei kleinere Gruppen von Briefen zur Geschichte des Grafen und der Gräfin (später Fürst und Fürstin) Eboli beschäftigen sich hauptsächlich mit den unerquicklichen Verhältnissen in der Familie der Fürstin in den ersten Jahren ihrer Ehe, als ihr Gemahl mit Philipp II. fast ununterbrochen in den Niederlanden weilte. Die allerdings bisher unbekannten Thatsachen haben nur dadurch Bedeutung, daß es sich um Personen von solcher Berühmtheit handelt; die Weltgeschichte kann aus diesen Eheskandalen nichts gewinnen. Ferner ist zu verzeichnen eine hoja de servicios und ein Bericht über die Bestattung des Juan de Figueroa, Präsidenten des Rathes von Castilien, und eine Anzahl Briefe der beiden Brüder Luis de Requesens und Juan de Zuñiga, auf deren Einfluß unter der Regierung Philipp's II. die Herausgeber bei Gelegenheit einer anderen Veröffentlichung aufmerksam gemacht haben[2]). Die hier abgedruckten Briefe stammen aus Rom, wo beide Brüder nacheinander als Gesandte fungirt haben, und enthalten nicht unwichtige Notizen über die Differenzen Philipp's II. mit dem hl. Stuhle. In innerem Zusammenhange stehen dieselben zu einer umfassenderen Sammlung dieser Gesandtschaftskorrespondenz aus den Jahren 1563—1564, die seitdem in der Coleccion de libros raros erschienen ist[3]), deren Herausgeber dieselben sind, wie die der Col. de doc. ined. Ähnlich ist das Verhältniß zwischen zwei Relationen

[1]) Correspondencia de los principes de Alemania con Felipe II y de los embajadores de este en la corte de Viena (1556—1598). I. Col. de doc. ined. t. 98.

[2]) Vgl. die Einleitung zu den Cartas y avisos dirigidos à D. J. de Zuñiga virey de Napoles en 1581. (Col. de libros esp. raros ó curiosos. XVIII.) Madrid 1887.

[3]) Sie bildet den 20. Band dieser Sammlung. Madrid 1891.

über den unglücklichen Feldzug, auf welchem der König Sebastian von Portugal im Jahre 1578 das Leben verlor. Im 19. Bande brachte die Col. de libros raros den Wiederabdruck des Berichtes von Juan Bautista de Morales, dessen Originalausgabe außerhalb Spaniens ziemlich unbekannt gewesen sein dürfte. Hier treten die Herausgeber mit einem neuen, bisher überhaupt noch nicht gedruckten, wenn auch sonst nicht ganz unbekannten Berichte an die Öffentlichkeit [1]), der vor dem anderen noch die Vorzüge voraus hat, daß er von einem Augenzeugen verfaßt und für Philipp II. selbst geschrieben ist. Beide bestätigen übrigens, daß Sebastian sein Unglück zum größten Theile selbst verschuldet hat.

Ich konnte schon bei einer früheren Besprechung darauf aufmerksam machen, daß man in Spanien anfängt, ernstlich für eine neue Bearbeitung der Geschichte der letzten Habsburger Material zu sammeln, das geeignet sein dürfte, manches schiefe Urtheil zu berichtigen. Auch in den vorliegenden Bänden ist dafür manches zu finden. Die Geschichte der Kriege um das Montferrat hat deshalb eine so hervorragende Bedeutung, weil bei dieser Gelegenheit die Tendenzen des alten und des neuen Spaniens schärfer als je zuvor mit einander in Streit geriethen. Der Marquis von Villafranca, der an die Spitze der mailändischen Provinz durch die Partei des alten Spaniens berufen wurde, um das spanische Ansehen wiederherzustellen, welches Hinojosa im Vertrage von Asti allzu sehr preisgegeben hatte, war selbst, wie seinem Lebensalter, so seinen Ansichten nach ein unbedingter Anhänger der Traditionen Philipp's II. Aus seiner Korrespondenz [2]) ersehen wir, wie er im Vereine mit Bedmar in Venedig und Osuna in Neapel seine ganze geistige Kraft und sein ganzes Können daran setzt, das stark erschütterte spanische Übergewicht in Italien wiederherzustellen. Wenn es ihm auch auf dem Schlachtfelde und soweit ihm darin freie Hand gelassen, auch auf dem Felde der Diplomatie nicht an Erfolgen fehlt, so sehen wir ihn doch vergeblich mit dem gefährlichsten Feinde, jenen neuen, um jeden Preis friedfertigen Tendenzen ringen, über die erzürnt er schließlich seinen Abschied nimmt. Die Korrespondenz ist eines der werthvollsten Stücke für die Geschichte der auswärtigen Politik Philipp's III.

[1]) Relacion de las guerras de Berberia y del suceso y muerte del rey D. Sebastian ... compuesta por Fr. Luis Nieto. Col. de doc. ined. 100, 411—458.

[2]) 96, 1—373.

Auch für die Geschichte des Dreißigjährigen Krieges ist ein kleiner Beitrag zu verzeichnen. Ibarra erzählt ausführlich von dem Kriegsrath am 23. und 29. September 1620, dessen Resultat der Angriff auf Bacharach war, über die Ausführung des Beschlossenen geht er aber schnell hinweg. Eingehender wird davon in einem Berichte gehandelt, der aus Lorch am 17. Oktober datirt und offenbar die Übersetzung eines deutschen Privatbriefes oder wahrscheinlicher eines Flugblattes ist, obwohl ich von diesem keine Spur habe finden können [1]).

Seit Jahren hat man sich viel Mühe gegeben, die Berichte wieder aufzufinden, welche Johann Anton Vinkart als geheimer Kriegssekretär über die Feldzüge in den Niederlanden alljährlich nach Madrid sandte. Da es offizielle Schriftstücke sind, darf man von ihnen keine unparteiische Abwägung der errungenen Vortheile und der erlittenen Schlappen erwarten, dagegen entschädigen sie durch viele Nachrichten, die dem Verf. nur durch seine amtlichen Eigenschaften zugänglich wurden. Der Bericht über den Feldzug von 1637 ist nach dem einzigen erhaltenen Exemplar in der Münchener Hof- und Staatsbibliothek abgedruckt [2]). Einen ganz ähnlichen Charakter trägt die Darstellung der kriegerischen Ereignisse auf den beiden spanischen Kriegsschauplätzen, Portugal und Catalonien, aus dem Jahre 1644, deren Verfasser nicht genannt ist [3]). Sie ist ebenfalls offiziellen Ursprungs und hat vor den Relationen Vinkarts noch das voraus, daß sie eine Anzahl von kgl. Proklamationen und Erlassen im vollen Wortlaute wiedergibt. Auf die Periode des catalonischen Abfalls beziehen sich übrigens noch eine ganze Anzahl von weiteren Urkundengruppen. Zum Theil gehen dieselben zwar auch auf frühere Jahre zurück, doch bilden den Kern derselben die Nachrichten über das Jahr 1647, die Belagerung von Lerida durch Condé, die Ereignisse, die deren Aufhebung veranlaßten, und derselben folgten. Eine Relation, die offenbar in der Absicht geschrieben ist, den Vertheidiger von Lerida, Gregorio Brito, zu verherrlichen, liefert den Beweis, daß die Anklagen, die aus einer andern Korrespondenz gegen ihn bekannt werden, nicht auf ganz unfruchtbaren Boden fielen [4]). Es werden nämlich über die gleichzeitigen Ereignisse folgende Briefwechsel veröffentlicht: 1. Die Korrespondenz Philipp's IV.

---

[1]) 95, 45—51. [2]) 99, 1—78. [3]) 95, 361—465. [4]) 95, 467—509.

mit den Gobernadoren von Aragon und Catalonien [1]). 2. Die Briefe seines Sekretärs Cantarero durch dessen Hände, wie wir aus der ersten Korrespondenz erfahren, auf kgl. Befehl alles ging, was den cataloniſchen Feldzug betraf [2]). 3. Der Schriftwechsel des Königs mit dem Rathe von Caſtilien, der an ſich nicht direkt für die Geſchichte des Feldzugs verwerthbar, dadurch ein hohes Intereſſe gewinnt, daß in den Beilagen ſich viele Briefe der kommandirenden Generale, Aytona und Haro, und vor allem die höchſt bedeutſamen Nachrichten des Proviantmeiſters der Armee befinden. Das herbe Urtheil, welches dieſer über die Leitung der militäriſchen Operationen nach der Befreiung Lerida's fällt, wird durch die anderen Briefſchaften indirekt auf das ſchlagendſte beſtätigt [3]).

Vier Briefe des ſpaniſchen Geſandten in London über die Zeit unmittelbar vor und nach der Hinrichtung Karl's I. [4]) lehren nichts neues für die Geſchichte dieſer Kataſtrophe, bezeichnend aber für die Stellung der Spanier zu derſelben iſt die Äußerung: er verlor die Krone für ſich und ſeine Nachkommen, das zeitliche Leben und das ewige ſeiner Seele, denn in ſeinen letzten Momenten ſtand ihm der Biſchof von London zur Seite! In Spanien hatte man offenbar Anderes von ihm erwartet.

Eine Anzahl von Berichten über die Schlacht von Seneffe [5]) im Jahre 1674 zeigt, wie anders ſich dies Ereignis in den Augen der Spanier darſtellte, als in denen der Franzoſen, die bisher für ſich die Ehre des Tages in Anſpruch nahmen. Denn wenn auch in dem einen dem Oberkommandirenden, dem Herzog von Monterey die bitterſten Vorwürfe nicht erſpart werden, ſo erklären die Berichte doch übereinſtimmend, daß nicht die Spanier, ſondern die Franzoſen es waren, die, wenn auch mit Hinwegnahme zahlreicher Trophäen, das Schlachtfeld dem Gegner überließen. Doch verkennen ſie zum Theil auch nicht, daß der Erfolg für die Gegner war. Über die folgenden Feldzüge von 1675—1678 hat der Herzog von Villahermoſa kurze Kritiken verfaßt [6]), die ſich zu einer fortlaufenden Reihe von Anklagen gegen den Prinzen von Oranien geſtalten. Zwar widerfährt ſeinem Feldherrntalent volle Gerechtigkeit, ſeine Politik aber in ihrer Eigenſucht wird als die dauernde Urſache aller Mißerfolge dargeſtellt. Mehr als einmal entſchlüpfen dem Herzoge doch

---

[1]) 96, 375 — 521; 97, 1 — 68. [2]) 97, 69 — 129. [3]) 95, 79 — 360. [4]) 95, 511—520. [5]) 95, 53—77. [6]) 95, 1—44.

auch Bemerkungen, die uns belehren, daß neben der Selbstsucht des Oraniers der klägliche Zustand des Heeres, besonders der spanischen Kontingente den Operationen zum schweren Nachtheil gereichte.

Aus dem 18. Jahrhundert haben wir es mit zwei memoirenartigen Werken zur Geschichte des ersten Bourbonen zu thun, deren geschichtlicher Werth nicht allzu hoch zu taxiren ist. Eine Lebensgeschichte des D. Luis Enriquez, der später den Titel eines Almirante de Castilla von seinem Bruder geerbt hat, enthält wohl manche nicht uninteressante Züge zu dem Parteigetriebe gegen das Lebensende Karl's II., bricht aber in dem Momente ab, wo mit der Flucht des derzeitigen Großadmirals nach Portugal die politische Rolle der Familie unterbrochen wird. — Die Tagebücher des Herzogs von Liria über seine Gesandtschaft in Moskau müssen seiner Zeit viel verbreitet gewesen sein, ich habe sie z. B. in französischer Übersetzung auch im kgl. sächsischen Hauptstaatsarchive vorgefunden. Sie enthalten sehr interessante Kulturschilderungen und zeigen die Bemühungen ihres Verfassers im besten Lichte. Sie entstammen aber einer Zeit, wo nähere Beziehungen zwischen Spanien und Rußland noch ein Traum waren, dessen Erfüllung in späteren Jahren allerdings auch den Spaniern wenig Segen gebracht hat. Die Tagebücher haben eine Ergänzung gefunden, durch eine Gesandtschaftsrelation, die zugleich mit einer Kritik des Herzogs über den neapolitanischen Feldzug des Jahres 1734 an anderer Stelle veröffentlicht worden ist[1]).

Zum Schluß seien noch zwei Veröffentlichungen erwähnt, die der Geschichte der Kolonien gewidmet sind. Das eine ist eine Liste der religiösen Kongregationen und der ihnen untergebenen Indianer in Mexiko aus dem Jahre 1603. Das andere, von weit höherer Bedeutung, ist eine umfangreiche Sammlung vermischter Aktenstücke zur Geschichte von Chile und Peru aus dem letzten Drittel des 16. Jahrhunderts. Sie wird, so weit sie sich nicht etwa mit der Urkundensammlung von Medina deckt — was zu kontrolliren mir augenblicklich unmöglich ist — wesentlich dazu beitragen, die Geschichte von Chile klar zu stellen, woran jetzt, auch von chilenischer Seite mit einem Eifer gearbeitet wird, dem man bereitwilligste und unbeschränkteste Anerkennung zu Theil werden lassen muß. Haebler.

---

[1]) Conquista de Napoles y Sicilia y relacion de Moscovia por el duque de Berwick. (Col. de escrit. cast.) Madrid 1890.

**Geschichte Spaniens vornehmlich im 14. Jahrhundert. Von Friedrich Wilhelm Schirrmacher.** Gotha, F. A. Perthes. 1890.

A. u. d. T.: Geschichte der europäischen Staaten. Herausgegeben von A. H. L. Heeren, F. A. Uckert und W. v. Giesebrecht. Geschichte von Spanien. V.

Der vorliegende 5. Band der Geschichte Spaniens in der Heeren-Ukert'schen Staatengeschichte enthält die Geschichte der zweiten Hälfte des 13. und 14. Jahrhunderts. Während der vorhergehende Band ausschließlich der Geschichte Kastiliens gewidmet war, findet in dem vorliegenden auch die Geschichte Aragons einige Berücksichtigung, wenn auch noch immer nicht eine Darstellung, die der gleichkäme, welche dem Schwesterkönigreiche zu Theil geworden ist. Der Vf. verspricht deshalb auch, wenigstens die wichtige Periode der Aragonischen Union noch einmal im Zusammenhange im nächsten Bande zu behandeln. In diesem Umstande darf man wohl die Entschuldigung dafür suchen, daß der Vf. über die Resultate der Forschung auf diesem Gebiete sich nicht gleich vortrefflich unterrichtet zeigt, als in der Geschichte Kastiliens. Diese zerfällt in dem vorliegenden Bande in zwei dem Umfang nach fast gleiche, sonst aber recht ungleiche Theile. Die zweite Hälfte (S. 241—538) ist der Regierung Peter's des Grausamen gewidmet, und diesem Abschnitte merkt man es an, mit welcher Liebe der Vf. ihn bearbeitet hat. Die Geschichte dieses Monarchen ist ja ein beliebter Tummelplatz mehr und minder begründeter Kontrovers-Schriftstellerei, und der Vf. hat hier mit großer Sorgfalt die kritische Sonde angewendet. Er stellt sich, wenn auch nicht bedingungslos auf den Standpunkt Guichot's, der die Hauptquelle für diese Regierung, die Chronik des Pedro Lopez de Ayala der Parteilichkeit für Heinrich von Trastamara bezichtigt; demgemäß ist seine Darstellung im großen und ganzen eine apologetische. Die Klippe, an der sich die Guichot'sche Auffassung stößt, hat freilich auch der Vf. nur umgangen, nicht zu beseitigen vermocht; er hat nämlich ebenfalls keine befriedigende Erklärung dafür geben können, wie der Mangel jedweder Feindseligkeit in der Form bei Ayala mit der angenommenen Feindseligkeit der Gesinnung zu vereinigen ist.

Gegen diesen Theil der Arbeit fällt die erste Hälfte des Bandes wesentlich ab. Es ist nicht zu verkennen, daß der Vf. auch da sorgfältig zusammengetragen hat, was die nicht eben zahlreichen Quellen bieten, er hat sich aber nicht die Zeit gelassen, die so gewonnenen Daten zu verarbeiten, so daß seine Darstellung sich beschränkt auf

eine schwer verdauliche Anhäufung von Namen und Thatsachen, die der Leser erst selbst verarbeiten muß, um ein Bild der geschichtlichen Ereignisse zu gewinnen. Haebler.

Chapters from the religious history of Spain connected with the inquisition. By **Henry Charles Lea.** Philadelphia, Lea Brothers & Co. 1890.

In der Vorrede erklärt der Vf. das Zustandekommen des vorliegenden Werkes damit, daß er bei der Bearbeitung einer allgemeinen Geschichte der Inquisition auf gewisse Materialien und Kombinationen gestoßen sei, deren erschöpfende Behandlung im Rahmen des größeren Werkes unmöglich war, die ihm aber interessant genug dünkten, sie monographisch zu behandeln. So erklärt es sich, daß besonders die kleineren Artikel über verschiedene vereinzelte Erscheinungen des religiösen Lebens innerhalb der spanischen Kirche beinahe nur Referate, resp. Kommentare sind zu Urkundengruppen, die zum größten Theile bisher unbekannt geblieben waren. Diese Urkunden bestimmen denn auch den Werth der einzelnen Kapitel, während die Arbeit des Vf. in diesen mehr zurücktritt. Ein höheres Ziel aber stellt sich der Vf. in dem ersten und umfänglichsten Artikel über die Bücherzensur der Inquisition. Allerdings zeigt es sich hier, wo politische und religiöse Geschichte so vielfach in einander greifen, daß des Vf. Kenntnisse über Personen und Verhältnisse der ersteren nicht in gleichem Maße umfassend und tiefgehend sind, als seine Belesenheit auf kirchlichem Gebiete. Selbst seine Auffassung von dem Einfluß der Inquisition auf das geistige Leben Spaniens erscheint mir noch zu düster, noch zu sehr unter dem Einflusse der liberalen Deklamation. Ich möchte bei dieser Gelegenheit auf die kleine Abhandlung von P. Förster[1]) über diesen Gegenstand aufmerksam machen, welche die Verhältnisse meiner Ansicht nach bei weitem richtiger auffaßt. Dagegen bekundet der Vf. eine außerordentlich eingehende Kenntnis des gesetzgeberischen Materials über den Gegenstand. Wer es aus eigener Erfahrung kennen gelernt hat, mit welchen Schwierigkeiten die Forschung, zumal im Auslande zu kämpfen hat, um sich das Quellenmaterial für alle Gebiete der spanischen Geschichte nur mit

[1]) Der Einfluß der Inquisition auf das geistige Leben und die Literatur der Spanier. (Jahresbericht der kgl. Realschule zu Berlin, Ostern 1890.) Berlin, A. W. Hayn's Erben.

einiger Vollständigkeit zugänglich zu machen, der wird dem Vf. doppelte Anerkennung dafür widmen, daß er es durchgesetzt hat, eine ganze Reihe höchst seltener Indices und ähnlicher Drucke sich zugänglich und damit der Wissenschaft dienstbar zu machen. Haebler.

**Petrus Martyr Anglerius und sein Opus epistolarum. Von J. Bernays.** Straßburg, Karl J. Trübner. 1891.

Obwohl Petrus Martyr von Anghiera und sein Opus epistolarum in den letzten Jahren wiederholentlich Gegenstand der wissenschaftlichen Forschung gewesen sind, bedeutet doch erst die vorliegende Arbeit einen wirklichen Fortschritt in der Beurtheilung desselben. Seit Gerigk nach der negativen, Heidenheimer nach der positiven Seite von dem Urtheile Ranke's abgewichen waren, bedurfte es einer endlichen kritischen Durcharbeitung des gesammten Stoffes, die vielleicht schon früher erfolgt wäre, wenn sie nicht an Zeit und Arbeitskraft des Bearbeiters Anforderungen gestellt hätte, die mit den zu erreichenden Resultaten kaum in einem rechten Verhältnisse standen. Die große, mit jeder neuen Quellenerschließung wachsende Schwierigkeit der Arbeit bestand darin, daß es nöthig wurde, die 812 Briefe des Opus epistolarum einen nach dem anderen mit Hülfe möglichst des gesammten einschlägigen Quellenmaterials nachzuprüfen, um festzustellen, wie weit jeder einzelne Anspruch auf Echtheit und Ursprünglichkeit machen könne. Die Lösung dieser Aufgabe, der sich der Vf. mit höchst anerkennenswerther Gründlichkeit und Bescheidenheit entledigt hat, war kaum anders möglich als durch die Häufung einzelner, in sich unzusammenhängender Notizen, die alle den Charakter von Anmerkungen tragen. Der Vf. hat getrachtet, sie nach gewissen Gesichtspunkten anzuordnen, die ihm für die Beurtheilung der Ursprünglichkeit des Textes maßgebend erschienen sind, trotzdem ist es nicht möglich gewesen, den chaotischen Charakter zu überwinden, der dem Stoffe anhaftete. Um so größer ist der Dienst, den der Vf. den Forschenden mit dem Register geleistet hat, in welchem er nach den Nummern der Briefe auf diejenigen Stellen seiner Arbeit verweist, an welchen deren kritische Würdigung zu finden ist. Das Urtheil, zu welchem er gelangt, stimmt im wesentlichen mit dem Ranke's überein, d. h. er hält die Hauptmasse der Briefe für ursprünglich, nur hat sie Petrus Martyr selbst zu einem Opus oft recht ungeschickt zusammengeschweißt. Aber er hat sich das große Verdienst erworben, das, was Ranke's divinatorischer Scharfblick in

großen Zügen erfaßt hatte, im einzelnen wissenschaftlich nachzuweisen, zu begründen und die Grenzen endgültig festzustellen, innerhalb welcher sich der Werth resp. Unwerth der Martyr'schen Briefe bewegt.

Haebler.

Der Hohenzoller Johann Markgraf von Brandenburg, Ritter des goldenen Vließes, Capitangeneral des Königreichs Valencia, designirter König von Bugia, Gemahl der Königin Germaine, geborene Gräfin von Foix. Von **Konst. R. v. Höfler.** München, G. Franz. 1889.

A. u. d. T.: Abhandlungen der historischen Klasse der kgl. baierischen Akademie der Wissenschaften. XIX, 2.

Der Vf. hat bekanntlich schon eine ganze Reihe mehr oder minder umfänglicher Arbeiten veröffentlicht, in denen er sehr wesentlich zur Erschließung der Quellen für die habsburgische Geschichte im Anfange des 16. Jahrhunderts beigetragen hat. Auf diesem Material beruht in der Hauptsache auch die vorliegende Monographie. Sie trägt ihren Titel eigentlich nicht mit vollem Rechte, denn nicht der Hohenzoller ist der vorzugsweise Gegenstand der Untersuchung, sondern seine Gattin, die lebenslustige Germaine de Foix, die in erster Ehe mit Ferdinand dem Katholischen als dessen zweite Gattin vermählt war. Die Verhältnisse, die sich aus dieser Ehe ergaben, und die Folgen, welche dieselben für Germaine und allerdings auch für deren zweiten Gatten herbeiführten, werden auf Grund der von Hoefler oft erwähnten Simancas-Urkunden und andrer vorwiegend spanischer Quellen erörtert, während der den deutschen Verhältnissen und der Persönlichkeit des Hohenzollern gewidmete Theil dagegen bedeutend zurücktritt, und in dem, was er bietet, auch unsere Kenntnis nicht wesentlich bereichert. Die Hauptbedeutung der Arbeit liegt eben, wie gesagt, in der Schilderung der spanischen Verhältnisse, und zwar speziell in der Untersuchung der Vorgänge von Valencia, wo Germaine nach ihrer Vermählung die Würde eines Vizekönigs bekleidete. Die unmittelbar vorangegangenen Ereignisse, der Aufstand der Germania und dessen Niederwerfung, haben der Statthalterschaft Germaine's ein besonderes Interesse verschafft, dem der Vf. volle Gerechtigkeit widerfahren läßt. Dagegen ist es verwunderlich, daß er das bedeutendste Werk über diesen Gegenstand, Danvila, La Germania de Valencia, mit keinem Wort erwähnt und offenbar nicht gekannt hat.

Haebler.

Der polnisch-russische Krieg von 1831. Von **Hermann Kunz.** Berlin, F. Luckhardt. 1890.

Der durch mehrere Werke kriegsgeschichtlichen Inhalts bekannte Vf. sucht in seiner Schrift, die ein Sonderabdruck aus der „Deutschen Heereszeitung" ist, eine kurze orientirende Übersicht über einen Feldzug zu geben, dessen genauere Kenntnis nach seiner Ansicht für den deutschen und österreichischen Offizier dermaleinst von besonderem Nutzen sein könnte. Dieser praktische Gesichtspunkt macht sich denn auch in einer Anzahl vergleichender Bemerkungen und Betrachtungen geltend, die zum Theil von besonderem Interesse sind. Die Schwierigkeiten einer Schilderung gerade jenes Krieges liegen einerseits darin, daß amtliche Darstellungen desselben sowohl von russischer wie von polnischer Seite fehlen, die vorhandenen Werke aber stark durch Parteilichkeit getrübt sind, und daß diese ursprünglichen Quellen meist russisch oder polnisch geschrieben, also schwer verwerthbar sind. Auch das Hauptwerk von Smitt, so vortrefflich es ist, erscheint dem Vf. nicht objektiv genug; in der That dürfte seine eigene Darstellung den Polen in mancher Hinsicht gerechter werden als die Smitt'sche. — Daß er selbst auch polnisch oder russisch geschriebene Quellen benutzt habe, geht aus der vorgedruckten Übersicht der „Empfehlenswerthen Quellen" nicht hervor, da er nur solche Bücher von Polen oder Russen nennt, die in's Deutsche übersetzt sind; in der Darstellung enthält er sich bedauerlicherweise jeder Angabe von Quellen. — Der Werth des Buches liegt hauptsächlich in der präzisen Berechnung der für jedes Gefecht in Betracht kommenden Streitkräfte, in der er öfters von Smitt, meist, wie es scheint, mit Recht abweicht, und in der Übersichtlichkeit und Klarheit der Darstellung.

In dem Quellenregister vermißt man mit Befremden Smitt's späteres Buch „Feldherrn-Stimmen aus und über den Polnischen Krieg vom Jahre 1831" 1858. Diebitsch' Kriegführung würde bei Benutzung desselben dem Vf. vermuthlich in einem günstigeren Lichte erschienen sein. In seiner Darstellung der Schlacht von Grochow dürfte insofern gegen Smitt ein Fortschritt zu verzeichnen sein, als er für das Mißlingen des großen russischen Kavallerieangriffs S. 41 42 immerhin doch auch den General Toll mit verantwortlich macht; derselbe habe, während Alles auf ein einheitliches Zusammenwirken der sämmtlichen Reiterregimenter ankam, „im Eifer des Augenblicks", „sich selbst zu einer vereinzelten Attacke . . . . hinreißen lassen", so daß von einer einheitlichen Leitung keine Rede mehr war. Ich

verweise für die Frage, warum jene so überaus wichtige Operation erfolglos blieb, auf meinen Aufsatz „Auch ein Bismarck" im Oktoberheft der Preuß. Jahrbb. 1890. S. 370—374. Ebendaselbst ist auch über den wahren Grund, warum Diebitsch den verhängnisvollen Fehler beging, nicht unmittelbar nach der Grochower Schlacht Praga zu stürmen, Näheres zu finden. Der Vf. sieht jenen Grund S. 48 ausschließlich in Diebitsch' militärischer Unfähigkeit; ohne einen doch erst in vier Monaten herbeizuschaffenden Belagerungspark habe derselbe nicht angreifen zu dürfen geglaubt. Heinrich Weber.

Vom wandernden Zigeunervolk. Von **H. v. Wlislocki.** Hamburg, Verlagsanstalt und Druckerei A. G. 1890.

Das Studium der Sprache und des Volksthums der Zigeuner nimmt, wie wir aus einem lehrreichen Aufsatz Schwicker's im letzten Jahrgang der „Münchener Allgemeinen Zeitung" erfahren, in jüngster Zeit in Ungarn, woselbst von den 600,000 Zigeunern, die es in Europa gibt, ungefähr der sechste Theil lebt, einen großen Aufschwung. An der Spitze der Männer, die sich in dieser Beziehung bedeutendere Verdienste erworben haben, steht der Erzherzog Joseph. Ihm schließen sich H. v. Meltzel in Klausenburg, E. v. Thewrewk in Budapest, A. Herrmann, H. Schwicker und der Vf. des obigen Buches an. Mit Recht hebt Wlislocki hervor, daß in den meisten Schilderungen des Lebens der Zigeuner nur die äußerliche Seite desselben hervortritt, wie dies auch natürlich ist, da die betreffenden Autoren sich meist nur einer oberflächlichen Kenntnis des Lebens der Zigeuner rühmen dürfen. Dagegen hat sich der Vf. zehn Jahre ausschließlich mit der Erforschung des Lebens der Zigeuner in seiner Heimat (Siebenbürgen) beschäftigt und auf seinen oft monatelangen Wanderungen mit diesem Volke reichhaltige Materialien gesammelt, aus denen er in dem vorliegenden Buche das Wichtigste mittheilt. Von den drei Abtheilungen, in welche der Stoff gegliedert ist, enthält der erste Geschichtliches (S. 1—48), der zweite Ethnologisches (S. 49—309) und der 3. Ausführungen über die Sprache und Poesie der Zigeuner. Schon aus diesen Angaben ist ersichtlich, daß der Vf. vornehmlich die ethnologische Seite zum Gegenstand seiner Forschungen gemacht hat. Er schildert die Stamm- und Familienverhältnisse der Zigeuner, ihre Gebräuche bei Geburt und Taufe, das Kinderleben u. s. w. Mit Pott, Miklosich und anderen Forschern hält er an der Herkunft der Zigeuner aus Indien fest und findet in den Familienverhältnissen

noch manches, was sich auf ihre urheimatlichen Zustände daselbst zurückführen läßt und auf jene Zeiten hinweist, in welchen die Zigeuner in einem geordneten Staatswesen gelebt und eine feste gesellschaftliche Ordnung beobachtet haben müssen.

Schwächer als der zweite und dritte Theil des Buches ist der erste. Die Angaben, welche der Vf. über den Namen und die Herkunft der Zigeuner, ihre Urheimat und Wanderungen vorbringt, sind an einzelnen Stellen viel zu knapp gehalten. Als die zweite (europäische) Heimat der Zigeuner bezeichnet er Griechenland; von hier aus verbreiteten sie sich seit dem Ende des 15. Jahrhunderts über einen großen Theil Europas. Seit 1415 machen sie sich in Ungarn bemerkbar. Der Vf. schildert in allgemeinen Zügen ihre Verbreitung von hier nach Deutschland, Polen, Littauen und Rußland, ihre Fahrten durch Italien und Frankreich, England und Schottland; ausführlicher behandelt er ihre Schicksale in Ungarn und Siebenbürgen vom 16. Jahrhundert bis auf unsere Tage und gibt zum Schluß eine statistische Zusammenstellung über ihre Zahl und Verbreitung. J. Loserth.

## Bericht der Gesellschaft für rheinische Geschichtskunde.

Erstattet im März 1891.

(Auszug.)

Seit der neunten Jahresversammlung gelangte zur Ausgabe: Die Legende Karl's des Großen im 11. und 12. Jahrhundert. Von Gerhard Rauschen. Mit einem Anhang über Urkunden Karl's des Großen und Friedrich's I. für Aachen. Von Hugo Loersch. (Siebente Publikation.)

Die Vorarbeiten für den Druck des 2. Bandes der Kölner Schreinskarten sind im verflossenen Jahre noch nicht völlig zum Abschluß gelangt. Die Drucklegung des 1. Bandes der von Prof. Loersch geleiteten Ausgabe der Rheinischen Weisthümer hat auch im abgelaufenen Jahre nicht stattfinden können. — Die Herausgabe der Rheinischen Urbare ist im Juli 1890 Prof. Lamprecht endgültig übertragen worden. — Die Arbeiten für den Erläuterungsband zu dem Buche Weinsberg hat Prof. Höhlbaum erheblich gefördert. — Prof. v. Below hat den dritten Theil seiner Untersuchung über die Anfänge der landständischen Verfassung in Jülich-Berg abgeschlossen. Die erste Hälfte derselben ist gedruckt. — Der 1. Band der älteren Matrikeln der Universität Köln ist in der Bearbeitung eben vollendet worden. — Als neues Unternehmen der Gesellschaft hat der Vorstand die Herausgabe der zweiten Auflage der „Nachrichten von dem Leben und den Werken kölnischer Künstler" beschlossen, welche aus dem Nachlasse des Dr. Joh. Jak. Merlo von den Erben zur Verfügung gestellt worden ist.

## Verbesserungen.

S. 191 Überschrift lies: Amerika. — S. 211 Z. 13 v. oben: Das offizielle Ministerium, Clavière voran. — S. 366 Z. 3 v. unten: Ist inzwischen (im Jahre 1891) erschienen. — S. 371 Z. 5 v. oben: José Toribio Medina. — Zu der Besprechung S. 349 vgl. H. Z. 23, 253.

3 0000 115 824 983
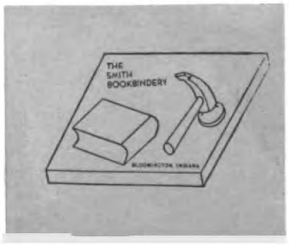
D1
.H63
v.67